॥ शंका-समाधान ॥

॥ शंका-समाधान ॥

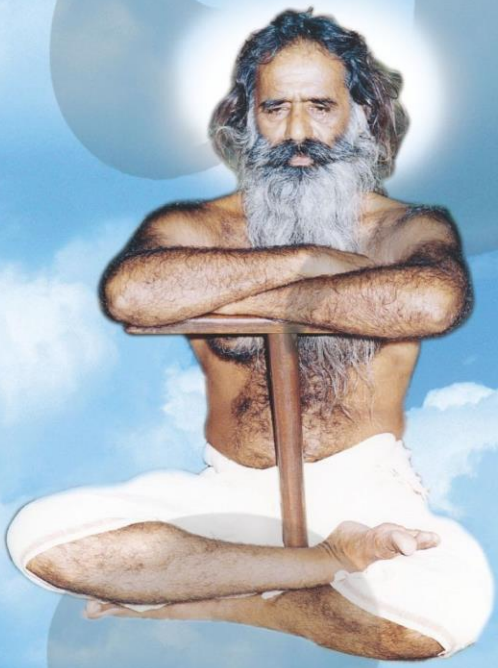

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी

HINDI

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

शंका-समाधान

संकलनकर्त्ता एवं व्याख्याकार :

परमपूज्य श्री परमहंसजी महाराज का कृपा-प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम

शक्तेषगढ़ (चुनार-राजगढ़ रोड), जिला- मिर्जापुर

उत्तर प्रदेश, भारत - फोन- (०५४४३) २३८०४०

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य स्वामी श्री परमानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया

(चित्रकूट)

के परम पावन चरणों में सादर समर्पित

अन्तस्प्रेरणा

गुरु–वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।
सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुखराशी, सदा एकरस निर्विकारी।।
अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।
चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।
हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।
यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी।।

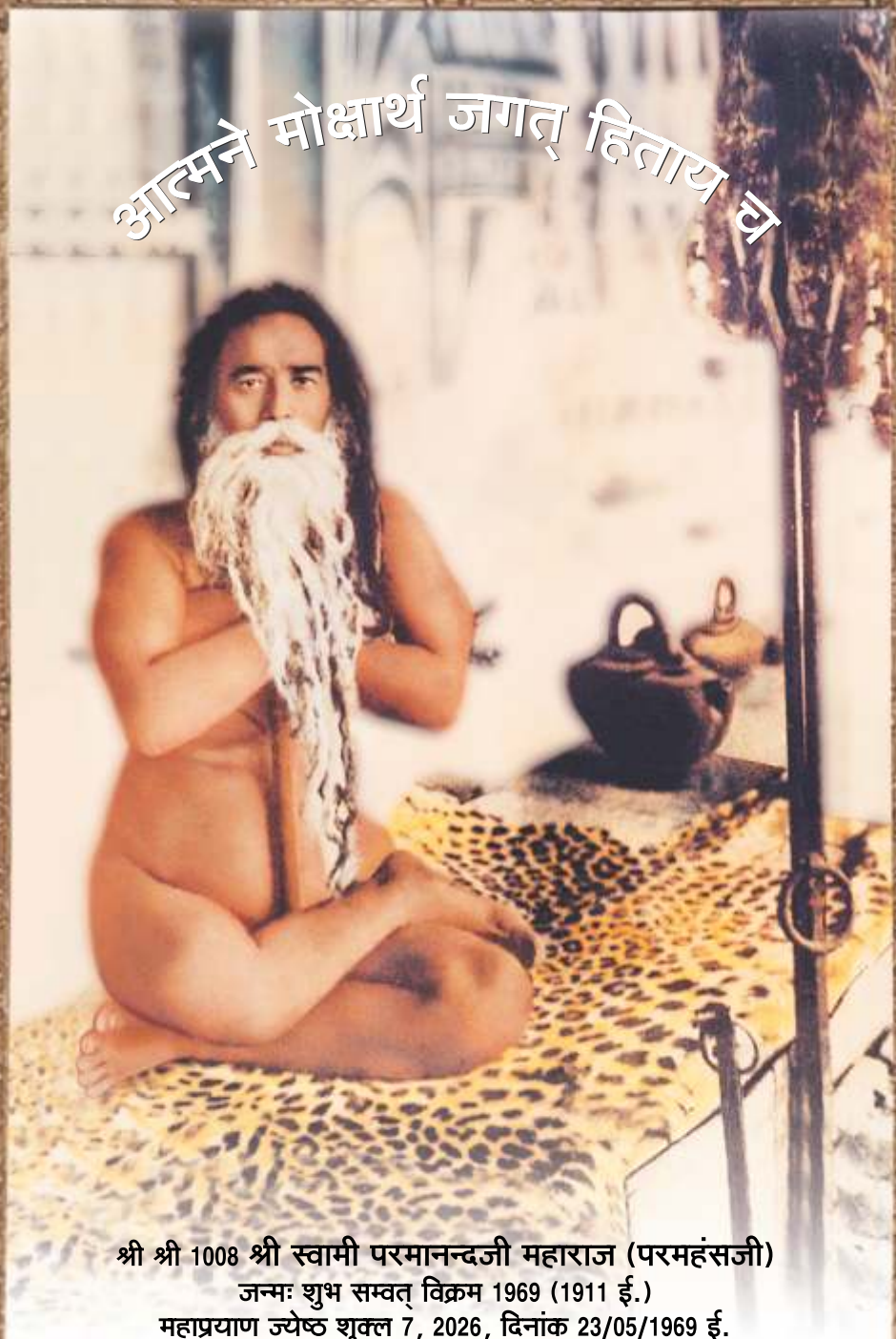

श्री श्री 1008 श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्मः शुभ सम्वत् विक्रम 1969 (1911 ई.)

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल 7, 2026, दिनांक 23/05/1969 ई.

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

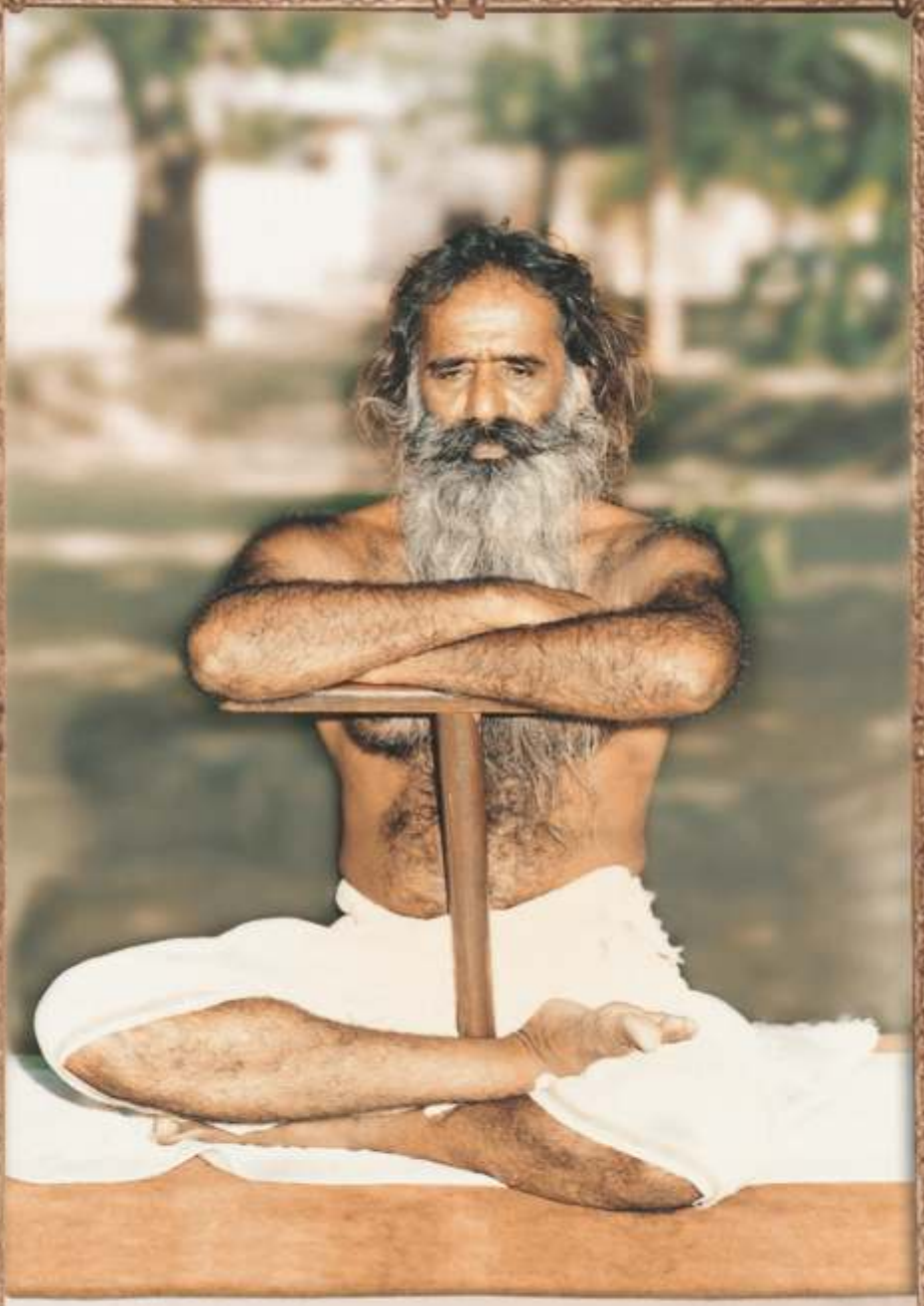

श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

दर्शन

बन्धुओ!

परम आदरणीय, परमपूज्य, श्रद्धेय श्री परमानन्दजी महाराज की जीवनी 'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' के माध्यम से ज्ञात हुआ होगा कि श्री परमहंसजी एक विरह-वैराग्य से पूर्ण साधना में सतत अनुरक्त महापुरुष थे। इष्ट से मिलनेवाली आकाशवाणियों के आधार पर चित्रकूट स्थित अनुसुइया के बीहड़ वन में आपका पदार्पण उन दिनों हुआ जब भारत के आजादी की चर्चा जोरों पर थी। आप अभी यहाँ आकर बैठे ही थे कि बतलाया, ''हो, नेहरू राजा होनेवाला है। दिल्ली के भरे दरबार में मैं ओके राजतिलक करके आया हूँ। मोके भगवान ने दिखाया है। वही होगा।'' कुछ ही दिनों में सुनाई पड़ा कि आजादी मिल गयी और नेहरूजी भारत के प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिये गये।

अनुसुइया में आपका निवास उपवास से आरम्भ हुआ। चौदहवें दिन अत्यधिक गर्मी के कारण लघुशंका में रक्त-जैसा कुछ गिरता दिखायी पड़ा, तो आपको किंचित् करुणा हो आयी। भगवान से कहने लगे- घोर जंगल में लाकर पटक दिये हो, न कुछ खाने की व्यवस्था और न कोई सेवक! जब शरीर ही नहीं रहेगा तो भजन कौन करेगा? उसी दिन आदेश मिला- ''जब खाना ही है तो कल से खाया करो।'' दूसरे ही दिन से अयाचित आने लगा, आकाशवृत्तीय व्यवस्था चल निकली। न खेती थी न किसी सेठ-साहूकार से निश्चित वृत्ति, न कोई मन्दिर और न वाटिका! मात्र एक खप्पर और उपवास से आरम्भ होनेवाला आपका निवास कुछ ही काल में सुव्यवस्थित आश्रम में परिणत हो गया। यही सती अनुसुइया का स्थान प्रथम आश्रम है।

क्रमशः विरक्त शिष्य प्रवेश करने लगे। पूज्य स्वामी श्री सच्चिदानन्दजी महाराज, पूज्य स्वामी श्री अखण्डानन्दजी महाराज, अनुसुइया आश्रम स्थित पूज्य स्वामी श्री भगवानानन्दजी महाराज, स्वामी श्री शिवानन्दजी, स्वामी श्री रामानन्दजी, स्वामी श्री स्वयमानन्दजी इत्यादि आठ-दस प्रतिभावान शिष्य आपका प्रतिबिम्ब बनकर निकले और आपकी ब्रह्मविद्या के आलोक में सम्प्रति साधक-समाज का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

श्री परमहंसजी के लीला-संवरण के पश्चात् इन शिष्यों में प्रथम प्रवेश एवं उत्कट भक्ति के प्रभाव से स्वामी श्री सच्चिदानन्दजी महाराज सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनकी प्रेरणा-निर्देशन एवं देखरेख में इन पुस्तक-पुस्तिकाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त बिखराव के मूल में भ्रान्तियों के निवारण-हेतु यह प्रयास किया गया है, जिससे आप सब लोक में सम्वृद्धि

और अनन्त आनन्द के भागी बनें। इन्हें यथाशीघ्र आपके हाथों तक पहुँचाने का प्रयास किया जायेगा।

इस समय पूज्य स्वामीजी के संरक्षण में बीस-पचीस आश्रम हैं, जिसमें सेवा, साधना तथा सतत चिन्तन में प्रवृत्त दो-ढाई सौ विरक्त शिष्य तथा हजारों अनन्य सेवक हैं, समाज में श्रद्धालु भक्त हैं। इन सब पर तथा सभी आश्रमों पर आप अन्तःप्रेरणा से कृपा बनाये रखते हैं।

आपका मूल निवास धारकुण्डी है। 'सर्वसुखाय सर्वहिताय' अनेकानेक रचनात्मक कार्यक्रम श्री परमहंस आश्रम, धारकुण्डी, सतना, मध्य प्रदेश की तपस्थली से प्रसारित होते ही रहते हैं, किन्तु दायित्वबोध के प्रति सतर्क न रहने के कारण हम-आप उनका समग्र लाभ नहीं उठा पाते; क्योंकि- **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।'**- जो श्रद्धावान् है, तत्पर है, संयतेन्द्रिय है- ऐसा पुरुष ही उसे पाता है। कृपया श्रद्धा से परमपूज्य सद्गुरुदेव परमानन्दजी (परमहंसजी) की कृपा-प्रसाद से प्राप्त इन वाणियों का अध्ययन, मनन, चिन्तन करें। प्रश्न एवं विचार-विमर्श के लिए आपका एवं आपके सुझावों का सदैव स्वागत है।

निवेदक :

स्वामी अड़गड़ानन्द

श्रीगुरुपूर्णिमा, सन् १९९४ ई०

दो शब्द

प्रश्न तो विश्वभर के हैं किन्तु उनके कथानक भारतीय हैं। कुछ धार्मिक प्रश्न अपने स्वरूप से हट गये हैं। कल्याणप्रद अनेकों प्रश्न अपना आशय खोकर अन्धविश्वासों के स्रष्टा बन गये हैं। उदाहरण के लिए 'युग' योगपथ के क्रमोन्नत सोपान हैं, अन्तःकरण की अवस्थाएँ हैं, जिन्हें लोगों ने काल-गणना के पैमाने में प्रयुक्त कर लिया है। व्यवस्थाओं में यौगिक नामकरण का औचित्य तो है; किन्तु उनके मूल आशय पर आवरण डालना क्या उचित है?

इसी प्रकार अहिंसा को लेकर समाज में भ्रामक धारणाएँ हैं। योग-साधना के आठ अंग हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। जिसमें यम के पाँच विभाग- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। अतः अहिंसा योग में प्रवेश के पश्चात् है; किन्तु समाज में है कि चूहा मारा तो गाय दान दें, बिल्ली मारा तो सोने की बिल्ली दान करें। जीव-जन्तु, मच्छर, चींटी तक की हत्या में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न समाहित कर दिया। करोड़ों भगवान्, देवी-देवताओं के आकर्षण में लोग निर्णय ही नहीं कर पाते कि भजन किसका करें? पार कौन करेगा? एक परमात्मा के अतिरिक्त गाय की पूँछ पकड़कर परमधाम की यात्रा करते भारत में लोग दिखाई देते हैं। शास्त्र के नाम पर देवी-देवताओं की स्तुति, चालीसा-पाठ कर लें, हो गया शास्त्र-पाठ!

ऐसे अनेक प्रश्नों के समाधान-हेतु श्री परमहंस आश्रम से द्वादश लघु पुस्तिकाओं का प्रसारण हुआ था। प्रत्येक पुस्तिका भजन के विषय में एक ही निर्देशन प्रस्तुत करती है। सुविधा की दृष्टि से समय-समय पर प्रकाशित इन लघु पुस्तिकाओं को एक पुस्तक का रूप दिया जा रहा है। सामाजिक बिखराव के उन्मूलन तथा धार्मिक भ्रान्तियों के निवारण-हेतु इसका अनुशीलन करें।

- आश्रम के सौजन्य से

शास्त्र–सार

* सम्पूर्ण सृष्टि में धर्म एक ही है- अमृत-तत्त्व की प्राप्ति, सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति, अनन्त सुख और उसका आरम्भ है परमात्मा में श्रद्धा।

* सत्य एकमात्र परमात्मा है। जो इस सत्य को नहीं दृढ़ाता, वह धर्म नहीं है। यदि धर्म में यह सच्चाई नहीं है, तो जीवन भी निरर्थक चला जाता है।

* जो भी व्यक्ति एक परमात्मा में अटूट श्रद्धा और ॐ अथवा राम या जो उस परमात्मा का परिचायक है, ऐसे किसी एक नाम का स्मरण करता है, वह धर्म को न जानते हुए भी शुद्ध धार्मिक है।

* जो शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, सनातन है वह धर्म है और जो आज है किन्तु कल नहीं रह जायेगा, नश्वर है वह अधर्म है।

* विश्व में धर्म एक ही है। शाश्वत एकमात्र परमात्मा को पाने का यत्न ही धर्म है। परमात्मा भी यदि दो है तो उसके लिये दूसरी सृष्टि चाहिए- उसके व्याप्त होने, रहने के लिये।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१.	वेदान्त	१
२.	भजन किसका करें?	५
३.	कर्मकाण्ड	३३
४.	यज्ञ (हवन)	४१
५.	ब्रह्मचर्य	५३
६.	गायत्री	५७
७.	युगधर्म	६३
८.	अहिंसा	७३
९.	पाप और पुण्य	९७
१०.	सनातन धर्म	११९
११.	वर्ण-व्यवस्था	१५३
१२.	विप्र - एक स्थिति	१७५
१३.	आर्य	२०३
१४.	गोरक्षा	२११
१५.	सती	२५३
१६.	अवतार का अनन्त विधान	
	कबीर और अवतार	२८१
	कच्छपावतार : सागर मन्थन	२८३
	मत्स्यावतार	३२४
	वराह अवतार	३३०
	नरसिंह (नृसिंह) अवतार	३३२

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
	अजामिल-उद्धार	३३५
	गजराज का उद्धार	३३६
	अवतार का विशद् दर्शन	
	१. महापुरुष	३३८
	२. श्रीकृष्ण-परिचय	३४०
	३. श्रीकृष्ण के शब्दों में अवतार	३४८
	उपसंहार	३५२
	प्रश्न	३५४
१७.	आस्तिकता के नाम पर	३५७
१८.	वेदों के नाम पर	३६१
१९.	दान	४२३
२०.	पूज्य श्री स्वामीजी द्वारा विरचित साधनापरक दोहे (ज्ञान-गंगा)	४३५

वेदान्त

एक भाविक का प्रश्न

प्रश्न - महाराजजी! भारतीय मनीषियों ने वेदान्त की बड़ी महिमा बतायी है। कृपया स्पष्ट किया जाय कि वेदान्त क्या है?

उत्तर - परमात्मा के शोध की विधि का परिणाम वेदान्त है। भारत का सम्पूर्ण आदिसत्य यही है। परवर्ती महापुरुषों ने क्षेत्रज और देशज भाषाओं में इसी सत्य को दृढ़ाया है। यद्यपि वेदान्त के नाम पर उत्तर-मीमांसा या ब्रह्मसूत्र जैसा ग्रन्थ प्रचलित है फिर भी वास्तविक वेदान्त यहीं तक सीमित नहीं है। वह उस साधना का परिणाम है जिसकी विधि 'श्रीमद्भगवद्गीता' है।

स्वामी विवेकानन्दजी ने विश्व में यत्र-तत्र वेदान्त सोसाइटी स्थापित कर अपने गुरुभाइयों को वहाँ नियुक्त कर निर्देश दिया कि यहाँ गीता-पाठ और उसका उपदेश होना चाहिए, और भी कोई भारतीय दर्शन पढ़ सकते हैं। भारत आने पर अपने वेलूर मठ में वे अपने गुरुभाइयों को स्वयं गीता और उपनिषद् पढ़ाया करते थे; क्योंकि उपनिषदों में सार गीता ही है। वेद का अर्थ है जानकारी! उस अविदित तत्त्व को विदित करने की समग्र विधि गीता है, इसलिये गीता वेदान्त है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। *(१५/१५)*

अर्जुन! मैं ही सभी प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता हूँ। मुझसे ही स्व-स्वरूप की स्मृति, सम्पूर्ण ज्ञान और अपोहन अर्थात् बाधाओं का शमन होता है। सब वेदों द्वारा मैं ही जानने में आता हूँ और मैं ही वेदान्त अर्थात् वेद की अन्तिम स्थिति का कर्त्ता हूँ। उस परमतत्त्व की जानकारी के पश्चात् जब जानने योग्य कोई अन्य सत्ता रह ही नहीं गयी, वहाँ वेद का भी अन्त हो जाता है, जिसका नाम है विशुद्ध वेदान्त। यह एक स्थिति है। वेदान्त साधना का परिणाम है। इसी का नाम मुक्ति है। यही कैवल्य ज्ञान है।

भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता में वेदान्त पर बहुत बल दिया है -

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। *(७/२६)*

अर्जुन! भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों को मैं जानता हूँ; किन्तु मुझे कोई नहीं जानता। क्यों नहीं जान पाते? इस पर कहते हैं -

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।। *(७/२७)*

इच्छा, द्वेष अर्थात् राग और द्वेष के द्वन्द्व से प्राणी अत्यन्त अज्ञान को प्राप्त हो रहे हैं, इसलिये मुझे नहीं जानते। तो क्या कोई जानेगा ही नहीं? इस पर कहते हैं-

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।। *(७/२८)*

किन्तु पुण्यकर्म (जो आपको पूर्णत्व प्रदान करता है जिसे नियत कर्म, यज्ञार्थ कर्म, तदर्थ कर्म, मदर्थ कर्म, कार्यम् कर्म, यज्ञ की प्रक्रिया कहकर बारम्बार समझाया उस कर्म को) जो करते हैं, व्रत में दृढ़ रहकर निरन्तर जो भजते हैं वे सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं। जरा-मरण से छूटने के लिये जो सतत अभ्यास करते हैं वे सम्पूर्ण ब्रह्म को जानते हैं; सम्पूर्ण अध्यात्म, सम्पूर्ण कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञसहित मुझे जानते हैं और उस अवस्था से पुनः कभी विचलित न होकर सदा रहनेवाला धाम और शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ पर, वेद जो जानने में आया और वेद का भी अन्त अर्थात् सहज स्वरूप में स्थिति वेदान्त है। वेदान्त परिणाम है। इस प्रकार वेदान्त साधना का परिणाम है, क्रियाजन्य है। उस परिणाम में ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन और सदा उसी स्वरूप में स्थिति मिल जाती है।

कालान्तर में वेदान्त को लोगों ने वाग्विलास का साधन बना लिया, जैसे- रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाना, सीप में चाँदी का भ्रम हो जाना। इसी प्रकार संसार भी अनित्य है, केवल सत्य जैसा प्रतीत होता है। मरुभूमि में जेष्ठ के महीने में सूर्य की किरणें सीधी पड़ने से उत्तप्त रेत पर वाष्प की लहरें देख मृगों को जल का भ्रम हो जाता है। वहाँ छोटी-छोटी झाड़ियों में प्राणधारी छिपे रहते हैं। मृग भी उसी में रहते हैं। ऊष्मा इतनी बढ़ जाती है कि चार-चार, पाँच-पाँच फीट ऊँची वाष्प की लहरें चला करती हैं जिन्हें देखकर मृगों को भ्रम हो जाता है कि दूर वहाँ जल है। चलें, जल पीकर आयें। मृग उस स्थान तक दौड़ लगाता है, वहाँ जल न पाकर दूसरी ओर जल जैसा देखकर भागता है, फिर तीसरी ओर! वहाँ भी मरीचिका। जल की आशा में दौड़ते-दौड़ते वह अन्ततः झुलसकर मर जाता है। इस प्रकार सांसारिक सुख मृगतृष्णा का जल है। 'मैं शरीर नहीं हूँ, मैं परम चेतन आत्मा हूँ।'; 'आँखें नहीं देखतीं; आँखें जिसके द्वारा देखती है, मैं वह हूँ।'; 'कान नहीं सुनते; कान जिसके द्वारा सुनते हैं, मैं वही हूँ।'; 'मैं ही परम चेतन

परमतत्त्व हूँ, परमात्मा हूँ।'- इस प्रकार चिन्तन करने, बौद्धिक वार्ता का क्रम बैठा लेने और इन दार्शनिक मतवादों के खण्डन-मण्डन को ही लोगों ने वेदान्त की संज्ञा दे डाला। वे कहने लगे- 'मैं ब्रह्म हूँ, आत्मा हूँ'; किन्तु वास्तविक वेदान्त परिणाम है, साधनजन्य है, योग-साधना का परिणाम है। भगवान कहते हैं कि साधना के परिणाम में उस वेदान्त की अवस्था को प्राप्त साधक सम्पूर्ण ब्रह्म (अब कुछ भी अनजाना नहीं), सम्पूर्ण कर्म (अब कुछ भी करने योग्य शेष नहीं), सम्पूर्ण अध्यात्म (प्रत्येक कार्य आत्मा के आधिपत्य में होने लगे) और अधियज्ञसहित मुझे जानते हैं। मुझे जानकर मुझमें स्थित हो जाते हैं। स्थिति के पश्चात् कर्म करने से उस महापुरुष को न कोई लाभ है, न कर्म छोड़ने से उसकी कोई क्षति, न ही प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य है; फिर भी ऐसे महापुरुष लोकहित के लिये कर्म करते हैं। स्वयं के लिये उनका कुछ प्रयोजन नहीं है। ऐसे महापुरुष सद्गुरु होते हैं। सद्गुरु एक स्थिति है।

भगवान श्रीकृष्ण का कथन है- ''अर्जुन! हम दोनों के इस संवाद (गीता) को जो इन भटके हुए भक्तों में कहेगा, प्रसारित करेगा, उसके समान मेरा प्रिय कार्य करनेवाला और कोई नहीं है। श्रवण कर जो पालन करेगा, वह मुझे प्राप्त कर लेगा। जो केवल सुनेगा, वह भी उत्तम लोकों को प्राप्त होगा। अर्जुन! अहंकारवश यदि तू नहीं सुनेगा तो जड़-मूल से विनष्ट हो जायेगा।'' अर्थात् मोक्ष का अन्य कोई रास्ता नहीं है।

अतः भारत में अनादिकाल से जो चला आ रहा है, विशुद्ध शास्त्र परमात्मा के श्रीमुख का सीधा गायन 'श्रीमद्भगवद्गीता' ही है। वेदप्राण विविध उपनिषद् इसी का विस्तार हैं। इसका अनुशीलन कर आचरण में ढालें और अमरकीर्ति प्राप्त करें।

अब संस्कृत लोकभाषा नहीं रही। अतः गीता को यथावत् समझने के लिये कि धर्म क्या है? सत्य क्या है? कर्म क्या है? वर्ण क्या है? कर्म करने का अधिकार किसे है? भजन किसका और कैसे करें?- इन समस्त शंकाओं के समाधान के लिये 'श्रीमद्भगवद्गीता' भाष्य 'यथार्थ गीता' की तीन-चार आवृत्ति अवश्य करें। इसी के आलोक में आप विशुद्ध वेदान्त प्राप्त करने में सक्षम होंगे।

विवेकानन्दजी की मान्यता थी कि शुष्क वेदान्त साधना खो बैठा है। यही कारण था कि वेदान्त सोसाइटी की स्थापना करने पर भी उन्होंने ब्रह्मसूत्र नाम से प्रचलित दर्शन-ग्रन्थ का नाम तक नहीं लिया, केवल गीता की अनुशंसा की और यदा-कदा उससे सन्दर्भित उपनिषदों के अनुशीलन का परामर्श दिया।

।। ॐ ।।

प्रश्न– महाराजजी! क्या घर में भजन नहीं हो सकता?

उत्तर– घर में पुण्य और पुरुषार्थ को बढ़ाया जा सकता है लेकिन उस भजन के द्वारा निवृत्ति नहीं हो सकती। सेवा, भजन उतनी ही तल्लीनता से जारी रखना चाहिए, जब तक कि उसकी कोई निर्धारित सीमा न मिल जाय। उस सीमा के उपरान्त ही स्वयं भगवान घर छुड़ा देते हैं। आज हम सोचते हैं कि घर छोड़ना असम्भव है परन्तु इष्टदेव के अनुकूल होने पर सब सुलभ हो जाता है।

–'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' से उद्धृत

भजन किसका करें?

सत्य का अभाव नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। द्रष्टव्य है कि सत्य क्या है?

महाकुम्भ के अवसर पर चण्डीद्वीप (हरिद्वार) में दि० १०-४-८६ ई० की जनसभा में स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी का प्रवचन।

बन्धुओ!

सागर-मन्थन के परिणाम में निकले अमृत-घट से कुछ अंश इन्हीं स्थलों पर छलक गया था, जहाँ कुम्भ-मेलों के आयोजनों का इतिहास है। ये आयोजन इसीलिये होते हैं कि उस अमृत-तत्त्व के शोध की विधि मिल जाय। यह नहीं कि मेले में आये, स्नान किया, दृश्य देखा और लौट गये। ये जो कुम्भ-मेले लगते हैं, मात्र इतने के लिए ही लगते हैं कि धर्म के विषय में, इष्ट के विषय में, अपने कल्याण के रास्ते में हमारी जो भ्रान्तियाँ हैं मिट जायँ। सम्प्रति श्रीमद्भगवद्गीता और अन्य योगशास्त्रों के अनुसार एक परमात्मा और उसकी प्राप्ति की एक निर्धारित क्रिया के स्थान पर असंख्य पूजा-पद्धतियाँ प्रचलन में हैं। कोई कहता है- गाय धर्म है, कोई कहता है- पीपल धर्म है, तो कोई वर्ण और कोई आश्रम का महत्त्व बताता है। अतः यह प्रश्न उलझता ही चला जाता है कि सनातन-धर्म क्या है? आज का प्रश्न भी ऐसा ही है कि इष्ट कौन है? भजन किसका करें?

दुनिया में सबसे अधिक धार्मिक, भजन-चिन्तन करनेवाला, पूजा-पाठ करनेवाला हिन्दू ही है; परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि धर्म के प्रति इतना आस्थावान् हिन्दू जीवन के अन्तिम समय तक यह निश्चय ही नहीं कर पाता कि हमारा इष्ट कौन है? हम किसकी पूजा करके कल्याण को प्राप्त हो सकते हैं? इसके मूल में देखा जाय तो बहुदेववाद का प्रचार ही एकनिष्ठ होने में सबसे अधिक बाधक सिद्ध होता है। एक ही परिवार में दस सदस्य हैं, तो सबके देवता अलग-अलग हैं। कोई हनुमान का भक्त है तो कोई शिव का, कोई देवी का तो कोई किसी अन्य देवता का। अपने-अपने देवी-देवताओं के लिये लोग एक दूसरे से झगड़ा भी करते देखे जाते हैं। किसी को यह मालूम नहीं कि शाश्वत कौन है? किसकी उपासना से शाश्वत धाम की प्राप्ति होगी? अनेक देवी-देवता हमारे मन में इस प्रकार समा गये हैं कि अन्त समय तक हम किसी पर विश्वास ही नहीं टिका पाते। मृत्यु के समय जब लड़के आसपास खड़े होकर कहते

हैं कि- दादा! अब चिन्ता त्यागकर भगवान का स्मरण कीजिये, तो दादा एक झटके से कह गुजरते हैं- हे हनुमान जी, हे दुर्गाजी, हे शीतला माई, हे विन्ध्यवासिनी देवी, हे मैहरवाली माता, हे हरसूब्रह्म बाबा, हे शंकरजी! अर्थात् औसतन पचीस-तीस नामों का एक साथ स्मरण करने लगते हैं। इस तरह भ्रान्ति अन्त तक बनी रहती है, तो भला **'एक मन्दिर दस देवता क्यों कर बसे बजार।'** हृदय एक मन्दिर है जो एक परमात्मा को अपने अन्दर स्थान दे सकता है, उसमें अनेक लोगों को स्थान नहीं दिया जा सकता। **'दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम।'** अतः हृदय-देश में किसी एक को बैठाना ही उचित होगा।

आइये देखें कि इस सन्दर्भ में हमारे पूर्व महापुरुषों ने क्या कहा? भगवान श्रीकृष्ण ने किसे इष्ट कहा? भगवान राम ने किसका भजन करने के लिये कहा? भगवान शिव ने किसका स्मरण करने का निर्देश दिया? स्वयं इन आप्तपुरुषों ने किसका चिन्तन किया? केवल इतनी ही बात आप ज्यों-का-त्यों मान लीजिये, तो न सन्देह है और न भविष्य में होगा। खेद इस बात का है कि हम इस पर विचार ही नहीं करते। कदाचित् विचार आता भी है तो हम इतने भयभीत हैं कि इस विषय में अपने निर्णय को बदल नहीं पाते कि कहीं पुरानेवाले देवता महाराज नाराज न हो जायँ, दुःख न दे दें।

देखें, इस विषय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने '**गीता**' में अपना स्पष्ट विचार प्रकट किया है-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। *(गीता, ८/१५)*

अर्जुन! मुझे प्राप्त होकर पुरुष क्षणभंगुर, दुःखों की खान पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता बल्कि वह पुरुष मुझे प्राप्त होता है। जो पुनर्जन्म में आता है वह दुःखों की खान है। केवल मुझे प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता; बल्कि **'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'** *(गीता, १८/६२)*- वह शाश्वत, सदा रहनेवाला स्थान, परमधाम को पा जाता है। अब देखना है कि पुनर्जन्म की परिधि में आता कौन-कौन है?-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। *(गीता, ८/१६)*

अर्जुन! ब्रह्मा से लेकर चौदहों भुवन, चराचर जगत् पुनरावर्ती स्वभाववाला है; किन्तु मुझे प्राप्त होनेवाला पुरुष पुनर्जन्म को प्राप्त न होकर शाश्वत धाम को पा लेता है। स्पष्ट है कि ब्रह्मा और उसके द्वारा सृजित सारी सृष्टि मरणधर्मा है। इसके अन्दर देवता, पितर, दानव, ऋषि, सूर्य, चन्द्र सभी आ जाते हैं। मानव-जीवन का परम लक्ष्य है अमरत्व की प्राप्ति। इस लक्ष्य की प्राप्ति, श्रीकृष्ण के अनुसार, एक परमात्मा के

चिन्तन से ही सम्भव है। उदाहरणार्थ- आपको समुद्र पार करना है। आप किसी कागज के बण्डल का सहारा ले लें तो कुछ दूर जाने पर वह समाप्त हो जायेगा और आप डूब जायेंगे। इसी प्रकार अन्य कोई भी साधन जो स्वयं डूबनेवाला है, कमजोर है, उसे ग्रहण करके पार जाने की आशा करना दुराशा मात्र होगी। इसी प्रकार, जो स्वयं मरणधर्मा है, नश्वर है वह आपको शाश्वत धाम नहीं दे सकता, अमरत्व नहीं दे सकता; हाँ, मृत्यु अवश्य दे सकता है। अतः एक परमात्मा का चिन्तन ही गीता का उपदेश है।

जब गीता के अनुसार देवता अशाश्वत और दुःखों की खान हैं, तो फिर उनकी पूजा क्यों होती है? इस पर श्रीकृष्ण ने बताया *(अध्याय ७/२०)*- अर्जुन! जिनकी बुद्धि कामनाओं से आक्रान्त है, ऐसे मुढ़बुद्धियुक्त लोग ही अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। वहाँ देवता नाम की कोई सक्षम वस्तु नहीं होती; किन्तु जहाँ भी- पानी में, पत्थर में, वृक्ष में लोगों की श्रद्धा झुकती है वहाँ पर मैं ही स्वयं खड़ा होकर उनकी श्रद्धा को पुष्ट करता हूँ, फल का विधान करता हूँ अर्थात् इन पूजनेवालों को फल तो मिलता है, लेकिन वह भोगने में आकर नष्ट हो जाता है। रात-दिन श्रम तो किया, लेकिन जो फल मिला वह भी नष्ट हो गया। सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है।

भले ही नष्ट हो जाय, कुछ काल के लिए ही सही फल तो मिलता है न! तो बुराई क्या है? इस पर अध्याय नौ में कहते हैं कि देवताओं को पूजनेवाला भी मेरी ही पूजा करता है; किन्तु वह पूजन अविधिपूर्वक है इसलिए नष्ट हो जाता है। सब कुछ त्याग करके, खून-पसीना एक करके आप पूजन में श्रम करते हैं और परिणाम यह निकला कि वह नष्ट हो गया; क्योंकि पूजन अविधिपूर्वक है। तो जब श्रम करना ही है तो विधिपूर्वक क्यों नहीं करते? रास्ता चलना ही है तो सही रास्ते से क्यों नहीं चलते?

यदि वह देवपूजन अविधिपूर्वक है तो विधि है क्या? इस पर अठारहवें अध्याय में कहते हैं कि, अर्जुन! अपने-अपने स्वभाव में पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार नियत कर्म में लगा हुआ पुरुष (मनुष्य) जिस प्रकार भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धि को प्राप्त होता है, वह विधि तू मुझसे सुन। जिस परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई है, जिस परमात्मा से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के द्वारा भली प्रकार अर्चन से सन्तुष्ट करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है। अतः एक परमात्मा की पूजा ही विधि है। यह पूजन भी चिन्तन की एक निर्धारित क्रिया है। जिसमें श्वास का यजन, इन्द्रियों का संयम, यज्ञस्वरूप महापुरुष का ध्यान इत्यादि क्रियाओं का समावेश है, जिनकी चर्चा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने चौथे अध्याय के यज्ञ-प्रकरण तथा समूची गीता में स्थान-स्थान पर की है। आप इसे 'सनातन' शीर्षकवाले व्याख्यान में विस्तारित रूप से जान सकते हैं। आवश्यकता पड़ने पर पुनः पूछा जा सकता है।

अधिक नहीं, केवल एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा और उस परमात्मा के किसी नाम ओम् अथवा राम का यदि आप जप करते हैं, तो (धर्म को न जानते हुए भी) आप शुद्ध धार्मिक हैं, सम्पूर्ण क्रिया को न जानते हुए भी आप क्रियावान् हैं। न इसका फल नष्ट होगा, न आप।

सम्पूर्ण गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहीं भी देवताओं का समर्थन नहीं करते। अध्याय नौ में वे कहते हैं कि कुछ लोग मुझे पूजकर स्वर्ग की कामना करते हैं, मैं उनको विशाल स्वर्गलोक के भोग देता हूँ; किन्तु वे- '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**' *(गीता, ९/२१)*- पुण्य क्षीण हो जाने पर स्वर्ग से गिर जाते हैं। लेकिन गिरने पर भी उनका विनाश नहीं होता; क्योंकि वे विहित कर्म से चलनेवाले हैं, जो सही विधि है। अर्जुन! इस विहित कर्म में आरम्भ का नाश नहीं होता। साधक चलते-चलते कोई इच्छा कर भी ले तो भगवान उसकी पूर्ति करेंगे। वह वस्तु शाश्वत थी कब! इसलिए वस्तु तो भोगने में आ जाती है, किन्तु उस भक्त का विनाश नहीं होता; क्योंकि वह विधिपूर्वक करनेवाला है। वस्तुतः ब्रह्मा से उत्पन्न ब्रह्मलोक, देवलोक, पशु-कीट-पतंगादि लोक सभी भोग-योनियाँ हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है। जिसके द्वारा वह परमात्मा तक को प्राप्त कर सकता है, अपवर्ग साध सकता है। शरीर धारण के क्षेत्र में आप देवताओं से भी भाग्यशाली हैं, बढ़कर हैं; क्योंकि यह तन सुर-दुर्लभ है और आपको मिल चुका है। आप उनसे कौन-सी आशा करते हैं? आप देवता बन लें, ब्रह्मा की स्थिति प्राप्त कर लें, किन्तु पुनर्जन्म का सिलसिला तब तक नहीं टूटेगा जब तक मन के निरोध और विलय के साथ परमात्मा का साक्षात्कार करके उसी परमभाव में स्थित न हो जायँ। उसकी विधि है- गीतोक्त विहित कर्म, उसे भजने की निश्चित क्रिया।

सोलहवें अध्याय के अन्त में भगवान कहते हैं- अर्जुन! तू शास्त्र द्वारा निर्धारित किये हुए कर्म को कर! कौन-सा शास्त्र? कहीं अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं, '**किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः**' *(महाभारत, भीष्मपर्व, ४३/१)*- अन्य शास्त्रों के पचड़े से क्या प्रयोजन? भगवान ने स्वयं बताया, '**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।**' *(गीता, १५/२०)*- अर्जुन! यह गोपनीय से भी अतिगोपनीय शास्त्र मैंने तेरे लिए कहा। अगले ही श्लोक में कहते हैं कि तेरे कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है इसलिए तू शास्त्र द्वारा नियत कर्म को कर। जो शास्त्रविधि को त्यागकर अपनी इच्छानुसार बरतता है उसके लिए न सुख है, न परमगति है, न लोक है और न परलोक। अतः आप सब गीताशास्त्र द्वारा नियत कर्म करें। भूत-भवानी की पूजा कर अपना यह लोक और परलोक न बिगाड़ें।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के उपर्युक्त निर्देश पर अर्जुन ने जानना चाहा कि जो लोग शास्त्रविधि को त्यागकर किन्तु श्रद्धापूर्वक भजते हैं, उनकी कौन-सी गति होती है? भगवान ने बताया, अर्जुन! यह पुरुष श्रद्धामय है, कहीं-न-कहीं इसकी श्रद्धा अवश्य होगी। शास्त्रविधि को त्यागकर भजनेवालों की श्रद्धा तीन प्रकार की होती है- सात्विकी श्रद्धावाले देवताओं को, राजसी श्रद्धावाले यक्ष-राक्षसों को और तामसी श्रद्धावाले भूत-प्रेतों को पूजते हैं। ये तीनों केवल पूजते ही नहीं, अथक परिश्रम करते हैं, घोर तप को तपते हैं; किन्तु अर्जुन! ये तीनों प्रकार की श्रद्धावाले शरीररूप में स्थित भूतसमुदाय को और अन्तःकरण स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मा को कृश करनेवाले हैं। मुझसे दूरी पैदा करते हैं, न कि भजते हैं। अर्जुन! इन सबको तू असुर जान।- अर्थात् देवी-देवता को पूजनेवाले भी असुर हैं।

असुर का मतलब क्या दो सींगवाला, बड़े-बड़े दाँतोंवाला कोई अजीब-विचित्र जीव? नहीं, परमदेव परमात्मा के देवत्व से जो वंचित रहनेवाला है, वह असुर है। श्रीकृष्ण के अनुसार, दुनिया में मनुष्य दो प्रकार का है- एक देवताओं-जैसा, दूसरा असुरों-जैसा। दैवी सम्पद् नामक गुणों को धारण करनेवाला देवताओं-जैसा है और आसुरी सम्पद्वाला, दुर्गुणों को धारण करनेवाला पुरुष असुरों-जैसा है। आपका एक सगा भाई देवता और दूसरा सगा भाई असुर हो सकता है। अस्तु, योगेश्वर कहते हैं कि इन सबको तू असुर जान! इससे अधिक कोई क्या कहेगा?

बन्धुओ! आपने इतना श्रम भी किया, शास्त्रविधि को त्यागकर इतना तप भी तपा, लेकिन परिणाम यह निकला कि उस परमदेव के देवत्व से वंचित हो गये, 'असुरजान'- असुर हो गये। जिस आत्मा को, परमात्मा को प्रसन्न करना था वह और भी दुर्बल और दूर हो गया। जब श्रम ही करना है तो इस तरीके से करें जिससे वह परमात्मा आपके अनुकूल हो, प्रतिकूल नहीं। क्यों न शास्त्रविधि से, नियत किये हुए कर्म को करें? अतः जिसके ये सभी अंशमात्र हैं, उस मूल एक परमात्मा का भजन करें। इसी पर श्रीकृष्ण ने बारम्बार बल दिया है। एक परमात्मा का चिन्तन गीता का मूल उपदेश है।

अब इस चिन्तन का अधिकारी कौन है? 'हम तो बड़े पापी हैं, अर्जुन-जैसा भाग्य हमारा कहाँ!'- कहीं ऐसी धारणा न बना लें, कहीं आप हताश होकर बैठ न जायँ, इसलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। *(गीता, ९/३०)*

अर्जुन! अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य अर्थात् अन्य न, मुझे छोड़कर अन्य किसी देवता को न भजते हुए केवल मुझे भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि

वह यथार्थ निश्चय से लग गया है। **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'** *(गीता, ९/३१)*– इस प्रकार लगने से वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है, परमधर्म परमात्मा से संयुक्त अन्तःकरणवाला हो जाता है और सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

अतः आप अत्यन्त दुराचारी या दुराचारियों के सिरमौर ही क्यों न हों, (अन्य बहुत से दुराचारों की योजना भी क्यों न बनाते हों) यदि एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा और उस परमात्मा की प्राप्ति की क्रिया (यज्ञ की प्रक्रिया) नियत कर्म में श्रद्धा के साथ लगते हैं तो आप शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाएँगे। **'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।'** *(गीता, ९/३१)*– अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। अस्तु! अन्य किसी को पूजने का विधान नहीं है।

ठीक है, एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा स्थिर हो गयी, धर्माचरण के लिए तैयार भी हो गये; किन्तु उस एक परमात्मा को खोजें कहाँ? क्या तीर्थों में, मन्दिरों में? भजन किया जाय तो कहाँ पर किया जाय? इस पर कहते हैं–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। *(गीता, १८/६१)*

अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतप्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। जब इतना समीप है तो दिखता क्यों नहीं?- तब बताते हैं कि मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर सबलोग भ्रमवश भटकते रहते हैं इसलिए नहीं देख पाते। तो क्या करें, शरण किसकी जायँ?

गीता के १८/६२ श्लोक में कहते हैं, **'तमेव शरणं गच्छ'**– अर्जुन! उसी हृदय-देश में स्थित ईश्वर की शरण जाओ। **'सर्वभावेन'**– सम्पूर्ण भावों से जाओ। ऐसा नहीं कि आधा भाव देवी में तो चौथाई देवता में। सम्पूर्ण हृदय से समर्पित हो जाओ। इससे लाभ? तब कहते हैं, **'तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।'**- उसकी कृपा-प्रसाद से तुम परमशान्ति को प्राप्त कर लोगे। उस स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है, सदैव है। अतः परमात्मा के शोध की स्थली हृदय-देश है, बाहर कहीं नहीं।

किन्तु समस्या तो यह है कि वह हृदयस्थ ईश्वर आरम्भ में दिखाई नहीं देता। हृदयस्थ ईश्वर की शरण जायँ तो कैसे जायँ? तो अगले ही श्लोक में कहते हैं- अर्जुन! गोपनीय से भी अतिगोपनीय एक बात और सुन! भला वह गोपनीय बात है क्या?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। *(गीता, १८/६५)*

अर्जुन! तू मेरे में अनन्य मनवाला हो, मेरा अनन्य भक्त हो, मेरे प्रति श्रद्धा से

पूर्ण हो मेरे को नमन कर! मेरे द्वारा निर्दिष्ट कर्म को कर! ऐसा करने से तू मेरे को ही प्राप्त होगा।

पहले बताया था- तत्त्वदर्शी की शरण में जा, अभी बताया- ईश्वर हृदय-देश में है उसकी शरण में जा, शाश्वत स्थान प्राप्त करेगा। यहाँ कहते हैं, मेरी शरण में आ। वास्तव में योगेश्वर श्रीकृष्ण और भगवान एक दूसरे के पूरक हैं। शाश्वत धाम को पाना और सद्गुरु जिस परमात्म-भाव में स्थित है, उसे पाना एक ही बात है। इसलिए सद्गुरु की शरण नितान्त आवश्यक है। सद्गुरु ही भगवान के धाम में प्रवेश की कुञ्जी हैं। भगवान हैं, किन्तु सद्गुरु के अभाव में वह हमारे दर्शन और प्रवेश के लिए नहीं। श्रीकृष्ण एक योगेश्वर थे, सद्गुरु थे- यह बात आसानी से गले के नीचे उतरती नहीं, इसीलिए योगेश्वर पुनः बल देते हैं-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। *(गीता, १८/६६)*

अर्जुन! सारे धर्मों को त्यागकर एक मेरी शरण को प्राप्त हो, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त करा दूँगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू निश्चय ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होगा। तू शोक मत कर।

प्रत्येक महापुरुषों ने यही कहा। भगवान राम कहते हैं- '**भगति मोरि**'। इसी क्रम में बौद्ध कहते हैं- '**बुद्धं शरणं गच्छामि।**' जैन कहते हैं- '**सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः**' *(तत्वार्थ सूत्र, १/१)*- तीर्थंकरों का दर्शन, उनका बताया ज्ञान और उनकी तरह चरित्र-निर्माण मोक्ष का साधन है। सिख कहते हैं- 'वाहे गुरु'। इस्लाम कहता है- मुहम्मद साहब अल्लाह के रसूल हैं। ईसा कहते हैं- ''संसार के भार से दबे लोगों मेरे पास आओ! मैं तुम्हें विश्राम दूँगा।'' पूज्य महाराजजी कहते थे- ''हो हम भगवान के दूत हैं। हमसे मिले बिना कोई भगवान से नहीं मिल सकता।'' सभी तो आपको बुला रहे हैं। किसके-किसके पास जाएँगे आप? महापुरुषों के इन कथनों का आशय मात्र इतना ही है कि अपने समकालीन किसी तत्त्वदर्शी की शरण ग्रहण करें।

अतः एक परमात्मा के प्रति समर्पण और उसी के पकड़वाले कोई महापुरुष हों उनका सान्निध्य, उनकी सेवा तथा उस परमात्मा का परिचायक दो-ढाई अक्षर का नाम चुन लें- राम अथवा ओम् जो भी अभिमत हो। क्षण में राम, क्षण में ओम् ऐसा अदले-बदले नहीं, कोई एक नाम चुन लें, सबका अर्थ एक है, परिणाम एक है- बस इतना ही आपको करना है। यदि आप हिन्दी नहीं जानते, तो जो कण-कण में व्याप्त उस एक ईश्वर का परिचायक हो, ऐसा कोई छोटा-सा दो-ढाई अक्षर का नाम ग्रहण कर लें। जब नाम के सूक्ष्म सतहों में पहुँच हो जायेगी, तब यही छोटा-सा नाम श्वास में ढला मिलेगा।

श्रीरामचरितमानस के अनुसार इष्ट कौन है?

अब आइये श्रीरामचरितमानस के आलोक में विचार करें कि इष्ट कौन है? भजन किसका करना चाहिए? 'मानस' जिनके हृदय की उपज है उन भगवान शंकर का निर्णय है-

धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता।।
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहिं जाना।।

(७/१२६/२-३)

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन, जेहिं नर उपज बिनीत।। *(७/१२७)*

वही नीति में निपुण है, वही विद्वान् है, वेदों का सार उसने भली प्रकार पहचाना है, वही कुलीन है जिसका मन एकमात्र राम के चरणों में अनुरक्त है।

सम्पूर्ण रामायण में आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही बात को बार-बार पुष्ट किया गया है कि भजन हम किसका करें। वनवासकाल का प्रसंग है- भगवान राम शृंगवेरपुर में शयन कर रहे थे। कुश और किसलय की कोमल साथरी पर उन्हें सोया देख निषादराज गुह को महान् कष्ट हुआ। उन्होंने बगल में बैठे लक्ष्मण से कहा, ''कैकेयी बड़ी कुटिल थी, जिसने रघुनन्दन राम और जानकी को सुख के अवसर पर दुःख दे डाला।'' लक्ष्मण ने कहा- यह बात नहीं है-

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निजकृत करम भोग सबु भ्राता।।
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।।

(२/९१/४-५)

धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू।।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं।।

(२/९१/७-८)

धरणी, धाम, धन, पुर, परिवार, जन्म-मृत्यु, सम्पत्ति-विपत्ति, स्वर्ग-नरक- इनके विषय में कहना-सुनना-गुनना मोह का मूल है। लोग स्वर्ग की कामना करते हैं तो वह भी मोह का मूल है, परमार्थ का वहाँ प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। तो परमार्थ क्या है? परमार्थ है केवल एक, परम पुरुष परमात्मा का चिन्तन-

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।। *(२/९२/६)*

इस प्रकरण में बताया गया कि स्वर्ग और नरक का व्यवहार मोह का मूल है, उद्गम है और आप स्वर्ग के अधिकारी देवताओं की पूजा करके मोह से मुक्त होना चाहते हैं! कितनी विसंगति है।

(क)

हम देवता परम अधिकारी।
स्वारथ रत प्रभु भगति बिसारी।। *(६/१०६/११)*

हम देवता लोग परम अधिकारी थे; लेकिन विषयों के वश में होकर आपकी भक्ति को भूल गये। हम देवता परम 'दुखु पायो।'- एक होता है दुःख और एक परम दुःख, उस परम दुःख से देवता भी आक्रान्त हैं। देवता भी विषयों के वश में हैं। आप उनकी सेवा करते हैं तो विषयों की सेवा करते हैं।

(ख)

बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना। *(१/५/४)*
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सुजीवनु माहुरु मीचू।। *(१/५/६)*
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगमागम गुन दोष बिभागा।। *(१/५/६)*

अर्थात् विधाता का प्रपंच गुण और अवगुणों से सना है। प्रपंच क्या है? पाप और पुण्य, सुजाति और कुजाति, सुन्दर जीवन अमृत, जहरीला जीवन मृत्यु, स्वर्ग और नरक यही सब विधाता का प्रपंच है। स्वर्ग और स्वर्ग निवासी देवता प्रपंच हैं। शास्त्रों में आप्तकाम महापुरुषों ने इसी का विभाजन किया था। यदि आप देवताओं की पूजा करते हैं तो प्रपंच की पूजा कर रहे हैं। यह इसी संसार के गुण-दोषों का चित्रण मात्र है। संसार से अलग न कोई देवता है न स्वर्ग!

(ग)

गरुड़ को मोह हो गया। वे ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने मन में विचार किया कि गरुड़ को तो मैंने बनाया, भगवान की माया ने जब स्वयं मुझ तक को अनेकों बार नचाया, तब पक्षिराज को मोह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है- **'बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा।'** *(७/५६/४)* देवताओं के पितामह ब्रह्मा ही जहाँ नाच रहे हैं तो क्या देवता आपको माया से बचा लेंगे?

सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा।
नाच नटी इव सहित समाजा।। *(७/७१/२)*

वही माया भगवान के संकेतमात्र से नटी की तरह नाचती है। माया से विवश होकर नाचनेवालों की आप पूजा करते हैं। जब करना ही है तो उसकी पूजा करें, जिसके संकेत पर स्वयं माया नाचती है। गरुड़जी कहते हैं- वह माया रघुवीर की दासी है और वह राम की कृपा के बिना छूटती ही नहीं, यह मैं प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ। अतः उन एक परमात्मा का भजन करें जो मायाधीश हैं, जिनके लिए मानस में बारम्बार संकेत किया गया है।

(घ)

अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेवा।। *(७/६३/७)*

देवता, मनुष्यादि चराचर जगत् काल का कलेवा है। देवता भी काल का कलेवा है, जलपान की सामग्री है। आप कलेवा का भजन क्यों करते हैं? **'भजसि न मन तेहि राम को, कालु जासु कोदण्ड।'** *(लंकाकाण्ड, दोहा, मंगलाचरण)*; **'भुवनेस्वर कालहु कर काला।'** *(५/३८/१)* काल के भी काल, जगत् के स्वामी भगवान राम का भजन क्यों नहीं करते? जो स्वयं मरणधर्मा है, वह आपको मृत्यु दे सकता है, मृत्यु से बचा नहीं सकता।

(ङ)

देवता आपके मनोगत भाव भी जानने में सक्षम नहीं हैं। देवर्षि नारद हिमालय की गुफा में तपस्यारत थे। देवताओं के राजा इन्द्र को लगा कि नारदजी तपस्या करके उनका पद (इन्द्र-पद) लेना चाहते हैं। देवताओं के राजा को इतना भी नहीं मालूम कि नारद किसलिए भजन कर रहे हैं? क्या वे आपकी मनोकामना पूरी करेंगे?

(च)

भगवत्-पथ में यदि कोई रुकावट है तो देवता हैं। नारद ही नहीं, जो भी भजन में अग्रसर हुआ, देवताओं ने उसे गिराने का भरपूर प्रयास किया। सामान्य मानव को भी वे इस पथ पर जाने नहीं देते-

इन्द्रीं द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।।
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।।

(७/११७/११-१२)

इन्द्रियों के द्वार हृदयरूपी घर के अनेकों वातायन हैं। प्रत्येक झरोखों पर देवता अड्डा जमाकर बैठे हैं। ज्योंही वे विषयरूपी हवा को आते देखते हैं त्योंही वे देवता हठपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं। व्यक्ति विषयों में उलझ जाता है। इन्द्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान अच्छा नहीं लगता। इन्हीं से तो आपको लड़ना है। ये विकार हैं, अवरोध हैं। यदि इन्हें पूजते हैं तो आप विकार पूज रहे हैं, अवरोध पूज रहे हैं। अवरोधों को तो हटाना चाहिए न!

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता।।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।

(१/११६/५-६)

विषय, इन्द्रियाँ, उनके देवता और जीवात्मा- ये सब (अवरोही क्रम से) एक की सहायता से एक क्रियाशील होते हैं और इन सबके ऊपर जो परम प्रकाशक हैं वही

अनादि अवधपति राम हैं। देवता भी जिसका प्रकाश लेकर प्रकाशित होते हैं, उस मूल परमात्मा का आप चिन्तन करें।

(छ)

देवता त्रिकालज्ञ भी नहीं हैं। राम-रावण युद्ध का सन्दर्भ है- भयंकर युद्ध चल रहा था, रावण मरने ही वाला था। देवता भी इस युद्ध को देख रहे थे। वे किसी का पक्ष नहीं ले रहे थे। वे '**बिकल बोलहिं जय जये।**' *(६/१०१/छन्द)*- 'जय हो, जय हो' की ध्वनि कर रहे थे। पता नहीं कौन जीते? राम की जय- ऐसा कहने में खतरा था। राम की विजय निश्चितप्राय हो जाने पर ही युद्ध के अन्तिम दिनों में देवराज ने अपना रथ सहायता में भेजा और रावण के मरते ही 'सदा स्वार्थी' देवता पहुँच गये, उनके पितामह तक चले आये। कहने लगे-

कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए।।
धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे।।

(६/११०/छन्द)

प्रभो! ये वानर कृतकृत्य हैं जो आपके मुखारविन्द का दर्शन कर रहे हैं। हम देवताओं के शरीर को धिक्कार है जो आपकी भक्ति के बिना भव में भूले पड़े हैं। जो स्वयं रास्ता भूल गया है, क्या वह आपको रास्ता बतायेगा? देवताओं ने कहा-

भव प्रबाहँ संतत हम परे।
अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे।। *(६/१०६/१२)*

जो स्वयं बह रहा है, क्या वह आपको पार उतारेगा? (वह जानता तो खुद न पार उतर जाता।) जो स्वयं भव-प्रवाह से अपने को बचाने के लिए त्राहि-त्राहि कर रहा है कि हमें पार कर दो, वह आपको क्या पार करेगा? वह आपके ऊपर चढ़ बैठेगा और कदाचित् पार भी हो जाय, किन्तु आप किस घाट लगेंगे? अतः देवता भी जिनसे शरण माँगते हैं आप सीधे उन्हीं भगवान को पकड़ें। जो देवता स्वयं अपनी विपत्ति में फँसा है वह आपकी कौन-सी सहायता करेगा?

(ज)

गोस्वामी तुलसीदासजी ने देवताओं का समर्थन कहीं नहीं किया। **'माया-बिबस बिचारे'** *(विनयपत्रिका, पद १०१)*- वे माया से विवश हैं, बेचारे हैं- उनके पास चारा नहीं है, तो आप क्यों जाते हैं उनके पास? देवता आपका इष्ट नहीं है।

(झ)

देवताओं का पराक्रम कितना है, गोस्वामीजी ने मानस में स्थान-स्थान पर चित्रित किया है-

रावन आवत सुनेउ सकोहा।
देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा।। *(१/१८१/६)*

रावण को क्रोधित आते सुना भर था, (लड़ना तो दूर, केवल सुना था कि क्रोधित होकर आ रहा है।) **'देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा।'**- देवता मेरु पर्वत की कन्दराओं में जाकर छिप गये। लेकिन देवियाँ कहाँ तक भागतीं! रावण ने उन सबको पुष्पक विमान में बैठा लिया।

देव जच्छ गंधर्ब नर, किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर बर नारि।। *(१/१८२ ख)*

अपनी भुजाओं के बल से इन सबको जीता, इनका वरण किया और निशाचरों में वितरित करके उन्हें देवलोक-जैसी सुख-भोग की व्यवस्था देकर सुखी किया। देवताओं ने सुना कि परिवार तो रावण के यहाँ कैद है तो बिना परिवार के अकेले जी कर के ही क्या करते? उन्हें छुड़ाने लंका पहुँच गये, रावण उन्हें भी सेवा-कार्य में नियुक्त कर लिया। **'कर जोरें सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता।।'** *(५/१६/७)* सभी हाथ जोड़कर विनीत भाव से खड़े रहते थे। भृकुटि देखते रहते थे कि कहीं उठने-बैठने में चूक न हो जाय, कहीं आदेश-पालन में देर न हो जाय, कहीं रावण नाराज न हो जाय।

रबि ससि पवन बरुन धनधारी।
अगिनि काल जम सब अधिकारी।। *(१/१८१/१०)*

सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, यमराज, कुबेर और देवताओं के सभी अधिकारी रावण की आज्ञा का पालन करते थे, भयभीत रहते थे और प्रतिदिन उपस्थित होकर रावण के चरणों में नमन करते थे। जो पहुँच नहीं पाता था, वह घर से ही प्रार्थना कर लेता था कि कोई शिकायत न कर दे। यह तो देवताओं का अस्तित्व था, फिर भी हम पूजा करते हैं।

(ञ)

आइये उन प्रकरणों पर भी विचार करें, जिनमें देवताओं से सहायता की याचना की गयी। हम देखने का प्रयास करें कि उन्होंने कौन-सी सहायता की? एक बार निशाचरों के आतंक से त्रस्त पृथ्वी गाय का रूप धारण कर देवताओं के पास गयी कि मेरी रक्षा करो! उन्होंने उत्तर दिया कि हम तुम्हारे कष्ट-निवारण में असमर्थ हैं। पृथ्वी के साथ सुर, मुनि, गन्धर्व सभी देवताओं के पितामह ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा ने सब जान लिया कि ये क्यों आये हैं। मन में अनुमान लगाया कि मेरा भी तो कोई वश नहीं है। बोले- जिसकी तू दासी है, वे अविनाशी हैं- उनका कभी विनाश नहीं होता। वे अजर,

अमर, शाश्वत और अमृतस्वरूप हैं- उन्हीं की प्रार्थना करो। वे ही तुम्हारे-हमारे सभी के सहायक हैं।

समस्या थी, उन परमात्मा को ढूँढ़ा कहाँ जाय? **'पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।।'** *(१/१८४/२)* कोई देवता उन्हें बैकुण्ठ चलने के लिए प्रेरित कर रहा था, तो कोई कह रहा था कि क्षीरसागर में भगवान रहते हैं। उसी समाज में शंकरजी भी थे, किन्तु उन्हें बोलने का अवसर ही नहीं मिल पा रहा था। किसी प्रकार एक वचन कहने भर के लिए अवसर मिला, **'अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ।'** *(१/१८४/४)*- तो वे बोले-

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।। (१/१८४/५)
अग जगमय सब रहित बिरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।। (१/१८४/७)

भगवान शंकर ने अपना जाना हुआ उपाय बताया कि भगवान कण-कण में समान रूप से व्याप्त हैं। सम्पूर्ण हृदय से मन को समेटकर उनके चरणों में लगा दो, वे तुरन्त प्रकट हो जायेंगे। उनका मत सबको स्वीकार हो गया। ब्रह्मा ने भी समर्थन दिया। उस विधि से स्तवन होते ही आकाशवाणी हुई कि तुम लोगों का दुःख हम दूर करेंगे।

इन समस्त प्रकरणों में देवताओं ने कौन-सा निर्णय दिया और कौन-सी सहायता की? जिनको यह भी ज्ञात नहीं है कि भगवान का चिन्तन किस प्रकार किया जाता है, वे आपका कौन-सा मार्गदर्शन करेंगे? परमकल्याण का रास्ता जिनको मालूम नहीं है, भला वे कल्याण क्या करेंगे?

दोष किसका? फिर भी हम उसी का पीछा करते हैं। कितनी बड़ी जड़ता है। इस जड़ता का स्रोत क्या है? इसमें किसका दोष है? क्या हमारा दोष है? नहीं, हमारा भी कोई दोष नहीं है। यह हमको विरासत में मिली रीति है। बाल्यकाल से ही माताओं को, पास-पड़ोस को, भाई-बन्धुओं को कुछ-न-कुछ पूजा-पाठ करते हुए देखते हैं। बचपन से ही हमारे मन-मस्तिष्क में उस पूजा-पद्धति की अमिट छाप पड़ जाती है, इसीलिए लाख समझाने पर भी हम समझ नहीं पाते। समझना नहीं चाहते। प्रायः मातायें अबोध बच्चों को धूप-अगरबत्ती इत्यादि जलाकर कभी पीपल के नीचे, कभी कहीं बैठा देती हैं। कहती हैं- ''हाथ जोड़ ले! यह बरम बाबा हैं, यह ग्राम-देवी हैं। इनको इस तरह से प्रणाम कर!'' बालक उसी को पकड़ लेता है। बालक के कोमल, निर्मल चित्त पर आरम्भिक वर्षों के वे संस्कार आजीवन उसका पिण्ड नहीं छोड़ते। बचपन में जो बच्चा

भयभीत हो जाता है, वह जीवनपर्यन्त भयभीत ही रहता है। एकान्त, अँधेरे में जाते डरता है। पत्ते तक से भी भय खाता है। दस-पन्द्रह देवी-देवता तो उसे बचपन से ही पकड़ा दिये जाते हैं। समय आने पर कदाचित् वह छोड़ भी दे, तब भी कुछ-न-कुछ शंकालु बना ही रहेगा। अतः माता-पिता लोगों से मेरा निवेदन है कि वे अपने बच्चों का भविष्य अन्धकारमय न बनावें।

(ट)

ठीक इसी प्रकार माता सीताजी को भी देवी-देवताओं की पूजा विरासत में मिली थी- **'गिरिजा पूजन जननि पठाई।'** *(१/२२७/२)* सीता वहाँ आती-जाती थीं। स्वयंवर का आयोजन चल रहा था। एक दिन सीताजी गिरिजा का पूजन करके लौट रही थीं कि उसी वाटिका में राम दृष्टि में छा गये। पूजन करके लौट रही थीं, किन्तु पुनः गिरिजा के पास गईं, हाथ जोड़कर बोलीं, ''माँ, आज तक जो हमने आपकी सेवा की, उससे प्रसन्न होकर यही साँवला वर देने की कृपा करें।''

पार्वतीजी ने अपनी ओर से कोई आशीर्वाद नहीं दिया। आवाज आई- **'नारद बचन सदा सुचि साचा। सो बरु मिलिहि जाहिं मनु राचा।।'** *(१/२३५/८)* देवर्षि नारद जो गुरु थे, उनका वचन सत्य है, निर्दोष है। वही वर तुम्हें मिलेगा, जिसमें तुम्हारा मन रमा है। देवर्षि नारद ने जो कभी सीता से कहा था, पार्वती ने मात्र उसी की स्मृति दिला दी। सीता आश्वस्त हुईं।

धनुष-यज्ञ की स्थली पर पहुँचकर जब सीता ने उस विशाल धनुष पर दृष्टिपात किया, जिसे तोड़ने में दस हजार राजा असफल रहें, तो वे अधीर हो उठीं कि ये सुकुमार इसे कैसे तोड़ पायेंगे? देवी-देवताओं को मनाने लगीं-

तब रामहि बिलोकि बैदेही।
सभय हृदयँ बिनवति जेहि तेही।। *(१/२५६/४)*

जो भी उन्हें याद आया, छोटे-से लेकर बड़े तक, सबकी प्रार्थना करने लगीं। जैसे- **'होहु प्रसन्न महेस भवानी।'** *(१/२५६/५)*- शंकरजी को मनाने लगीं, उनको छोड़कर भवानी को मनाने लगीं, जिनसे वरदान माँगा था। वहाँ भी स्थिर न रह सकीं- **'गननायक बरदायक देवा। आजु लगें कीन्हिउँ तुअ सेवा।।'** *(१/२५६/७)*- आज तक आपकी भी बड़ी सेवा की है। आप ही ध्यान दें। हमारी विनय सुनें और चाप को हल्का कर दें। उन्हें भी छोड़ दिया। **'सुर मनाव धरि धीर'** *(१/२५७)*- देवताओं को मनाने लगीं। धनुष तक की प्रार्थना करने लगीं कि कोई नहीं सुन रहा है। अब तो चाप! आपका ही भरोसा है, आप स्वयं हल्के हो जाइये; किन्तु अभी से हल्के न हो जाइएगा अन्यथा कोई भी तोड़ देगा। राम को आता देखकर ही हल्का होइएगा।

कहीं भी सफलता न देखकर सीताजी ने सारे देवी-देवताओं से चित्त हटाकर एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर किया- उस परमात्मा में, जो सबके हृदय में रहता है।

तन मन बचन मोर पनु साचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा।।
तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी।।

(१/२५८/४-५)

यदि मन-क्रम-वचन से मेरा प्रेम सच्चा है और राम के चरण-कमलों में निवास करता है तो वह भगवान हमें राम की दासी बना दें। हृदयस्थ एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर होते ही **'कृपानिधान राम सबु जाना।'** *(१/२५८/७)*- उन अन्तर्यामी ने जान लिया कि अब सच्चे स्थान पर पूजा कर रही है। इसके उपरान्त ही किसी देवी-देवता के पास जाना नहीं पड़ा सीता को- **'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।'** *(१/२६०/८)* राम ने धनुष तोड़ दिया। सीता को सफलता मिली। अस्तु, हम जो विविध पूजाएँ करते हैं, वह विरासत में मिली हैं, लेकिन सफलता तभी मिलेगी जब एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर होगी।

(ठ)

ठीक इसी प्रकार की पूजा माता कौशल्या ने की थी। राम का राज्याभिषेक सुनकर वे आनन्दमग्न हो गयीं, पूजा-गृह में चली गयीं। **'पूजीं ग्रामदेबि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा।।'** *(२/७/५)*- उन्होंने ग्रामदेवियों, देवताओं और नागों का विशाल आयोजन (वैभव) के साथ पूजन किया। उन्हें बलि चढ़ाने की मनौती मानीं कि यदि हमारा कार्य सिद्ध हो गया तो आप सबको बलि-भोग दूँगी।

अभी तक देवताओं को राज्याभिषेक की सूचना नहीं थी; किन्तु ग्रामदेवियों को कौशल्या द्वारा इसका पता चला तो उन्होंने देवताओं को और देवताओं ने इन्द्र को सूचना दी। वे तुरन्त सरस्वती के पास गये।

सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाय लै परहीं।। *(२/१०/८)*
बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिं बन राजु तजि, होइ सकल सुरकाजु।। *(२/११)*

हे माता! हमारे ऊपर बड़ी विपत्ति आ पड़ी है। आप ऐसा कुछ कीजिए कि राम वन चले जायँ और देवताओं का काम हो जाय। प्रार्थना-पत्र दिया था कौशल्या ने कि हमारा कार्य पूर्ण हो जाय, लेकिन देवताओं ने कहा कि माता! हम देवताओं का कार्य हो जाय। उनको कर्म के सहारे छोड़िये। आप देवताओं का हित देखिये।

सरस्वती बोलीं, ''किसी शुभ कार्य में विघ्न डलवाते तुम्हें शर्म नहीं आती। राम के वन जाने से उन्हें कितना कष्ट होगा? अवध अनाथ हो जायेगा, लोग मुझे क्या कहेंगे?

देवता विनय करते ही रह गये- **'जीव करम बस सुख दुख भागी। जाइअ अवध देव हित लागी।।'** *(२/११/४)*- अयोध्यावालों की चिन्ता आप क्यों करती हैं? वे तो जीव हैं। कर्म के अनुरूप सुख-दुःख भोगते ही रहते हैं, उन्हें भोगने दें और देवताओं के हित के लिए (कौशल्या के हित के लिए नहीं) कौशलपुर जायँ। जबकि उन्हीं देवताओं की पूजा कौशल्या ने की थी। ऐसे देवताओं से आप कौन-सी आशा लगाये बैठे हैं? आप उसकी पूजा क्यों नहीं करते जिसके लिए गोस्वामीजी ने बल दिया है, जिसका नाम **'मेटत कठिन कुअंक भाल के।'** *(१/३१/६)*, जिसकी आराधना से कर्मों का बन्धन कट जाता है।

सरस्वती को हिचकते देख देवता बार-बार उनके चरणों में गिरकर निवेदन करने लगे- **'बार बार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध मति पोची।।'** *(२/११/५)* बेचारी संकोच में पड़ गयीं। रास्ते भर विचार करती रहीं कि देवताओं की बुद्धि कितनी खोटी है। **'ऊँच निवासु नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती।।'** *(२/११/६)*- इनका निवास बहुत ही ऊँचा है लेकिन करनी बड़ी खोटी है। ये किसी की वृद्धि नहीं देख सकते। जिनमें इतनी ईर्ष्या है, जलन है, क्या यही आपके आदर्श हैं?

हरषि हृदयँ दसरथ पुर आई।
जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई।। *(२/११/८)*

देवताओं की माता सरस्वती अयोध्या में आ रही थीं। कितना सौभाग्य था अवध-वासियों का! किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं- नहीं, **'जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई।'**- जैसे विपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ा। कहते हैं, शनि सबसे दुष्ट ग्रह है जो साढ़े सात वर्ष तक कष्ट देता है किन्तु सरस्वती तो चौदह साल की दुर्दशा लेकर आयीं। राम कल्याण-स्वरूप थे, उनका क्या कल्याण करेंगी? वे तो देवताओं का भी कल्याण करने आये थे। पूजा की थी कौशल्या ने, उसे क्या मिला? जीवनभर का वैधव्य और दुःख!

नामु मन्थरा मन्दमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि।। *(२/१२)*

मन्थरा नाम की एक मन्दबुद्धि दासी थी, उसके मस्तिष्क में प्रवेश कर उसकी बुद्धि को विकृत कर सरस्वती लौट गयीं। आप ध्यान दें कि बुद्धिमान् और विवेकी लोगों पर इन देवी-देवताओं का प्रभाव नहीं पड़ता। केवल मन्दबुद्धिवाले ही देवी-देवताओं से प्रभावित होते हैं।

देवी-देवताओं का ऐसा ही चरित्र उस समय देखने को मिलता है जब भरतजी श्रीराम को लाने चित्रकूट जाते हैं। देवता प्रयास करते हैं कि राम और भरत का मिलन ही न हो। इनके कुत्सित चरित्र की पराकाष्ठा भरत-राम सम्वाद के अवसर पर देखकर मानसकार कहते हैं- **'मघवा महा मलीन मुए मारि मंगल चहत।'** *(२/३०१)*- इन्द्र

कितना मलिन है कि पहले से ही दुःखी अयोध्या और जनकपुर के निवासियों को और भी कष्ट दे रहा है मानो मरे हुए को मारकर अपना मंगल चाहता है।

कपट कुचालि सीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू।।
काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती।।

(२/३०१/१-२)

देवराज इन्द्र कपट और कदाचार की सीमा है। उसे परायी हानि और अपना लाभ ही प्रिय है। ऐसे देवताओं से आप लाभ की आशा करते हैं! उस सभा में भी देवताओं ने बुरे विचार, कपट, भय और उच्चाटन का प्रवेश करा दिया। यही उनकी देवमाया है। यही गुण आप उनसे सीख सकते हैं। इस देवमाया के शिकार कौन-कौन हुए?-

भरतु जनकु मुनिजन सचिव, साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहि, जथाजोगु जनु पाइ।। *(२/३०२)*

भरतजी, जनकजी, मुनि लोग, मन्त्री लोग, साधु-सन्त और बुद्धिमान् इतने लोगों को छोड़कर अन्य सभी पर, जिसका जैसा बुद्धिस्तर था उस पर वैसे ही देवमाया लग गयी। स्पष्ट है कि केवल मन्दबुद्धिवालों पर ही देवताओं का प्रभाव चल पाता है।

सरस्वती मन्थरा के पास आयीं तो मन्थरा को क्या मिला? सरस्वती की कृपा से ही मन्थरा की बुद्धि विकृत हो गयी। वह अनाप-शनाप सोचने लगी। षड्यन्त्र का सूत्रधार उसे बनना पड़ा और अन्त में लात खानी पड़ी।

कूबर टूटेउ फूट कपारू।
दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू।। *(२/१६२/५)*

उसका कूबड़ टूट गया, कपाल फट गया, दाँत टूट गये, मुँह से खून बहने लगा। इतने पर भी उसकी दुर्दशा का अन्त नहीं हुआ, उसका झोंटा पकड़-पकड़कर घसीटा गया। जिसके कण्ठ में देवताओं की माता सरस्वती बैठ गयी हों उसका सम्मान बढ़ जाना चाहिए था; किन्तु वह ऐसी अभागिन निकली कि इसके पश्चात् सम्पूर्ण रामायण में उसका नाम तक नहीं आया और आज तक कोई भी अपनी कन्या का नाम मन्थरा रखने का साहस नहीं जुटा पाता। मन्थरा तो एक प्रतीक है, उन मन्दबुद्धिवालों की प्रतिनिधि है जो देवी-देवताओं की पूजा करते आये हैं। इसका परिणाम चित्रित कर गोस्वामीजी आपको कौन-सा सन्देश दे रहे हैं? क्या आपने कभी विचार किया कि पूजनीय कौन है?

(ड)

रामचरितमानस में सरस्वती का प्रयोग तीन अवसरों पर दिखाया गया है- एक तो इसी मन्थरा-प्रसंग में; दूसरा अवसर तब आया जब देवताओं ने भरत की बुद्धि विकृत करने की प्रार्थना की, जिससे देवताओं का परिवार सुखी रहे। किन्तु सरस्वती

बिगड़ गयीं कि हजार नेत्र रखकर भी तुझे सुमेरु पर्वत नहीं दीखता? कौन-सा सुमेरु था भरत के भीतर? **'भरत हृदयँ सिय राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू।।'** *(२/२६४/७)* भला वहाँ भी कहीं अन्धकार जाता है, जहाँ सूर्य का भलीभाँति प्रकाश है? तो भरत में कौन-सा प्रकाश है? भरत के हृदय में राम और सीता का निवास (प्रकाश) है। वहाँ मेरी कपट और चतुराई नहीं चलेगी। कौन है अन्धकार? देवता! प्रकाश क्या है? एक परमात्मा! इस स्थल से दूसरी बात यह भी स्पष्ट होती है कि जिसके हृदय में भगवान का निवास है, देवता उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते हैं। अतः मन-क्रम-वचन से आप एक परमात्मा के प्रति समर्पित हो जायँ। यदि आप उन्हें हृदय से देखेंगे तो हृदय के स्वामी भी आपको देखेंगे, आपकी रक्षा की जिम्मेदारी अपने हाथ में ले लेंगे।

तीसरे अवसर पर हम सरस्वती को कुम्भकर्ण के पास जाते देखते हैं। उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा वर देने पहुँचे। ब्रह्मा ने विचार किया कि यह दुष्ट कुछ भी न करे, केवल बैठकर भोजन मात्र ही करे तो यह संसार उजड़ जायेगा, अतः **'सारद प्रेरि तासु मति फेरी। मागेसि नींद मास षट केरी।।'** *(१/१७६/८)*- सरस्वती को बुलाया, उसकी बुद्धि विकृत करा दी और वह छः महीने की नींद माँग बैठा। कुम्भकर्ण में सरस्वती का प्रवेश उसकी मृत्यु का कारण बना। देवताओं की पूजा से कौन-सा कल्याण और किसका हो गया?

(ढ)

वर्तमान समय में समस्त देवताओं में से तीन देवता अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। महाराज मनु घर-द्वार छोड़कर तपस्या करने नैमिषारण्य पहुँचे और चिन्तन में लग गये। उनका लक्ष्य क्या था? वे उपासक किसके थे? वे मन-ही-मन विचार कर रहे थे- **'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना।।'** *(१/१४३/६)* वे भगवान जिनके अंशमात्र से अनेकों ब्रह्मा, विष्णु और शंकर पैदा होते हैं, **'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।'** *(१/१४३/७)*- ऐसे भगवान भी सेवक के वश में होते हैं, सेवक के लिए उपलब्ध रहते हैं तो मैं उन्हीं का भजन करूँगा। वे मेरी अभिलाषा पूरी करेंगे। मनु चिन्तन में रत हो गये। साधन में कुछ वेग आया, साधना कुछ सुदृढ़ हो चली, तहाँ देवता लोग पहुँचने लगे।

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।।
मागहु बर बहु भाँति लोभाए। परमधीर नहिं चलहिं चलाए।।

(१/१४४/२-३)

ब्रह्मा, विष्णु और महेश सभी लोग पहुँचे। मनु को पहले से ज्ञात न होता तो वे भटक जाते। वह जानते थे कि ऐसे अनेकों ब्रह्मा, विष्णु और शंकर उन भगवान के

अंशमात्र हैं। इसलिए मनु ने उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। यह भी नहीं कहा कि देव! हमारा अहोभाग्य कि आपने दर्शन दिया। किन्तु ये देवता भी इतने निघर-घट थे कि स्वाभिमान खोकर मनु के समीप बार-बार पहुँचते रहे। लगता है विघ्न डालना ही उनका उद्देश्य था। वे मनु का कल्याण करने नहीं गये थे, कुछ दे नहीं रहे थे, प्रलोभन दे रहे थे- **'बहु भाँति लोभाए'**। लोभ भी मोह की एक प्रबलधारा ही है- **'काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।'** *(३/४३)*- मोह की ही सेना है, इसलिए मनु ने उधर ध्यान नहीं दिया। चिन्तन में लगे ही रह गये। **'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा।।'** *(१/१४४/४)* हड्डियों का कंकाल मात्र रह गया, फिर भी मन में लेशमात्र पीड़ा नहीं थी। वे प्रसन्न थे, उनकी लव लगी थी और चिन्तन सन्तोषजनक हो रहा था।

भगवान ने देखा कि यह मन-क्रम-वचन से मेरे आश्रित है, इसका मन सिमट चुका है, तहाँ उन्होंने आकाशवाणी दी कि वर माँगो! वर माँगने को कहा, तो मनु ने माँगा-

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं।।
जो भुसुण्डि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन।।

(१/१४५/४-६)

मनु शंकरजी के दर्शन से सन्तुष्ट नहीं थे। वे बार-बार आये भी परन्तु उनसे कुछ नहीं माँगा। यद्यपि भगवान शिवजी तत्त्व में स्थित तत्त्वस्वरूप महापुरुष थे, पूर्ण प्राप्तिवाले थे; किन्तु केवल उनका दर्शन करके रह जाना, राह न चलना ठीक नहीं है। शंकरजी के हृदय में जो अनुभूति है उसे स्वयं चलकर प्राप्त करना मनु का लक्ष्य था। मनु जानते थे कि आचरण करके ही पाने का विधान है। किसी पहलवान को हाथ जोड़ने मात्र से पहलवान नहीं बन सकते। चिकित्सक के दर्शनमात्र से रोग-निवृत्ति नहीं होगी।

महात्मा बुद्ध भी अपने शिष्यों से कहा करते थे कि मैंने जो उपदेश दिया है, यदि आप उसपर चलते हो तो दूर रहकर भी मेरे समीप ही हो और यदि आचरण में नहीं ढालते तो मेरे समीप रहने से, दर्शन करने से भी कोई लाभ नहीं, पास रहकर भी बहुत दूर रहोगे। इसलिए आचरण करें।

मनु जानते थे कि भगवान शंकर सही हैं फिर भी उनसे कुछ नहीं माँगा, लेकिन जब भगवान ने आकाशवाणी दी तो वही माँगा, जो शंकर के हृदय में था। **'जेहि कारन मुनि जतन कराहीं।'**- जिसके लिए मुनिलोग यत्न करते हैं। आजकल किसी मुनि के ऊपर विन्ध्यवासिनी आती हैं तो किसी के ऊपर हनुमान जी, कोई कहता है कि यक्षिणी

सिद्ध कर रहे हैं- ये सभी मुनि नहीं हैं। वह मुनि अभी मुनि नहीं है जो उस परमतत्त्व परमात्मा के लिए यत्न न करता हो। अभी वह बहका हुआ है, प्रत्याशी है।

मनु की कामना पर भगवान प्रकट हुए- **'बिस्वबास प्रगटे भगवाना।'** *(१/१४५/८)* कौन से भगवान? **'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।'** *(१/१८४/५)*- जैसा शिव ने कहा था। **'जेहि जानें जग जाइ हेराई।'** *(१/१११/२)* मनु ने देखा, जहाँ विश्व था सर्वत्र भगवान का वास दिखाई पड़ा। जहाँ भी दृष्टि पड़ी, पत्थर-पानी में- सब में उस प्रभु का स्वरूप छा गया। स्वयं भी खो गये, विश्व भी खो गया, मनु का जीव-संस्कार भी खो गया। जहाँ पहले विश्व दिखाई पड़ता था, भगवान सर्वत्र दिखाई पड़ने लगे।

'ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' *(ईशावास्योपनिषद्, १)* इसी अवस्था को जिन-जिन महापुरुषों ने पाया, सबने इसी निर्णय को दुहराया कि जो कुछ दिखायी-सुनायी पड़ता है सर्वत्र ईश्वर का वास है। फिर भी हमें नहीं दीखता, कारण क्या है? **'जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।।'** *(१/१११/२)*, **'अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी।'** *(१/२२/७)* वह राम केवल भक्त के हृदय की वस्तु है, बाहर नहीं। आपके हृदय में भी वह है, किन्तु प्रसुप्त है। उसे जानने के लिए एक परमात्मा में श्रद्धा, उस परमात्मा को आपके हृदय से जागृत करा देनेवाले महापुरुष का सान्निध्य अपेक्षित है। बाहर न कोई देवी है न देवता। बाहर की वस्तुएँ पूजोगे तो कल्याण कदापि नहीं होगा और वस्तु भी कभी नहीं पाओगे- रामायण का यही निर्णय है।

(ण)

करोड़ों-करोड़ों देवी-देवता उस परमतत्त्व परमात्मा के अंशमात्र हैं। काकभुशुण्डिजी कहते हैं, **'रामु काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।।'** *(७/६०/७)*- भगवान अरबों कामदेवों के समान सुन्दर हैं। करोड़ों-करोड़ों दुर्गा के तुल्य शत्रु का नाश करने में सक्षम हैं। **'सारद कोटि अमित चतुराई।'**- अनन्त कोटि सरस्वतियों के समान वे चतुर हैं। **'बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।।'** *(७/६१/५)*- अरबों ब्रह्मा के समान सृष्टि-रचना में निपुण हैं। **'बिष्नु कोटि सम पालनकर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता।।'** *(७/६१/६)*- पालन करने में करोड़ों विष्णु के समान और संहार में अरबों रुद्र के समान हैं। करोड़ों इन्द्र के समान उनका ऐश्वर्य है, अरबों कुबेर के समान धनवान हैं और अरबों कामधेनु के समान इच्छित पदार्थों को देने में सक्षम हैं। करोड़ों-करोड़ों सूर्य भी जिनके सामने जुगुनू के समान हैं, फिर भी हम पूजा सूर्य की करते हैं प्रभु की नहीं। आप उस मूल को क्यों नहीं पकड़ते, जिसके ये सभी नगण्य अंशमात्र हैं। **'तुलसी मूलहि सेइए फूलइ फलइ अघाइ।'** मूल की सेवा करेंगे तो फल-वृक्ष-पत्ते-फूल-टहनी सब आपके हैं और पत्ते-पत्ते दौड़ते रहेंगे तो वृक्ष से (मूल

परमात्मा) से भी हाथ धो बैठेंगे। देवताओं में, पत्थर में, पानी में, पशु और पक्षियों में कल्याण के नाम पर अमूल्य समय नष्ट न करें। किसी पर एहसान नहीं, स्वयं अपना उद्धार करें।

(त)

देवी-देवताओं की तो नहीं, हाँ शंकरजी की पूजा आरम्भ में भरतजी करते थे। राम के राज्याभिषेक को लेकर जब अयोध्या में षड्यन्त्र प्रारम्भ हुआ, तब भरतजी ननिहाल में थे। रात में इन्हें भयंकर स्वप्न दिखाई पड़ने लगे। मन दुश्चिन्ताओं से भरा था। इनके शमनहेतु **'बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना।।'** *(२/१५६/७)*- भरतजी ब्राह्मण-भोजन कराते थे, दान देते थे, अनेक प्रकार से शंकर का अभिषेक करते थे। **'मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई।।'** *(२/१५६/८)*- हृदय से शंकरजी को भली प्रकार मनाकर माँगते थे कि माता कुशल से रहें, पिता कुशल से रहें, भाई और परिजन सभी सकुशल रहें।

मिला क्या? पिताजी स्वर्गलोक चले गये, माता विधवा हो गयीं, भाई वन चले गये और सात दिन बाद जब तक भरत अयोध्या नहीं पहुँच गये, किसी के घर चूल्हे तक नहीं जले थे। तो क्या भगवान शिव की पूजा भी गलत है? नहीं, **'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई।।'** *(७/१०५/२)*- आदिगुरु भगवान शिव की सेवा का एकमात्र फल यही है कि राम के चरण-कमल में अविरल भक्ति जागृत हो जाय। भगवान शिव अपनी भक्ति से इतने सन्तुष्ट नहीं होते, वह जब भी सन्तुष्ट होते हैं राम की भक्ति से सन्तुष्ट होते हैं। छोटी-मोटी याचनाओं पर ध्यान न देकर उन्हें भगवान राम का अप्रतिम भक्त बना दिया। जो भगवान शंकर का कर्तव्य था, उसका उन्होंने निर्वाह कर दिखाया। इसके पश्चात् भरतजी ने आजीवन राम की अविरल भक्ति में समय दिया, शिव में नहीं।

ऐसा ही उदाहरण काकभुशुण्डिजी का है। अपने पिछले जन्म में वे भगवान शिव के अनन्य सेवी थे, अन्य सबके विरोधी थे। उनके गुरु दयालु थे, नीति-निपुण थे। बताते रहते थे कि शिव की सेवा का फल भगवान राम के चरणों की भक्ति है- उनका यह उपदेश काकभुशुण्डिजी को अच्छा नहीं लगता था। वे उन गुरुदेव की अवहेलना करने लगे। एक दिन काकभुशुण्डिजी शिव के मन्दिर में बैठकर शंकरजी का नाम जप रहे थे। गुरुदेव आये किन्तु काकभुशुण्डिजी ने उठकर प्रणाम नहीं किया। गुरुदेव तो कोमल-शील स्वभाववाले थे, किन्तु गुरु का अपमान स्वयं शंकरजी भी सहन न कर सके। अजगर बन जाने, हजारों जन्म लेने और मरने का शाप मिल गया। जिन शंकरजी का वे पक्ष लेते थे वे ही शिव रुष्ट हो गये। गुरु महाराज को बड़ी करुणा आयी। भगवान शिव से

अनुग्रह की, प्रार्थना की। शंकरजी सन्तुष्ट हुए। बोले, जन्म तो इसे लेना ही होगा किन्तु जन्म और मृत्यु की असहनीय पीड़ा इसे नहीं होगी। किसी भी जन्म में इसका ज्ञान नहीं मिटेगा और अन्त में यह मनुष्य-शरीर में राम की भक्ति प्राप्त करेगा।

थे तो वे शिव के भक्त, लेकिन शंकरजी प्रसन्न हुए तो क्या दिया? राम की भक्ति! अन्तिम जन्म में उनके **'मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी।।'** *(७/१०६/६)* शिव-सेवा का फल **'अबिरल भगति राम पद होई।'**- राम के चरणों में लव लग गई, फिर भक्ति जागृत हो गयी।

(थ)

भारत में आज भी शिव-पूजा प्रतिष्ठित है। भगवान शिव के मन्दिर बहुतायत से हैं। यदि वहाँ यह बताया जाय कि भगवान शिव ने किस अभीष्ट को पाया था? उनकी विद्या क्या थी? उन्होंने कैसे तपस्या की? उन्होंने क्या सन्देश दिया? हम उसे कैसे प्राप्त करें?- तो वह मन्दिर सार्थक है। केवल इतना ही सीखने आप वहाँ जाते हैं। जहाँ यह न बताया जाता हो कि महापुरुष ने उस सत्य को कैसे प्राप्त किया?, तो वहाँ जाने से आपकी क्षति होगी, लाभ कभी नहीं होगा। केवल चरणामृत बाँटनेवाला मन्दिर कुछ भी नहीं है, धोखा है। भगवान शिव की शरण में जो गया, उसे उन्होंने राम के चरणों में सौंप दिया (प्रीति दी)। वे सदैव राम-नाम जपते थे-

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती।। *(१/१०७/७)*

कासीं मरत जन्तु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी।। *(१/११८/१)*

काशी में शंकरजी अपने पराक्रम से मुक्ति नहीं देते, बल्कि नाम के बल से ही मोक्ष प्रदान करते हैं। एक परमात्मा के चिन्तन पर ही शंकरजी ने बल दिया।

ठीक इसी प्रकार, हनुमान एक सन्त थे। उनके भी जप का नाम राम था। **'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू।।'** *(१/२५/६)* पवनसुत ने उस परम पावन राम-नाम का जप किया था। हनुमान-हनुमान जपने के लिए हनुमान ने कभी नहीं कहा। उनके जीवन में जो भी अधिकारी भक्त मिला, उन्होंने उसकी बाँह पकड़कर राम के चरणों में गिरा दिया।

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी।। *(७/४६/८)*

हनुमान के समान भाग्यशाली कोई नहीं था। तो भाग्य का स्रोत क्या है? **'नहिं कोउ राम चरन अनुरागी।'**- राम के चरणों का अनुराग ही भाग्य का जन्मदाता है।

इन दोनों महापुरुषों के कथानकों से स्पष्ट है कि देवताओं में कुछ महापुरुष भी हैं जो हमारे-आपके पूर्वज रहे हैं; किन्तु करोड़ों कल्पित देवताओं के बीच उनकी संख्या एक प्रतिशत भी नहीं है। उनके प्रति श्रद्धा अपेक्षित है; क्योंकि उन्होंने किसी काल में

साधन करके परमात्मस्वरूप की स्थिति प्राप्त की थी। अपनी पीढ़ी के लिए वे सद्गुरु थे; किन्तु आज के लिये उनकी पूजा का विधान नहीं है और न उनके नाप-जप का। यदि कोई ऐसा करता भी है तो वे महापुरुष एक परमात्मा की ओर तथा व्यक्ति के समकालीन सद्गुरु की ओर उसे बढ़ा देते हैं। अतः आप आरम्भ से ही एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा स्थिर करें जिससे आपका समय नष्ट न हो और उनसे प्रेरणा लेते रहें।

(द)

गोस्वामीजी ने रामचरितमानस की रचना की, तो अन्त में मानस-रोग भी बताये कि इसके विरोधी कौन हैं। **'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'** *(७/१२०/२६)*- मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है, काम वात है, कफ लोभ है, क्रोध पित्त है। काम, क्रोध और लोभ तीनों भाई जब एक हृदय में, एक स्थान पर इकट्ठे हो जाते हैं तो व्यक्ति सन्निपात के रोगी की तरह है। **'अहंकार अति दुखद डमरुआ।'** *(७/१२०/३५)*, **'तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी।'** *(७/१२०/३६)*; इस प्रकार पन्द्रह-पचीस रोगों का चित्रण किया और अन्त में बताया- **'मानस रोग कछुक मैं गाए।'** *(७/१२१/२)* हैं तो सबके पास लेकिन कोई विरला ही इन्हें पहचान पाया। तो भला इन रोगों से मुक्ति किस तरह से मिलेगी? इस पर कहते हैं-

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।।

(७/१२१/६-८)

सद्गुरु ही वैद्य हैं, उनके वचनों में पूरी श्रद्धा हो। भगवान की भक्ति (देवी-देवता की भक्ति नहीं, केवल भगवान की भक्ति) यही संजीवनी जड़ी है। अनुपान के लिए सद्गुरु में पूरी श्रद्धा हो। इस विधि से भले ही रोग नष्ट हो जाय अन्यथा करोड़ों यत्न करें तब भी नहीं जायेगा। जिस यत्न से रोग दूर होगा ही नहीं उसे आप करते क्यों हैं? उन प्रभु की भक्ति क्यों नहीं करते, जिससे ये मानस-रोग नष्ट होते हैं?

(ध)

अब तक आपने समझ लिया होगा कि हमारा-आपका इष्ट कौन है? इष्ट उसे कहते हैं जो हमें अनिष्टों से बचा ले। अनिष्ट कहते हैं क्षति को, नुकसान को। दैनिक जीवन में छोटे-बड़े नुकसान तो होते ही रहते हैं। किसी के सिर में दर्द है, सर्विस में बाधा आ गई, कहीं गाड़ी लड़ गई- इत्यादि परेशानियाँ आती रहती हैं। इसी प्रकार लाखों प्रकार की कामनाएँ मनुष्य के अन्दर भरी रहती हैं। जो इन तमाम अनिष्टों से बचा ले, कामनाओं की पूर्ति कर दे, उसका नाम है इष्ट।

सब कुछ सुरक्षित हो जाने और समृद्ध जीवन प्राप्त हो जाने पर भी शरीर तो क्षणभंगुर है। आज है तो कल के लिए कोई गारण्टी नहीं दे सकते। यह नश्वर है। योगेश्वर श्रीकृष्ण का कहना है कि, अर्जुन! यह आत्मा ही शाश्वत है और शरीर नाशवान् है। **'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'** *(गीता, ९/३३)*- तब तो आपका वैभव-विलास यहीं छूट जायेगा। काल बरबस घसीटकर उठा ले जायेगा। क्या कोई ऐसा भी उपाय है कि इस जन्म और मृत्यु से भी पार पा लें? वह कौन है जो इस भयंकर अनिष्ट से बचाकर हमें शाश्वत स्वरूप प्रदान कर दे, अकाल स्थिति प्रदान कर दे, शाश्वत धाम प्रदान कर दे, सदा रहनेवाली अक्षय शान्ति दे दे? इसमें यदि कोई सक्षम है तो एकमात्र परमतत्त्व परमात्मा, शाश्वत ब्रह्म। उसका परिचायक नाम 'राम' है। उसका जप करें, वही इष्ट है।

(न)

एक बार भगवान राम ने सभा बुलायी-

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुर द्विज पुरबासी सब आए।।
बैठे गुर मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भव भंजन।।

(७/४२/१-२)

गुरु, मुनि, द्विज, सज्जन सभी बैठे थे, तब भक्तों के जन्म-मरण का दुःख दूर करनेवाले राम बोले-

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।

(७/४२/७-८)

बड़े भाग्य से मनुष्य-शरीर मिला है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है। देवता अच्छी करनी के फलस्वरूप भोगमात्र भोगते हैं, लेकिन स्वर्ग भी स्वल्प है इसलिए देवता भी मानव-तन से आशावान् हैं। यह शरीर साधन का धाम है, मुक्ति का दरवाजा है। इसको पाकर जिसने अपना परलोक नहीं सुधारा, वह जन्मान्तरों में दुःख पाता है। सिर पीट-पीटकर पछताता है। काल, कर्म और ईश्वर को व्यर्थ ही दोष देता है। वस्तुतः यदि मनुष्य-शरीर उपलब्ध है और वह परलोक सँवारने के लिए उद्योग नहीं करता, तो न काल का दोष है, न कर्म का दोष है और न ईश्वर का। सब दोष उसी का है।

प्रायः दो-तीन बहाने मनुष्य करता है कि मेरे तो कर्म में ही नहीं लिखा है- कर्म को दोष देना, समय अनुकूल नहीं है- काल को दोष देना और कर्त्ता-धर्त्ता तो भगवान हैं- ईश्वर को दोष देना। लेकिन भगवान राम स्वयं कहते हैं कि यदि मानव-तन उपलब्ध है तो इनमें से किसी का भी दोष नहीं है, दोष अपना है। अन्यत्र कहते हैं-

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।। *(७/४३/७-८)*
जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ।। *(७/४४)*

यह मानव-शरीर संसार-सागर से पार होने के लिए बेड़ा है, जहाज है। सद्गुरु नाविक है। मेरी कृपा अनुकूल वायु है। ऐसे दुर्लभ संयोग, व्यवस्था को पाकर जो भवसागर पार नहीं हो जाता वह अपने पौरुष का निन्दक अकर्मण्य है, मन्दमति है और अपनी आत्मा का हत्यारा है।

लेकिन पार होने का उपाय क्या है? इस पर कहते हैं-

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू।।
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।।
(७/४४/१-२)

यदि आप परलोक चाहते हैं, परमश्रेय शाश्वत धाम चाहते हैं, अमृत-तत्त्व प्राप्त करना चाहते हैं अथवा इसी लोक में अपनी कामनाओं की पूर्ति चाहते हैं, तो मेरा वचन सुनें और दृढ़ता के साथ धारण करें। भला वह है क्या? सिर्फ एक ही रास्ता है दोनों के लिए कि 'भगति मोरि'- मेरी भक्ति करो। शेषनाग की नहीं, किसी देवता की नहीं, मेरी भक्ति करो। यही श्रुतियों ने गाया है। अतः इष्ट कौन है? एक परमतत्त्व परमात्मा! (इसके सिवाय अनिष्टों से बचानेवाला कोई है ही नहीं। हमारी दरिद्रता का कारण है कि हम उस प्रभु को नहीं मानते।)

राम का नाम लेते ही प्रायः सब चौंक जाते हैं कि कौन राम? मानसकार ने राम का परिचय दिया, **'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी।'** *(१/११९/६)*- जो व्यापक है, चिन्मय है, कण-कण में है, अविनाशी है, उसी का दूसरा नाम है राम। अस्तु, इष्ट कौन है? एक परमतत्त्व परमात्मा! जो उस पर निर्भर रहकर अपने कार्य में रत रहता है, समृद्धि अकारण ही उसका वरण करती है। वह सुखी लम्बा जीवन प्राप्त करता है। उसे स्नायुरोग नहीं होते। वह तनावमुक्त हो जाता है। भले आप संसार में फँसे क्यों न हों, परलोक एवं परमश्रेय की व्यवस्था आपके लिए सुरक्षित है। योगेश्वर श्रीकृष्ण का कहना है- अर्जुन! इस निष्काम कर्म में, उस परमात्मा में जो निष्ठा से साथ लग भर जाता है, अभी कुछ किया नहीं केवल लगा है, तब भी अर्जुन! उस पुरुष का कभी विनाश नहीं होता। इस पथ में आरम्भ का कभी भी नाश नहीं होता। आपने भली प्रकार बीजारोपण कर लिया, तो यह परमश्रेय तक पहुँचाकर ही छोड़ता है। कामनाएँ सिर्फ बाधा भर

डालती हैं, सत्य के अनुष्ठान को नष्ट नहीं कर पातीं। अतः मानस के अनुसार एक परमतत्त्व परमात्मा ही इष्ट है।

देवता और देवी- ये भ्रान्तियाँ हैं। मानस के अनुसार एक भी स्थल ऐसा नहीं है, जहाँ इनकी पूजा का विधान हो और न पूजनेवालों को ही सफलता मिली हो। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि यह हमें विरासत में मिली है और हम इसकी लकीर पीटते जा रहे हैं। दुःख है कि विरक्त महात्मा भी उसी विरासत में पायी हुई लकीर को पीट रहे हैं। कहते हैं कि रामकृष्ण परमहंसजी काली की पूजा करते थे किन्तु उन्होंने यही पूजा अपने अनन्य शिष्य विवेकानन्द को नहीं सिखायी। विवेकानन्दजी के उपदेश में आप कहीं देवी का नाम नहीं पायेंगे।

अयोध्यावासी भी चित्रकूट में यही लकीर पीटते दिखायी देते हैं। जब वे राम को मनाने गये तो **'गनप गौरि तिपुरारि तमारी।'** *(२/२७२/४)* की पूजा करते थे; किन्तु राम के राज्याभिषेक और उनकी सभा के पश्चात् वही अयोध्यावासी अपने बच्चों तक को शिक्षा देते हैं- **'भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि।'** *(७/२६/२)*- जो प्रणत का परिपालन करते हैं ऐसे राम को भजो! जैसे पलक आँखों की पुतली की रक्षा करती है वैसे ही राम को तुम भजो! स्वयं उनके द्वारा देवताओं के पूजने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार आप देखते हैं कि गीता के ही स्वरों में श्रीरामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी ने आरम्भ से लेकर अन्त तक क्रम-क्रम से एक परमात्मा पर ही बल दिया और उत्तरकाण्ड के अन्त में तो निर्णय दे दिया कि- **'सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा।।'** *(७/१२६/४)* इत्यादि कई चौपाइयों में प्रस्तुत है कि वही कवि है, पण्डित है, रणधीर है जिसका मन राम में अनुरक्त है। वही कुल धर्मपरायण है, नीति-निपुण और परम सयाना है, दक्ष तथा समस्त गुणों से युक्त है, वेद का सिद्धान्त उसी ने भली प्रकार जाना है जिसका मन राम में अनुरक्त है।

इस पर भी, न जाने क्यों लोग राम का भजन नहीं करते? व्यास लोग दिन-रात कथा तो रामायण की कहेंगे किन्तु भजन के समय चालीसा पढ़ेंगे, सप्तशती का पाठ करेंगे। कम-से-कम इस रामायण के सन्देश पर तो ध्यान देते हुए आचरण करना चाहिए। अब तक नहीं कर पाये तो समझें और जनता को समझाने का प्रयास करें। मानस की अन्तिम पंक्तियों तक गोस्वामीजी आपसे यही आग्रह कर रहे हैं कि अन्य किसी का नहीं, **'रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि।।'** *(७/१२६/८)* राम का ही स्मरण करें, उन्हीं का गायन करें और उन्हीं के गुण-समूहों का श्रवण करें।

सुन्दर सुजान कृपा निधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्बानप्रद सम आन को।।

(७/१२६/छन्द)

सुन्दर, सुजान, कृपानिधान और अनाथों से प्रेम करनेवाले एकमात्र राम हैं। इनके समान निःस्वार्थ हित करनेवाला और निर्वाण (मोक्ष) देनेवाला भी दूसरा कौन है?

स्वयंसिद्ध एक इष्ट के स्थान पर अनेकों इष्ट बनाकर आज हम सभी बिखरे पड़े हैं। शाश्वत, एकमात्र सर्वव्याप्त परम ईश्वर परमात्मा है। इसीलिये सम्पूर्ण विश्व का इष्ट एकमात्र परमात्मा है। हममें से जो भी नश्वर की पूजा में लगे हैं, नास्तिक हैं। इन अस्तित्वविहीनों की पूजा करना-कराना, इसे प्रोत्साहन देना नास्तिकता को बढ़ावा देना है। ब्रह्मा से लेकर यावन्मात्र परिवर्तनशील जगत् के बीच एक परमतत्त्व परमात्मा ही अविनाशी अमृतस्वरूप है, इसलिए वही समस्त जगत् का पूज्य (इष्ट) है। उसकी जरूरत समाज में सदैव है और सबको है। अतः सब कुछ करते हुए यदि हम एक परमात्मा में श्रद्धा और उस परमतत्त्व परमात्मा का परिचायक दो-ढाई अक्षर का नाम 'ओम्' अथवा 'राम' का सुमिरन करते हैं तो हम आस्तिक हैं; क्योंकि हम अस्तित्व की पूजा कर रहे हैं। उस भजन की शुरुआत परमात्मा में श्रद्धा और उसके नाम के जप से है। हाँ, उसकी प्राप्ति सद्गुरु से है, जहाँ यह क्रिया अनुभवगम्य और सूक्ष्म हो जाती है।

सृष्टि में भगवान एक ही है- दो नहीं हो सकते, अनेक नहीं हो सकते। वह कण-कण में व्याप्त है। यदि दूसरा भगवान है तो उसके लिए दूसरा संसार चाहिए, व्याप्त होने के लिए। वह प्रभु रहता कहाँ है?-

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी।। *(१/२२/७)*

वह प्रभु सबके हृदय में निवास करता है। लेकिन दिखाई नहीं देता। अब उसे देखने की विधि बताते हैं-

नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।। *(१/२२/८)*

पहले नाम का निरूपण करें कि नाम है किस प्रकार? उसे जपा कैसे जाता है? श्वास में उठनेवाली धुन कैसे पकड़ में आती है? उसका प्रेरक कौन है? जब समझ काम कर जाय, तो उसके लिए यत्न करें। खून-पसीना एक करके उस परमात्मा को विदित कर लें, वह प्रकट हो जायेगा।

वह परमात्मा एक धाम है और उसमें प्रवेश का माध्यम है सद्गुरु ही। **'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता।।'** *(१/१६५/६)*- यदि

तकदीर फूट जाय, घोर यातनाएँ लिख दी जायँ, तब भी सद्गुरु रक्षा कर सकते हैं और यदि सद्गुरु ही उपलब्ध नहीं हैं तो भगवान नाम की कोई वस्तु पहचान में नहीं आती। भगवान हृदय-देश में ही है; किन्तु यदि सद्गुरु नहीं है तो उसकी पहचान नहीं। इसी प्रकार, जो गुरु एकमात्र परमात्मा की उपलब्धि की क्रिया नहीं जानता, जो सत्य में प्रवेशवाला नहीं है, जो उस क्रिया को हमारे-आपके हृदय-देश में जगाने में, अनुभवी जागृति देने में सक्षम नहीं है, वह सद्गुरु नहीं, कुलगुरु है। जब तक सद्गुरु उपलब्ध नहीं है तब तक उस एक परमात्मा का परिचायक दो-ढाई अक्षर के नाम और एक परमतत्त्व परमात्मा के प्रति श्रद्धा यदि आप में है तो आपका सुमिरन, भजन और इष्ट सही है। यह श्रद्धा आपके भाव का एक परमात्मा में केन्द्रीयकरण, एक स्थल पर स्थिरीकरण ही आपका पुण्य और पुरुषार्थ बन जायेगा। इसके साथ ही वह आत्मा जागृत होकर जहाँ सद्गुरु हैं उनसे भेंट करा देगी। और जहाँ सद्गुरु मिले तो यौगिक क्रिया की जागृति आपके हृदय-देश में हो जायेगी। अनुभव, संकेत और इष्ट के आदेश आपको मिलने लगेंगे। जो आत्मा प्रसुप्त है, तटस्थ है, जागृत हो जायेगी।

आज कहा जाता है कि ईश्वर हृदय में वास करता है; लेकिन चार-छः महीने ही किसी ऐसे तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा, उनके द्वारा बतायी हुई टूटी-फूटी साधना आपसे पार भर लग जाय तो वे जागृत हो जायेंगे। आपसे बातें करने लगेंगे, आपका मार्गदर्शन करेंगे। वह प्रभु आपको चलायेंगे। उन्हीं के निर्देशन में चलकर साधक उन्हें प्राप्त करता है। **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः'** ***(मुण्डकोपनिषद्, ३/२/३)***– न यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त होती है, न विशिष्ट बुद्धि से प्राप्त होती है, न बहुत सुनने-समझने से प्राप्त होती है, बल्कि लाखों भाविकों में से जिस किसी एक का वह वरण कर लेता है, जिसके हृदय से जागृत होकर उँगली पकड़कर चलाने लगता है, वही उसके निर्देशन में चलकर उसे प्राप्त करता है। और उँगली तभी पकड़ेगा जबकि एकमात्र परमतत्त्व परमात्मा में श्रद्धा हो और तत्त्वदर्शी सद्गुरु उपलब्ध हों। विचार-विमर्श हेतु आपका एवं आपके अमूल्य विचारों का सदैव स्वागत है।

।। ॐ ।।

कर्मकाण्ड

कर्मकाण्ड पोंगापंथी नहीं, मानव-जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसे जन-जन के हृदय में पहुँचाना पुरोहितजनों का उद्देश्य है। – *स्वामी अड़गड़ानन्द*

मनुष्य के जीवन में घटनेवाली हर घटना एक काण्ड है और हर घटना पर कर्त्तव्य का बोध कराना कर्मकाण्ड है। घटना हर परिवार में होती ही है। कहीं जन्म होता है, तो कहीं कोई मरता है। कहीं शादी होती है, तो कहीं किसी का अन्नप्राशन। किसी का गृह-निष्क्रमण है, तो किसी का गृह-प्रवेश। भारतीय मनीषियों ने मानव-जीवन में होनेवाली इन स्वाभाविक घटनाओं में से पन्द्रह-सोलह को चुना और इन अवसरों पर प्रत्येक परिवार में जाकर उस एक परमात्मा के आंशिक आकार का बीजारोपण करने के लिए षोडश संस्कारों का विधान बनाया। बच्चे-बच्चे में गर्भावस्था से ही एक परमात्मा का संस्कार डाल देना तथा उस एक परमात्मा को पाना ही तुम्हारा कर्म है- इस कर्म का बोध करा देना, बस इतना ही शुद्ध कर्मकाण्ड है।

वैदिक युग में घर-घर जाकर शाश्वत एकमात्र परमात्मा का बोध कराना पुरोहित का कर्त्तव्य था। उपर्युक्त अवसरों पर वेद के पुरुष-सूक्त की ऋचाएँ पढ़ी जाती थीं और इसके साथ ही मनुष्य को प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ, प्रिय भोजन, ताम्बूल, नये वस्त्र, सुगन्धि इत्यादि दी जाती थी, जिससे इन वस्तुओं का प्रयोग करते समय उस एक परमात्मा को प्राप्त करने का लक्ष्य सदैव याद रहे। हर वस्तु को धारण करते समय परमात्मा की विभूतियों का स्मरण होता रहे। इन मन्त्रों के अन्त में अर्घ्यं, पाद्यं, नैवेद्यं कहकर पुरोहित भगवान के हाथ-पाँव धुलाने की भावना करते हैं और हर वस्तु उन प्रभु के लिए हुआ करती है और कहीं न तो भगवान के हाथ-पाँव धुलाते हैं और न अपना धोते हैं बल्कि यजमान के उसके अबोध होने पर, जिस परिवार में काण्ड हुआ है, उसके मुखिया के हाथ-पाँव धुलाते हैं, जिसका आशय केवल इतना ही है कि हाथ धोते, पाँव धोते, पानी पीते, भोजन करते, वस्त्र-गन्ध-शय्या किं बहुना मांगलिक हर वस्तु के उपयोग में उस परमप्रभु की विभिन्न अवस्थाओं (विभूतियों) का चिन्तन होता रहे। ये वस्तुएँ हृदय में स्थित परमात्मा को अर्पित की जाती हैं, हाथ-पाँव धुलाये जाते हैं, जिससे बच्चा-बच्चा यह समझ लें कि कोई परमात्मा उनके हृदय के भीतर है जिसे देखना है, जिससे मानव मात्र, बच्चा-बच्चा उस सदा रहनेवाले शाश्वत परमात्मा की जानकारी प्राप्त कर ले; सार्वभौम कल्याण हो सके, इस लक्ष्य से भटक जाने का अवसर न मिल सके।

कालान्तर में ईश्वर को सदैव स्मरण रखनेवाली भावना के नाम पर बुद्धिजीवी वर्ग-विशेष ने अपने जीने-खाने के लिए दैनिक जीवन की प्रत्येक क्रियाओं को काण्ड की संज्ञा देकर बृहत् कर्मकाण्ड की रचना कर डाला, जिसमें शौच जाने का मन्त्र, स्नान करने का मन्त्र, भोजन करने का मन्त्र, विधि-निषेध और इनके पालन में भूल होने पर प्रायश्चित रूप में दान लेने का क्षेत्र विस्तृत बनाया गया। हृदयस्थ एक परमात्मा की खोज के स्थान पर बाहर अनेक देवी-देवताओं की पूजा को कर्म घोषित कर तत्सम्बन्धी पूजनविधियों का कर्मकाण्ड के रूप में प्रचार किया गया। परमात्मा को जानने की क्रिया छूट गई, अनुष्ठान और मन्त्र याद करना रह गया। एक धर्म के स्थान पर संकीर्ण साम्प्रदायिक संगठन बन गये। शाश्वत का पुजारी नश्वर के पीछे भागने लगा।

अण्डे की सुरक्षा के लिए जो खोल आरम्भ में आवश्यक होता है, बच्चे के आविर्भाव के पश्चात् उसे तोड़ देना उससे भी जरूरी हो जाता है अन्यथा बच्चा उसमें घुट-घुटकर मर जायेगा। इसी प्रकार पूर्वजों ने जिन किन्हीं परिस्थितियों में इन कुरीतियों को झेला, अब वे परिस्थितियाँ नहीं रहीं। सामाजिक शिष्टाचार तथा रहन-सहन के प्रत्येक उपयोगी-अनुपयोगी नियमों को 'धर्म' कहकर जनता को गुमराह करने का अब कोई औचित्य नहीं रहा। सदियों पहले से सुखी भौतिक जीवन की व्यवस्था जनादेश पर आधारित राज्य के हाथ में चली गयी। इसीलिए यह स्पष्ट करना जरूरी हो गया है कि धर्म के अन्तर्गत केवल एक बात आती है- आवागमन से रहित शाश्वत शान्ति की खोज करना। यह शान्ति सर्वत्र व्याप्त उस एक शाश्वत परमात्मा में ही है, जिसे खोजने के लिए प्रत्येक मनुष्य को अपने हृदय में उतरना है।

इसी एक परमात्मा की विभूतियों का भली प्रकार चित्रण वेद के पुरुष-सूक्त में है। पुरुष-सूक्त नामकरण भी विशेष अर्थ रखता है- **'पुरः शेते इति पुरुषः'**- वह हृदयरूपी पुर में निवास करता है, अतएव उस परमपुरुष को खोजने की स्थली हृदय-देश है, बाहर नहीं। आज भी कर्मकाण्ड के नाम पर पुरुष-सूक्त के वही मन्त्र पढ़े जाते हैं; किन्तु जनसामान्य की भाषा संस्कृत न होने के कारण लोग इसका आशय समझ नहीं पाते।

अतः प्रत्येक पुरोहित को चाहिए कि इन ऋचाओं का आशय क्षेत्रीय बोलचाल की भाषा में समझाकर बोध करा दें कि परमात्मा एक है, वही शाश्वत है। ब्रह्मा से लेकर यावन्मात्र जगत् नाशवान् है। ब्रह्मा से उत्पन्न देवी-देवता भी **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** *(गीता, ६/२१)*- पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में गिरते हैं, परवश हैं, उनकी पूजा अविधिपूर्वक होती है, अतएव देवी-देवताओं की पूजा बन्द करके एक परमात्मा के प्रति आस्थावान् होओ। वेद के ऋषि कहते हैं-

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। *(ऋग्वेद, १०/१२१/१)*

अर्थात् सोने-जैसा चमकता हुआ परमात्मा सबसे पहले उत्पन्न हुआ। पैदा हुए सभी प्राणियों का वही एकमात्र पति हुआ। उसी ने पृथ्वी और आकाश को धारण किया। उसके अतिरिक्त किस देवता की हवि द्वारा पूजा करें?

स्पष्ट है कि एकमात्र परमात्मा को पाना हमारा-आपका कर्त्तव्य, कर्म है। इसी नियत कर्म का क्रमबद्ध वर्णन गीता में है, जिसके अन्तर्गत दैवी सम्पद् नामक सद्गुणों का विकास करना, एकान्त-देश का सेवन, श्वास-प्रश्वास द्वारा ओम् या भगवान के दो-ढाई अक्षर के किसी नाम का जप, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, धारावाही चिन्तन, युक्ताहार-विहार और तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण में जाना होता है। इसी क्रिया द्वारा चलकर हृदयस्थ परमात्मा को जान लेने के अतिरिक्त मृत्यु को जीतने का अन्य कोई भी रास्ता नहीं है।

साधनसम्पन्न पूर्वजों ने जिस शाश्वत सत्य को पाया था, वह परमपुरुष यही हृदयस्थित परमात्मा है। हर परिवार में बार-बार जाकर उन्होंने इसी शाश्वत सत्य को दृढ़ाया था और आज भी जो दृढ़ाते हैं, श्रद्धा के पात्र हैं। दक्षिणा इसका मूल्य नहीं, कृतज्ञताज्ञापन मात्र है। इसके बदले उन्हें दक्षिणा देना शाश्वत सत्य को कायम रखना है, जिससे जन-जन तक इस जानकारी के प्रेषण को प्रोत्साहन मिले।

कतिपय प्रदेशों में माल्य-गन्ध इत्यादि अर्पित करते समय पुरुष-सूक्त से भिन्न वैदिक तथा लौकिक मन्त्र-पाठ की भी परम्परा है। उदाहरणार्थः-

त्वां गन्धर्वोऽत्खनस्त्वांमिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान यक्ष्मादमुच्यतः।।

हे औषधि! तुझे गन्धर्व ने, इन्द्र ने तथा बृहस्पति ने खना। विद्वान् सोम राजा तुम्हारे द्वारा राजयक्ष्मा से मुक्त हुआ।

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्व्वीरुधः पारयिष्णवः।।

हे बढ़नेवाली औषधियो! फूलों व फलोंवाली होकर मुदित रहो। घोड़ों के समान शीघ्रता से हमें दुःखों से पार कर दो।

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्वतं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वयं वयं धूर्वामः।
देवानामसि वह्नितम ँसस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्।।

आप सबको कँपानेवाले हो। जो हमको कम्पित करता है, उसे नष्ट करो। हम लोग जिसका विरोध करते हैं उसको भी नष्ट करो। आप देवताओं के वाहन, सामर्थ्यवाले, पूर्ण सेवनीय तथा देवों से आवाहित हैं।

ये तीर्थानि प्रचरन्ति शस्त्रहस्ता निषंगिणः।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि।।

जो शस्त्रधारी, तरकसधारी लोग हमारे तीर्थों को दूषित करते हैं, उन्हें धनुष से छूटे बाण के समान हजारों योजन दूर कर दें।

धनुष-बाण और घोड़े का उस काल में भले ही कोई उपयोग रहा हो, आज के युग में इनसे भी श्रेष्ठ आविष्कार हो चुके हैं। इन मन्त्रों से न तो परमपुरुष की महिमा व्यक्त होती है और न ये आज के वैज्ञानिक युग के अस्त्र-शस्त्र के सामने समाज के ही काम आते हैं। किसी ने औषधि सोधा, परीक्षण किया और रोगी को नीरोग कर दिया; किन्तु औषधि हाथ जोड़ने से क्या देगी? वह घोड़े की तरह दौड़कर नहीं आयेगी; वह फायदा तब करेगी, जब प्रयोगशाला में उस पर परीक्षण किया जाय। जिस चिकित्सा-प्रणाली ने शोध जारी रखा, आज वह आगे हो गई। किसी जड़ी-बूटी ने फायदा किया तो उसे देवता मान लेना, हाथ जोड़कर बैठ जाना मन्दबुद्धि की देन है। ''जो हमें कँपाते हैं, उन्हें नष्ट करें।''- यह कोई धार्मिक मन्त्र नहीं, व्यक्तिगत सुरक्षा मात्र है। धनुष-बाण से आज रक्षा नहीं होगी। आज वे तरीके समाप्त हो गए। लकीर पीटने से क्या होगा? यदि पढ़ना है तो शिक्षाप्रद सदा रहनेवाली शाश्वत ऋचाएँ पढ़ें, जो मुक्ति की संदेशवाहक हैं।

अब उन प्रभु के महिमा-सूत्रों का अवलोकन करें, जिनका स्मरण करना चाहिये-

अथ पुरुष-सूक्तम्

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्।।१।।

वह परम पुरुष सहस्र मस्तक, सहस्र नेत्र और सहस्र चरणवाला है। वह विश्व की समस्त भूमि को सब ओर से व्याप्त करके पंच स्थूलभूत और पंच सूक्ष्मभूत (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श) इन्हीं दस के पैमाने में निवास करता है अर्थात् हृदय-देश में स्थित है। ऐसे प्रभु की मैं कामना करता हूँ। उनका आवाहन करें-

ॐ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।२।।

भूत, भविष्य और वर्तमान- यह सब वे परम पुरुष ही हैं। वे ही अमरत्व के स्वामी हैं। ईश्वरीय चिन्तनरूपी अन्न से वह बढ़ते हैं। सामान्य अन्न शरीर का पोषण करता है; किन्तु आत्मा का पोषक अन्न चिन्तन है, जिससे हृदयस्थ ईश्वर बढ़ता है। वस्तुतः परमात्मा घटता-बढ़ता नहीं, किन्तु साधक के लिए ऐसा ही है। आसन लगावें।

ॐ एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।३।।

भूत, भविष्य और वर्तमान से सम्बद्ध यह समस्त ब्रह्माण्ड उस परम पुरुष का वैभव है और वह इन सबसे भी श्रेष्ठ है। यह सब आकाश, पृथ्वी आदि चराचर जगत्

इस परमात्मा का एक अंश है तथा तीन अंश अमृत और ज्योतिस्वरूप है। अतः वही एक धारण करने योग्य है, अन्य नहीं। पैर धुलावें।

ॐ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।।४।।

उपर्युक्त तीन अंशोंवाला परमपुरुष उत्तम, मुक्तिस्वरूप है, जो संसार से पृथक् प्रकट होता है। उसके एक चरण से ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है और वही सम्पूर्ण जड़-चेतन में व्याप्त है। मुक्ति उन्हीं के पास है। अर्घ दें, मुँह धुलावें।

ॐ तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।।५।।

उन्हीं परम पुरुष से विराट् ब्रह्माण्ड पैदा हुआ और वही इस विराट् के अधिपुरुष हुए। वे उत्पन्न होकर अत्यधिक प्रकाशित हुए। पीछे उन्हीं ने भूमि तथा शरीर उत्पन्न किया। अतः उन्हें जानना चाहिए। स्नान करायें।

ॐ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मः इध्म शरद्धविः।।६।।

देवताओं ने उस पुरुष में ही हवि की भावना द्वारा यज्ञ सम्पन्न किया। उस यज्ञ में वसंत घृत, ग्रीष्म ईंधन और शरद् हवि था। इस प्रकार दिव्य वृत्तियों ने प्रत्येक वस्तु में उसका चिन्तन कर उसे जाना। अतः सदैव उसी एक का चिन्तन करना चाहिए। वस्त्र पहनाएँ।

ॐ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।७।।

देवाः अर्थात् दैवी सम्पद् को हृदय में उतारनेवाले साध्य, साध्याः अर्थात् परमात्मा के लिए साधन करनेवाले योगाभ्यासी तथा ऋषयः अर्थात् मन का निरोध करनेवाले ज्ञानी इन लोगों ने शरीरस्थ पुरुष को साधनों के द्वारा विशुद्ध किया, उसे अग्रजन्मा अर्थात् अग्रगण्य बनाया, पुरुषोत्तम बनाया। इसी रीति से यजन करके, आत्मशोधन करके सभी ने मोक्ष प्राप्त किया। तुम्हें भी यही करना चाहिये। गन्ध दें।

ॐ तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानरण्यान् ग्राम्याश्च ये।।८।।

जिसमें सब कुछ हवन कर दिया गया था, ऐसे उस यज्ञ से प्रशस्त घृत उत्पन्न हुआ- आविष्कार हुआ। उस परमपुरुष ने यज्ञ से ही वायु में रहनेवाले, ग्राम में रहनेवाले, वन में रहनेवाले तथा दूसरे पशुओं को उत्पन्न किया। सबमें उसी परमपुरुष का प्रकाश है। उसे जानो। माल्यार्पण करें।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।९।।

जिसमें सब कुछ हवन कर दिया जाता है, उसी यज्ञ से ऋग्वेद और सामवेद प्रकट हुए, उसी से अथर्ववेद प्रकट हुआ, उसी से यजुर्वेद अर्थात् यजन करनेवाले मन्त्रों की भी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार वेदों का भी मूल यज्ञ है। यज्ञ द्वारा उस परमपुरुष को जानना चाहिए। धूप दें।

ॐ तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।।१०।।

उसी परमपुरुष से घोड़े उत्पन्न हुए। इसके अतिरिक्त दोनों ओर दाँतोंवाले, गाय, बकरी इत्यादि अन्यान्य पशु-पक्षी उत्पन्न हुए। सबकी उत्पत्ति उसी परमात्मा से है। उस एकमात्र परमेश्वर पर विश्वास लाना चाहिए। अन्य कोई पूजनीय नहीं है। इत्र लगाएँ।

ॐ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य किं बाहू का उरू पादा उच्येते।।११।।

जिस पुरुष का विधान किया गया, विचारकुशल पुरुषों ने उस परमपुरुष की कल्पना कितने प्रकार से की, उसका मुख क्या था, बाहुएँ क्या थीं और पैर क्या था? अब यह बताया जाता है। सामयिक फल दें।

ॐ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।।१२।।

ब्राह्मण इसका मुख था। क्षत्रिय दोनों भुजाएँ बना। इसकी जो दोनों जंघाएँ थीं वही वैश्य हुईं और पैरों से शूद्र जन्मा। द्रव्य चढ़ाएँ।

*(**विशेष–** ध्यान देने की बात है कि केवल शूद्र ही जन्मता है; क्योंकि उत्पत्तिकाल में भजन ही शूद्र स्तर का होता है। वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण स्तर विकास से हो जाते हैं। जो भजन नहीं करता, वह तो शूद्र भी नहीं है, वह जड़-जीव मात्र है। साधन की इन चार श्रेणियों को पार कर लेने पर साधक ब्राह्मण भी नहीं रह जाता। **'न ब्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रः चिदानन्दरूपो शिवो केवलोऽहम्।'** की स्थिति आ जाती है।)*

यह गलत बात है कि इन सोपानों की नकल करके समाज में चार जातियाँ भी इन नामों से बन गयी हैं और इसी प्रथा की दुहाई देकर शूद्र को सबसे निकृष्ट माना जाता है; क्योंकि वह चरण से पैदा हुआ। विचारणीय है कि वह परमपुरुष तो सर्वत्र हाथ, पैर और मुँहवाला था। जहाँ पैर था क्या वहाँ सिर नहीं था? एक ही पाद में तो सम्पूर्ण सृष्टि है। तब तो सभी शूद्र हो गए। जिन चरणों से पतितपावनी गंगा निकली, उसी चरण से निकला शूद्र इतना अपवित्र कि छू दे तो धर्म नष्ट हो जाय, परम पुरुष ही मर जाय! कितनी भ्रान्ति है।

वास्तविकता को छिपाकर मनुस्मृतिकार कहते हैं कि जन्म से तो सभी शूद्र होते हैं। हाँ, संस्कार करने से ब्राह्मण बन जाते हैं। और संस्कार के नाम पर यज्ञोपवीत पहनाकर दो-चार मन्त्र पढ़ा देते हैं। यदि इसी प्रकार ब्राह्मण बनते हैं तो सबको ब्राह्मण बनाकर अपनी संख्या क्यों नहीं बढ़ा लेते। वस्तुतः वे संस्कार भी नहीं हैं। संस्कार का आशय है 'स अंश आकारः'- उस परमात्मा का आंशिक आकार डाल देना, उसकी चाह पैदा कर देना। इतने के लिए ही कर्मकाण्ड की सार्थकता है। अस्तु, वेद के नाम पर मानव-मानव में दरार न डालें। परमात्मा सबमें है और सभी इस दृष्टि से समान हैं, सभी उसे पाने के हकदार हैं।

ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।।१३।।

उसी परमपुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्रों से सूर्य प्रकट हुआ, कानों से वायु और प्राण तथा मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। दीप जलाएँ।

ॐ नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्।।१४।।

उस परमपुरुष की नाभि अन्तरिक्ष थी। मस्तक से स्वर्गलोक प्रकट हुआ, पैरों से पृथ्वी और कानों से दिशाएँ हुईं। इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुष में ही विद्यमान हैं। कल्पित हुए यह सब एक ही पुरुष की विभूतियाँ हैं, उन्हें जानो। नैवेद्य दें।

ॐ सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवध्नन् पुरुषं पशुम्।।१५।।

दैवी सम्पद् युक्त लोगों ने यज्ञ करते समय योग की सात भूमिकाओं में प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्च स्थूलभूत, पञ्च सूक्ष्मभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा तीन गुण इन इक्कीस समिधाओं का हवन करके उस पुरुषरूपी पशु को बाँध लिया। इन सबके हवन हो जाने पर जो शेष बचा रहता है, उसे जानो। साधन द्वारा वह अवश्य प्राप्त होता है। ताम्बूल-इलायची दें।

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।१६।।

दैवी सम्पद् को हृदय में ढालनेवालों ने परमपुरुष की प्राप्तिरूप उपरोक्त यज्ञ द्वारा यज्ञरूपी परमपुरुष का यजन किया। इस प्रकार के यज्ञ द्वारा सर्वप्रथम धर्म की उत्पत्ति हुई। इसके आचरण से दैवी सम्पद् सम्पन्न लोग महान् महिमावाले होकर उस स्वर्गलोक का सेवन करते हैं। प्रदक्षिणा करें। ***(ऋग्वेद, १०/९०/१-१६)***

*(**नोट** - निम्नलिखित दो मन्त्र ऋग्वेद में नहीं मिलते, किन्तु 'मूल उपनिषद्', 'परमात्मिकोपनिषद्', 'महावाक्योपनिषद्', 'चित्युपनिषद्' में पुरुष-सूक्त नाम से हैं।)*

ॐ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्तु पारे।
सर्वाणि भूतानि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते।।१७।।

मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो आदित्य के समान प्रकाशस्वरूप और तामस से परे है। वह सभी रूपों की रचना कर उनका नामकरण करता है और वैसा ही व्यवहार करते हुए सबकी बुद्धि में रमण करता हैं। वही इष्ट है।

ॐ धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्ररिशश्चतस्रः।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते।।१८।।

पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने जिसकी स्तुति की थी, इन्द्र ने चारो दिशाओं में जिसे व्याप्त जाना था, उस परमपुरुष को जो जानता है वह यहीं, इसी जन्म में अमृतपद प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त अमर होने का अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। उस एकमात्र परमेश्वर पर विश्वास लाना चाहिए और इसी जीवन में उसे प्राप्त कर लेना चाहिए।

पुरुष-सूक्त के इन मन्त्रों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि एक परमात्मा में अपनी श्रद्धा को स्थिर करना ही कर्मकाण्ड का लक्ष्य है। इस परमात्मा को कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना है। पुरुष-सूक्त की मान्यता है कि इस परमात्मा को केवल मानसिक यज्ञ द्वारा ही पाया जाता है, अन्य कोई रास्ता नहीं है; किन्तु आज कर्मकाण्डों में वेदी बनायी जाती है, चौक पूरा जाता है, नैवेद्य चढ़ाया जाने लगा है। जिसका आशय केवल इतना ही है कि भगवान के लिए हृदय पवित्र कैसे बनाया जाय। ऐसी ही स्वच्छता, समर्पण की भावना अपने हृदय में करें। बाहर तो मात्र नमूना (दृष्टान्त) है। अन्त में परमात्मा के निमित्त अर्पित सात्विक वस्तुओं को आपस में बाँटकर खाने की प्रथा है जिससे आत्मीयता, संगठन और एकता का सम्बन्ध हो।

आज संसार का प्रबुद्ध समाज प्रचलित कर्मकाण्ड को पोंगापंथी की संज्ञा देता है। आरोप लगाता है कि शिक्षा को एकांगी रखकर वर्ग-विशेष इसके माध्यम से अपनी जीविका चलाता आ रहा है। कभी पुरोहित समाज में गौरव के साथ प्रवेश करता था, आज पत्रा लिए पुरोहित दीनों-जैसा हो गया है, जिसका कारण यह भ्रान्ति ही है। ऐसी परिस्थिति में अपने गौरव की उज्ज्वलता पुनः प्राप्त करना कौन नहीं चाहेगा? इसके लिए कर्मकाण्ड की इस वास्तविक विधि का प्रचार सबकी समझ में आनेवाली प्रचलित, सरल भाषा में करना होगा, इसे जन-जन के हृदय में पहुँचाना होगा।

सभी पुरोहितजन सदैव ध्यान में रखें कि एक परमपुरुष के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की ओर श्रद्धा को न ले जायँ, क्योंकि ब्रह्मा से लेकर यावन्मात्र जगत् आवागमन के चक्कर में है, जिनका कोई अस्तित्व नहीं है, इन्हें बढ़ावा देना अज्ञानियों का काम है। अस्तित्वविहीन को बढ़ावा देना नास्तिकता को बढ़ावा देना है।

।। ॐ।।

हवन

यज्ञ पर दृष्टि-क्रम

गीताशास्त्र के अनुसार बाहर अग्नि जलाकर यज्ञ करने का कहीं कोई विधान नहीं मिलता, फिर अग्नि में हवन कैसा और क्यों?- उलझे प्रश्न पर युक्तिसंगत विचार।

- स्वामी अड़गड़ानन्द

कर्मकाण्ड में पूजा-भाग के हर श्लोक में परमपुरुष परमात्मा की विविध अवस्थाओं का चित्रण है। हर श्लोक के पश्चात् मांगलिक वस्तुओं को समर्पित किया जाता है। कर्मकाण्ड का दूसरा भाग है हवन, जिसमें वेदी बनाकर आम अथवा किसी सुगन्धित वृक्ष की लकड़ी में अग्नि आधान कर तिल, यव, अगरु इत्यादि का मिश्रण करते हैं। अनेक देवताओं और वस्तुओं का नाम लेते हैं कि यह वस्तु आपके लिये है मेरी नहीं, आप इसे स्वीकार करें; किन्तु यहाँ भी एक भूल न जाने कब से स्थान पा चुकी है कि श्लोक तो परम पुरुष की महिमा के पढ़े जाते हैं, जिसका अर्थ है कि उस प्रभु के अतिरिक्त सभी नाशवान् हैं; किन्तु स्वाहा के समय अनेकानेक तैंतीस कोटि देवी-देवताओं का नाम समर्पण करने लग जाते हैं, जिनका कोई अस्तित्व नहीं है- चाहे वेद ही उठाकर क्यों न देख लें।

हवन में पचीस-तीस देवी-देवताओं तक नाम तो लिये जाते हैं; किन्तु इसके पश्चात् जड़-चेतन जीवों के नामों की गिनती शुरू हो जाती है; क्योंकि सभी देवताओं का नाम कोई नहीं जानता। कहते हैं- समुद्रेभ्यो नमः, तो साथ ही क्षीर-समुद्र, दधि-समुद्र, घृत-समुद्र, इक्षु (गन्ने के रस के)-समुद्र और सुरासमुद्रेभ्यो नमः। यह सब खाने-पीने की वस्तुएँ हैं। इतना ही नहीं, नदियाँ और छोटे-मोटे नाले तक को स्वाहा। फिर छः-सात प्रकार के सर्पों को गिनाया जाता है, जैसे- सहसनाग, वासुकी, कर्कोटकाय, तक्षकाय नमः स्वाहा। आगे वृश्चिकाय नमः, कृकलाय (गिरगिट को भी) स्वाहा। शरीर की इन्द्रियों के भी नाम हैं, जैसे- भगाय नमः। स्वर्ग की अप्सराओं के प्रति भी समर्पण कराया जाता है, जैसे- मेनकायै स्वाहा, उर्वश्यै नमः, तिलोत्तमायै नमः स्वाहा। इसी प्रकार मानव-निर्मित काल-गणना और ग्रह-नक्षत्रों के प्रति भी समर्पण कराया जाता है। जैसे- सोमाय नमः, भौमाय नमः, ध्रुवाय नमः, राहवे केतवे नमः। इसी क्रम में अस्त्र-शस्त्रों को नमन, जैसे- दण्डाय नमः, गदा-अंकुश-पाश-त्रिशूल-चक्राय नमः; जबकि ये आविष्कार हजारों वर्ष पुराने पड़ चुके। फिर कहते हैं- इन्द्र और उसके उच्छृङ्खल लड़के जयन्त के लिये स्वाहा। पीपल से लेकर पिपीलिका तक को समर्पण, भूत-भवानी तक को नमन

सिखाया जाता है। सारांशतः प्रचलित हवन-पद्धति में शाश्वत एक परमात्मा के स्थान पर क्षणभंगुर कलेवरों के प्रति हमारी श्रद्धा को बाँट दिया जाता है- ऐसा क्यों?

देवता **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** *(गीता, ९/२१)*- पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में गिर पड़ते हैं। देवताओं का राजा बननेवाला नहुष गिरा तो अजगर बना। तैंतीस करोड़ देवता तो न जाने कब के गिने गये थे, अब तक उनमें से कितने गिरे? चन्द्रयान से पृथ्वी की परिक्रमा करनेवालों ने क्या उस सहसनाग को देखा, जिसके फन पर पृथ्वी टिकी बतायी गयी है, जिसे आप स्वाहा बोलते हैं? जिन्हें आप हवि देते हैं, क्या वे हैं भी या नहीं?

कुछेक कहते हैं कि जड़-चेतन सबको नमस्कार इसलिए कराया जाता है कि मनीषियों को इन सबमें परमात्मा दिखायी पड़ा। किन्तु यह तो प्राप्ति के समय महापुरुष की अपनी निज अनुभूति है, दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग? अग्नि तो प्रत्येक काष्ठ में है, किन्तु बिना जलाये क्या भोजन पक जायेगा? जिसने कभी देखा नहीं, जलाने की विधि सीखी नहीं, क्रिया करता नहीं तो लकड़ी में रहते हुए भी आग उसके लिए नहीं है।

इसी प्रकार, परमात्मा कण-कण में है- ऐसा भगवत्-प्राप्ति के समय दिखायी अवश्य पड़ता है, फिर भी महापुरुष जड़-चेतन सबको समर्पण करने नहीं लग जाता, बल्कि उसका हृदयस्थ इष्ट ही बाहर भी सर्वत्र दिखायी पड़ने लगता है। वह सर्वत्र अपने इष्ट को ही प्रणाम करता है, अन्य को नहीं। अपनी विभूतियों को गिनाते-दिखाते योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि बहुत कुछ जानने-सुनने से तेरा क्या प्रयोजन! इतने में समझ ले कि संसार में जो कुछ भी तेजयुक्त है, मेरे ही तेजांश प्रभाव से है, तो क्या अर्जुन उन सबको पूजने लगा? क्या उसने सूर्य और चन्द्रमा की पूजा की? वह श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित रहा। केवल भक्त के लिए प्राप्तिकाल में सृष्टि खो जाती है, भगवान ही सर्वत्र दिखायी पड़ते हैं। शेष सबको कण-कण में संसार ही दीखता है, भगवान कहीं नहीं। सर्वत्र भले ही हों; किन्तु साधनात्मक जागृति के बिना वह हमारे और आपके लिए नहीं हैं। भगवान सर्वत्र हैं- यह योग-साधना से चलकर देखने के लिए है, मानकर बैठ जाने के लिए नहीं।

यह भी कहा जाता है कि जिन उपयोगी वस्तुओं का हम प्रयोग करते हैं, उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन के लिए इन मन्त्रों से समर्पण कराया जाता है। फिर तो उपयोगी आधुनिक आविष्कारों के प्रति भी समर्पण क्यों नहीं करते कि- पम्पसेटाय स्वाहा। फाउण्टेनपेनाय नमः, टेलीविजनाय स्वाहा। उर्वरकाय स्वाहा। ट्रैक्टराय नमः। कम्प्यूटराय नमः स्वाहा। नम्बर दो की कमाई नमः स्वाहा। स्टेनगनाय नमः इत्यादि। परमाणु पिस्टल कहें! अब दण्ड-मुग्दर का क्या उपयोग?

सन्तोष के लिए कुछ लोग मान लेते हैं कि देवी-देवता भगवान के ही विभिन्न नाम हैं; किन्तु जिन नामों से आप हवन करते हैं, क्या उनसे एक परमात्मा का बोध होता है? लोग छोटे-बड़े देवताओं की कल्पना कर उनके पीछे दौड़ने लगते हैं। कुछ मानते हैं कि देवता भी भगवान के अंग या सेवक हैं, उन्हें मिलाये रखना जरूरी है। कोई काम लेना है तो भगवान को कष्ट क्यों दें, इन्हीं से काम करा लें! किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। उपनिषदों में कहा गया है कि देवताओं की उपासना करनेवाला अर्थात् भगवान के एक अंग, एक आँख या एक कान की पूजा करनेवाला यथार्थ नहीं जानता। वह एक-एक देवताओं का पशु है। देवता उसका शोषण ही करते हैं। अर्थात् इनमें उलझकर वह एक परमात्मा के चिन्तन में समय नहीं दे पाता, परमश्रेय से वंचित रह जाता है।

वस्तुतः देवता और असुर हृदय के अन्तर्गत दैवी और आसुरी गुणों के नाम हैं। परमदेव परमात्मा की ओर बढ़ानेवाले शम-दम, यम-नियम, धारणा-ध्यान अथवा समाधिपर्यन्त गुण ही देवता हैं। अपने भीतर इन गुणों को विकसित करना कठिन जानकर, बाहर इन गुणों की आकृति पूजकर सन्तोष कर लेना ही भ्रान्ति का मूल है, जैसे कि बुद्धि की देवी, क्रोध का देवता, प्रेम का देवता, समृद्धि का देवता, भोजन की देवी, बीमारियों की देवी, उनके स्त्री-बच्चे, निवास, वाहन इत्यादि कल्पित कर लिए गये हैं। ये मात्र गुण हैं और जिसमें जितनी मात्रा में प्रस्फुटित होते हैं, उसी मात्रा में शक्ति प्रदान करते हैं। इन गुणों की पराकाष्ठा परमदेव परमात्मा में है। अस्तु, पूजन इन गुणों की कल्पित आकृतियों की नहीं, बल्कि इन सबके एकमात्र आश्रय परमात्मा का ही पूजन तथा एक उन्हीं के प्रति समर्पण उचित है।

पूजा के श्लोक क्लिष्ट संस्कृत में होने, शिक्षा में ह्रास तथा सर्वसुलभ न होने के कारण जनसमाज उन्हें कम समझता था; किन्तु हवन के मन्त्र सरल संस्कृत में होने तथा हिन्दी भाषा से मिलते-जुलते शब्दों के कारण और शिक्षा के प्रचार के कारण भी प्रायः सबकी समझ में आने लगे हैं। जिन घरों में कर्मकाण्ड के ये उत्सव होते हैं, वहाँ बैठी माताओं और बच्चों के निर्मल मन पर इन अस्तित्वहीन कलेवरों के संस्कार घर कर जाते हैं, जो आजीवन उनका पिण्ड नहीं छोड़ते। वे परमात्मा का नाम तो लेते हैं; किन्तु उसी के साथ मिलाकर वे पन्द्रह-पचीस देवी-देवताओं को भी बचपन से विरासत में पा जाते हैं। लाख समझाने पर भी वे सत्य को अपनाने से हिचकते हैं कि कहीं पहलेवाले देवता महाराज नाराज न हो जायँ। हजारों खर्च करके लोग इन आयोजनों को क्या इसीलिए कराते हैं कि उन्हें शाश्वत से हटाकर नश्वर के पीछे गुमराह कर दिया जाय?

पूजा में प्रयुक्त पुरुष-सूक्त के मन्त्रों द्वारा एक परमात्मा के प्रति समर्पण तो सही है; किन्तु स्वाहा के समय शाश्वत का यही शिक्षक नश्वर के पीछे भटक जाता है, जिसका

कलंक हवन-पद्धति में चली आ रही इस छोटी-सी भूल से है। क्यों न इसका सुधार किया जाय?

पहले अधिकांश समाज अनपढ़ था। धर्म के नाम पर कुछ भी कह देना सरल था। अब लोग साक्षर हैं, समझते जा रहे हैं। यदि वे पूछें की पुश्त-दर-पुश्त को एक परम सत्य से हटाकर नश्वर के पीछे लगा देने का आपको क्या अधिकार है?, तो कठिन हो जायेगा। अतः अभी से (जैसा कि वेद की मूल ऋचायें कहती हैं) उस एक परमात्मा के नाम का सेवन करें।

भगवान महावीर, गौतम बुद्ध, गुरु नानक इत्यादि भी परमात्मा को भली प्रकार मानते हैं। परमात्मा के अनन्त नामों में से आठ-दस का वे भली प्रकार प्रयोग करते हैं। जैसे, बुद्ध का कहना है कि साधना के पूर्तिकाल में रात्रि के चौथे प्रहर में मैंने उस अविनाशी पद को पाया, जिसे पूर्व महर्षियों ने पाया था। मैंने सर्वज्ञता प्राप्त की। फिर बुद्ध का धर्म नया कैसे हो गया? उनके पहले के महर्षि भी उसी सत्य को पा चुके थे। गीता में भी है कि वह आत्मा अविनाशी है, शस्त्र उसे काट नहीं सकते, वायु सुखा नहीं सकता, वह आत्मा ही सर्वज्ञ है; फिर बुद्ध ही कौन कुल्हाड़ी मार रहे हैं? इन नामों में से ही तो किसी का प्रयोग कर रहे हैं।

महावीर स्वामी भी उसी परमात्मा के नाम को बार-बार दुहराते हैं कि आत्मा ही सत्य है। बहुत से नामों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया कि कहीं लोग इन नामों को ही अलग-अलग देवी-देवता का रूप न दे दें। उन्होंने केवल 'आत्मा' को ही लिया। गीता (अध्याय २/१६) में भी है कि असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत्य वस्तु का तीनों कालों में अभाव नहीं है। अर्जुन! यह आत्मा ही सत्य है। इसकी प्राप्ति ही परमसिद्धि है। ठीक इसी स्वर में सर्वसिद्धि, सर्वसमर्थ, आत्मा-जैसे पर्यायों का प्रयोग महावीर ने परमात्मा के लिए किया है।

गुरु नानक ने कहा कि एक ओंकार ही सत्य है। हरि के अनन्त नाम हैं, जिनमें राम-नाम सर्वोपरि है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थसाहिब में छब्बीस हजार सात सौ बार भगवान का नाम आया है, जैसे- राम, हरि, ओम्, प्रभु, कर्त्ता पुरुष, अकाल पुरुष इत्यादि। गीता में है कि मैं काल से परे हूँ। ठीक वही बात, जो ग्रन्थसाहिब में है। आपके रामचरितमानस, पातंजल योगदर्शन, उपनिषद्, वेद इन सबका एक ही निर्णय है, जिनका समर्थन नानक भी करते हैं।

सुखमनि साहिब

'सिमिरहु सिमिरि सिमिरि सुख पावहु। कलि कलेस तन माहिं मिटावहु।।' तो किसका सुमिरन करें? **'सिमिरहु जासु बिसम्भर एके। नाम जपत अनगनत अनेके।।'**

उनके नाम अनगिनत और अनेक हैं, किन्तु **'वेद पुरान सिमृति सुधाखर। कीन्हें राम नाम इक आखर।।'** राम-नाम सर्वोपरि है- **'किनका एक जासु जिय बसावै। ताकी महिमा गनी न जावै।।'**- राम-नाम का एक कण भी जिसके जिय में बस जाता है, उसकी महिमा अपार है। **'काँखी एकै दरस तुम्हारो। नानक उन संग मोहि उधारो।।'**- जिन्हें नाम जपते हुए एक ही आकांक्षा रहती है कि मैं आपका दर्शन पाऊँ, बस मुझ नानक को भी उन्हीं में से एक जानकर उद्धार कर देना।

अतः जैन, बौद्ध, सिख इत्यादि सनातन के ही अनुयायी हैं। परमात्मा की ओर उन्मुख विश्व का प्रत्येक व्यक्ति सनातनधर्मी है, भाषा उसकी चाहे जो हो। इन्हें अपने से भिन्न देखना भ्रम-विशेष की उपज है और सत्य से पलायन करना है। विद्वान् पुरोहित वर्ग को चाहिये कि वेद, उपनिषद्, गीता इत्यादि शास्त्रों से अनुमोदित परमात्मा के उन्हीं नामों का हवन करें, जो एक परमात्मा के ही परिचायक हों। जैसे- **'सर्वसुखाय सच्चिदानन्दात्मने नमः।'**- सभी सुखों को देनेवाला वही है, सत्-चित्-आनन्दघन वही है। **'सर्व उरालये स्थितये नमः।'**- वह सबके हृदय में वास करता है। **'अगोचराय अचिन्त्याय नमः।'**- वह इन्द्रियों और चित्त का निरोध करने से शनैः-शनैः क्रमशः सुलभ होता है। **'परम पुरुषाय नमः।'**- परम पुरुष वही है। **'शाश्वताय अमृताय अकालपुरुषाय नमः।'**- अमृत वही है, मृत्यु से परे अकाल पुरुष वही है। इस प्रकार सबको बोध करा देने से कर्मकाण्ड की सभी रस्में पूरी हो जाती हैं कि परमात्मा ही लोक में समृद्धि, परलोक में शाश्वत शान्ति और परमधाम के दाता हैं। मानव को और चाहिए ही क्या? यदि आपको लोक में समृद्धि और परलोक में मुक्ति चाहिये तो परम पुरुष परमात्मा की ही आराधना करें। अन्यत्र कहीं कल्याण है ही नहीं, तो पायेंगे कहाँ से? अतः निष्ठा को हर ओर से समेटकर एक परमात्मा में दृढ़ करें-करायें, अपना उद्योग करें।

यज्ञ का वास्तविक स्वरूप

देवी-देवताओं के स्थान पर एक परमात्मा का नाम लेकर यज्ञ करने से नाम का सुधार तो हो गया; किन्तु बहुत बड़ी भूल फिर भी जीवित है; क्योंकि हमें वह अग्नि उपलब्ध नहीं है, जिससे हवन होता है। यज्ञ के लिए **'जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।'** ***(मानस, ७/११७ क)*** अनुकूल अग्नि चाहिए।

अन्य शास्त्रों के साथ गीता *(अध्याय ४, श्लोक २५ से ३० तक)* में यज्ञ का भली प्रकार वर्णन है। बहुत से योगी यज्ञस्वरूप महापुरुष को माध्यम बनाकर ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ का हवन करते हैं अर्थात् सद्गुरु के स्वरूप का ध्यान करते हैं। यहाँ ब्रह्म एक अग्नि है। बहुत से योगी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को **'संयमाग्निषु जुह्वति।'** ***(गीता, ४/२६)***- संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। यहाँ संयम एक अग्नि है। बहुत से योगी

शब्दादिक विषयों को **'इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।'** *(गीता, ४/२६)*- इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् दर्शन, श्रवण इत्यादि द्वारा जो विषय मिलता है, उसका आशय साधनापरक बदलकर ग्रहण करते हैं। यहाँ इन्द्रिय एक अग्नि है। **'आत्मसंयमयोगाग्नौ'** *(गीता, ४/२७)*- यहाँ योग एक अग्नि है। अन्तःकरण का परमतत्त्व से संयोग करानेवाली अग्नि है। बहुत से योगी प्राण को अपानाग्नि में तथा अपान को प्राण में हवन करते हैं। बहुत से प्राण को केवल प्राण में हवन करते हैं अर्थात् सुरत को केवल प्राण पर ही केन्द्रित करते हैं, जब-जब श्वास लेते हैं ओम् का स्मरण करते हैं। अन्तिम स्थिति में कहते हैं कि बहुत से योगीजन प्राण और अपान की गति का निरोध कर प्राणायामपरायण हो जाते हैं। न तो भीतर से कोई संकल्प उठता है और न बाह्य वायुमण्डल का संकल्प भीतर प्रवेश कर पाता है। ऐसी दशा में प्राणों का आयाम अर्थात् निरोध हो जाता है। यही मन की विजेतावस्था है। मन (चित्त) के प्रसार का नाम ही तो जगत् है। जहाँ मन संकल्प-विकल्प से रहित हुआ, तहाँ इस मन में स्थित जगत् का ही हवन हो जाता है। इस मानस-यज्ञ में पूरा जगत् अर्थात् सांसारिक सम्बन्ध ही हवन-सामग्री के रूप में है। यही बात भगवान अपने शब्दों में कहते हैं-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। *(गीता, ५/१९)*

उस पुरुष के द्वारा जीवित अवस्था में ही सारा संसार जीत लिया गया, जिसका मन समत्व में स्थित है। क्यों? मन के समत्व और संसार जीतने में सम्बन्ध? जगत् जीत ही लिया, तो जीतनेवाला रहा कहाँ? इस पर योगेश्वर कहते हैं, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'**- वह ब्रह्म निर्दोष और सम है और इधर उसका मन भी समत्व की अवस्थावाला हो गया। **'तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः।'**- इसलिये वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी स्थिति को यज्ञ-प्रकरण में कहते हैं- प्राणायाम की स्थिति, जहाँ प्राणों का व्यापार (मन की भागदौड़) शान्त हो गयी हो। यह मन की विजेतावस्था है। इसके साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है।

'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।' पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी संरचना करता है, उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी शाश्वत सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है और जो यज्ञ नहीं करता, उस यज्ञरहित पुरुष के लिये **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।'** *(गीता, ४/३१)*- यह मनुष्य शरीर भी सम्भव नहीं है तो भला परलोक कैसे सम्भव होगा? इस प्रकार के यज्ञों से जिनका पाप नष्ट हो चुका है, वे सभी पुरुष यज्ञ के जानकार हैं। अतः आप भी इन्हीं यज्ञों में से अपनी श्रेणी चुन लें और करें। यह चिन्तन-क्रम सबके लिये सुलभ है।

संसार में द्रव्य-यज्ञ भी प्रचलित है, जिसमें धर्मशाला, कुआँ, तालाब इत्यादि का निर्माण और मानव सेवा में द्रव्य लगाया जाता है; किन्तु गीता के अनुसार ये अत्यल्प हैं। योगेश्वर द्वारा बताया गया यज्ञ अपने सभी स्तरों पर मन और इन्द्रियों की क्रिया द्वारा ही सम्पन्न होनेवाला है। भौतिक जगत् की एक पैसे की भी वस्तु यज्ञ में नहीं लगती और यही मानसिक यज्ञ वेद के पुरुष-सूक्त में है, जिसमें वसन्त ऋतु आज्य है, ग्रीष्म ईंधन है, शरद् हवि है अर्थात् सभी कालों में सतत यह यज्ञ करने का विधान है।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवध्नन् पुरुषं पशुम्।।

दैवी सम्पद्युक्त लोगों ने यज्ञ करते समय यज्ञ की सात भूमिकाओं में प्रकृति, महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, पंच स्थूलभूत, पंच सूक्ष्मभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा तीन गुण- इन इक्कीस समिधाओं का हवन करके उस पुरुषरूपी पशु को बाँध लिया। इन सबके हवन हो जाने पर जो शेष बचा रहता है, उसी को जानो। वही है परम आराध्य, वही है परमात्मा।

यही श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि जगत् के सम्पूर्ण संस्कारों के हवन के साथ मन की साम्य स्थिति के बाद ईश्वर की जानकारी ही शेष बची रहती है, जिसका नाम ज्ञान है। **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'** *(गीता, ४/३८)*- ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला इस संसार में निःसन्देह कुछ भी नहीं है। **'तत्स्वयं'**- उस ज्ञान को तू स्वयं **'योगसंसिद्धः कालेन'**- योग की सिद्धि के समय (आरम्भ में नहीं, मध्य में नहीं, परिपक्व अवस्थाकाल में) **'आत्मनि विन्दति।।'**- अपनी अन्तरात्मा में ही देखेगा, अनुभव करेगा। ज्ञान अनुभव की वस्तु है, पढ़ने की नहीं। इसी ज्ञान को योगेश्वर अग्नि कहते हैं, जिसमें समस्त कर्म, कर्म-संस्कार और कर्मकाण्ड भी जल जाते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१९)*

'यस्य सर्वे समारम्भाः'- जिस पुरुष के द्वारा दैवी सम्पद् का अर्जन इत्यादि सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया इतनी उन्नत हो गयी कि **'कामसंकल्पवर्जिताः'**- कामना और मन के संकल्प-विकल्प से ऊपर उठ गई (कामना और संकल्प का निरोध होना मन की विजेतावस्था है)। कामना और संकल्प से जहाँ पुरुष ऊपर उठ जाता है, तहाँ **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'**- जिसे जानने के लिये हम इच्छुक थे, वह तत्त्व विदित हो जाता है, उसकी प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। उस ज्ञानाग्नि में सभी कर्म जल जाते हैं। ऐसी स्थितिवालों को बोधस्वरूप महापुरुषों ने 'पण्डित' कहकर सम्बोधित किया है।

इस प्रकार आपके वेद, जिनकी ऋचाएँ आप कर्मकाण्ड में पढ़ते हैं और उपनिषदों का सारांश गीताशास्त्र के अनुसार बाहर अग्नि जलाकर यज्ञ करने का विधान कहीं नहीं मिलता। फिर अग्नि में हवन कैसा और क्यों?

गीता के अनुसार सृष्टि में जो जीव धारण करनेवाला प्राणी है, भूत है। **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।** *(१८/६१)*- वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों (प्राणियों) के हृदय-देश में निवास करता है। संसार के ये समस्त भूत जिससे उत्पन्न होते हैं उसका नाम पंचमहाभूत है- क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर। इनमें मन, बुद्धि और अहंकार मिलकर अष्टधा मूल प्रकृति कहलाती है। यदि हम इनमें से किसी की पूजा करते हैं तो भूत की ही पूजा करते हैं।

इन पंच महाभूतों से ही संसार की वस्तुओं का, शरीर का सृजन होता है और अन्त में अस्तित्वविहीन सभी भूत इन्हीं पंच महाभूतों में विलीन हो जाते हैं- अग्नि जलाकर अपने में आत्मसात् कर लेती है, पृथ्वी अपने में मिला लेती है, जल अपने में प्रवाहित कर लेता है, आकाश अपने में समाहित कर लेता है। ये अग्नि इत्यादि तो मुँह खोलकर खड़े ही हैं- सब कुछ अपने में आत्मसात् करने के लिये, इनमें आहुति देकर आप किसको तृप्त कर रहे हैं? यह भी एक रूढ़ि की पुनरावृत्ति मात्र है। आप उस एक परमात्मा को जानने का प्रयास करें, जिसकी शक्ति के बिना आग एक तिनके को भी नहीं जला सकती। अभी तक जड़-चेतन कलेवरों का नाम लेकर, कल्पित देवी-देवताओं का नाम लेकर हम स्वाहा समर्पण बोलते थे, अब उनके स्थान पर हमलोग एक ईश्वर के परिचायक नाम का सुमिरन कर उसी अग्नि में हवन करें- यह भी एक भूल है; क्योंकि उन नश्वर पंचमहाभूतों में ही पूजन करते हैं।

प्रत्येक पूजन के आरम्भ में 'श्री गणेशाय नमः' कहने की परम्परा है। कहते हैं कि गणेश का काम ही है प्रत्येक कार्य में विघ्न करना। उनकी पूजा कर दें, तो वे ही आपके लिये विघ्ननाशक बन जाएँगे।

यह भी दान लेने की योजना मात्र है। जिस नाम के जप से गणेश सर्वश्रेष्ठ माने गये, उस नाम-जप में कोई समय नहीं देता, केवल गणेशाय नमः कहकर हाथ जोड़ देने से क्या मिलेगा? **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** *(गीता, १०/२५)*- भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ जपयज्ञ है उसमें मैं ही स्थित हूँ, तो हम सबको उस परम पुरुष के परिचायक नाम ओम् अथवा राम का जप करना चाहिए। विभिन्न पर्वों और उत्सवों पर भी उसी ईश्वर के नाम का जप करना चाहिए, जिससे मनुष्य विविध आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन-स्रोत तथा परमश्रेय पा सके, पहचान सके।

कहते हैं कि अग्नि में हवन करने से वृष्टि होती है- यह भी युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि सबसे अधिक यज्ञ राजस्थान की धर्मप्राण जनता करती है- चाहे धर्म के लिये युद्ध में प्राणों का होम करना हो, चाहे अग्नि में हवन- किन्तु वर्षा के आँकड़ों में परिवर्तन नहीं हो सका। राजस्थान रेगिस्तान है, जबकि भारत में ही एक स्थान चेरापूँजी है तथा हवाई द्वीप के वायअले अले नामक पर्वत प्रदेश में, जहाँ यज्ञ के लिये कभी सोचा भी नहीं जाता, विश्व की सबसे अधिक वर्षा होती ही रहती है। वस्तुतः ये सभी यज्ञ जिन-जिन अग्नियों में और जिस-जिस प्रकार होते हैं, वे सभी मानसिक हैं, चिन्तन की विधि-विशेष हैं। ज्यों-ज्यों आप इस मानसिक यज्ञ में प्रवेश पायेंगे, ईश्वरीय विभूतियों की वृष्टि होगी और आप शनैः-शनैः ब्रह्मपीयूष से आप्लावित होकर तृप्त हो जायेंगे। वह अन्न पा जायेंगे जिससे हमेशा के लिये क्षुधा-निवृत्ति हो जायेगी। ऐसे महापुरुषों की इच्छाशक्ति से कोई भी रूप बन सकता है- कहीं पानी भी बरस सकता है; किन्तु बाहरी यज्ञ और अग्नि को योगेश्वर नहीं बताते, तो बाह्य वृष्टि कैसे सम्भव है? फिर भी हम अगरबत्ती जलाते हैं, दसांग का हवन करते हैं, धूप-दीप जलाते हैं क्यों? किसलिये? केवल वायुमण्डल शुद्ध करने के लिये, विषाक्त कीटाणुओं का नाश करने के लिये। प्राचीनकालीन यज्ञ में हवन का प्रचलन वायुमण्डल के शुद्धीकरण का अभियान मात्र था, जिसको एक आध्यात्मिक रूपक भी दिया गया कि, जिस प्रकार अग्नि सभी वस्तुओं को अपना स्वरूप प्रदान करती है, उसी प्रकार परमात्मा हमें अपना रूप दे दे, आत्मसात् कर ले।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में कीटाणुओं का नाश करने के लिये कम खर्च में रसायनों का प्रयोग होने लगा है, अतः हवन का औचित्य नहीं रह जाता। कीटाणुनाशक दवाएँ भी अधिक मात्रा में होने पर प्रतिकूल परिणाम प्रदान करती हैं। इसी प्रकार कोई भी वस्तु अधिक मात्रा में जलकर, जैसा कि आधुनिक शोध है, आक्सीजन को कम कर कार्बन-डाई-आक्साइड को बढ़ावा देती है, जो मनुष्य के अनुकूल नहीं है। केवल सीमित क्षेत्र में गृहशुद्धि या वायुशुद्धि का सौम्य नुस्खा है हवन। मात्र इतने के लिए पाँच-सात बार गुगुल-घृत-शक्कर इत्यादि की आहुति दी जा सकती है, देनी भी चाहिये, वह भी मोक्ष के लिए नहीं। भौतिक सुख तथा मोक्ष के लिए वही अग्नि चाहिए, जिस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण बल देते हैं। परमश्रेय उसी में है। उस संयमाग्नि में, योगाग्नि में, प्राण-अपान की अग्नि में, श्वास-प्रश्वास की अग्नि में संस्कारों का हवन करने के लिए जप-यज्ञ ही करना चाहिए, जिसमें सभी यज्ञ प्रतिष्ठित हैं।

यदि कोई पुरोहित इतना करता है अर्थात् एक परमात्मा के परिचायक मन्त्रों का बोध कराता है कि परमात्मा के शोध की स्थली आपका अपना हृदय-देश ही है, उसी परमात्मा के नाम से अग्नि में पाँच-सात बार हवन कर सीधे उसी मंगल की याचना

करता है फिर पन्द्रह-पचीस मिनट उसी परमात्मा के दो-ढाई अक्षर के नाम का मानसिक जप का अभ्यास कराता है और प्रतिदिन नियमित रूप से सुबह-शाम उस नाम को एकान्त में जपने के लिए प्रोत्साहित करता है, तो ऐसा सिखानेवाला पुरोहित श्रद्धा का पात्र है; क्योंकि उसने एक परमात्मा की अमिट छाप छोड़ी है, सत्य के प्रति उसने हमारी आँखें खोल दी, पूर्वजों से सम्पादित कर्मकाण्ड को सही उतारा है और इस अमूल्य मानव-तन को नष्ट होने से बचा लिया। ऐसे पुरोहित कल्याण के बीजारोपणकर्त्ता बनेंगे और संसार भर में इस विधि-विधान के प्रति कोई उँगली भी नहीं उठा सकेगा।

घर-घर, कोने-कोने, झोपड़ी-झोपड़ी में प्रवेश करनेवाला पुरोहित एक शिक्षक है। अव्यक्त के, शाश्वत के इन शिक्षकों का आदर करना चाहिये। इस पाठशाला को तोड़ना नहीं है, इसे कायम रखना है। इस कल्याण-पथ में जो कुछ त्रुटियाँ आ गयी हैं, अवरोध आ गये हैं, उन्हें हटाना है। इसी से हम अपनी पूर्व प्रतिष्ठा को फिर से अर्जित कर सकते हैं। एशिया, यूरोप और नयी दुनिया के नाम से विख्यात अमेरिका तक में प्राचीन भारतीय संस्कृति के अवशेष प्राप्त हो रहे हैं। पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लाम विचारधाराओं का उत्स भारतीय मनीषा ही है। जब तक शाश्वत का यह शिक्षक सही था, भारत विश्वगुरु कहलाया, भारतीय संस्कृति सर्वत्र फैली और जब भ्रान्ति आयी तो यह सिमटकर रह गयी।

यह नहीं सोचना चाहिए कि इस सुधार से पुरोहितों की वृत्ति या उनकी जीविका में कोई व्यवधान आयेगा। इस प्रस्तावित सुधार से तो उनकी बुनियाद और सुदृढ़ हो जायेगी अन्यथा पहले से रूढ़िजर्जर हिन्दू-समाज से उपेक्षित लोग उनकी ओर आकर्षित होते जायेंगे जो उन्हें सही बताकर गले लगाते जा रहे हैं। फिर तो आप मुट्ठी भर ही बचेंगे। किससे करायेंगे कर्मकाण्ड? किसे सिखायेंगे?

अतः पूर्वाग्रह और लकीर पीटने की जड़ता को छोड़कर पुनः वैसा ही, जैसा कि वेद के पुरुषसूक्त इत्यादि पाठों का संदेश है, उसको ज्यों-का-त्यों प्रदान करें, तो निश्चय ही आप अपनी ख्याति पा जायेंगे। जो आपसे घृणा करते हैं, आदर और श्रद्धा से भर जायेंगे। जो आपको छोड़ गये हैं, लौट आयेंगे। यही पुरोहित परम श्रद्धा का पात्र होगा। किन्तु एक बात ध्यान में रखें कि जिनका ज्ञानाग्नि में सम्पूर्ण कर्म जल गया हो, जो पूर्ण ज्ञाता हों, ऐसे किसी महापुरुष से परामर्श लेना न भूलें; क्योंकि शिक्षकों का भी तो कोई प्रशिक्षण स्थल होना चाहिये और वह स्थल यही महापुरुष हैं। यह प्रश्न अलग है कि महापुरुष है कौन? महत्ता देखकर सर्वत्र गुरुओं की होड़ लगी है। पहचान कठिन तो है फिर भी ऐसे महापुरुषों का कभी अभाव नहीं होता। उनसे परामर्श लेते रहें तो भूल की संभावना नहीं रहेगी। यदि बहुमत से या केवल डिग्रीधारियों की गोष्ठी या संस्था बनाकर

निर्णय लेते रहेंगे, तो **'अन्धे अन्धन्ह ठेलिया, दोउ कूप परन्त।'** अतः अपने वंश को, अनुयायियों को, विश्वभर के मानव मात्र को आप अपना संदेश- एक परमात्मा का संदेश दें।

विशेष

कर्मकाण्ड में सर्वतोभद्र इत्यादि बहुत से चक्र बनाने की प्रथा भी है। सर्वतोभद्र का अर्थ है सर्वत्र सुख, सर्वत्र सफलता, दशों दिशाओं में कल्याण। इसमें भिन्न-भिन्न देवताओं की पहचान के लिये नीले, पीले, काले इत्यादि रंगों में चावल रंगकर अलग-अलग खानों में देवताओं का आवाहन कर उनसे कल्याण की याचना की जाती है। जो स्वयं काल से आबद्ध है, अपना कलेवर बदलकर चला जानेवाला है, वह आपको कैसे रख लेगा? स्वयं अधूरा आपको पूरा कैसे करेगा? फिर वही भूल यहाँ भी दुहराई जा रही है कि देवताओं और वस्तुओं से हम सुख की कामना करने लगते हैं।

अच्छा तो यह होगा कि कर्मकाण्ड की उपर्युक्त सरल विधि को जटिल और खर्चीला न बनाया जाय। मनोवैज्ञानिक प्रभाव के लिए एकाध चक्र बनायें, तब भी रंग देवताओं का नहीं, सफलताओं का प्रतीक होना चाहिये, जैसे- हरा रंग जीवन का, पीला रंग समृद्धि का, श्वेत रंग बुद्धि का इत्यादि। बल, बुद्धि, आयु अथवा यश की प्रार्थना सीधे परमात्मा से करें, किसी देवता से नहीं। **'सर्वसमृद्धिप्रदे परमात्मने नमः, आयुवर्धकाय परमात्मने नमः।'*-** इन आशयों से परमात्मा की स्तुति करें, तभी वास्तविक सर्वतोभद्र सम्भव है। एक परमात्मा में निष्ठा सुशान्ति और समृद्धि का मूल है। हम दरिद्र हैं तो इसका कारण यही है कि हम एक परमात्मा को नहीं मानते। हमारी श्रद्धा अनेक देवी-देवताओं में बिखरी है। यही हमारे-आपके दुःख-दैन्य का कारण है और यही फूट का भी कारण है। इससे बचें और एक परमात्मा में श्रद्धा को केन्द्रित कर कल्याण के भागी बनें।

।। ॐ ।।

---

* *ये नाम हरि के गुणानुवाद मात्र हैं। **'जब बोले तो हरि गुन गावै, मौन रहे तो नाम जपावै।'** कर्मकाण्ड का उद्देश्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक कर्म में प्रभु का स्मरण होता रहे। वस्तुतः वह स्वयं में अनाम है। स्तुति से श्रद्धा जागृत होती है, अस्तु सर्वतोभद्रादि चक्रों के लिए आर्षग्रन्थों से कुछ नामों का चयन किया जा सकता है, जैसे - **सहस्रशीर्ष्ण नमः (वेद), योगेश्वराय नमः, क्षेत्रज्ञाय नमः (गीता), णमो सर्वसिद्धानाम्, आत्मने नमः (जैनग्रन्थ), सर्वज्ञाय नमः, अविनाशिने नमः (बौद्धग्रन्थ), एक ओंकाराय नमः, अकाल पुरुषाय नमः (ग्रन्थसाहिब से), अनुभवगम्याय नमः, स्वान्तःस्थमीश्वराय नमः, प्रणत प्रतिपालकाय नमः, नरतनधारकाय नमः (रामचरितमानस से)** इत्यादि।*

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।

जो पुरुष **'ओम् इति'**– ओम् इतना ही, जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उसका जप तथा मेरा स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण एक योगी थे, परमतत्त्व में स्थित महापुरुष, सद्गुरु थे। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि ओम् अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, तू इसका जप कर और ध्यान मेरा कर! प्राप्ति के हर महापुरुष का नाम वही होता है, जिसे वह प्राप्त है, जिसमें वह विलय है, इसलिए नाम 'ओम्' बताया और रूप अपना। योगेश्वर ने 'कृष्ण–कृष्ण' जपने का निर्देश नहीं दिया; लेकिन कालान्तर में भावुकों ने उनका भी नाम जपना आरम्भ कर दिया और अपनी श्रद्धा के अनुसार उसका फल भी पाते हैं; जैसा कि, मनुष्य की श्रद्धा जहाँ कहीं भी टिक जाती है, वहाँ मैं ही खड़ा होकर उसकी श्रद्धा को पुष्ट करता तथा मैं ही फल का विधान करता हूँ; किन्तु वह फल भोगने में आ जाता है, जबकि मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है, उसका पतन नहीं होता।

– 'यथार्थ गीता : श्रीमद्भगवद्गीता'

(अध्याय ८, श्लोक १३)

ब्रह्मचर्य

मन से विषयों का चिन्तन न करते हुए एक परमात्मा का निरन्तर चिन्तन ही ब्रह्मचर्य का आचरण है।

– स्वामी अड़गड़ानन्द

ब्रह्मचर्य के नाम पर संसार में बहुत बड़ी भ्रान्ति है। जननेन्द्रिय-संयम को ही समाज ब्रह्मचर्य के नाम से जानता है; किन्तु यह सत्य नहीं है। यदि कोई हाथ से वासना-उत्तेजक वस्तु का स्पर्श करता है, कान से वासना-उद्दीपक शब्दों का श्रवण करता है, मुख से ऐसा बोलता है, आँख से ऐसा ही दृश्य देखता है, मन से वासनाओं का चिन्तन करता है, तो वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकता। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार- जो हठपूर्वक इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह दम्भाचारी है, पाखण्डी है।

पूज्य महाराजजी बताया करते थे कि उनकी पिछले जन्म में निवृत्ति हो चली थी; किन्तु स्त्री और गाँजा पीने की दो इच्छाएँ मन में बनी रह गयीं। शरीर को उन्होंने दृढ़तापूर्वक रोक रखा था किन्तु मन में इनका चिन्तन बना था, जिससे उनकी निवृत्ति नहीं हुई, जन्म लेना पड़ा और जन्म लेते ही भगवान ने थोड़े समय में ही दिखा-सुनाकर दो चटकन लगाकर समझा दिया कि, 'यह महान् पाप है, भजन कर! इस मन्दिर में तुम्हारे गुरु महाराज हैं, इनकी सेवा कर!' इस प्रकार दो-तीन आकाशवाणियाँ हुईं। जहाँ गुरु महाराज का दर्शन हुआ, श्रद्धा स्थिर हुई, तो तीसरे दिन से ही अनुभव आरम्भ हो गया। इष्टदेव हृदय से रथी हो गये, निवृत्ति हो गई।

हमने पूछा था कि महाराजजी! क्या गाँजा पीने से भजन में सहायता मिलती है? तो वे खूब हँसे, बोले- ''नहीं रे! **'गाँजा पीकर धरे ध्यान, गृहस्थ होकर छाँटे ज्ञान। साधू होकर कूटे भग, कहैं कबीर ये तीनों ठग।।''** गाँजा पीकर ही ध्यान होता, तब तो लोग क्लोरोफार्म सूँघकर, नशीली वस्तु खाकर कर लेते। इससे भजन का कोई सम्बन्ध नहीं है। भजन तो एकमात्र परमात्मा की स्मृति का नाम है। सबकुछ भूलकर एक परमात्मा का चिन्तन ही भजन है। हर पल उसकी स्मृति अन्तःकरण पर बनी रहे अन्यथा उधर से हटकर मन माया में ही तो जायेगा। अस्तु, मन से विषयों का चिन्तन करते हुए जननेन्द्रिय मात्र को रोकना असम्भव है। कदाचित् ऐसा हो भी, तब भी व्यर्थ है, दम्भाचरण है। जन्म लेना पड़ेगा और भोगकर निकलना पड़ेगा, जैसा कि महापुरुषों के जीवन-चरित्र से स्पष्ट है।

ब्रह्मचर्य का आशय है, **'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी।'**- जो ब्रह्म का आचरण करता है, शाश्वत-सनातन ब्रह्म के लिए जो प्रयत्नशील है, वह ब्रह्मचारी है। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।'** *(गीता, ८/११)*- उस शाश्वत परम ब्रह्म को जानने के लिए जितने साधन हैं, उन साधनों को अपने में ढालने का प्रयत्न व्यक्ति जिस दिन से शुरू करता है, उस दिन से वह ब्रह्मचारी है। जीवनभर घर पर रहकर दस पुत्र पैदा करने के पश्चात् पचहत्तर वर्ष की आयुवाला व्यक्ति भी जिस दिन से मायिक सम्बन्ध छोड़कर ईश्वर की ओर प्रवृत्त होता है, महापुरुष उसे ब्रह्मचारी कहकर सम्बोधित करते हैं। साधन आरम्भ करने से पूर्व तो सभी अबोध हैं, प्रकृति में बहके हैं, भूले हैं; किन्तु जिस दिन से वह मन-क्रम-वचन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, अर्थ, धर्म इत्यादि सारी चिन्ताएँ छोड़कर, केवल एक इच्छा लेकर, **'इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहचान।'**- इस एकमात्र दर्शन की इच्छा को लेकर, उस दर्शन के लिए जो साधन-प्रक्रियाएँ हैं उन सबको धारण करता है, उस दिन से वह ब्रह्म की ओर बढ़नेवाला है, ब्रह्मचारी है।

आरम्भिक स्तर पर संग-दोष पाते ही मन भटक जाता है, इन्द्रियाँ घसीटकर साधन-पथ से च्युत कर देती हैं, प्रकृति सबल पड़ती है, उत्थान-पतन लगा रहता है; फिर भी निरन्तर लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील साधक ब्रह्मचारी ही है। यद्यपि अभी हुआ नहीं; किन्तु होने में सन्देह भी नहीं है। ब्रह्मचर्य व्रत में चलनेवाला यही साधक जब सभी इन्द्रियों को संयमित कर मन को भली प्रकार इष्ट में प्रवाहित करनेवाला हो जाता है, उस दिन से 'स्वामी' की उपाधि मिलती है। अब वह इन्द्रियों का गुलाम नहीं बल्कि उनका मालिक है। अब इन्द्रियाँ उसे खींचकर विचलित नहीं कर सकतीं; बल्कि वह जहाँ चाहता है इन्द्रियों को खींचकर रखने में समर्थ है, इसीलिए 'स्वामी' कहा जाता है।

क्रमशः अभ्यास करते-करते साधना और सूक्ष्म होने पर साधक समस्त संकल्पों का अन्त करने में सक्षम हो जाता है और **'सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।'** *(गीता, ६/४)*- समस्त संकल्पों का जहाँ अभाव है वहीं योगारूढ़ता है, वहीं संन्यास है। उस अवस्था में वह जिस प्रभु को ढूँढ़ता था उसका दिग्दर्शन, स्पर्श और प्रवेश पा लेता है। जब ब्रह्म अलग नहीं, तो आचरण किसका करे और किसलिए करे? यहीं व्रत पूरा हो जाता है।

साधना के नाम पर भी समाज में भ्रान्तियाँ हैं। कोई कुछ भी करता है, तो कहता है- साधना है। वस्तुतः योग-साधना के आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठों और स्वयं 'योग' शब्द को लेकर समाज में रूढ़ियाँ प्रचलित हैं, जबकि योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार, प्रकृति के संयोग और

वियोग से रहित जो अत्यन्त शान्त और सम है, उस परमतत्त्व के मिलन का नाम योग है। जब उसे साधने के लिए हम-आप चलते हैं तो उसके उपर्युक्त आठ साधन हैं।

यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आते हैं। **अहिंसा** के नाम पर लोग किसी की हत्या से बचते हैं, चींटी तक नहीं मारते; किन्तु इससे यौगिक अहिंसा का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। यदि हम-आप योग के सभी अंगों का पालन करने में प्रवृत्त नहीं हुए, तो चींटी बचाने मात्र से क्या लाभ? जिसने जन्म लिया है उसे मरना तो है ही, आपके बचाने से भी तो उसकी रक्षा नहीं होगी। ये तो वस्त्र हैं, जिन्हें एक दिन परिवर्तित होना है। हाथवालों के बिना हाथवाले भोजन हैं, पैरवालों के बिना पैरवाले भोजन हैं, सबलों के दुर्बल भोजन हैं। चराचर जगत् एक दूसरे का भोजन है। जब सभी भोजन ही हैं, तो रक्षा किसकी करते हैं? जिसका भोजन बन्द होगा, वह भूख से प्राण त्याग देगा। हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश आपके हाथ में है भी नहीं, तो फिर आप चींटी को बचाने का दम्भ क्यों करते हैं? अपनी आत्मा को अधोगति में जाने से बचाने का प्रयास ही वास्तविक अहिंसा है।

सत्य क्या है? योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार, यह आत्मा ही सत्य है, शाश्वत है, सनातन है। इस आत्मा पर दृष्टि रखना ही सत्य है। **अस्तेय** का अर्थ है- छिपाव का अभाव। जो हृदय में हो, वही वाणी में भी हो। जब साधक को किसी से कुछ लेना नहीं है, सृष्टि में किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं है, तो वह छिपाता किसलिए है? क्या छिपाता है? क्या ढूँढ़ रहा है?

इसी प्रकार केवल जननेन्द्रिय-संयम ही ब्रह्मचर्य नहीं है। रूप, रस, गन्ध, शब्द सभी तो स्पर्श हैं। सभी विषय इन्द्रियों के स्पर्शमात्र हैं- **'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय' (गीता, २/१४)**। चिन्तन में जननेन्द्रियाँ समान रूप से बाधक हैं। इन सबका संचालक एक मन है। एक इष्ट का चिन्तन करते-करते यही इन्द्रियाँ जिस दिन से बाह्य जगत् में अपनी खुराक ढूँढ़ना बन्द कर देती हैं, हृदय-देश में ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का आशय इष्ट को बना लेती हैं, उस दिन से वह साधक भली प्रकार यम की योग्यतावाला हो जाता है। यदि कोई भी इन्द्रिय बाह्य स्पर्श-रस लेने लगी तब वह भगवान की ओर बढ़ा ही कब था!

अतः केवल जननेन्द्रिय-संयम ही साधक का मुख्य लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य वह परमात्मा है, जिसे पाने के लिए सभी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को रोकना है। उस एक परमात्मा के निरन्तर स्मरण से जननेन्द्रिय-संयम ही नहीं, सकलेन्द्रिय-संयम हो जाता है। सकलेन्द्रिय-संयम के पश्चात् ही जननेन्द्रिय-संयम भली प्रकार होता है, सम्भव है। यह

बात अलग है कि स्पर्श नामवाली इन्द्रिय अधिक भयंकर है। यह वह मापदण्ड है जिससे पता चलता है कि कौन पतित हो गया और कौन बचा है? **'शृंगी की भृङ्गी करि डारी, पराशर के उदर बिदार।'** इन्द्रियाँ बाह्य स्पर्शों की ओर जाती हैं तो इसका सीधा-सा अर्थ है कि पहले मन ने अनुमति दी, उस इन्द्रिय के साथ बढ़ा और ब्रह्म आचरण से अर्थात् ब्रह्मचर्य से च्युत हो गया। अतः एक परमात्मा का निरन्तर चिन्तन ही ब्रह्मचर्य की कुञ्जी है।

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि, मोहि परमप्रिय सोइ।।

(रामचरितमानस, ७/८७ क)

भगवान राम कहते हैं कि पुरुष हो, नपुंसक हो (भला नपुंसक किस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेगा?), नारी हो अथवा चराचर जगत् में कोई भी क्यों न हो, यदि सर्वतोभावेन, सम्पूर्ण हृदय से जो मेरा चिन्तन करता है, वह मुझे परमप्रिय है। अतः मन-क्रम-वचन से जो इष्ट (परात्पर ब्रह्म) की ओर झुकाव ले लेता है, उसी दिन से ब्रह्म की प्राप्ति का आचरण करनेवाला है, इसलिए ब्रह्मचारी है। प्रकृति से सम्बन्ध तोड़कर जो अपने को उस परमात्मा से जोड़ लेता है वह उसी दिन से ब्रह्मचारी है (ब्रह्म की ओर चलनेवाला है) और इसी दृष्टि से नपुंसक भी ब्रह्मचारी हो सकता है।

।। ॐ।।

गायत्री

'वेद–माता गायत्री, ब्राह्मण–माता गायत्री'

गायत्री कण–कण में व्याप्त परमात्मा के प्रति अपने आपको समर्पित करने का संस्कृत भाषा में एक सूत्र है।

– *स्वामी अड़गड़ानन्द*

प्रश्न– गायत्री क्या है? इसे वेद–माता और ब्राह्मण–माता क्यों कहा जाता है?

उत्तर– धर्मानुरागियों को गायत्री का महत्त्व अच्छी तरह से ज्ञात है। यह एक सिद्धिदायिनी मन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है। धर्म का प्राण वेद और वेद–माता गायत्री, धर्मोपदेशक ब्राह्मण और ब्राह्मण की माता गायत्री! गायत्री–जप ब्राह्मण का अनिवार्य दैनिक कर्म है। आजकल इसके महत्त्व का उद्‌घोष करने के लिए एक धार्मिक संस्था भी बन गयी है, जो 'गायत्री परिवार' के नाम से जानी जाती है। हर महीने एक पत्रिका और प्रतिवर्ष एक अच्छे आकार की पुस्तक भी प्रकाशित होती है, जिसके माध्यम से गायत्री के महत्त्व का विवेचन किया जाता है। गायत्री के एक–एक शब्द और एक–एक अक्षरों की धर्म–विज्ञान और योगशास्त्र की दृष्टि से व्याख्या की जाती है। जीवन में लौकिक तथा पारलौकिक सुखों की अनुभूति इसके पाठ और सतत अभ्यास के द्वारा ही सम्भव बतायी जाती है। आइये, इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अवलोकन करके इसके उद्भव का पता लगायें।

प्राचीनकाल में गाधि के पुत्र 'विश्वरथ' नामक एक क्षत्रिय राजा थे, जो बाद में अपने गुणों के कारण विश्वामित्र के नाम से विख्यात हुए। राजा विश्वरथ एक बार अपनी सेना के साथ शिकार के लिए वन में गये। बहुत देर शिकार करने के उपरान्त भूखे–प्यासे और थके हुए राजा घूमते–फिरते सेनासहित मुनि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे। मुनि वशिष्ठ ने सेनासहित राजा का जो शाही सत्कार किया, उसे देखकर राजा विश्वरथ आश्चर्यचकित हो गये। आश्चर्य की बात थी घोर जंगल में सुख–सुविधा की चीजों का पर्याप्त मात्रा में होना। आश्रम की व्यवस्था के बारे में प्रश्न करने पर मुनि वशिष्ठ ने बताया कि आश्रम में एक गाय है नन्दिनी (कामधेनु की पुत्री), उसी की कृपा से व्यवस्था हो जाती है।

नन्दिनी के प्रभाव को देखकर राजा ने सोचा, यह तो एक रत्न है और रत्न राजाओं को शोभा देता है, इनके पास रहकर क्या करेगी? मुनि वशिष्ठ के पास पहुँचकर

राजा ने कहा कि नन्दिनी को मुझे दे दीजिए। मुनि वशिष्ठ ने कहा - इसी के सहारे इस घोर जंगल में आश्रम चल रहा है। मेरे यज्ञ इत्यादि इसी के द्वारा सम्पन्न होते हैं। मैं इसे नहीं दे सकता। राजा विश्वरथ ने पहले अनुरोध किया, फिर हठ किया और अन्त में बल-प्रयोग पर उद्यत हो गये। उन्होंने सैनिकों को आदेश दिया कि नन्दिनी का अपहरण कर लो। फिर क्या था, सैनिक बलपूर्वक नन्दिनी को खींचने लगे। इतने में नन्दिनी ने क्रोधित होकर अपना शरीर हिलाते हुए जोर से हुँकार किया। उसके शरीर से स्फुर्लिंग निकले, जिससे यवन, शक, म्लेच्छ इत्यादि अनेक जातियों के सैनिक हाथों में शस्त्र लिए निकल पड़े। उन सैनिकों ने राजा के सैनिकों को खदेड़ दिया। पुनः विश्वरथ ने तप के प्रभाव से प्राप्त किये बहुत से अस्त्रों को मुनि वशिष्ठ पर चलाया। मुनि वशिष्ठ ने जब देखा कि मेरे ऊपर अस्त्र आ रहे हैं तो उन्होंने अपने सामने एक दण्ड गाड़ दिया और निश्चिन्त होकर बैठ गये। विश्वरथ के द्वारा चलाये गये सभी अस्त्रों को उस डण्डे ने भस्म कर दिया। हताश होकर विश्वरथ ने अपने क्षात्र तेज की भर्त्सना की-

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वाणि अस्त्राणि हतानि मे।।

अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि मैं तपस्या के द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा। घर आकर राज्य का भार पुत्रों को सौंपकर वन चले गये। उन्होंने घोर तपस्या आरम्भ की। स्वर्ग में निवास करनेवाले देवताओं को भय हुआ। उन्होंने विश्वामित्र की तपस्या नष्ट करने के कई प्रयास किये।

सर्वप्रथम स्वर्गलोक की अप्सरा मेनका आयी। उसने बड़ी अनुनय-विनय के साथ रातभर कुटी में रहने के लिए शरण माँगी। दयावश उन्होंने शरण दे दी। लेकिन उसके अप्रतिम सौन्दर्य का जादू विश्वामित्र के ऊपर (मन पर) ऐसा छाया कि काम के वशीभूत होकर अपना धैर्य भी खो बैठे। फिर वह उनके आश्रम में बहुत दिनों तक बनी रही। उसने एक कन्या को जन्म दिया और अदृश्य हो गयी। उसके विरह में व्याकुल विश्वामित्र जंगल में उसे ढूँढ़ रहे थे, उसी समय आकाशवाणी हुई- 'ब्रह्मतेज प्राप्त करने चले थे, तुम तो पतित हो गये।'

पुनः उसी निश्चय से विश्वामित्र ने तपस्या आरम्भ की। कुछ दिनों उपरान्त इन्द्र ने फिर एक चाल चली। उसने राजा अम्बरीष के यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया। घोड़ा के स्थान पर बलि देने के लिए सुनश्शेफ नामक एक मुनिकुमार को खरीदा गया। संयोगवश वह विश्वामित्र का भानजा लगता था। उसने उनसे प्राणरक्षा की याचना की। विश्वामित्र ने अपने सौ पुत्रों में से किसी एक को उसके बदले में जाने को कहा; परन्तु उनके पुत्र

इस बात पर राजी नहीं हुए। परिणामस्वरूप विश्वामित्र क्रोधित हो उठे और उन्होंने अपने ही पुत्रों को नष्ट हो जाने का घोर शाप दे दिया। पुनः आकाशवाणी हुई- 'विश्वामित्र! तुम क्रोध के कारण पतित हो गये।' पुनः तपस्या में लीन होने पर एक बार राजा त्रिशंकु को स्वर्ग पहुँचाने में तपस्या नष्ट हुई। एक बार भगवान शिव ने परीक्षा ली, उसमें भी वे असफल रहे। एक बार रम्भा अप्सरा के कारण तपस्या नष्ट हुई।

वास्तव में काम और क्रोध साधन-पथ के सबसे बड़े शत्रु हैं, जो जरा-सी असावधानी में वर्षों की तपस्या (परिश्रम) पर पानी फेर देते हैं। आज प्रत्येक मानव के समक्ष विश्वामित्र की वही अवस्था, वही ऊहापोह और वे ही साधन की समस्यायें उपस्थित हैं।

इस प्रकार बार-बार आनेवाले विघ्नों को देखकर विश्वामित्र ने सोचा - मैं अथक परिश्रम करता हूँ, अपनी बुद्धि और विवेक से लेशमात्र भी त्रुटि नहीं होने देता, फिर भी कोई-न-कोई भूल हो ही जाती है। बहुत सोच-विचार के उपरान्त उन्होंने निर्णय लिया कि क्यों न मैं अपने आपको भगवान को समर्पित कर दूँ- अपना मन, बुद्धि, हृदय सब उन्हीं को सौंप दूँ। मेरे योगक्षेम का वे ही निर्वाह करेंगे। ऐसा निश्चय करके विश्वामित्र भाव-विभोर हो पुकार उठे-

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।।

(ऋग्वेद, ३/६२/१०)

ॐ शब्द से उच्चरित, तीनों लोकों में तत्त्वरूप से व्याप्त, स्वयं प्रकाशरूप, वरण करने योग्य एकमात्र शरणस्थली प्रभु हमें वह बुद्धि दें, जिससे मैं आपको तत्त्वरूप से जान सकूँ। परमश्रेय को प्राप्त कर सकूँ।

मानव मात्र को आज उसी समर्पण भाव के इस छन्द का अध्ययन, चिन्तन और मनन करना चाहिये। इस प्रकार सर्वभावेन प्रभु को समर्पित होकर जब विश्वामित्र ने पुनः तपस्या प्रारम्भ की, तो निरन्तर वे आगे बढ़ते गये। कई बार विघ्न उपस्थित करनेवाले देवता घबड़ा गये। काम और क्रोध का कहीं पता नहीं, **'रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।'** ***(रामचरितमानस, ७/७१/८)*** जहाँ भगवान ही स्वयं रक्षक के रूप में खड़े हैं, वहाँ कोई क्या कर सकता है। देवताओं ने ब्रह्माजी से जाकर प्रार्थना की कि जो माँगें वह देकर उनकी तपस्या समाप्त कराइए अन्यथा उग्र तप से हम सब जल जायेंगे।

ब्रह्माजी विश्वामित्र के पास पहुँचकर बोले - आज से आप जितेन्द्रिय ब्रह्मर्षि हुए। विश्वामित्र की मनोकामना पूर्ण हुई। बोले - मैं ब्रह्मर्षि हूँ, ब्राह्मण हूँ। ब्राह्मण की जननी कौन? गायत्री! मतलब क्या? उस परम प्रभु, शाश्वत प्रभु के प्रति मन, वचन और कर्म

से समर्पण का नाम ही गायत्री है। उनके ऊपर निर्भर होकर चिन्तन में लग जाओ। जब वे प्रार्थना सुन लेंगे तब परमश्रेय की प्राप्ति करा देंगे।

विश्वामित्र ने कहा - जब मैं ब्राह्मण हूँ तो वेद हमारा वरण करे। ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कहा और वेद विश्वामित्र के हृदय में उतर आया। जो तत्त्व विदित नहीं था, वह विदित हो गया। वास्तव में परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही वेद है। अविदित तत्त्व का विदित हो जाना ही वेद का हृदय में उतरना है। यह भगवत्-कृपा से ही सम्भव है। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है। वेद किसी पुस्तक का नाम नहीं है। जो पुस्तक हमें वेद के रूप में उपलब्ध है वह तो उसकी प्रवेशिका मात्र है, जो प्रेरणा देती है। विश्वामित्र के हृदय में वेद उतारने का श्रेय किसे मिला? गायत्री को! वेद की जननी कौन? गायत्री!

इस प्रकार गायत्री एक निर्णायक उपदेश है। कण-कण में व्याप्त परमात्मा के प्रति अपने आपको समर्पित करने का संस्कृत भाषा में एक सूत्र है। इसमें कोई देवी-देवता नहीं हैं; किन्तु इसी वाक्य को लेकर कोई गायत्री देवी की प्रतिमा बना लेता है, तो कोई इसे तीन भागों में विभक्त करके उलट-पलटकर क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश का ध्यान करता है। कुछ लोगों का कहना है कि यह अति गोपनीय महामन्त्र है। इसे उलटकर 'तयादचोप्र नः यो' जाप करने का विधान है। विश्वामित्र के जीवन से ही स्पष्ट हो गया होगा कि साधन-पथ में देवता ही सबसे बड़े शत्रु हैं। फिर भी जन्म-जन्मान्तर से हमारा मस्तिष्क देवता से इतना प्रभावित हो गया है कि हमें जो भी अच्छा लगा, उसे देवता मानकर पूजा शुरू कर देते हैं।

एक शाश्वत स्वयंप्रकाशस्वरूप प्रभु के प्रति समर्पण करते हुए कर्म (तप) में लगने का नाम गायत्री है। यदि आप इस प्रकार से लगते हैं तो सफलता अवश्य मिलेगी। उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से निर्मल बुद्धि, जो परमश्रेय को दिलानेवाली है, प्राप्तिहेतु गायत्री एक प्रार्थना मात्र है। तदर्थ कर्म भी करना होगा। ऐसा नहीं कि जीवनपर्यन्त प्रार्थना मात्र ही करते रहें और नियत कर्म पर ध्यान न दें। ऐसी दशा में परिणाम कुछ भी नहीं निकलेगा। नियत कर्म ही वह साधन है जो लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। कर्म निर्विघ्न होता रहे, इसी के लिये प्रार्थना की जाती है।

समर्पण के साथ कोई दो-ढाई अक्षर का नाम लेकर जप शुरू करें। किसी अनुभवी महापुरुष की शरण लेकर आगे बढ़ते रहें, तब ब्राह्मणत्व का जन्म होगा, तत्पश्चात् वेद का आविर्भाव होगा। आपके हृदय में इन्हीं दोनों का जन्म गायत्री है। जब विश्वामित्र पूर्ण हो गये, वेदज्ञ और ब्रह्मस्थित हो गये, तब आगे कोई ऐसी सत्ता नहीं

जिसकी शोध करते। जब खुद ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो गये, तो किसकी प्रार्थना करते और क्यों करते? **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** *(रामचरितमानस, २/१२६/३)* अब वे गायत्री के द्वारा किसका आवाहन करते? गायत्री का महत्त्व क्षत्रिय श्रेणी के साधक के लिए होता है; क्योंकि सर्वभावेन समर्पण की क्षमता ऐसे ही साधकों में होती है। जिसमें ईश्वर के लिए तड़पन पैदा हो गयी हो, ईश्वर के वियोग में एक-एक पल कल्प के समान बीतता हो, वही गायत्री का अधिकारी है, अन्य नहीं। वैश्य और शूद्र स्तर के साधकों में भली प्रकार समर्पण हो भी नहीं सकता। यह ध्यान देने की बात है कि यह स्तर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातिवाचक नहीं अपितु एक ही साधक के चिन्तन के सोपान हैं। साधना के उन स्तरों पर पहुँचकर क्रमशः चारों सोपानों को पार करते हुए साधक परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

एक कर्मकाण्ड के जानकार लड़के से मैंने पूछा कि गायत्री क्या है? वह बोला- महाराज! जैसे **'बल बुधि बिद्या देहु मोहि, हरहु कलेस बिकार।',** ऐसी ही एक प्रार्थना है। मैंने पूछा- दोनों में क्या अन्तर है? उसने कहा- बल, बुद्धि, विद्या भगवान के सेवक से माँगी गयी और 'गायत्री' वाली सीधे भगवान से माँगी गयी है।

जब माँगना ही है तो सीधे भगवान से माँगना ठीक है- **'तुलसी मूलहि सींचिए फूलइ फरइ अघाइ।'** नीचेवाले क्या देंगे? भक्ति का मार्ग देंगे! सद्गुरु के बिना भक्ति नहीं मिलती। **'संतो! भगति सद्गुरु आनी।'** *(सन्त कबीर)*

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

साधक को लँगोटी का सच्चा होना चाहिए। जो दुराचरण से विरत नहीं हुआ है, जिसे एकान्त अच्छा नहीं लगता, जागतिक वस्तुओं के त्याग की भावना जिसके लिए असम्भव है उसे अक्षय पद नहीं मिल सकता। जिन वस्तुओं की अधिकता में मूर्खों को राग होता है, उन्हीं की प्राप्ति से प्राज्ञपुरुष को वैराग्य होता है। विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। अतः बन्धुओ! अनुभवी सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त करें। मन-क्रम-वचन से उनकी शरणागति का चिरन्तन विधान है। उन महापुरुष से अन्तःप्रेरणा के स्रोत मिलने लगे, साधक की आत्मा में जागृत होकर वे महापुरुष हृदय में निर्देश देने लगे तब समझना चाहिए कि साधना का अन्तर्प्रवेश हुआ। वह अन्तर्प्रवेश निवृत्ति का निश्चित स्रोत है।

– परमपूज्य श्री परमहंसजी की वाणी

'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' से उद्धृत

युगधर्म

युगधर्म साधना के चार सोपान हैं न कि चार प्रकार के धर्म। साधक को इन्हीं चार सोपानों से होकर गुजरना पड़ता है। युगों का उतार-चढ़ाव मन के अन्तराल में होता है। सबमें इसकी व्यवस्था है।

– *स्वामी अड़गड़ानन्द*

महाकुम्भ के अवसर पर चण्डीद्वीप, हरिद्वार में दिनांक १८. ४. १९८६ ई. की जनसभा में स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी का प्रवचन।

बन्धुओ!

समाज में आये दिन सुनने को मिलता है, ''घोर कलियुग आ गया है महाराज! अब धरम-करम कैसे होगा?'' उनकी मान्यता है कि सृष्टि के आदि में कभी सत्ययुग था। जिस समय वेदों का आविर्भाव भारत में होता है, उस समय लोग धार्मिक होते हैं तथा त्रेता, द्वापर और कलियुग तक क्रमशः वेद, गंगा और धर्म का ह्रास होते-होते वे इस मृत्युलोक से ब्रह्मलोक में चले जाते हैं। चार लाख बत्तीस हजार मानव-वर्षों का कलियुग, इससे दूना द्वापर, कलियुग का तिगुना त्रेता और चौगुने मानव-वर्षों का सत्ययुग- यह सब मिलाकर ब्रह्मा का एक दिन और इतनी ही लम्बी रात को एक कल्प कहते हैं। इकहत्तर महायुगों अर्थात् तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षों का एक मन्वन्तर होता है, जिसमें देवराज इन्द्र और मनु आदि जैसे बड़े-बड़े पदाधिकारी भी काल कवलित हो जाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में खण्ड प्रलय होता है। इकतीस पद्म दस नील चालीस खरब मानव-वर्षों में एक ब्रह्मा पदधारी बदल जाते हैं। ब्रह्मा की हजार गुनी आयु विष्णु की और बारह लाख विष्णु की आयु अर्थात् चौवालीस लाख अठहत्तर हजार नौ सौ छिहत्तर महाशंख मानव-वर्ष भगवान शिव की आयु मानी जाती है। जितने समय में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड भाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति जगदम्बा एक बार पलक झपकाती हैं, उतने समय में भगवान शिव एक खरब पचास अरब बार अपनी पलक झपकाकर ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण प्रलय करके ब्रह्म में लय हो जाते हैं और इसी क्रम से पुनः सृष्टि का आविर्भाव होता है। इस प्रकार की काल-गणना 'देवी-मीमांसा', 'देवी-भागवत', 'शक्ति-रहस्य', 'मार्कण्डेय-पुराण', 'मनुस्मृति' इत्यादि ग्रन्थों में देखने को मिलता है। जिसका निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि युगों के आरोह-अवरोह के साथ मनुष्य की

क्षमता घटती-बढ़ती रहती है, वह चाहते हुए भी धर्म का आचरण नहीं कर सकता, इसीलिये प्रत्येक युग के धर्म अलग-अलग निर्धारित हैं, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस में भी दृष्टिगोचर होता है। गीता में भी भगवान युग-युग में अवतार लेने की बात कहते हैं। जब कलियुग में धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास ही होना है तब धर्माचरण का प्रयास क्यों किया जाय?

अतः आइये इस प्रश्न पर विचार करें कि युग है क्या? हमारे पूर्व मनीषीगण इस सन्दर्भ में क्या कहते हैं? जहाँ तक रामचरितमानस में कलियुग-महिमा गायन का प्रसंग है, उस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कभी सत्ययुग था और आज कलियुग आया है, ऐसी कोई बात नहीं है। काकभुशुण्डिजी ने अपने पूर्वजन्मों का वृतान्त प्रस्तुत करने के क्रम में मल-मूल कलियुग का वर्णन जिन शब्दों में किया, ठीक उसी शब्दावली और उन्हीं लक्षणों का उल्लेख गोस्वामीजी ने उत्तरकाण्ड में असन्त-लक्षण तथा बालकाण्ड में रावण की उत्पत्ति और निशाचरों के आतंक के अवसरों पर किया है। कलियुग में **'सब नर काम लोभ रत क्रोधी।'** *(७/९८/३)* होते हैं, तो असन्त **'काम क्रोध मद लोभ परायन।'** *(७/३८/५)* होते हैं- दोनों एक ही बात है। कलियुग में **'परत्रिय लंपट कपट सयाने।'** *(७/९९/१)* लोग होते हैं, तो असन्त **'पर द्रोही पर दार रत, परधन पर अपबाद।'** *(७/३९)* हैं। इसी प्रकार निशाचरों के आतंक के समय **'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा।।'** *(१/१८३/१)* का साम्य देखने को मिलता है।

छिटपुट स्थल तो अनेकों हैं; किन्तु उपर्युक्त तीन-चार स्थलों पर गोस्वामीजी ने कलियुग के गुणधर्म पर प्रकाश डाला, कलियुग के अनेक लक्षण बताये-

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।।
(७/९७/१-२)

इसी प्रकार -

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं।। *(७/९८/१)*
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।। *(७/९८/८)*
ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहिं बिप्र गुर घात।। *(७/९९ क)*

इत्यादि पचासों लक्षण गिनाये और अन्त में निर्णय देते हैं कि-

ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृन्द बहु, होइहहिं कलिजुग माहिं।। *(७/४०)*

अर्थात् ऐसे अधम मनुष्य सत्ययुग और त्रेता में तो होते ही नहीं, द्वापर में कुछ होते हैं और कलियुग में झुण्ड-के-झुण्ड होते हैं। प्रश्न खड़ा होता है कि क्या सत्ययुग और त्रेता में अधम मनुष्य होते ही नहीं थे?

ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि सत्ययुग में हिरण्यकशिपु नाम का एक नरेश हुआ। अपनी वेधशाला में उसने ऐसा आविष्कार कर लिया कि न वह दिन में मरे, न रात में मरे, न अस्त्र-शस्त्र से मरे, न पशु-पक्षी से और न मानव-देवता से मरे। जब उसने देखा कि हमें मरना ही नहीं है फिर भगवान की क्या आवश्यकता! अतः उसने घोषणा करा दी कि मैं ही भगवान हूँ। जो मुझसे भिन्न किसी भगवान का नाम ले, उसे मृत्युदण्ड दिया जाय। अपने सिद्धान्त का वह इतना कट्टर था कि इकलौते पुत्र प्रह्लाद को भी क्षमा नहीं कर सका। प्रह्लाद को भी फाँसी पर चढ़ा ही दिया, मारने के अनेक प्रयत्न किये; किन्तु भगवान यदि एक मासूम बच्चे का भी स्पर्श कर दे तो संसार में कोई शक्ति नहीं जो उसे मिटा दे। प्रह्लाद के माध्यम से उस युग में भक्ति की एक लहर सर्वत्र दौड़ गयी।

इस प्रकार उस सत्ययुग में भी ऐसी परिस्थिति आयी कि धर्म की चर्चा मात्र करने पर मृत्युदण्ड का विधान था और यहाँ तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे अधम मनुष्य **'कृतजुग त्रेताँ नाहिं'**- सत्ययुग और त्रेता में होते ही नहीं, जबकि उसी सत्ययुग में ऐसे भयंकर लोग हुए कि भगवान का नाम मात्र लेने पर फाँसी की सजा सुना देते थे। आज कोई फाँसी तो नहीं देता। बहुत हुआ तो दस लोग छींटाकशी करेंगे कि बड़े भक्त बने हैं। किन्तु उतने ही प्रशंसक भी मिलेंगे कि दादाजी महात्माओं के यहाँ जाते हैं, तीर्थयात्रा करते हैं, चौथेपन की यही शोभा है- इत्यादि।

आइये, उस त्रेता पर दृष्टिपात् करें जिसका इतिवृत्त मानस में चित्रित है। त्रेता में भी अधम नर थे। रावण **'धर्म सुनिअ नहिं काना।', 'आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ'** *(१/१८२ छन्द)*- धर्म कहीं कानों से सुन भर पाता तो बौखलाकर स्वयं चल पड़ता था, धर्म को नष्ट करने के लिए सेना भेज देता था। अधर्मियों को नष्ट करने की आज्ञा नहीं थी, केवल धर्म को ही निर्मूल करने की योजना थी। चोर-डाकुओं को नष्ट नहीं करना था बल्कि राम-राम कहनेवालों को नष्ट करने का आदेश था। ऋषि-महात्माओं से रक्त के रूप में कर वसूल किया जाता था। उनका अपराध मात्र इतना ही था कि भगवान का चिन्तन करते थे। गुप्त रूप से निशाचरों की टुकड़ियाँ चला करती थीं, जो धार्मिकों को मौका पाते ही मारकर चट कर जाती थीं। वनवासी राम जब चित्रकूट से आगे बढ़े तो नर-कंकालों का एक पहाड़ मिला।

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछि मुनिन्ह लागि अति दाया।। *(३/८/६)*

हड्डियों का विशाल संग्रह देख भगवान राम ने मुनियों से पूछा कि ये नर-कंकाल किसके हैं? मुनियों ने कहा कि आप तो अन्तर्यामी हैं, जानते हुए भी क्यों पूछते हैं? परन्तु जब आप पूछते ही हैं तो बताना ही होगा- **'निसिचर निकर सकल मुनि खाए।'** *(३/८/८)* यह उन्हीं की हड्डियों का ढेर है। आज आप नाम तो ले सकते हैं। कोई इसके लिए टैक्स तो नहीं लेता, वेद-पुराण कहने पर देश निकाला तो नहीं मिलता? संसार भर तो रावण के वश में था, तो देश निकाला का मतलब? इस लोक से छुट्टी! वेद-पुराण कहने पर आज कोई मार तो नहीं डालता? उस समय युग कौन-सा था? त्रेता! और गोस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे अधम खल कृतयुग और त्रेता में होते ही नहीं।

कलि का एक अन्य लक्षण त्रेता के सन्दर्भ में ही देखें-

सौभागिनीं बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नबीना।। *(७/६८/५)*

उस त्रेता में सूपनखा विधवा ही तो थी। उसका पति विद्युत्जिह्व युद्ध में रावण द्वारा मारा गया, तो वह उलाहना देते हुए बोली, ''तू मेरा भाई है या शत्रु, तूने मुझे विधवा बना दिया।'' रावण ने सान्त्वना देते हुए कहा- ''बहन! मुझसे तो अवश्य भूल हुई है; किन्तु हमारी जाति की स्त्री भी क्या कभी विधवा होती है? हम हजारों स्त्रियाँ रखते हैं, तुम हजारों पुरुष रख सकती हो। भाई खर-दूषण के साथ जाओ और जनस्थान में मनचाहा विचरण करो।'' इसी उद्देश्य से,

पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।। *(३/१६/४)*

जब वह राम के समक्ष पहुँची तो रूप-स्वरूप बनाकर मुस्कराकर बोली- **'मनु माना कछु तुम्हहि निहारी।'** *(३/१६/१०)* तुम बहुत सुन्दर हो, ऐसी बात नहीं है; हाँ, काम चल जायेगा। इसीलिये तो अभी तक कुमारी हूँ। जबकि एक भी कुकर्म उससे छूटा नहीं था। सूपनखा जैसी अधःपतिता आज तो नहीं पायी जातीं, फिर भी गोस्वामीजी की उक्ति है कि त्रेता में ऐसे अधम नर होते ही नहीं।

फिर जब त्रेता में अधम नर थे ही नहीं, तो राम को लड़ने की आवश्यकता क्या थी? उनका चरित्र ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि त्रेता में भी अधम खलों का अस्तित्व था और केवल अस्तित्व ही नहीं था वरन् उनके अत्याचारों से धरती भी आकुल हो उठी थी। वास्तविकता तो यह है कि आज से भी अधिक अधम नरों का अस्तित्व उस युग में पाया जाता है। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी कहना क्या चाहते हैं?

युगधर्म? युग कहते हैं दो को। स्त्री-पुरुष, भला-बुरा, पाप-पुण्य, सुख-दुःख सब दो तो हैं ही; किन्तु नहीं, ये प्रकृति के ही दो पहलू हैं। प्रकृति में स्थित सारा जीव-जगत् अचेत है, प्रसुप्त है, **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'** *(गीता, २/६९)*- केवल संयमी पुरुष जाग जाता है। जिस दिन से वह जाग जाता है उस दिन से वह परमतत्त्व परमात्मा के सामने हो जाता है। एक ओर वह संयमी पुरुष, दूसरी ओर

परमात्मा- यही है युग। उस दिन से वह परमात्मा सँभालने लगता है, आत्मा से संचालक हो जाता है। उसी दिन से युग-धर्म की शुरुआत होती है।

समाज जिसे युग के रूप में जानता है वस्तुतः वह काल-गणना है, धर्म नहीं। काल अनन्त है, असीम है। सृष्टि अनादि है और इसी प्रकार अबाध गति से चलती रहती है। जीव कब से आया? संसार की उत्पत्ति कैसे हुई? इस प्रश्न पर माथापच्ची करना गौतम बुद्ध ने भी अनावश्यक समझा। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।। *(गीता, १३/१९)*

अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों की अनादि हैं। कब से यह चल रहा है, यह प्रश्न ही नहीं है बल्कि श्रीकृष्ण के अनुसार सृष्टि सदा से ही इसी प्रकार चलती रही है; किन्तु पुराण और स्मृतिग्रन्थों में इस तथ्य को न समझ पाने के कारण सृष्टि-प्रकरण को रेखांकित करने का असफल एवं अनावश्यक प्रयास किया गया है।

पाश्चात्य विद्वान् भी सभ्यता के विकास-क्रम के आधार पर सृष्टि का तिथि-क्रम निश्चित करने के प्रयास में लगे हैं; किन्तु सभ्यता भी इसका मापदण्ड नहीं है। पहले कभी लोग पेड़ों पर रहे, जंगली पशुओं की तुलना में सभ्य होते गये। बुद्धि-बल पर आकाश और समुद्र में तैरने लगे। आरोह के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा मानव कभी-कभी युद्ध की विभीषिकाओं से अभिशप्त हो उठा। धन-जन एवं संचित ज्ञानराशि तिरोहित हो गयी। एक दीपक यहाँ जल रहा है तो दूसरा उत्तरी ध्रुव पर। मनुष्य, मनुष्य को देखने के लिए तरसने लगता है। इतिहास अपने को दुहराता है, पुनः प्राकृतिक जीवन जीने के लिए लोग विवश हो जाते हैं। उत्तरोत्तर विकास हो जाने पर पुराने लोगों को असभ्य कहा जाता है। इसी प्रकार यह काल अबाध गति से उत्थान और पतन देखता चला आ रहा है; किन्तु जिस दिन से युगधर्म का सूत्रपात आपके हृदय में हो जाता है उस दिन से यह असीम काल ससीम हो जाता है, उस दिन से यही काल गणित पर चढ़ जाता है, काल कटने और घटने लगता है, काल का पार पा लिया जाता है, मरणधर्मा मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, अकाल पुरुष अमृत-तत्त्व परमात्मा में प्रवेश पा जाता है- **'काल न खाय कलप नही ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै।।'**

युगधर्म क्या है? यह कहाँ होता है? कैसे होता है?- इसे स्पष्ट करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी 'मानस' में कहते हैं-

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदयँ राम माया के प्रेरे।। *(७/१०३/१)*

सभी युगों के धर्म सबके हृदय में होते हैं। कैसे होते हैं? 'राममाया' की प्रेरणा से होते हैं। राममाया, आत्ममाया, योगमाया इत्यादि एक दूसरे के पर्याय हैं और इसी का दूसरा नाम विद्या है। युगधर्म का श्रीगणेश राममाया की प्रेरणा से होता है। जब तक राममाया जागृत नहीं है तो युगधर्म अभी आरम्भ ही नहीं हुआ। यह राममाया या विद्या

क्या है? देखें, 'राममाया'-

जब भगवान राम वनवासकाल में पंचवटी में कुटी बनाकर विश्राम कर रहे थे, उसी समय **'लछिमन बचन कहे छलहीना।'** *(३/१३/५)*- लक्ष्मण ने छलहीन होकर कुछेक प्रश्न किये कि माया क्या है? ईश्वर क्या है? जीव क्या है? ज्ञान-वैराग्य क्या है? और वह कौन-सी भक्ति है जिससे आप प्रसन्न होते हैं? (इस प्रकार पाँच-सात प्रश्न किये) तब भगवान राम ने कहा कि - **'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई।।'** *(३/१४/१)*- मैं संक्षेप में ही कहता हूँ, मन और बुद्धि लगाकर सुनो। **मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।।** *(३/१४/२)*- 'मैं हूँ, यह मेरा है', 'तू है, यह तेरा है' - यही माया है, जिसने चराचर को पराधीन कर रखा है। **'तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।।'** *(३/१४/४)*- इस माया के दो भेद हैं- एक विद्या और दूसरी अविद्या। **'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।।'** *(३/१४/५)*- एक अविद्या अत्यन्त दुष्ट है, जिससे विवश होकर जीव भवकूप में पड़ा है और **'एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।।'** *(३/१४/६)*- दूसरी विद्या है जो संसार को रचती है, सजाती है और '**गुन बस जाकें**'- गुण जिसके वश में हैं, जो सत्, रज और तम तीनों गुणों को नियन्त्रित करती है; किन्तु यह विद्या है प्रभुप्रेरित! जब तक प्रेरक के रूप में प्रभु खड़े नहीं हो जाते, तब तक वह विद्या आती ही नहीं। स्वयं में उसका अपना कोई बल नहीं है। वह तीनों गुणों को संयत करके गुणों से परे कर देती है; किन्तु सम्भव तभी है जब प्रेरक के रूप में प्रभु स्वयं जागृत हो जायँ और आप उन्हीं के निर्देशन में चलने लगे। जिस दिन से इस विद्या का आविर्भाव होता है उसी दिन से आपके अन्तःकरण में युगधर्म शुरू हो जाता है। स्वामी और सेवक आमने-सामने हो जाते हैं, इससे यही युग है।

'कभी सत्ययुग था और आज कलियुग है'- ऐसी कोई बात नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं, '**नित जुग धर्म होहिं**'- युगधर्म नित्य ही होते हैं। एक ही समय में कोई सत्ययुगी तो दूसरा कलियुगी हो सकता है। यह कैसे जाना जाय कि कौन-सा युग कार्यरत है? इस पर कहते हैं-'**तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।।**' *(७/१०३/५)*- जब तामसी गुण का बाहुल्य है, चारों ओर बैर-विरोध है, तो यह कलियुग का प्रभाव है। ऐसी परिस्थिति में वह चिन्तन का आरम्भ कहाँ से करे? इस पर बताते हैं- **'कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा।।'** *(७/१०२/४)* भगवान की लीला-गायन करो और सेवा करो। भव का थाह पा जाओगे।

साधना और सूक्ष्म हुई, साधक का स्तर उठा तो **'बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस।।'** *(७/१०३/४)*- राजसी गुण का बाहुल्य हो,

कुछ सात्त्विक गुण हो और कुछ तामसी गुण भी जीवित हो, मन में हर्ष और भय हो, दुविधाजनक स्थिति बनी हो तो द्वापर श्रेणी का युगधर्म है। उस समय **'द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा।।'** *(७/१०२/३)*- वह भगवान के पद को पूजने, चरणों में सुरत लगाने का यत्न तथा उन चरणों के चिन्तन का प्रयास करता है। (ध्यान तो लगेगा नहीं; क्योंकि मन में दुविधा लगी है। बस अभ्यास करने की क्षमता होती है।) ऐसा करके वह भवसागर का पार पा जाता है। किंचित् और परिपक्व होने पर, **'सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा।।'** *(७/१०३/३)*- सत्त्वगुण बहुतायत में है, कुछ राजसी गुण जीवित है, तामसी गुण समाप्त हो चुका है, सब प्रकार की सुख-समृद्धि है- यह त्रेता का धर्म है। इस परिस्थिति में भजन किस स्तर का होता है? **'त्रेताँ बिबिध जज्ञ नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।।'** *(७/१०२/२)*- विविध यज्ञ- मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, धारावाही चिन्तन और **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** *(गीता, १०/२५)*- यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ यज्ञ जपयज्ञ (यज्ञ श्रेणीवाले जप का उतार-चढ़ाव श्वास पर होता है।) अतः श्वास-प्रश्वास का यजन और इसी प्रकार गीता में ईश्वर-प्राप्ति के निमित्त जिन यज्ञों की चर्चा है, उन सबकी उसमें क्षमता रहती है। सभी क्रियाएँ उसमें जागृत रहती हैं।

दीर्घकाल के अभ्यास से चलते-चलते साधना और सूक्ष्म हो गई, तो **'सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।'** *(७/१०३/२)* पहले बताया था कि राममाया या विद्या गुणों को संयत करती है। उसी विद्या- प्रभुप्रेरित विद्या की देन है कि अब दो गुण सर्वथा शान्त हो गये, केवल सात्त्विक गुणमात्र शेष बच रहा, अनुभवी उपलब्धि है। वह बुद्धि से कोई काम नहीं लेता, आकाश से (हृदयाकाश से) जो शब्द मिलता है, उसके सहारे चलने की क्षमतावाला विज्ञानी है, विषमता उसमें से समाप्त हो गई, समता है- यह सब सत्ययुग का प्रभाव है, **'कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।'**- वह सदैव प्रसन्नचित रहता है। इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति करता क्या है? उसके चिन्तन का माप-तौल क्या है? तो **'कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।'** *(७/१०२/१)*- इस स्तर पर सभी योगी होते हैं, ईश्वरीय निर्देशों पर चलनेवाले विज्ञानी होते हैं। सहज ही हरि के ध्यान में लव लग जाती है और वह भव का पार पा जाता है। आज आपका ध्यान नहीं लगता, उस युग की योग्यता में सहज ही ध्यान की स्थिति रहती है। अतः वह भव का पार पा जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से लगता है कि जैसे चार भवसागर हों, किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। भवसागर एक ही है। भव अर्थात् पैदा होना। जन्म और पुनर्जन्म, आवागमन का चक्कर- यही है भवसागर। इसी एक भवसागर को पार करने के लिए चिन्तन-पथ को चार श्रेणियों में बाँटा गया, उन्हें ही कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग इन शब्दों

से सम्बोधित किया गया। आरम्भ में तामसी गुण का बाहुल्य रहता है, उस समय भव का थाह मिलता है लीला-गायन से, नाम-जप से। दीर्घकाल तक सेवा-चिन्तन चलते रहने पर वही साधक द्वापर श्रेणी में परिणत हो जाता है। कलियुग से सीधे भवसागर से पार नहीं होंगे बल्कि द्वापर में प्रवेश मिलेगा। मन के अन्तराल में पद-पूजा की क्षमता आ जायेगी। वही साधन और सूक्ष्म हुआ, तो त्रेता में ढल जाता है। उस समय श्वास-प्रश्वास का यजन, ईश्वर में कर्मों का समर्पण करने की योग्यता स्वाभाविक होगी। चिन्तन और सूक्ष्म हुआ, तो वही पथिक ध्यान और समाधि की क्षमतावाला होगा। जब लगाना चाहेंगे, जिस क्षण लगाना चाहेंगे, मन तुरन्त स्वरूप को पकड़ लेगा, केन्द्रित हो जायेगा। प्रत्येक समस्या का हल बुद्धि से न होकर ईश्वर के निर्देशन पर आधारित होगा। ऐसा करके वह भवसागर का पार पा जायेगा।

इस प्रकार युगधर्म एक ही साधना के चार सोपान हैं, न कि चार प्रकार के धर्म (या चार भवसागर)। एक ही साधक को चारों सोपानों से गुजरना पड़ता है। गीता में इन्हीं को चार वर्ण कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने 'योगदर्शन' में इन्हीं चारों को अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणी के साधकों के रूप में बताया है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अरण्यकाण्ड (४/१२) में **'उत्तम के अस बस मन माहीं।'** माताओं के माध्यम से इन्हीं चार युगधर्मों का निरूपण किया है।

युगधर्म वहीं तक चलते हैं जब तक ईश्वर अलग है, हम अलग हैं। साधन पराकाष्ठा पर पहुँच जाने पर युगधर्म और उसकी केन्द्रभूमि दोनों शान्त हो जाते हैं, मन में प्रवाहित तीनों गुणों का भी विलीनीकरण राममाया द्वारा हो जाता है। यही त्रिगुणातीत या गुणों से ऊपर उठ जाने की अवस्था है, जिसका चित्रण गीता में है। यही राममयी स्थिति है- **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** *(२/१२६/३)* इसलिए युगधर्म का कार्य पूर्ण हो जाता है- **'काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही।।'** *(७/१०३/७)*

सारांशतः युग कहते हैं दो को! मानस के अनुसार विद्या के जागृत होते ही स्वामी संचालक है, सेवक चलनेवाला है। स्वामी-सेवक आमने-सामने हैं, यही है दो! उसी दिन से युगधर्म की शुरुआत होती है और काल जो अनन्त है उसके अन्त की गणना शुरू हो जाती है, काल का बन्धन कटने लगता है और इस सात्त्विक गुण के शमन के साथ ही युगों का अन्त हो जाता है। प्रकृति शान्त हो गई तो पुरुष ही शेष बच रहा और उसकी अनुभूति के साथ ही- **'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।।'** *(२/१२६/३)*- उसे जानकर द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। आत्मभाव, परमात्म-स्थिति प्राप्त हो जाती है। उस समय काल का क्रम 'युग' भी समाप्त हो जाता है। जब दूसरा है ही नहीं, युग हो नहीं सकता- **'सहजे सहज समानी।'**

गीता (४/८) में भगवान श्रीकृष्ण ने भी इस युग पर बल दिया कि **'सम्भवामि युगे युगे'**- मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ। वस्तुतः प्रत्येक युग में इष्ट प्रत्यक्ष साथ देते हैं, तभी तो युगधर्म शुरू होता है। हाँ, उच्चश्रेणी में अनुकूलता की भरपूरता प्रतीत होती है, निम्न श्रेणी (युगों) में सहयोग क्षीण प्रतीत होता है। आप कैसे प्रकट होते हैं?-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।। (गीता, ४/६)

अजन्मा और समस्त भूतप्राणियों के स्वर में प्रवाहित होनेवाला ईश्वर, अव्यक्त होने पर भी अपनी आत्ममाया द्वारा त्रिगुणमयी प्रकृति को अधीन करके मैं प्रकट होता हूँ।

ठीक वही बात जो मानस में है, वही गीता में भी है। वहाँ कहते हैं- विद्या गुणों को वश में करती है, यहाँ कहते हैं- आत्ममाया करती है। वास्तव में आत्मा की स्थिति दिला देनेवाली विधि आत्ममाया है। दूसरे शब्दों में, वही योगमाया है जो परमात्मा से जोड़ देती है, मिलन करा देती है, संसार के संयोग-वियोग से रहित शाश्वत-नैष्कर्म्य की परमसिद्धि को दिला देती है। इसी का तीसरा नाम विद्या है।

यह विद्या सम्भव तब है जब भाविक भक्त के हृदय में भगवान स्वयं जागृत होकर रथी हों। इसलिए यहाँ उन्हीं का महत्व है। साधक केवल निमित्त मात्र होता है। उसके द्वारा जो पार लगता है, उन्हीं प्रभु की देन है। इसी के लिए भगवान की जरूरत है। इन्हीं प्रेरणाओं से भगवान की पहचान है। योगेश्वर कहते हैं, मैं प्रकट होता हूँ- '**सम्भवामि युगे युगे**'। जिस दिन से जागृत होते हैं, उस समय तामसी गुण का बाहुल्य होगा- अभी-अभी तो यह जागा है, अतः बाहुल्य होगा। राजसी गुण का अल्प संचार होगा, सात्त्विक गुण प्रसुप्त होगा। ऐसी परिस्थिति में पथिक कलियुगीन है लेकिन आत्ममाया जागृत है अतः वह गुण-गायन से, सेवा और समर्पण से लग जाता है। यह लगना भी प्रेरक प्रभु की देन है। वह हर युग में आमने-सामने खड़ा रहता है। यदि वह न बताये तो अभी विद्या जागृत ही नहीं हुई, युगधर्म का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

अतः बन्धुओ! यह भूल जायँ कि आज कलियुग है या बहुत जल्द ही सत्ययुग आनेवाला है, जैसा कि आजकल कथित धर्माचार्य कहते हैं। सृष्टि में युगों की कहीं कोई चर्चा नहीं है। संसार में, वह भी केवल भारत में और उसमें भी केवल हिन्दूशास्त्रों में इसकी चर्चा है। केवल भारत में ही यह धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला भ्रम है। जब चारों युग सृष्टि के लिये बने हैं तो इन्हें सर्वत्र होना चाहिए था; किन्तु ऐसा कहीं नहीं है। भारत के आध्यात्मिक ग्रन्थों में भी इसका जो उल्लेख मिलता है, कल्याण-पथ के नियम हैं। कल्याण-पथ के नियमों को न समझने के कारण केवल सामाजिक व्यवस्था देनेवाले स्मृतिकारों ने इसे बाहर देखना शुरू किया, वास्तविकता से दूर खड़े हो गये। उन्होंने एक

घपला दे दिया कि चार लाख बत्तीस हजार वर्ष का कलियुग होता है, और फिर सज्जनो! उससे दूना हो गया द्वापर, उससे तिगुना हो गया त्रेता, तो चौगुना सत्ययुग। यह एक बिना सिर-पैरवाली बात थी, जिसका अपने जीवन में प्रयोग उन्होंने कभी नहीं किया बल्कि इसका उपयोग उन्होंने अपने साम्प्रदायिक देवताओं की महत्ता बढ़ाने और आश्चर्य का सृजन कर निरीह जनता का भयादोहन करने के लिए किया। मानस का एक कथानक इसी मनोवृत्ति पर करारा व्यंग्य है, जिसमें राजा प्रतापभानु को मिलनेवाले कपटी मुनि ने सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की आश्चर्यजनक कहानी सुनाकर उनके साथ विश्वासघात किया। वास्तव में ऐसी कोई गणना नहीं, इस गणना का कोई विधान नहीं, कोई उपयोग नहीं और आर्षग्रन्थों में इसका कोई समर्थन नहीं है।

मनुस्मृति तथा पाराशर-स्मृति दोनों ही समकालीन हैं, कोई विशेष अन्तर नहीं है, दोनों गौतम बुद्ध के आगे-पीछे लिखी गई हैं; किन्तु पाराशर-स्मृति कहती है कि मनुस्मृति तो सत्ययुग के लोगों के लिए थी, कलियुग के लिए तो यही पाराशर-स्मृति ही प्रमाण है। इन स्मृतिकारों को यह भी ज्ञात नहीं है कि युग रहते कहाँ हैं? वास्तव में इन युगों का उतार-चढ़ाव मन के अन्तराल में होता है, सबमें इसकी व्यवस्था है, सब उसके पात्र हैं। सभी युग आपके लिए ही हैं और आपको ही क्रमशः चलकर इन युगों का परिणाम पाना है।

बुध जुग धर्म जानि मन माहीं।
तजि अधर्म रति धर्म कराहीं।। *(मानस, ७/१०३/६)*

विवेकी पुरुष युगधर्म को मन के अन्तराल में जानते हैं- तन में नहीं, बाहर समाज में नहीं; सूर्य, चन्द्रमा, नदी और पहाड़ोंवाली धरती में नहीं। मन में ही इसकी जागृति सम्भव है, इसलिए विवेकी पुरुष अधर्म का त्याग करके धर्म में अनुरक्त हो जाते हैं, उस प्रभु का संचार तथा उसकी प्रेरणा प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार युगों को जागृत कर और क्रमशः चारों युगों को पार करके परमभाव को प्राप्त कर लेते हैं। अब रही इन युगों के सामाजिक उपयोग की बात, तो व्यक्ति से ही समाज बनता है। यदि आप समाज का वास्तविक कल्याण चाहते हैं, तो सभी मिलकर सत्य के लिये प्रयास करें। जब बहुमत में सत्यप्रधान लोग होंगे तो वातावरण में सत्य समा जायेगा, अतः सत्ययुग स्वतः आ जायेगा। समाज में आप परमकल्याण के स्रष्टा कहलायेंगे। लोककल्याण भी होगा और स्वयं तो कल्याणभाजन होंगे ही।

अनुभवी अन्तस्प्रेरक महापुरुष द्वारा ही युगधर्मों का पार पाने का विधान है। अतः किसी अनुभवी तत्त्वदर्शी महापुरुष के लिए अन्तःकरण में सदैव शोध तथा सत्य की लालसा रखें।

।। ॐ।।

अहिंसा

अहिंसा योग-साधना का अंग है।

महाकुम्भ के अवसर पर चण्डीद्वीप हरिद्वार में दिनांक १६.०४.१६८६ की जनसभा में स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी का प्रवचन।

बन्धुओ!

संसार के प्रायः हर देश में, हर काल में अहिंसा के उपदेशक रहे हैं; किन्तु भारत में अहिंसा के जितने अधिक समर्थक और कट्टर पालक होते आये हैं, उतना संसार के अन्य किसी देश में नहीं हुए। आत्मा की ही भाँति अहिंसा की भी अवधारणा भारतीयों की विश्व को महानतम देनों में से एक है। वैसे तो मूसा, ईसा, मुहम्मद साहब, जरथुस्त्र, कनफ्यूशियस, लाओत्से तथा प्राचीन यूनानियों ने बुराई का बदला भलाई से देने को कहा; सबने प्रेम, शान्ति, दया, करुणा और सेवा का सन्देश दिया; किन्तु इन सबके मूल में है भारतीय ऋषियों का चिन्तन, जिसकी परम्परा वेद, उपनिषद्, महावीर, बुद्ध और गुरुनानक से लेकर अद्यावधि अविच्छिन्न है।

कितना विरोधाभास है कि जो भारत अनादिकाल से चिरन्तन प्रश्नों के शोध की स्थली रहा, विश्व के लिये आलोक-स्तम्भ रहा, विश्वगुरु कहलाया, वहीं के निवासी गुणों से हीन होते जा रहे हैं और इस पतन के कारणों में अहिंसा का नाम भी जुड़ा हुआ है। कितनी विडम्बना है कि अपने मूल देश में ही अहिंसा एक भ्रम बनकर रह गया है।

आज स्थिति यह है कि लोग बिच्छू या भौंरा मारने से डरते हैं, साँप मारने से डरते हैं; यद्यपि आये दिन सर्पदंश से मरने की घटनाएँ होती रहती हैं। लोग खटमल तक मारने से डरते हैं कि पाप हो जायेगा। इन भावनाओं ने देश को कायर बनाकर रख दिया, बुज़दिल बना दिया। हम पर आक्रमण होता है, दो-चार-पन्द्रह-पचीस लोग युद्ध में काम भी आ जाते हैं, तब तक हमें सुरक्षा का भान नहीं होता; जब भान होता है, तब तक हम बहुत नुकसान उठा चुके होते हैं। खेद का विषय है कि लोग माँस-मछली तो खाते हैं, अपने पड़ोसी का हक भी छीनने का प्रयास करते हैं; किन्तु जब सुरक्षा का प्रश्न आता है तो घरों में घुस जाते हैं। यह अहिंसा-पालन नहीं, कायरता है।

किसी भी जीव को न मारने की भावना के पीछे दो कारण हैं। एक तो मान्यता है कि जीवन तो दुःखमय है ही किन्तु कदाचित् इससे भी दुःखद मृत्यु है; क्योंकि घोर कष्ट पानेवाला भी मरना नहीं चाहता, इसलिए जहाँ तक हो सके मृत्यु से बचना चाहिए- अपना नुकसान उठाकर भी। कितना आश्चर्य है कि भारतीय भी मृत्यु से डरता है,

जबकि संसार में भारतीयों को ही मृत्यु से सबसे कम डरना चाहिए; क्योंकि उन्होंने ही तो खोजा था कि आत्मा अमर है। और मृत्यु क्या है? जीर्ण वस्त्र की तरह नश्वर देह का परिवर्तन मात्र!

अहिंसा के आत्यन्तिक प्रयोग का दूसरा कारण स्मृतियाँ हैं, जिनमें बताया गया है कि साँप अथवा चूहा मारने पर लोहे की छड़ दान दें। बिल्ली मारने पर सोने की बिल्ली दें। नेवला-मेढक-कौआ-कुत्ता अथवा शूद्र- इनमें से किसी को मारने पर एक सफेद बैल और दस गाय ब्राह्मण को दें। वैश्य और क्षत्रिय को मारने पर बीस गाय तथा ब्राह्मण मारने पर तीस गाय दान करें। बकरा मारने पर इतना और हाथी मारने पर इतना! जैसा जीव वैसा दान! बिना हड्डीवाले कीड़े-मकोड़े मारने पर भी गाय और एक बैल देना है। हिंसाजनित पाप की कहानी इतनी प्रचलित हुई कि पानी भरने तक में पाप है, दान दें। चूल्हा जलाने में हिंसा है, दान दें। ओखली या चक्की की तो बात ही छोड़िए, झाड़ू लगाने में भी हिंसा होती है, दान दीजिये! फाँसी लगानेवाला, मछली मारनेवाला और चिड़िया मारनेवाला व्याध जितनी हिंसा करता है उतना ही एक किसान लकड़ी के हल में लोहे का फाल लगाकर हल जोतने से करता है। इस हिंसा से मुक्त होने के लिये जो फसल का एक भाग ब्राह्मणों को दान नहीं करता, उसे ब्रह्महत्या का एक पाप और लग जाता है।

इस प्रकार जीवन की हर क्रिया में हिंसा घोषित करना और हिंसा की सम्भावना पर इतना अधिक मृत्युकर कि मनुष्य विवश और घायल हो गया। उसने देखा कि किसी भी जीव की ओर उँगली उठाने तक में मारने का कर लग रहा है, जिसे अदा न करने पर उससे भी भयावह सामाजिक बहिष्कार की यन्त्रणा झेलनी पड़ रही है, नरक का आतंक ऊपर से है, अतः लोगों का अन्तःकरण इतना दब गया कि अब वे चींटी मारने से भी कतराने लगे। इस मृत्युकर का आतंक इतना बढ़ा कि लोग 'जीवहत्या है'- ऐसे विचारमात्र से काँपने लगे।

इसी मनोवृत्ति का परिणाम था कि तैमूर के थोड़े से सिपाहियों ने लाखों बन्दी हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार दिया। दिल्ली में, आपके घर के भीतर पन्द्रह दिनों तक कत्लेआम चलता रहा। उस समय तक तोप या बन्दूक का आविष्कार नहीं हुआ था, केवल तलवारें थीं। लोग निहत्थे भी टूट पड़ते, तो इतिहास कुछ दूसरा होता। इस हीनभावना के पीछे भी स्मृतियाँ उत्तरदायी हैं, जिनमें लिखा है कि शस्त्र केवल क्षत्रिय ही उठा सकता है, अन्य जातियों के लिए शस्त्र उठाना पाप है। सौ में सात क्षत्रिय और उनमें भी स्त्री-बच्चे। लड़नेवाले बचे तीन। उन तीन पर अधिकार कर लें तो सौ को भेड़ की तरह हाँक ले चलें।

स्मृतियों में हिंसाजनित पाप के निवारण का विधान था दान। रामचरितमानस के अनुसार, **'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।'** *(५/४३/२)* पाप का निवारण भगवान के सम्मुख होने से होता है; किन्तु स्मृतियों की व्यवस्था के अनुसार कैसा भी जघन्य पाप हो, केवल ब्राह्मण को दान दे दो, छुट्टी मिल गयी। दान उस समय के बुद्धिजीवी वर्ग की जीविका थी। अतः अधिक से अधिक पर्वों और अवसरों पर अधिकतम दान लेने में अहिंसा उनकी सुरक्षा कवच बन गयी। वह उन मनीषियों की भूल नहीं, समय था।

परोपजीवियों ने एक ओर तो अहिंसा पर बल देकर दान के क्षेत्र को विस्तृत बताया और दूसरी ओर अपने लिये मांसाहार की भी आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिये हिंसा को भी उचित ठहराया। उन्हें हिंसा अथवा अहिंसा से क्या मतलब, मतलब तो वस्तु से था- अहिंसा से मिले चाहे हिंसा से! मन्त्र पढ़कर पशु को काटा जाता है तो वह देव-भोजन है, अहिंसा है। बिना मन्त्र के काटा जाता है तो वह असुर-भोजन है, हिंसा है। मन्त्र से भी क्या मतलब, मतलब तो मन्त्र पढ़नेवाले का हिस्सा लगने से है। मन्त्र में पढ़ेंगे क्या? 'स्वर्गम् गच्छेत्।' इस सूत्र को पढ़ देने मात्र से क्या वह मरनेवाला जीव स्वर्ग में चला गया? (यही तो पोप भी करते थे।) 'अच्छिद्रमस्तु' कह देने से यज्ञ की हर कमी पूरी हो गयी? हिंसा को समर्थन देने के नशे में उन्हें वैदिक यज्ञों में भी हिंसा दिखायी पड़ी। उन्होंने व्यवस्था दी कि **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।'**- वेद में वर्णित हिंसा हिंसा नहीं है। तो क्या वेदों में हिंसा है? निर्णय हमसे नहीं, महाभारतकार से सुनें-

सुरां मत्स्यान मधुं मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तै प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।। *(शान्तिपर्व, २६५/६)*

महर्षि व्यास का कहना है कि मांस-मदिरा की अनिवार्यता तो पीछेवालों ने चलायी। वेदों में ऐसी कल्पना भी नहीं है। उन ऋचाओं का आशय न समझ पाने के कारण अथवा शाकाहार के साथ मांसाहार प्राप्त करने के उद्देश्य से ही स्मृतिग्रन्थों में उन पशु-पक्षियों की लम्बी सूची मिलती है जिन्हें यज्ञों में काटना तो उचित है ही, श्राद्ध में भी उनके मांस से तर्पण को अधिक पुण्यदायक बताया गया।

इन्हीं कुरीतियों की भर्त्सना विशुद्ध सनातनधर्मी महात्मा बुद्ध ने की। अपनी जीविका का भण्डाफोड़ होते और तथागत का ही प्रभाव देख इन बुद्धिजीवियों ने उनको भी भगवान के दस अवतारों में एक मानकर उनकी गोल में मिल गये और ज्योंही इनका अपना संगठन मजबूत हुआ, बौद्धधर्म में कुरीतियाँ आयीं। ये कहने लगे कि बुद्ध अवतार तो हैं; किन्तु ऐसा अवतार, जिनकी शिक्षा असुरों के लिये है! कहा गया कि गौतम के अहिंसा-प्रचार से भारतीयों का शस्त्राभ्यास बन्द हो गया, मौर्य-साम्राज्य का पतन हो

गया, बुद्ध की निवृत्तमार्गी शिक्षा से भारत अकर्मण्य हो गया। कितनी उल्टी बात है कि उसी महापुरुष की शिक्षा से भारत अहिंसक हो गया और चीन हिंसक, भारत अकर्मण्य हो गया और जापान कर्मठता का कीर्तिमान स्थापित करता चला जा रहा है।

अहिंसा आधुनिक समाज (भारत) का उलझा हुआ प्रश्न है। कोई कहता है- जीवों की हत्या न करना अहिंसा है। कोई नम्रता को अहिंसा कहता है तो कोई दया को, कोई समय नष्ट करना हिंसा मानता है तो कोई आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह को अहिंसा की परिधि में ले रहा है। एक वर्ग श्वास में नष्ट होनेवाले अदृश्य कीटाणुओं की हिंसा से बचने के लिए मुँह पर पट्टी बाँध रहा है। इस प्रकार अहिंसा के मूल में जीवों को मारने अथवा न मारने की भावना अधिक दिखाई देती है और दिखता है उत्तरोत्तर इसके आयाम का विस्तार, अतिवादी प्रयोग।

प्रश्न उठता है कि अहिंसा का औचित्य क्या है? जीवों को क्यों न मारा जाय? इस प्रश्न पर भी मतभेद है। कोई कहता है- हर जीव में भगवान हैं। फिर तो कठिन हो जायेगा; भगवान कहाँ नहीं हैं? खायेंगे क्या? क्या दही अथवा शहद खाने में हिंसा नहीं है? करोड़ों कीटाणु एक कटोरी दही में खा जाते हैं आप! जब सबमें एक ही भगवान है, तो कोई जीव-हिंसा छोटी और कोई बड़ी क्यों? कम से कम मनुष्य-मनुष्य में तो अन्तर नहीं होना चाहिए था कि शूद्र मारने पर कुत्ता मारने के बराबर हिंसा लगती है और ब्राह्मण मारने पर शूद्र का तीन गुना! जान-बूझकर मारने पर तो कोई निस्तार है ही नहीं। विचारमात्र से किसी को पीड़ा न पहुँचायें, तो क्या अपने लड़के को पथ-भ्रष्ट होने से न रोकें? चोर, डकैत, बलात्कारियों और आततायियों को भी न रोकें? इनके सामने हाथ जोड़कर धरना दें? कष्ट को दूर करने के प्रयास में दिया जानेवाला कष्ट, उपचार में होनेवाली मौतें क्या हिंसा हैं?

अहिंसा के पक्ष में दूसरा तर्क दिया जाता है कि जिन वस्तुओं को आप पैदा नहीं कर सकते, उन्हें नष्ट करने का आपको कोई अधिकार नहीं है। यदि आप किसी को जीवन दे नहीं सकते, तो ले कैसे सकते हैं? अन्न और वनस्पतियों का उत्पादन आप बढ़ा सकते हैं, उनकी नस्ल बदल सकते हैं, अतः उनके प्रयोग की हिंसा क्षम्य है; किन्तु यही तर्क तो मत्स्य-पालन या कुक्कुट-पालन वाले भी देते हैं, अन्य सभी पशु-पक्षियों की नस्ल वे बढ़ा लेते हैं। खेती करनेवाले लोग जुताई-बुआई में होनेवाली हिंसा पर भले न ध्यान दें; किन्तु कीटनाशक दवाइयों का प्रयोग करके दीमक इत्यादि दिखाई पड़ने और न दिखाई पड़नेवाले असंख्य कीटाणुओं के संहार का अधिकार उन्हें कहाँ से मिल जाता है? यह हिंसा तो उन्हें विचलित नहीं करती किन्तु उसी फसल की सुरक्षा के लिए उत्पाती बन्दरों अथवा चरती हुई गायों को भगाने के प्रश्न पर वे हिंसा और अहिंसा का शास्त्र

लेकर बैठ जाते हैं। चेचक के कीटाणुओं और मलेरिया के उन्मूलन में असंख्य मच्छरों की हिंसा उन्हें नहीं दिखाई देती! जिन अदृश्य कीटाणुओं की हिंसा से बचने के लिये एक वर्ग नाक पर पट्टी बाँधता है (प्रयास अहिंसा का ही है), किन्तु उसी तरह के कीटाणुओं को मारने के लिये 'एण्टीबायोटिक' दवाओं को खाने में वह भी नहीं हिचकता। कोई सोचना भी नहीं चाहता कि चमड़े का उद्योग कैसे पनपाया जाता है? चमड़े की वस्तुओं का प्रयोग तो करते हैं किन्तु अहिंसा के लिए चिन्तित भी हैं! किसे मानते हैं आप अहिंसा?

फिर तो अहिंसा के समर्थन में एक ही तर्क बचता है- जो वस्तुएँ मानव-समाज के लिये उपयोगी हैं उनकी सुरक्षा अहिंसा है और जो कम उपयोगी हैं अथवा अनुपयोगी हैं उनकी उपेक्षा की जा सकती है। फिर तो उपयोगिता आधार बन गयी, अहिंसा नहीं। यदि उपयोगिता ही आधार है तो जो भिखारी, अन्धे-बहरे, विकलांग अथवा भयंकर संक्रामक रोगों के कारण जो समाज के लिये समस्या बन चुके हैं, उनका क्या किया जाय? वृद्ध माता-पिता को भी क्या अनुपयोगी समझ लिया जाय? कहते हैं- यदि डाक्टर की भावना अच्छी है तो उसकी हिंसा भी अहिंसा है। फिर तो महत्त्व हिंसा या अहिंसा का नहीं, उसमें निहित भावना का हो गया। फिर असाध्य रोग की पीड़ा से छटपटाते मनुष्यों तथा पशुओं को आसान मौत दी जाय अथवा नहीं? परिवार नियोजन या भ्रूण-हत्या अहिंसा के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल? फाँसी उचित है कि अनुचित?- इत्यादि प्रश्न भी विवाद के घेरे में आ जाते हैं। अतः विचारणीय है कि अहिंसा को समझने में कहीं भूल तो नहीं हो रही है? अहिंसा है क्या? यदि यही अहिंसा है, तब तो किसान इससे वंचित हो जायेंगे। गृहस्थों के लिये इसका पालन असम्भव हो जायेगा। विदेशियों की तो बात ही छोड़िये, मांस-मछली खानेवाले हिन्दुओं को भी अहिंसा धर्म से निकालना होगा। फिर तो आपका यह धर्म विश्वव्यापी नहीं हो सकेगा। अहिंसा की यह प्रचलित धारणा क्या अहिंसा है?

सच्चाई तो यह है कि इनमें से किसी भी प्रश्न का सम्बन्ध अहिंसा से है ही नहीं। इसमें दोष अहिंसा का नहीं, अहिंसा का अर्थ परिवर्तन करनेवालों का है। अहिंसा जिनकी देन है, आइये देखें हमारे वे पूर्व मनीषी अहिंसा का प्रयोग किन अर्थों में करते थे।

अहिंसा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है। इस उपनिषद् के तीसरे अध्याय के चतुर्दश खण्ड में बताया गया कि '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'- यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। उसे विदित करने के लिये इसी उपनिषद् के पञ्चदश खण्ड में प्राणापान का यज्ञ और सोलहवें खण्ड में समर्पण के साथ यज्ञस्वरूप महापुरुष की उपासना करने को कहा गया और सत्रहवें खण्ड में बताया गया कि **'अथ यत्तपो**

दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।' अर्थात् जो तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन हैं, वे ही यज्ञ की दक्षिणा हैं।

यज्ञ की सम्पूर्णता के पश्चात् ही दक्षिणा का विधान है। अहिंसा इस आत्मयज्ञ की दक्षिणा है अर्थात् दान, अहिंसा, सत्य इत्यादि उसके क्षेत्र की वस्तु है जिसने आत्मयज्ञ कर लिया है, आत्मा को जिसने विदित कर लिया है, **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** जिसने देखा है, वही कह सकता है। **'तत्त्वमसि'**, **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का उद्घोष वही कर सकता है। चराचर जगत् की अन्तिम एकता- आत्मिक एकता को जिसने स्वयं देखा है, अहिंसा उसके क्षेत्र की वस्तु है। जब वही सर्वत्र है, दूसरा है ही नहीं, तो विरोध किससे? हत्या किसकी? यही बात मानसकार कहते हैं-

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।।

(मानस, ७/११२ ख)

वही शुद्ध अहिंसक है। किन्तु यह स्थिति मिलती है कब? जब '**बिगत काम मद क्रोध**'- काम, क्रोध, मद इत्यादि विकार विशेष रूप से गत हो चुके हों, सर्वथा शान्त हो गये हों। जिसे जगत् प्रभुमय दिखायी पड़ रहा है, अहिंसा उसके लिये है। अहिंसा पालन नहीं परिणाम है, दक्षिणा है। अतः जिसने काम, क्रोधादि विकारों को जीतकर आत्मा को विदित कर लिया, वही शुद्ध अहिंसक है। सदन कसाई मांसाहारी होकर भी अहिंसक थे और इसी प्रकार महाभारत के धर्म-व्याध भी आते हैं। जो काम-क्रोध का दास है, संसार को समेटने में लगा है, साथ ही अहिंसा की पूर्ति के लिए प्रतिदिन चींटियों को आटा खिलाता है, खटमल तक नहीं मारता, अहिंसा के लिए ही फलाहार करता है तब भी उसकी अहिंसा रूढ़िवादिता है, दिखावा है, दम्भ हो सकती है किन्तु आत्मज्ञान का सूचक तो कदापि नहीं है।

यही बात प्रकारान्तर से महाभारत के अनुशासन पर्व (११७/३७) में भीष्म ने युधिष्ठिर को समझाया कि **'अहिंसा परमो धर्मः।'**- परम धर्म परमात्मा है, उसी के परिवेश में अहिंसा है।

इसी की पुनरुक्ति गोस्वामी तुलसीदासजी करते हैं- **'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'** *(मानस, ७/१२०/२२)* श्रुति कहते हैं वेद को और परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही वेद है। उस परमात्मा को सर्वत्र देखनेवाले ऋषियों का गुण है अहिंसा, उनकी रहनी है अहिंसा। ऐसे तत्त्वदर्शियों ने यजुर्वेद में कहा कि- **'पशून पाहि। गां मा हिंसीः। अजां मा हिंसीः। अविर्मा हिंसीः। इमं मा हिंसी द्विपादं। मां हिंसी रेकशफं पशुम्। मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।'** पशुओं की रक्षा करो। गाय को न मारो।

बकरों को न मारो। भेड़ को न मारो। इन दो पैरवाले प्राणियों को न मारो। एक खुरवाले पशुओं को न मारो। किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। अतः अहिंसा उनकी अनुभूति है, जिन्होंने इन सबमें अपनी ही आत्मा को व्याप्त पाया। एकत्व की अनुभूति और तज्जनित अहिंसा आत्मदर्शन के कारण है, शरीर के कारण नहीं। शरीर धारण करते रहना ही तो हिंसा है। शुद्ध अहिंसा वहाँ है जहाँ पहुँचकर इस आत्मा को पुनः शरीर धारण न करना पड़े।

वेदों में प्रतिपादित धर्म यज्ञ-प्रधान है। यज्ञ को वैदिक वाङ्मय में अध्वर भी कहते थे। ध्वर का शाब्दिक अर्थ है हिंसा, अध्वर अर्थात् अहिंसा। इस यज्ञ का आचरण ही अहिंसाचरण है। अब कौन-सा यज्ञ करते थे वे, जिसे करना ही अहिंसा है? महाभारत के अनुशासन पर्व में संकेत है-

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां ब्रीहिमयः पशुः।
येनायजयन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः।। *(११५/५६)*

अर्थात् पहले के कल्पों में पुण्यलोकपरायण यज्ञकर्त्ता लोग ब्रीहिमय पशु से यज्ञ करते थे। यह ब्रीहि क्या है? ब्रीहि का एक अर्थ धान भी होता है। तो क्या तिल, जौ या धान से यज्ञ करते थे वे, वेदी बनाकर? नहीं, अथर्ववेद के ऋषि बताते हैं, **'प्राणापानौ ब्रीहियवौ अनड्वान प्राण उच्यते।।'** ब्रीहि और यव क्रमशः प्राण और अपान का नाम है, अनड्वान भी प्राण का नाम है अर्थात् वे यज्ञ प्राण और अपान अथवा श्वास और प्रश्वास की क्रिया पर आधारित थे। गीता में श्रीकृष्ण बताते हैं कि इसी यज्ञ के परिणाम में सनातन ब्रह्म है- **'यज्ञशिष्टामृत भुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** *(गीता, ४/३१)* ब्रह्म को प्राप्त महापुरुष सर्वत्र अपनी ही आत्मा को देखकर अहिंसा की बात करता है तो आश्चर्य क्या? श्वास-प्रश्वास का यज्ञ करनेवाला ही वेद की भाषा में शुद्ध अहिंसक है।

अतः पराकाष्ठा की अहिंसा सर्वत्र आत्मदर्शन करनेवाले तत्त्वदर्शी के क्षेत्र की वस्तु है तथा इसका आंशिक उपयोग उसके लिए भी है जो प्राण-अपान के यज्ञ का कर्त्ता हो, पथिक हो, उस पथ का श्रद्धालु हो। जिसने अभी उस पथ पर विचार ही नहीं किया, उसके लिए अहिंसा का क्या उपयोग? जिसने डॉक्टरी में प्रवेश ही नहीं लिया, उसे आपरेशन बॉक्स सौंपने का जो परिणाम होगा कुछ वैसा ही अहिंसा को लेकर हो रहा है। जो नपुंसक है, उसके लिए विवाह मण्डप या मौर-मुकुट का क्या उपयोग?

यही निर्णय योगदर्शनकार का भी है। योग के नाम पर लोग न जाने क्या-क्या करते हैं; किन्तु भगवान श्रीकृष्ण का कहना है (गीता, अध्याय ६/२३) कि जो संसार के संयोग-वियोग से रहित अनन्त आनन्द है उसके मिलन का नाम योग है। इसी योग को महर्षि पतञ्जलि भी बताते हैं कि **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** *(योगदर्शन, १/२)*-

चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना ही योग है। निरोध होने से लाभ क्या है? इस पर कहते हैं, **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'** *(योगदर्शन, १/३)*– उस समय द्रष्टा अपने ही शाश्वत स्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाता है। उस परमात्म-तत्त्व तक जो दूरी तय की जाती है, वहाँ तक की साधना-क्रम के आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इसे अष्टांग योग कहते हैं। इनमें से यम भी पाँच अंगोंवाला होता है- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इस प्रकार योग के आठ अंगों में से एक अंग का उपांग है अहिंसा, तो जिसने योगपथ पर अभी कदम भी नहीं रखा, उसके लिये अहिंसा का क्या उपयोग?

यही गीता (२/१६) में भगवान श्रीकृष्ण का कहना है कि अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत्य वस्तु का तीनों कालों में अभाव नहीं है। आत्मा ही सत्य है, परम सत्य है, अशीर्य है, शाश्वत और सनातन है, सदा रहनेवाला है, इसका कभी अभाव नहीं है और भूतादिकों के सम्पूर्ण शरीर नाशवान् हैं, जिनका अस्तित्व है ही नहीं।

आगे अध्याय दो में ही कहते हैं कि **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'** *(गीता, २/२२)*– पुराने वस्त्र को त्यागकर मनुष्य जैसे नया वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक इसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी यह जीवात्मा शरीररूपी वस्त्र को त्यागकर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। शरीर एक वस्तु है। अब यदि आप पर कोई हमला हो और कोई आपका वस्त्र बचाकर रख ले तो क्या आपकी रक्षा हो गयी? कभी नहीं! हममें जो नश्वर है, अस्तित्वविहीन है, ऐसे वस्तु की रक्षा करने पर भी वह रक्षित नहीं है, उसको तो चला ही जाना है। मान लें, बर्फ का टुकड़ा हथेली पर है, थोड़ी देर में पानी हो जायेगा, जमीन में मिल जायेगा, उसका नामोनिशान तक नहीं रह जायेगा, तो आप बचा क्या रहे हैं? यह तो आपस में दया और सहृदयता का आदान-प्रदान है, संगठित और सुरक्षित रहकर जीने-खाने का एक व्रत है, सामाजिक नियम है, अमूल्य मानव-शरीर की सुरक्षा है- अहिंसा नहीं। अध्याय तीन में तो योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह मूढ़बुद्धि और अविवेकी है, पापायु और व्यर्थ जीनेवाला है जो केवल शरीर के लिए पचता है।

तब अहिंसा है क्या? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना उस शाश्वत सत्य को न किसी ने पाया है और न भविष्य में कोई पायेगा। किन्तु जिसने आत्मा को विदित कर लिया है, जो आत्मा में ही स्थित और उससे ओतप्रोत है, उस पुरुष के लिए कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ देने से उसकी कोई हानि ही है, फिर भी वह महापुरुष पीछेवालों के हित के लिए भली प्रकार क्रिया में बरतता है। निष्काम कर्म माने चिन्तन, आराधना- इसे करके वह आत्मदर्शन की ओर ही तो बढ़ रहा था।

कर्म करते-करते साधना इतनी सूक्ष्म हो गयी कि मन के निरोध के साथ वह आत्मा विदित हो गया, उसी से तृप्त और उसी में भली प्रकार स्थित है, आत्मभाव से परिपूर्ण है, ऐसे महापुरुष के लिए अब कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ देने से कोई हानि ही है; क्योंकि आगे कोई ऐसी सत्ता नहीं, जिसकी वह शोध करे। अब कर्म करके ढूँढ़े भी तो किसको? वह कर्म न करे तब भी उसका कोई नुकसान नहीं; क्योंकि जो पाना था पा लिया- सदा-सदा के लिए पा लिया, फिर भी ऐसी स्थितिवाले महापुरुष पीछेवालों के हित के लिये भली प्रकार क्रिया में बरतते हैं।

ऐसे महापुरुष से अपनी तुलना करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण अपना परिचय देते हैं- अर्जुन! मुझे भी तीनों लोकों में किंचित् कर्त्तव्य शेष नहीं है, प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं है; फिर भी मैं पीछेवालों के हित की इच्छा से भली प्रकार क्रिया में बरतता हूँ। यदि सावधान होकर न बरतूँ तो सारी प्रजा का हनन करनेवाला बनूँ, मारनेवाला बनूँ और वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ। अर्थात् श्रीकृष्ण एक योगी थे, योगेश्वर थे। आत्मभाव में परमतत्त्व में स्थित परमात्मस्वरूप थे। वे कहते हैं- यदि मैं सावधान होकर क्रिया में न बरतूँ और बरतते हुए पीछेवालों को क्रिया में न बरताऊँ तो सारी प्रजा की हत्या करनेवाला बनूँ, वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ।

जीवात्मा का शुद्ध वर्ण परमात्मा है और क्रिया के द्वारा ही वह स्वरूप पाना सम्भव है। यदि महापुरुष पीछेवालों को उस पर न चलावें तो सबलोग आत्मपथ से भटक जायेंगे, प्रकृति में मिश्रित हो जायेंगे। यह मिश्रण ही वर्णसंकर है। वे अपने आत्मपथ से च्युत हो जायेंगे- यही हनन है, मृत्यु है, यही है हिंसा और उस स्वरूप की ओर बढ़ना शुद्ध अहिंसा है। सच पूछिये तो सबसे बड़े अहिंसक वे महापुरुष हैं जो तत्त्व में स्थित होकर भी क्रिया करते हुए सबको अपने पीछे चलाते हैं। वे सब भ्रान्तियों से निकालकर आत्मा को जगाते हैं, जागृत करने के बाद उसे आत्मपथ पर चलाते हैं। शनैः-शनैः चलते-चलते साधक अपने स्वरूप को विदित कर लेता है, स्थिति पा लेता है, ऐसा जन्म पा लेता है जिसके पीछे मृत्यु नहीं है। यही शुद्ध अहिंसा है। शुद्ध अहिंसा का पालन करनेवाले आप ही हो जायँ तो आप भी अहिंसक हैं। इस प्रकार वे सबकी रक्षा करते हैं और यदि न चलावें तो वे भी हत्यारे हैं। अतः श्रीकृष्ण के अनुसार, अपने स्वरूप की ओर बढ़ना-बढ़ाना अहिंसा है और उससे च्युत होना हिंसा है।

गीता के छठें अध्याय में योगेश्वर कहते हैं- अर्जुन! आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु है। जिस पुरुष के द्वारा मनसमेत इन्द्रियाँ जीत ली गई हैं उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परमकल्याण करनेवाली होती है और जिस पुरुष के द्वारा इन्द्रियाँ नहीं जीती गयी हैं उसके लिये उसी की आत्मा शत्रु है, शत्रु बनकर

शत्रुता में बरतती है, इसलिए पुरुष को चाहिए कि अपने द्वारा ही अपना उद्धार करे, अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे। आत्मा को अधोगति में पहुँचाना, प्रकृति की अनन्त योनियों मे फेंकना हिंसा है और इसका उद्धार, आत्मभाव की प्राप्ति ही अहिंसा है। 'मानस' के अनुसार-

जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ।। *(७/४४)*

नर शरीर पाकर जो भवसागर का पार नहीं पा लेता वह मन्दबुद्धि है, कृत-निन्दक है अर्थात् कर सकता है किन्तु टालता रहता है, वह अपनी आत्मा का हत्यारा है, हिंसक है। भवसागर को पार न करना आत्महत्या है, जघन्य हिंसा है और भवसागर का पार पाना अहिंसा है।

अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार महापुरुष द्वारा पीछेवालों को आत्मपथ पर चलाना, जिसे छान्दोग्य के ऋषि आत्मयज्ञ की दक्षिणा कहते हैं, यही सामूहिक अहिंसा है और प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है कि अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, यही व्यक्तिगत अहिंसा है। साथ ही अहिंसाव्रती को चाहिए कि पड़ोसी के प्रति सहृदयता और प्रेम रखे। इतने से ही वह भी अहिंसा के पथ पर चल देगा और आप चलानेवाले होंगे।

बाह्य मारकाटजन्य हत्या के विषय में श्रीकृष्ण का क्या दृष्टिकोण है? यह क्या है? इस पर कहते हैं (गीता अध्याय १८ में)- अर्जुन! शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक कार्य के होने में पाँच माध्यम हैं- कर्त्ता यह मन है, कारण इन्द्रियाँ, नाना प्रकार की चेष्टाएँ, आधार अर्थात् साधन (क्योंकि चेष्टाएँ अनन्त होती हैं किन्तु जिस इच्छा के साथ आधार मिल जाता है वही इच्छा पूरी होने लगती है) और पाँचवाँ (हेतु) दैव है। दैव माने होनहार, संस्कार, पहले का किया हुआ कर्म। शुभ अथवा अशुभ के होने में यही पाँच माध्यम हैं। चाहे आप शाश्वत परमात्मा की ओर इष्टोन्मुख दौड़ लगायें या प्रकृति की ओर भटक जायँ- यही पाँच माध्यम हैं। इतने पर भी जो कैवल्यस्वरूप परमात्मा को कर्त्ता देखता है, कहता है, वह मूढ़बुद्धि यथार्थ को नहीं जानता। इसके अगले ही श्लोक में कहते हैं कि अर्जुन! जो पुरुष जानता है कि यही पाँच माध्यम हैं, भला वह कैसे किसको मारता है और कैसे किसको मरवाता है? सम्पूर्ण लोकों को मारकर भी न तो वह पाप से बँधता है और न कर्मों से ही बँधता है।

अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार, बाहरी मारकाट मात्र सामाजिक समस्या और बदले हैं, शान्ति और व्यवस्था का प्रश्न है। समाज में जो संगठित रहेगा वह सबल है, जो फूट से रहेगा वह दुर्बल है। जो आविष्कारक है, बुद्धिजीवी है वह सबल है और जो शरीर का ही बल रखता है, वह दुर्बल है। भीम के पास शारीरिक बल था; किन्तु अनेक

अवसरों पर मेधावी युधिष्ठिर ने उसे बचाया। अर्जुन ने भी उसे बचाया; क्योंकि उसके पास दिव्यास्त्र थे, आविष्कार था। विधि जानने के कारण अभिमन्यु चक्रव्यूह के सातवें फाटक तक पहुँच गया; किन्तु बाहुबल का भरोसा रखनेवाला भीम गदा भाँजता ही रह गया। जहाँ शरीरबल के साथ बुद्धिबल है, संगठन भी है, वहीं बलवान है और जहाँ फूट अधिक है, वहीं गुलाम है। अफ्रीका में कबीले अधिक हैं, फूट अधिक है। अफ्रीका आज भी गुलाम है। अस्तु संगठन अपेक्षित है।

यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण का कहना है कि यह जो बाहरी मारकाट है, यह न पाप है न पुण्य है। हाँ, यह सामाजिक दायित्व अवश्य है। एक दूसरे के लिए सहृदय और आत्मवान् होना ही चाहिए। जो आपको क्षति नहीं पहुँचाते, उनकी अकारण हत्या क्यों करेंगे आप? पशुओं से अलग रहकर इस मानव-समाज ने अभी तक इतनी ही तो सभ्यता सीखी है। परस्पर सहायता करनी ही चाहिए। सहायता के द्वारा ही **'लोक लाहु परलोक निबाहू।'** *(मानस, १/१६/२)*- उभयमुखी विकास सम्भव है, हम-आप बढ़ सकते हैं। किन्तु भौतिक समृद्धि भी शाश्वत शान्ति नहीं दे सकती। जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, दुःख और दोषों से व्यथित होकर ही हमारे पूर्वज शाश्वत आनन्द की खोज में निकले और जब उन्होंने उसकी प्राप्ति की विधि का अन्वेषण कर लिया तो शोध के इस परिणाम को अपने तक ही सीमित न रखकर प्राणिमात्र में इसके प्रचार-प्रसार के लिए वे अधीर हो उठे- **'पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता।'** *(मानस, ७/१२४/८)* मनुष्य में ही परमात्मा के शोध की सबसे अधिक क्षमता देख, ऋषियों ने उसे सृष्टि में सर्वोपरि स्थान दिया। **'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।'** पत्थर-पानी, गाय-बकरी कुछ भी तो मनुष्य से बढ़कर नहीं है। इसीलिये आप्तकाम ऋषियों ने स्वयं कष्ट उठाकर भी मानव-मानव तक पहुँचने, उन्हें उद्‌बोधित करने और उनकी सुरक्षा तथा सेवा को भी अहिंसा के अन्तर्गत लिया; क्योंकि यदि मनुष्य जीवित ही न रहा तो अहिंसा के मार्ग पर, आत्मोद्धार के मार्ग पर चलेगा ही कौन? आत्मोद्धार के लिये ही उन्होंने शरीर-रक्षा, परस्पर सहयोग और सहृदयता की बात पर बल दिया। अस्तु, शरीर की रक्षा आवश्यक है किन्तु अहिंसा नहीं है।

एक बार भ्रमण करते-करते हम नैमिषारण्य चले गये। वहाँ एक हत्याहरण कुण्ड है, जिसके पास नौ-दस कन्याएँ सुन्दर वस्त्र पहनकर पान चबाती हुई चारपायी पर बैठी थीं। लोग कुण्ड में स्नान करके, कन्याओं का चरण छूकर और दक्षिणा चढ़ाकर पापमुक्त हो रहे थे। आसपास पण्डे घूम-घूमकर लोगों को बुला रहे थे। कुछ दूरी पर खड़े होकर हम भी यह तमाशा देख रहे थे। तब तक लट्ठधारी कुछ तीर्थ-पुरोहित हमारी ओर भी आये, बोले- ''इधर आइये! कुण्ड में स्नान करके कन्या का चरण स्पर्श कीजिए और

जन्मभर की हत्याओं से मुक्त हो जाइये।'' हम बोले, ''भाई! हमने तो कोई हत्या नहीं की।'' वे बोले, ''वाह! ऐसा कैसे हो सकता है। आप नैमिषारण्य में पैदल घूम रहे हैं, पता नहीं कितनी चींटियाँ पाँव से दबकर अकाल मौत को प्राप्त हुई होंगी। हत्या से कौन बचा है?'' हमने कहा, ''भाई! मरी होंगी तो अपनी मौत से, हमने निशाना साधकर तो किसी के ऊपर पैर नहीं रखा। भगवान ने हमारे पैर को उनकी ओर और उन्हें हमारे पैर की ओर बढ़ाया होगा, क्योंकि **'हानि लाभ जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ।'** ***(मानस, २/१७१)*** यह तो उसकी व्यवस्था है। इसमें हम क्या कर सकते हैं? जिसका जब नम्बर आ जायेगा, जाना ही पड़ेगा। एक श्वास भी अधिक नहीं ले सकता। जिस शरीर को जिस कारण से नष्ट होना पहले से नियत है तो अकाल मौत कैसी? काल आया ही नहीं तो मारेगा कौन? तब तो संसार के अधिकांश महापुरुष अकाल मौत ही मरे?'' किन्तु वे पण्डे माननेवाले नहीं थे। उन्हें तो दक्षिणा से मतलब था। बोले, ''अच्छा स्नान न कीजिए, कन्या के चरण ही छू लीजिये!'' हमने कहा, ''बस इतना ही तो गुरु महाराज ने मना किया है कि जो स्त्री का दर्शन करता है, देखी हुई स्त्री का स्मरण करता है, स्पर्श करता है, सम्भाषण करता है, वह संन्यासी एक दिन संन्यासी नहीं रह जायेगा। छूएँगे तो मन में किसी प्रकार की हत्या जरूर लग सकती है, क्षमा करेंगे।'' पण्डे तुरन्त घूमकर दूसरी ओर बढ़ गये; सोचा और भी ग्राहकों को फोड़ न लें। अतः नश्वर शरीर के लिए प्रयत्न करना अहिंसा नहीं। आत्मस्वरूप की रक्षा ही अहिंसा है, आत्मा को अधोगति में ले जाना ही हिंसा है।

क्या खायें और क्या न खायें?- इस पर गीता (अध्याय १७) में श्रीकृष्ण कहते हैं, अर्जुन! भोजन तीन प्रकार का है। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले रसयुक्त चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही हृदय को प्रिय लगनेवाले भोज्य पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं। कड़वे, खट्टे, अधिक नमकीन, अत्यन्त गर्म, तीखे, रूखे, दाहकारक और रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं तथा जो भोजन एक प्रहर अर्थात् तीन घण्टे पहले का बना है, '**गतरसं**'- रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा और अपवित्र है, वह तामस पुरुष को प्रिय होता है। अर्जुन! संसारभर में भोजन तीन प्रकार का ही है, जो सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होता है। उन्होंने यह नहीं कहा कि प्याज मत खाओ, लहसुन या गाजर मत खाओ।

जहाँ तक हृदय को प्रिय लगने का प्रश्न है, बंगालियों को मछली, मद्रासियों को चावल, पंजाबियों को रोटी, यूरोपियन्स को बीफ, अरेबियन्स को दुम्बा और सामान्यतः भारतीयों को सब्जियाँ प्रिय लगती हैं। विकासोन्मुखी बुद्धि में विदेशी भी पीछे नहीं हैं।

आरोग्यता और लम्बी आयु में भी विश्वस्तरीय आँकड़े उनके अच्छे हैं। गीता के अनुसार आयु, बल, बुद्धि बढ़ानेवाला प्रत्येक भोज्य पदार्थ सात्त्विक है। जिस किसी आहार में उपर्युक्त गुण हो, वही आप लें।

योगेश्वर का आशय केवल इतना है कि समाज में और भजन के लिए भी स्वस्थ शरीर आवश्यक है। प्राचीन योगी इसीलिए आसन करते थे। बुद्ध सम्यक् व्यायाम को योग का आवश्यक अंग मानते थे और रोगों से किसी भी प्रकार मुक्ति पाकर यथाशीघ्र भजन में लगने के लिये भगवान श्रीकृष्ण युक्ताहार-विहार पर बल देते हैं। वे कहते हैं- अर्जुन! यह योग न बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवाले का ही सिद्ध होता है। अधिक भोजन से आलस्य, निद्रा और प्रमाद घेरेंगे। भोजन छोड़ देने से इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी, चिन्तन में बैठने की क्षमता नहीं रहेगी। अतः वही आहार लें, जो चिन्तन में सहायक हो।

इसी तथ्य को समझकर महात्मा बुद्ध ने अहिंसा पर बल तो दिया; किन्तु भोजन के कड़े नियम नहीं बनाये। उनका चचेरा भाई देवदत्त था। उसने कहा, ''भन्ते! जब आप अहिंसा के पुजारी हैं तो भोजन के कड़े नियम क्यों नहीं बनाते?'' भगवान बुद्ध बोले, ''मैं कड़े नियम नहीं बना सकता। तुम अमीरों की तरह ये गरीब लोग पौष्टिक आहार नहीं जुटा पाते। इन्हें जो चिड़िया-चंगुल, मछली आदि मिल जाती है, उसी को खाकर जीवन-बसर करते हैं। यदि कड़े नियम लग जायेंगे तो ये लोग भूखों मर जायेंगे।'' देवदत्त ने पुनः प्रश्न किया, ''भगवन्! तब भिक्षु क्या भोजन करे?'' उत्तर मिला, ''भिक्षु वही भोजन करे, जो गृहस्थ के घर में बना हो। उनके लिये अलग से कोई व्यवस्था न करे। ऐसी व्यवस्था करने में उन्हें कष्ट होगा। हो सकता है, उनकी गृहस्थी की परिस्थितियाँ विपरीत होने लगे तो भिक्षु बोझ हो जायेगा।''

देवदत्त अभी शंकालु था। उसने परखना चाहा कि गौतम की कथनी और करनी में कितना अन्तर है। उसकी प्रेरणा से गौतम को भी एक बार 'सूकरमद्दव' खाना पड़ा। सिद्धान्त के लिए उन्होंने अपनी बलि तक दे दी। इसी भोजन से वे बीमार पड़ गये, उनका शरीरान्त हो गया; क्योंकि वैसा भोजन उन्होंने खाया ही कब था? उन्हें देता भी कौन? अतः क्या खायें, क्या न खायें?- इसका अहिंसा से कुछ मतलब नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि जो कुछ मिलता जाय, उसे आप उदरस्थ कर लें। निष्ठा से च्युत लोगों का आचरण प्रमाण नहीं हो जाता। महापुरुष के आचरण की नकल न करें, बल्कि वह जो कहता है उसे करें। पूज्य महाराजजी के जीवन की एक घटना है- नंग-धड़ंग विचरण करते हुए एक बार वे बम्बई की गलियों से गुजर रहे थे। लोग अभी सो रहे थे। सबेरा होने को था। एक महिला दूसरी मंजिल से सड़क पर कुछ फेंकने जा

रही थी। महाराजजी पर दृष्टि पड़ते ही बोली, ''ओ बाबाजी! लोगे, पराठे हैं?'' महाराजजी ने सोचा- बिना माँगे मिल रहा है, यही दूधभिक्षा है। खड़े हो गये। वह नीचे आयी और हाथ में बढ़ा दिया चिकने-चिकने तीन-चार पराँठे और उस पर घुँइयाँ-जैसी सब्जी।

चिन्तन में अनवरत लीन रहनेवाले महाराजजी ने चलते-चलते एक ग्रास मुँह में डाला तो चौंके! मछली-जैसा स्वाद मिला। बचपन में खाते थे, स्वाद पकड़ में आ गया। विचार करने लगे कि साधु को मांस-मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए। इसने बिना माँगे दे दिया, एक प्रकार से यह दूधभिक्षा है। बिना माँगे जो मिले, उसका त्याग भी नहीं करना चाहिए। हमने तो माँगा भी नहीं था, भगवान ने यह क्यों दिला दिया? खायें अथवा न खायें? कभी मन करता था फेंक दें तो कभी विचार आता था कि बिना माँगे मिला है। इसी ऊहापोह में मीलों निकल गये। ग्रास मुख में ही था। अन्त में महाराजजी ने उसे फेंक दिया। एक नल पर मुँह धोने लगे। बगल में पान की एक दूकान थी। दूकानदार दौड़कर आया, बोला- लीजिए सन्तजी पान खा लीजिए! महाराजजी ने लिया और आगे बढ़ गये। मुँह शुद्ध हो गया।

हमने कुतूहलवश पूछा कि महाराजजी! आपको मछली मिली क्यों? उन्होंने बताया, ''जब मैं रेलगाड़ी में बैठकर बम्बई जा रहा था, तो बगल की सीट पर एक मुसलमान यात्री मछली खा रहा था। मेरे मन में आया कि मछली खाने का ढंग तो यह है, ऐसे पकड़ते हैं, ऐसे खाते हैं। भगवान ने भी देखा कि भजन छोड़कर मछली का चिन्तन कर रहा है, इसीलिये भगवान ने उसे दिलाकर उससे निवृत्ति पैदा करा दी।'' अतः जो घर-द्वार छोड़कर सन्त हो गये हैं, जो सतत चिन्तनपरायण हैं, उनके अनुकूल माँस-मदिरा नहीं है।

एक समय महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों के साथ एक ग्राम के समीप से गुजरे। ग्रामवासियों ने निवेदन किया, ''भन्ते! आप इस मार्ग से न जायँ। इधर एक भयंकर सर्प रहता है, जो पचासों को काट चुका है। वे सभी मृत्यु के ग्रास बन गये। हम लोगों ने तो यह रास्ता ही छोड़ दिया है। कोई भूला-भटका चला जाता है तो दुर्घटना हो ही जाती है।'' बुद्ध उसी गाँव में रुक गये।

महात्मा बुद्ध का एक शिष्य आरम्भिक जीवन में सँपेरा रह चुका था। वह चुपके से उसी रास्ते की ओर बढ़ा, जिधर साँप था। ग्रामवासियों के रोकने पर उसने बताया, ''मैं नाग को वश में करना जानता हूँ।'' लोगों ने उसे जाने दिया। पदचाप सुनते ही सर्प फुँफकारते हुए अपने स्थान से चला। भिक्षु ने ज्योंही सर्पविद्या का प्रयोग किया, सर्प शिथिल पड़ने लगा। अन्ततः भिक्षु ने उसे पकड़ लिया, उसके दाँत तोड़ डाले, विष-ग्रन्थि निकाल ली और केंचुए के सदृश उस साँप को जमीन पर जिन्दा फेंक दिया।

गाँववाले बहुत प्रभावित हुए। कहने लगे, ''भन्ते! आपने हमें महान् संकट से उबारा है। बतायें, हम कौन-सी सेवा करें, क्या खिलायें?'' भिक्षु ने कहा, ''यदि आपलोग प्रसन्न ही हैं तो अंगूर की शराब पिलाइये।'' तुरन्त व्यवस्था हुई। सबने मात्र चखा; किन्तु उस भिक्षु ने अधिक ले लिया, निश्चेष्ट होकर गिर पड़ा। भक्तों ने उसे उठाया। बुद्ध के पास ले गये। उसका सिर बुद्ध के चरणों में रखकर लिटा दिया। बोले, ''भन्ते! इसी ने नाग को वश में किया है किन्तु अधिक शराब पीने से अपनी चेतना खो बैठा।'' इतना शब्द कान में पड़ते ही वह भिक्षु आवेश में उठा; किन्तु दूसरे ही क्षण अपना पैर बुद्ध के चरणों से सटाकर पुनः निश्चेष्ट लेट गया।

तब बुद्ध ने पूछा, ''भिक्षुओ! क्या यह वही भिक्षु है, जिसने नाग को वश में कर लिया था?'' ''हाँ भन्ते!'' ''क्या इस हालत में भी यह नाग को वश में कर सकता है?'' ''नहीं भन्ते!'' ''भिक्षुओ! यदि वह नाग इसे अब मिलता, तब क्या होता?'' ''भन्ते! तब यह मारा जाता।'' तब बुद्ध ने कहा, ''आबुसो! इसीलिये मैं तुमलोगों के लिए माँस-मदिरा का निषेध करता हूँ। इनका प्रयोग स्मृति को लुप्त कर देता है। स्मृति ही कवच है। जो स्मृति के साथ चलता है, उठता है, बैठता है, चिन्तन करता है, वह कभी धोखा नहीं खाता। वह स्मृति के साथ ही आगे बढ़ जाता है। माँस-मदिरा चिन्तन के विपरीत मनोभावों को जन्म देते हैं, चिन्तन में बाधक हैं, इसीलिये चिन्तनपरायण पुरुषों के लिए इनका निषेध है, न कि यह पाप या पुण्य, हिंसा अथवा अहिंसा है। यह आध्यात्मिक पथ में अवरोध हैं, उसकी प्रगति शिथिल करते हैं।''

पूज्य महाराजजी इस सम्बन्ध में एक कथानक सुनाया करते थे। एक महात्मा थे। जीवनभर उन्होंने भजन ही किया था। उनकी कुटिया के सामने एक तालाब था। जब उनका शरीर छूटने का समय आया, तो देखा कि एक बगुला मछली मार रहा है। उन्होंने बगुले को उड़ा दिया। इधर उनका शरीर छूटा तो नरक गये। उनके चेले को स्वप्न में दिखायी पड़ा; वे कह रहे थे- ''बेटा! हमने जीवनभर कोई पाप नहीं किया, केवल बगुला उड़ा देने मात्र से नरक आना पड़ा। तुम सावधान रहना।''

जब शिष्य का भी शरीर छूटने का समय आया, तो वही दृश्य पुनः आया। बगुला मछली पकड़ रहा था। गुरु का निर्देश मानकर उसने बगुले को नहीं उड़ाया। मरने पर वह भी नरक जाने लगा, तो गुरुभाई को आकाशवाणी मिली कि गुरुजी ने बगुला उड़ाया था, इसलिए नरक गये। मैंने नहीं उड़ाया, इसलिये नरक में जा रहा हूँ। तुम बचना!

गुरुभाई का शरीर छूटने का समय आया, तो संयोग से पुनः बगुला मछली मारता दिखाई पड़ा। गुरुभाई ने भगवान को प्रणाम किया कि भगवन्! आप ही मछली में हैं और आप ही बगुले में भी। हमें नहीं मालूम कि इसमें क्या झूठ है, क्या सच है? कौन पाप

है, कौन पुण्य? आप अपनी व्यवस्था देखें। मुझे तो आपके चिन्तन की डोरी से प्रयोजन है। वह शरीर छूटने पर प्रभु के धाम गया।

नारदजी ने पूछा, ''भगवन्! अन्ततः वे नरक क्यों गये ? महात्माजी ने बगुला उड़ाकर कोई पाप तो नहीं किया?'' उन्होंने बताया, ''नारद! उस दिन बगुले का भोजन वही था। उन्होंने उसे उड़ा दिया। भूख से छटपटाकर बगुला मर गया अतः पाप हुआ, इसलिए नरक गये।'' नारद ने पूछा, ''दूसरे ने तो नहीं उड़ाया, वह क्यों नरक गया?'' भगवान बोले, ''उस दिन बगुले का पेट भरा था, वह विनोदवश मछली पकड़ रहा था, उसे उड़ा देना चाहिए था। शिष्य से भूल हुई, इसी पाप से वह नरक गया।'' नारद ने पूछा, ''और तीसरा?'' भगवान ने कहा, ''तीसरा अपने भजन में लगा रह गया, सारी जिम्मेदारी हमारे ऊपर सौंप दी। जैसी होनी थी, वह हुई; किन्तु मुझसे सम्बन्ध जोड़े रह जाने के कारण, मेरे ही चिन्तन के प्रभाव से वह मेरे धाम को प्राप्त हुआ।'' अतः-

पाप पुण्य की करे न आसा। सो पहुँचे रघुनायक पासा।।

पाप-पुण्य की चिन्ता में समय को न गँवाकर जो निरन्तर चिन्तन में लगा रहता है, वह पा जाता है। भगवान का भजन ही पुण्य है, बाकी सब पाप है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** *(गीता, ३/९)*- यज्ञ के अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है वह इसी लोक में बाँधकर रखनेवाला है, जिसमें खाना-पीना सभी कुछ आ जाता है। जब बन्धनकारी हर कार्य कर ही रहे हैं तो हत्या की ही इतनी चिन्ता क्यों? वह नियत कर्म कीजिये जो भव-बन्धन से छुड़ा दे।

श्रीमद्भागवत महापुराण का निर्णय है कि सृष्टि में सभी जीव एक दूसरे के आहार हैं। हाथवालों के लिये बिना हाथवाले आहार हैं, पैरवालों के लिये बिना पैरवाले आहार हैं- इस प्रकार चराचर जगत् आहार है। दुर्बल सबलों का आहार है। सबल वही है जो संगठित है, दुर्बल वही है जो असंगठित है। अतः आपसी बिखराव के कारणों को खत्म करें, कन्धा से कन्धा मिलाकर चलें, शूरवीर बनें। जहाँ तक खाने और न खाने का प्रश्न है- यह देश, काल और आविष्कारों के अनुसार परिवर्तनशील है। कभी लोग कच्चा माँस खाते थे; किन्तु आज! हिमालय की उपत्यका से गुजरते ही गर्म पेय और रेगिस्तान के टीलों पर शीतल पेय की आवश्यकता महसूस होने लगती है- यह निर्धारण प्रकृति की देन है। यह न तो अहिंसा है और न धर्म से ही सम्बन्धित है।

हाँ, राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि महापुरुषों ने समाज को आत्मिक पथ पर चलाने के लिये सुधार का जो प्रयास किया, वह भी एक अहिंसा थी। इस चिन्तन-पथ में आन्तरिक विकारों के साथ बाह्य विरोधी विचारधाराओं को नष्ट करना ही अहिंसा है। नास्तिकता को आस्तिकता में बदलना अहिंसा है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार- जो

आत्मपथ पर नहीं चलता वह अपनी आत्मा का हत्यारा है, जो महापुरुष नहीं चलाता वह भी हत्यारा है और जो आत्मपथ पर चलने नहीं देते, वे तो सबसे बड़े हत्यारे हैं। समाज का एक वर्ग हमेशा से आत्मपथ का विरोध करता चला आ रहा है। वह कहता है कि ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। स्त्री और पुरुष के संयोग से सृष्टि उत्पन्न है- इतना ही सत्य है। अतः खाओ-पीओ और मौज करो- जो इस विचारधारावाले हैं, वे आत्मा की हत्या करनेवाले हैं। साथ ही जो रूढ़ियों के पुजारी हैं, वे भी आपको परमात्मा के स्वरूप से वञ्चित कर रहे हैं, परमात्मा से दूरी पैदा करनेवाले हैं। उन्हें न मारकर केवल उनका हृदय बदलना भी अहिंसा का एक बहुत बड़ा अंग है।

परमदेव परमात्मा के देवत्व से दूरी पैदा करनेवाले आसुरी प्रवृत्ति के लोगों को नष्ट करने के लिए महापुरुषों ने दोनों तरीके अपनाये। जहाँ तक हो सका ऐसे लोगों का हृदय-परिवर्तन किया और जो किसी भी प्रकार से सुधरने को तैयार नहीं थे, चिन्तन-पथ में व्यवधान उपस्थित कर रहे थे उनका उन्होंने मूलोच्छेदन कर डाला। धर्मप्रचार के लिये शस्त्र के प्रयोग में राम की नकल (समानता) कुछ कबीलों ने की। ईसाइयों ने हृदय-परिवर्तन गौतम बुद्ध से सीखा; किन्तु वे इसके बदले सिखा क्या रहे हैं? मात्र कुरीतियाँ! काले-गोरे का अन्तर! क्योंकि परमात्मा की प्राप्ति की विधि को क्रमबद्ध बताने का तथा समाज को उस पथ पर चलाने का मौका न तो अल्लाह के रसूल को ही मिला और न महात्मा ईसा को ही।

हृदय-परिवर्तन प्रत्येक महापुरुष के क्षेत्र की वस्तु है; लेकिन तलवार के घाट उतारना, यह अवतार के अधिकार-क्षेत्र की बात है। अवतार भी महापुरुष ही है, आकाश से उतरा कोई विचित्र या काल्पनिक जीव-विशेष नहीं। मनुष्य-शरीर से ही साधन करके उन्होंने यह स्थिति पायी है। वस्तुतः प्राप्तिकाल में सभी महापुरुषों को परमात्मा की एक-जैसी अनुभूति मिलती है; किन्तु साथ ही समाज के संस्कारों के अनुरूप कुछ कार्यों की जिम्मेदारी भगवान उन्हें सौंप देते हैं, उन्हें विशेषाधिकारसम्पन्न कर देते हैं। जिस महापुरुष को जिस सीमा तक लोककल्याण करना रहता है उतनी भूमिका (रोल) निभाकर वह संसार के रंगमंच से तिरोहित हो जाता है। यह तो उन प्रभु का चयन है कि किससे कितना कार्य ले।

प्राप्ति और स्थिति की दृष्टि से भी सभी महापुरुष समान हैं; किन्तु समाज में उनकी भूमिका के अनुसार महापुरुषों की रहनी अलग-अलग प्रतीत होती है। अवतार चौबीस ही नहीं, अनन्त हुए हैं। आपके अन्दर भी अवतार सम्भव है- यदि आत्मानुभूति कर लें और वैसा समाज हो। समाज में उनके कार्यों का आकलन कर हम किसी को छोटा और किसी को बड़ा अवतार मान बैठते हैं; किन्तु आन्तरिक उपलब्धि की दृष्टि

से सभी महापुरुष एक-जैसे हैं। जब आसुरी प्रवृत्तियाँ चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं, समाज रूढ़िप्रधान हो जाता है, समझाने से भी नहीं समझता, समझना चाहता ही नहीं, उस समय विशेषाधिकारसम्पन्न महापुरुष का उदय होता है जिसे पूर्व मनीषियों ने अवतार की संज्ञा दी है। भगवान राम और श्रीकृष्ण ने समाज-सुधार के लिए दोनों उपायों का प्रयोग किया। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को देख असभ्य वनवासी भी धार्मिक हो गये। आदिवासियों ने स्वयं कहा-

सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ।
यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ।। *(मानस, २/२५०/६)*

मनुष्यों की तो बात ही क्या! राम ने तो बानर और भालुओं तक का हृदय-परिवर्तन कर दिया। **'जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे।। ते सब भये परम पद जोगू।'** *(मानस, २/२१६/१-२)* उन महापुरुष की दृष्टि जड़-चेतन जिस किसी पर पड़ी, उनमें परमपद प्राप्त करा देनेवाली क्रिया जागृत हो गयी। यही तो महापुरुष का दायित्व है, अहिंसा है। वास्तव में हृदय की आसुरी वृत्तियों के स्थान पर दैवी सम्पद् के गुणों को स्थापित करना, एक परमात्मा की ओर अग्रसर करा देना ही हृदय-परिवर्तन है और इसके माध्यम से हमारे पूर्व महापुरुषों ने समाज में एक नयी विधा का सूत्रपात किया कि पापी को नष्ट किये बिना भी पाप का उन्मूलन किया जा सकता है। यह सदैव स्मरणीय है कि केवल भगवान के भजन से ही पाप नष्ट होते हैं। **'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।'** *(मानस, २/१८२/६)*- जो उनसे शत्रुभाव रखते थे, राम की दृष्टि उनके भी वास्तविक कल्याण पर ही रहती थी। इसीलिए **'बैरिउ राम बड़ाई करहीं।'** *(मानस, २/१६६/७)*- बैरी भी उनकी प्रशंसा ही करते थे।

योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि साधनपाद के पैंतीसवें सूत्र में अहिंसा की महत्वपूर्ण कसौटी बताते हैं कि **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'** जब अहिंसा भली प्रकार प्रतिष्ठित हो जाती है, तो उस योगी के सम्पर्क में सभी प्राणी बैर का त्याग कर देते हैं। वह सहिष्णु ही नहीं, जयिष्णु भी हो जाता है। उस महापुरुष में सबको सँभालने की क्षमता और सबके कल्याण की तड़प रहती है।

यह अहिंसा भगवान राम में पूर्ण प्रतिष्ठित थी। मनुष्य तो उन्हें आँखों में बसाने के लिए लालायित थे ही, उनके सान्निध्य में **'करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा।।'** *(मानस, २/१३७/१)* या **'खग मृग सहज बयरु बिसराई।'** *(मानस, ७/२१/२)* वन्य पशु भी अपनी बर्बरता को खो देते थे। इतना ही नहीं **'जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी।।'** *(मानस, २/२६१/८)*- जहरीली नागिन भी उन्हें देखकर अपना विष त्याग देती थी।

उन्हीं अहिंसक राम के बार-बार समझाने और सन्देश भेजने पर जिनका हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ, उन सबको राम ने काट डाला- **'रहा न कुल कोउ रोवनिहारा।'** *(मानस, ६/१०३/१०)* अयोध्यावासियों तक को वे आत्मिक पथ पर चलने और भवसागर पार कर लेने के लिए प्रेरित करते हैं। आत्मपथ से विमुख लोगों को चेतावनी भी देते हैं- **'काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता।।'** *(मानस, ७/४०/५)* अतः अहिंसा का यह अर्थ नहीं है कि किसी को मारो मत या पीड़ा न पहुँचाओ। अहिंसा का अर्थ है शाश्वत स्वरूप की उपलब्धि और उस तक पहुँचने के लिये निर्धारित क्रिया का आचरण! इस अहिंसा के रास्ते में जो व्यवधान डालता है- आप चलना चाहते हैं कोई चलने नहीं दे रहा है, उसका विनाश कर देना एक अहिंसा है। और विनाश भी क्या होना है? आत्मा एक वस्त्र बदलेगा फिर वह आपके ही रास्ते पर, जहाँ से साधन छोड़ा था, आ जायेगा। अहिंसक जितना कोमल होता है, कदाचित् उससे भी अधिक कठोर होता है-

कुलसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर, समुझि परइ कहु काहि।। *(मानस, ७/१६ ग)*

अहिंसा कायरता नहीं है, कायरता तो हिंसा से भी खराब है। कायर बदला लेना तो चाहता है किन्तु मरने से डरता है, चाहता है उसकी रक्षा दूसरे लोग कर दें; किन्तु अहिंसक लोक-कल्याण की भावना से प्राणोत्सर्ग तक के लिए भी तैयार रहता है। विश्व की महानतम विभूतियाँ मानवता के कल्याण के लिए अपनी बलि देने में पीछे नहीं रहीं। अहिंसा का व्रती धर्म की रक्षा और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सिर देने के लिए सदैव तैयार रहता है और स्वभावजन्य जड़ता का किसी भी प्रकार अन्त न देखकर सिर उतार भी लेता है।

आपको पुनः स्मरण दिला दें कि आत्मपथ के विरोधी विजातीय समाज को तलवार के घाट उतारना जनसामान्य का विषय नहीं है। जनसामान्य के लिये अहिंसा या अहिंसा की प्रतिष्ठा है भी नहीं। यह स्वरूप द्वारा आदेश पानेवाले महापुरुष के क्षेत्र की बात है, जिनको विशेष अधिकार था कि वैसे मुक्ति नहीं मिली तो ऐसे ही दे दिया। रावण का तेज राम में समा गया, कुम्भकर्ण का तेज राम में समा गया। श्रीकृष्ण ने कंस और शिशुपाल को मारा तो उनका तेज कृष्ण में समा गया।

यही हजरत मुहम्मद साहब ने मुसलमानों को सिखाया कि जो एक परमात्मा और एक गुरु को न माने, या तो उसे काट दो या अपने में मिला लो; किन्तु तत्कालीन समाज के बहुत कम लोगों ने उनके आशय को समझने का प्रयास किया। अधिकांशतः केवल शब्दों पर चले गये। मुहम्मद साहब पर तो आयतें उतरती थीं, वे खुदा की आवाज़ सुनते थे। (यह नितान्त व्यक्तिगत बात है, जो परमात्मा की आवाज़ सुनता है, उसके क्षेत्र की

बात है, अन्य के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है।) उनकी मौजूदगी तक तलवार उठाने की बात जायज़ थी, किन्तु बाद में उनके अनुयायी भी उन्हीं विशेषाधिकारों की नकल करने लगे। धर्मप्रचार की सनक में वे सबको अपने रहन-सहन में भी ढालने का प्रयास करने लगे, जो समाज में कलह का कारण बना। समाज का रहन-सहन, खानपान या वेशभूषा धर्म नहीं है। इसका पालन इन्द्रियों और मन अथवा अन्तःकरण की क्रियाओं से होता है। भजन मानसिक होता है। आपके बगल में बैठा व्यक्ति भी नहीं जान सकता कि आप कब भजन कर रहे होते हैं।

आत्मिक शोध की विधि के प्रश्न पर संसार के सभी महापुरुष एक मत हैं और वह विधि भी केवल इतनी है कि (१) सर्वत्र व्याप्त एक परमात्मा में श्रद्धा, (२) उस परमात्मा का परिचायक दो-ढाई अक्षर के किसी नाम का प्रत्येक श्वास में जप (यह नाम किसी भी भाषा का हो सकता है, कुछ भी हो सकता है, शर्त यह है कि उससे परमात्मा की सर्वव्यापकता का बोध हो) और (३) साधन द्वारा चलकर उसी परमात्मा की प्राप्तिवाले किसी समकालीन महापुरुष की सेवा, उनके प्रति समर्पण; उन्हें गुरु, सद्गुरु या पैगम्बर कुछ भी उपाधि दे लें- इस विधि द्वारा चलकर अपने हृदय के भीतर निवास करनेवाले उसी परमात्मा को विदित कर लेना, उसके लिए यत्न करना- बस इतना ही तो अहिंसा है। अपने स्वरूप को प्राप्त करने का यत्न अहिंसा है।

संसार में प्राप्तिवाले सभी महापुरुषों के उपदेशों का सारांश बस इतना ही है। अहिंसा का स्थल एक है, धर्म की मान्यता भी एक है; किन्तु परिवर्तनशील व्यवस्था के सम्बन्ध में उनके निर्देशों को भी धर्म मान लेने की भूल उनके अनुयायी कर बैठते हैं। महापुरुष द्वारा मिलनेवाले वे नियम तत्सामयिक हैं स्थायी नहीं, समाज-विशेष के लिए हो सकते हैं सार्वभौम नहीं, जबकि धर्म सार्वभौम है। रहन-सहन के नियमों को यदि धर्म से निकाल दें तो धर्म के नाम पर होनेवाले झगड़ों का कारण समाप्त हो जाय। दिक्कत तो तब आती है जब महापुरुषों के अनुयायी एक सम्प्रदाय की खोल ओढ़ लेने की भूल कर बैठते हैं। धर्म के साथ-साथ अपना रहन-सहन, रीति-रिवाज, सामाजिक परम्पराएँ, अपने पर्व, खान-पान, भवन निर्माण शैली, पहनावा, भाषा और संक्षेप में अपनी सभ्यता दूसरों पर लादने का यत्न करने लगते हैं। झगड़ा इस बात को लेकर नहीं है कि एक परमात्मा को मानो, झगड़ा तो इस बात का है कि उसे कहा क्या जाय- राम कहें या अल्लाह या गॉड?

केवल शब्दों को पकड़कर बैठ जाने से भूल होती है। यही भूल वहाँ भी है, जब हम कहते हैं कि ईसा को माने बिना कोई स्वर्ग के राज्य में प्रवेश ही नहीं कर सकता। ईसा के समय में यह बात ठीक थी क्योंकि सद्गुरु ही परमात्मा के धाम की कुञ्जी हैं,

उनके बिना कोई परमात्मा तक पहुँच नहीं सकता; किन्तु आज? आज आप उनसे केवल प्रेरणा लें और प्राप्तिवाले किसी महापुरुष को प्राप्त करें। श्रद्धा सबमें रखें, किसी प्राप्तिवाले महापुरुष का अपमान न करें, चाहे वह जिस काल में रहा हो; क्योंकि सबने एक ही क्रिया की है, सबने उसी परमात्मा का निरन्तर चिन्तन, ध्यान और इन्द्रियों का संयम किया है और सबने उसी एक परमात्मा को पाया है- किसी को हिन्दू भगवान, मुसलमान भगवान या ईसाई भगवान नहीं मिला।

यदि परमात्मा भी दो हैं तो एक में धोखा है, जरूर धोखा है। जब सर्वत्र एक वही व्याप्त है, तो दूसरा रहेगा कहाँ? यदि दूसरा है भी तो उसके लिए दूसरी सृष्टि चाहिए; क्योंकि इस सृष्टि के कण-कण में वह एक ही व्याप्त है। यदि उसी में दूसरा भी व्याप्त है तो एक ईकाई, एक तत्त्व एक ही हो गया, दो कैसा? दो भगवान कहनेवाले नितान्त भ्रम में हैं।

इस संसार में एक ही शाश्वत भगवान रहेगा। उसे कोई गॉड फादर कहता है तो दूसरा उसी को परमपिता भी कह सकता है। यह यहोवा, अल्लाह, अहुरमज्दा या जो भी है, आपके लिए आपके हृदय में है। आपको उसका जो भी नाम रुचे; किन्तु कोई छोटा-सा नाम जो श्वास में ढल सके, उसी नाम से पुकार लें। यह तो आप और आपके हृदयस्थ परमात्मा की नितान्त व्यक्तिगत बात है। मुख्य चीज है कि आप उस एक परमात्मा को मानते हैं या नहीं? उसकी प्राप्ति के लिए निर्धारित आचरण करते हैं या नहीं? इतना कोई करता है तो उससे झगड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसका धर्म-परिवर्तन भी नहीं किया जा सकता। करके भी कौन-सा नया धर्म देंगे आप? अतः रहन-सहन और अपना महापुरुष भी किसी पर लादने का प्रयास धर्म नहीं है। आपके लिए आपका समकालीन महापुरुष ही उपयोगी है; क्योंकि वही आपके हृदय में योग की जागृति कर सकता है, प्राचीन महापुरुष नहीं। प्राचीनकाल के ही किसी महापुरुष से यदि यह जागृति हो जाती, तो अन्य महापुरुषों के आविर्भाव की परम्परा क्यों होती? इस आत्मिक पथ की यही तो विशेषता है कि यह आपको हमेशा-हमेशा के लिए स्वर्ग या नरक की व्यवस्था तक ही फँसाकर नहीं छोड़ देता, जिसमें आपको न तो सुधरने का अवसर मिलता है और न गुलामी से मुक्ति, चाहे वह किसी तथाकथित महात्मा की ही क्यों न हो! जब तक आप उसी परमात्मा के तद्रूप नहीं हो जाते, इस गुलामी से, आवागमन से मुक्ति असम्भव है। यह दर्शन की क्रिया आपको गुलाम नहीं, मालिक बनाकर छोड़ती है। नियत कर्म का आचरण करके यही स्थिति हर देश और हर समय के व्यक्ति के लिए सम्भव है, तो किसी प्राचीन महापुरुष से चिपककर बैठने का औचित्य नहीं रह जाता।

वे महापुरुष आपके सम्मानित पूर्वज रहे हैं। उनसे आप प्रेरणा लें और समकालीन किसी महापुरुष की प्राप्ति की लालसा रखें, क्रिया द्वारा चलकर आप भी वैसा ही बनें। आप केवल एक परमात्मा में श्रद्धावान् होकर उसके किसी नाम को जपने के लिए कुछ समय दें। पुण्य-पुरुषार्थ घनीभूत होते ही आपके लिए जो भी सन्त या सद्गुरु निर्धारित होंगे, स्वतः मिल जायेंगे। यदि पुण्य-पुरुषार्थ उस स्तर का अभी नहीं है, कोई महापुरुष आप पर थोप दिया जाय तो इससे भी आपको कोई लाभ नहीं। इससे थोपनेवालों का स्वार्थ भले ही सिद्ध हो किन्तु जिस बेचारे पर थोपा गया है उसे रूढ़ि के अतिरिक्त कुछ भी मिलनेवाला नहीं है। अतः इस दुराग्रह का भी कोई औचित्य नहीं है कि केवल मेरे महापुरुष को मानो।

हमारे पूर्व मनीषियों ने यही किया। उन्होंने केवल नास्तिकता को आस्तिकता में बदला। किसी पर रहन-सहन या खान-पान का नियम नहीं लादा। खान-पान, पहनावा, भाषा इत्यादि आपको अलगाते हैं, जबकि धर्म आप सबकी आत्मिक एकता की प्रत्यक्ष अनुभूति कराता है, वह आपको एक करता है। वह बताता है कि किस बिन्दु पर आप एक हैं। अनेकताओं के बीच निहित आत्मिक एकता की दृष्टि देता है धर्म। कितना विरोधाभास है लोग बँटे हैं, लड़ रहे हैं- वह भी धर्म के नाम पर, महापुरुषों के नाम पर। समृद्धि और अपने अहं की सन्तुष्टि के लिए लोग लड़ते ही रहते हैं, आप शौक से लड़िए; किन्तु कोई स्थान नहीं है धर्म के नाम पर लड़ने का।

मानवमात्र के लिए एक धर्म का सन्देश लेकर हमारे पूर्वज चीन, जापान से लेकर मिस्र तक गये। अमेरिका में भी उनके प्राचीन स्मृति-चिह्न मिल रहे हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया को तो लोग बृहत्तर भारत ही कहने लगे थे। समूचे विश्व ने उनकी शिक्षाओं को हाथों-हाथ लेकर उनके धर्म-विजय में सहयोग दिया और जिस भी व्यक्ति ने धर्म के नाम पर समाज में फूट डालने की कोशिश की उसे उन्होंने भयंकर चेतावनी दी, जैसा कि प्रियदर्शी सम्राट अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट है। अहिंसाव्रती उस सम्राट के पास सुसंगठित सेना भी थी। यह अहिंसा का उल्लंघन नहीं था बल्कि अहिंसा की ही प्रतिष्ठा में बाधक असामाजिक तत्त्वों के लिए दण्ड का विधान था।

इसी अहिंसा के व्रती सम्राट हर्षवर्धन ने, जिसने अपने राज्य में अशोक की तरह जीव-हिंसा बन्द करा दी थी, उस हर्षवर्धन ने आत्मिक पथ में आयी कुरीतियों को दूर करने के लिए प्रयाग में विद्वानों का सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें गौतम बुद्ध के अनुयायी चीनी यात्री ह्वेनसांग के विचारों को प्राथमिकता मिली। ईर्ष्यावश कुछेक विद्वानों ने उसे अपमानित करने की योजना बनायी। इस दुरभिसन्धि का पता लगते ही सम्राट

ने घोषित किया कि यदि कोई उस विद्वान् को क्षति पहुँचाने का प्रयास करेगा, तो उसे मृत्युदण्ड दूँगा। एक ओर अहिंसा का पुजारी और दूसरे हाथ में तलवार! वस्तुतः आत्मिक पथ पर चलना और चलाना ही अहिंसा है और इसमें बाधक तत्त्वों का उन्मूलन करना भी अहिंसा ही है।

सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में अहिंसा की स्थापना के लिए शस्त्र का प्रयोग केवल दो महापुरुषों ने किया- भगवान राम ने और योगेश्वर श्रीकृष्ण ने, वह भी उस समय जबकि अन्य कोई मार्ग नहीं रह गया था। शेष महापुरुषों ने केवल हृदय-परिवर्तन से काम लिया। भगवान बुद्ध ने यही किया। एक ब्राह्मण सात सौ बछिया, सात सौ बकरा और सात सौ भेड़ इकट्ठा करके यज्ञ में हवन करने ही वाला था कि गौतम बुद्ध पहुँच गये। उन्होंने कहा, ''इन मूक पशुओं को मारने से भगवान कैसे खुश हो जायेंगे? सृष्टि में अनन्त जीव जन्मते और मरते ही रहते हैं, उनको मारने से भगवान को कौन-सी सन्तुष्टि होगी? तुम तो जीव मारते-मारते ही मर जाओगे। चिन्तन की विधि तुम्हारे पास क्या है? आओ, जिसका नाम मोक्ष है वह मैं दूँगा।'' उसे न केवल विधि बतायी बल्कि पीछे लगाकर उस पथ पर चलाया भी। इसीलिए दुनिया में सबसे ज्यादा विरक्त शिष्य और मुक्त महापुरुष बनाया भगवान बुद्ध ने। जब उनका शरीर छूटा तो पाँच सौ जीवन्मुक्त अर्हत् उनके पास बैठे थे।

भगवान बुद्ध भिक्षुओं के लिए शिक्षा का अलग समय रखते थे और गृहस्थों के लिये अलग। दोनों के लिए नियम भी अलग-अलग थे; क्योंकि एक को गृहस्थी का भार भी वहन करना है और दूसरे को केवल चिन्तन में अनुरक्त रहना है। यदि महात्माओं की वस्तु को अन्तर्जगत् में न ढूँढ़कर बाहर ढूँढ़ने लगें तो व्यवस्था गड़बड़ा जायेगी, जीवन भार हो जायेगा, जैसा कि अहिंसा के पहलू को अपनी ओर खींचकर आपने भार बना लिया।

जब कोई भाविक भक्त साधन-क्रम में लगता है तो आरम्भिक अवस्था में उसे भगवान अपनी थोड़ी-सी अनुभूति देने लगते हैं। जब साधना एकदम सूक्ष्म हो गई तब एक स्तर ऐसा आता है कि जहाँ पर प्रकृति दिखाई देती थी वहाँ पर परमात्मा का स्वरूप दिखाई देने लगता है- **'सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।।'** ***(मानस, २/१३०/७)*** न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रह गया और न नरक नरक के रूप में रह गया। जहाँ भी दृष्टि पड़ी, वह अपने ही आराध्य देव का स्वरूप खड़ा पाता है। पेड़ में, जड़ में, पत्ते में, चेतन में जहाँ भी दृष्टि पड़ी, आराध्य देव का स्वरूप ही दिखाई देने लगता है। ऐसे महापुरुष को चींटी मारने में भी कष्ट होता है, वनस्पति तोड़ने से भी वे कतराने लगते हैं।

पूज्य महाराजजी को भी यह अवस्था आयी थी। एक बार हमने पूछा, ''आपके दाँत में पायरिया क्यों हो गया?'' वे बोले, ''हो! दो साल तक हमने दतुअन ही नहीं किया।'' हमने पूछा, ''भगवन्! इसका कारण?'' बोले, ''हो! उन दिनों हम नंग-धड़ंग विचरण कर रहे थे। एक ऐसी अवस्था आई कि जहाँ भी दृष्टि पड़े वहाँ पर अपने आराध्य देव का ही स्वरूप दिखाई पड़े। जब दातुन तोड़ने लगें तो ऐसा भान हो कि जैसे कोई हमारा रोआँ उखाड़े तो हमें कष्ट होता है, वैसे ही इस पेड़ को भी कष्ट होता होगा। आत्मा और वस्तुओं में एकता आ गई, इसलिये हमने उनको तोड़ना बन्द कर दिया। सूखी पत्ती मिले वही कूँचकर फेंक दें। इसी से दाँत में कीड़े लग गये, पायरिया हो गया।''

हमने पूछा, ''भगवन्! यह कैसा दर्शन था?'' बोले? ''हो! उस समय तो यह साधना का एक अभिन्न अंग था। अब जिस स्वरूप में मैं हूँ, यहाँ से देखता हूँ तो वह सब भी एक अज्ञान ही था।''

अतः सर्वत्र भगवान हैं- ऐसा मानकर बैठ जाने की जरूरत नहीं है। साधन द्वारा चलने पर, उस अवस्था के आने पर वह चींटी मारने में, पत्ती तोड़ने तक में दर्द महसूस करने लगता है। यह अहिंसा का एक स्तर है, श्रेणी है; लेकिन यह अहिंसा-स्थली साधन द्वारा ही सुलभ होती है। इस अवस्थावाला महापुरुष किसी को कष्ट नहीं पहुँचा सकता। इसीलिये कर्म, वचन और मन से भी किसी को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। समाज में प्रचलित अहिंसा महापुरुषों के इसी स्तर की नकल है। वस्तुतः अहिंसा क्रमागत चिन्तन-पथ का अंग है। आत्मिक पथ पर चलकर विश्व में कोई भी अहिंसक हो सकता है और आप भी।

।। बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय।।

पाप और पुण्य

जो जन्म-मरण का कारण है वह पापकर्म है और जो उससे उद्धार कर शाश्वत परमधाम दिला देता है वह पुण्यकर्म है।

– *स्वामी अड़गड़ानन्द*

महाकुम्भ पर्व पर चण्डीद्वीप हरिद्वार में दिनांक २०.०४.१९८६ ई0 की जनसभा में स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी का प्रवचन।

बन्धुओ!

पाप क्या है और पुण्य क्या है?- इस विषय में समाज में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। कोई कहता है- झूठ बोलना पाप है तो कोई कहता है- चोरी करना पाप है, हत्या और प्रत्येक मृत्यु पाप है, धोखा देना पाप है, खेत-खलिहान या मकान में आग लगाना पाप है। पाप करना तो पाप है ही, पापकर्म को समर्थन देना या उसे देखना भी पाप है। पापमुक्ति भी सरल है। माना जाता है कि दान से, तीर्थों में स्नान करने और वहाँ मुण्डन कराने से पाप कट जाते हैं क्योंकि पाप का निवास बालों में होता है। इस प्रकार पाप-पुण्य एक भ्रम बनकर रह गया है।

इधर हजारों वर्षों से हिन्दू-जनमानस पर छायीं बहुचर्चित स्मृतियों का कहना है कि कुछ जातियाँ तो जन्म से ही पापी होती हैं, इसलिए अस्पृश्य हैं। उन्हें वेद पढ़ने या सुन लेने मात्र से पाप लगता है। इतना ही नहीं, मछली मारनेवाला मछुआरा, पशु-पक्षी पकड़ने और मारनेवाला बहेलिया, तेल पेरनेवाला तेली जितना पाप वर्ष भर में करता है उतना ही पाप एक किसान हल जोतने से एक दिन में करता है। इस पाप से बचने के लिए उसे फसल का एक भाग दान देना चाहिये अन्यथा उसे ब्रह्महत्या का एक पाप और लग जाता है।

स्मृतिग्रन्थों में मनुष्यों के आपसी व्यवहार का निर्धारण है। निर्देश है कि इन सामाजिक व्यवस्थाओं को तोड़ना पाप है और इनका निर्वाह पुण्य है- जबकि वे व्यवस्थायें परिवर्तनशील हैं। एक समय था कि दस सन्तान उत्पन्न करनेवाला पुण्यात्मा माना जाता था, आज एक या दो भी पर्याप्त हैं- कालान्तर में इतने के लिये भी दण्ड मिल सकता है। कभी भ्रूण-हत्या से बड़ा पाप था ही नहीं, कभी वही क्षम्य था। कभी जौहर करने से स्त्रियाँ सीधे स्वर्ग जाती थीं, आज वही दण्डनीय अपराध है। ये तो मनुष्यों द्वारा निर्मित विधान हैं, समस्याओं के हल हैं। इनके उल्लंघन का दण्ड मनुष्य ले-दे सकता है। इनके

निर्णय के लिए मनुष्य ही सक्षम है। अतः समाज में किसी समय प्रचलित कानून या दण्ड-विधान को पाप और पुण्य की सीमा निर्धारक रेखा नहीं बनाया जा सकता।

इसी प्रकार संसार भर के लिये धर्म भी एक ही है; किन्तु धर्म के नाम पर बहुत से सम्प्रदाय प्रचलन में हैं। हिन्दू गाय की रक्षा करके पुण्य अर्जित करता है, तो मुसलमान उसी को काटकर शबाब कमाता है। जैन अपने मन्दिर में तीर्थंकर के दर्शन को पुण्य मानते हैं तो हिन्दू के लिए जैन मन्दिर या बौद्ध विहार में जाना भी जघन्य पाप है। कभी कहा गया कि राजा का विरोध करना पाप है, क्योंकि राजा में सभी देवताओं का तेज रहता है; आज उन्हीं राजाओं का उन्मूलन हो गया। देवताओं का वह तेज, पाप-पुण्य की वे व्यवस्थायें अतीत में चली गयीं। कभी लकड़ी के हल में लोहे की फाल लगाकर धरती माता का पेट चीरना पाप था, आज ट्रैक्टर की नोंकों से हरित क्रान्ति के गीत लिखे जाते हैं। कहीं अण्डा मांसाहार है, तो कहीं वही शाकाहार माना जाता है। किसी जमाने में एलोपैथी दवाओं का सेवन पाप था, साबुन लगाना पाप था, समुद्र-यात्रा या विदेश गमन पाप था, आज इनके बिना काम ही नहीं चलता। कदाचित् कोई लड़का विदेश चला ही जाता है तो परिवार भर उसे अपना अहोभाग्य और परमपुण्य मानता है, पुरोहित भी स्वस्तिवाचन करके उसे विदा करते देखे जाते हैं।

शीतकाल में पचीस डिग्री सेल्सियस तापमान गर्मी कहलाता है और गर्मी में वही तापमान एयर कण्डीशन कहलाता है, तो किसे गर्मी कहे, किसे ठण्डक? ठीक इसी प्रकार, मानव की व्यवस्था में क्या पाप है और क्या पुण्य?- इसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। परिवर्तनशील सामाजिक, साम्प्रदायिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी निर्देशों को सुगमतापूर्वक पालन कराने के लोभ में इन व्यवस्थाओं के साथ पाप-पुण्य जोड़ देने से पाप और पुण्य का वास्तविक आशय ही धूमिल हो गया है। अधिकांश समाज इस प्रश्न पर संशयग्रस्त है, लोग घण्टों परामर्श करने पर भी कोई एक उत्तर नहीं दे पाते। अतः विचारणीय है कि पाप क्या है और पुण्य क्या है?

वेद

पाप और पुण्य का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवरण सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में मिलता है। सामवेद की तलवकार शाखा के अन्तर्गत छान्दोग्य ब्राह्मण के प्रथम अध्याय में उल्लेख है कि ओम् परमात्मा का परिचायक है। ओम् के यजन द्वारा देवताओं ने असुरों को परास्त करना चाहा। उन्होंने वाणी, आँख, कान, नाक तथा मन द्वारा यह उपासना करना चाहा, तो असुरों ने इन सबको राग-द्वेषरूपी पाप से बिद्ध कर दिया। इन्द्रियाँ राग और द्वेष से युक्त हो गईं, इसीलिए मनुष्य उनके द्वारा अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कार्य करता है। तब देवताओं ने प्राण द्वारा ओंकार की उपासना की। असुरों ने प्राण को भी

दूषित करना चाहा; किन्तु प्राण के समीप जाते ही असुर छिन्न-भिन्न हो गये। देवताओं का यज्ञ सफल हुआ। स्पष्ट है कि इन्द्रियों का वासना से बिद्ध होना पाप है और उससे मुक्त होना पुण्य है।

उपनिषद्

इस घटना का ज्यों-का-त्यों उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् में भी है। इसी का विस्तार करते हुए ऋषि कहते हैं कि- ''प्राण का आश्रय लेने से देवता मृत्यु से पार हो गये। वाणी अग्नि में बदल गयी, घ्राण वायु हो गया, श्रोत्र दिशा बन गया, चक्षु सूर्य हो गया और मन जब मृत्यु से पार हुआ तो चन्द्रमा बन गया।'' तात्पर्य यह है कि प्राण-संयम के द्वारा अन्तःकरण ज्योंही ईश्वरीय गुण-धर्मों से रंग गया, आसुरी प्रवृत्तियाँ शान्त हो गयीं, वह सदा-सदा के लिए पापों से मुक्त हो गयीं। अतः प्राण-अपान की क्रिया जाननी चाहिये कि यह है क्या, कैसे होती है? कहाँ मिलती है? इस पर सबको ध्यान देना चाहिए।

इसी उपनिषद् में आगे कहते हैं कि वह महान् अजन्मा आत्मा हृदयाकाश में शयन करते हुए सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया के कारण ही वह प्राण है, बोलने के कारण वाक् है, देखने के कारण चक्षु है, सुनने के कारण श्रोत्र है और मनन करने के कारण मन है। ये इसके कर्मानुसारी नाम हैं। अतः जो इनमें से एक-एक की उपासना करता है, सूर्य, चन्द्रमा या दिशाओं की उपासना करता है या दूसरे शब्दों में आँख, कान या नाक की उपासना करता है, आत्मा से भिन्न किसी की उपासना करता है, वह नहीं जानता। वह एक-एक देवताओं का पशु है। जैसे पशु मनुष्यों का पालन करते हैं, उसी प्रकार ऐसा मनुष्य देवताओं का पालन करता है। एक पशु का भी हरण किया जाना अच्छा नहीं लगता, इसीलिये देवताओं को प्रिय नहीं है कि मनुष्य आत्मतत्त्व को जाने। आत्मा को न जाननेवाला मनुष्य यदि इस लोक में महान् पुण्यकर्म भी करे, तो भी अन्त में उसका वह कर्म क्षीण हो ही जाता है।

अतः आत्मा की ही उपासना करें। इसके लिए एक ही व्रत का आचरण, प्राण-अपान का चिंतन करें। आत्मभाव को प्राप्त हो जाने पर यह पुरुष पाप से असम्बद्ध तथा पुण्य से भी असम्बद्ध हो जाता है, हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर जाता है। तब पाप उसे ताप नहीं पहुँचाते बल्कि वही पापों को संतप्त करता है। वह पापरहित, निष्काम, निःसंशय ब्राह्मण हो जाता है। अर्थात् 'ब्राह्मण' उस परात्पर ब्रह्म को अन्तःकरण में विदित कर लेने पर मिलनेवाली स्थिति है। यही निर्णय मुण्डकोपनिषद् का भी है। यह स्थिति मिलती है केवल आत्मा की उपासना से और उपासना में भी करना होता है केवल प्राण-अपान द्वारा परमात्मा का चिन्तन। उपनिषदों के अनुसार पाप से बचने और पुण्य

प्राप्त करने का यही एक तरीका है- प्राण-अपान का चिन्तन, इसके अतिरिक्त संसार में कुछ प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी किया जाता है सभी नश्वर है।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति।।

(मुण्डकोपनिषद्, १/२/१०)

'इष्टापूर्त'- भिन्न-भिन्न देवताओं के लिये वेदी बनाकर जो यज्ञ-यागादि श्रौत कर्म किये जाते हैं उन्हें इष्ट कर्म तथा बावली, कुआँ खुदवाना, बगीचे लगवाना इत्यादि स्मृति-विहित कर्म को पूर्त कहते हैं। इन इष्ट और पूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ माननेवाले अत्यन्त मूढ़लोग उससे भिन्न वास्तविक श्रेय को नहीं जानते। इन पुण्यकर्मों के फलस्वरूप वे स्वर्ग के उच्चतम स्थान में वहाँ के भोगों का अनुभव करके इस मृत्युलोक की विभिन्न योनियों में प्रवेश करते हैं; किन्तु **'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।'** *(मुण्डकोपनिषद्, ३/२/९)*- साधना की सही क्रिया द्वारा जो कोई भी उस परम ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। वह शोक से पार हो जाता है, पापों से तर जाता है और हृदय की गाँठ से सर्वथा छूटकर अमर हो जाता है।

यह स्मरणीय है कि किताबों को रटनेवाला वेदज्ञ नहीं है। वेद किसी पुस्तक का नाम नहीं है, बल्कि इसी प्राण-अपान के चिन्तन की क्रिया से चलकर अविदित परमतत्त्व परमात्मा को विदित करने के साथ मिलनेवाली उस अनुभूति का नाम है वेद, उस अनुभूति का नाम है ज्ञान, इसीलिये गौतम बुद्ध पोथी को प्रमाण न मानते हुए भी अपने को सच्चा वेदज्ञ और अपने को सच्चा ब्राह्मण कहते थे।

परमात्मा की अनुभवपरक ऋचाओं का संकलन वेद है। भाषा और व्याकरण के बल पर इस वेद का रहस्य नहीं समझा जा सकता। वेद का रहस्य समझने के लिये प्राण-अपान का चिन्तन करके उस स्तर पर पहुँचना होता है, जिस स्तर पर पहुँचकर ऋषियों ने परमात्मा की वाणी को सुना था। बिना उस पर पहुँचे, बिना प्राण-अपान की साधना के यदि कोई वेदों का अर्थ केवल निसर्ग के और व्याकरण के बल पर करता है, तो उससे केवल भ्रान्तियाँ फैलेंगी। यही कारण है कि वेद की एक ही ऋचा का अर्थ सायण ने अलग, दयानन्द ने कुछ और तथा मैकडानल, कीथ, मैक्समूलर इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा तीसरा अर्थ प्रस्तुत किया गया है। अतः वास्तविक वेदज्ञ वह है जिसके अन्दर वेद उतर रहा है। इसीलिए इस उपनिषद् में स्पष्ट किया गया है कि श्रोत्रिय वही है जो ब्रह्मनिष्ठ है, ब्रह्म में जिसे स्थिति मिल चुकी है।

अब पाप से तरने के लिए, उस ब्रह्म को जानने के लिये, प्राण-अपान की क्रिया की जानकारी के लिये क्या करें? इसी उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, **'तद्विज्ञानार्थं स**

गुरुमेवाभिगच्छेत्'- उस परमब्रह्म को जानने के लिए वह सद्गुरु की शरण में जाय। कैसे गुरु? **'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** *(मुण्डकोपनिषद्, १/२/१२)*- जो वेद के रहस्य को जाननेवाले और परमब्रह्म परमात्मा में स्थित हों।

इस प्रकार पाप और पुण्य के प्रश्न पर वेद और उपनिषद् दोनों एकमत हैं कि राग और द्वेष ही पाप के मूल हैं। इन्द्रियाँ और मन ही इनका निवास है। आत्मा या परमात्मा को विदित कर लेने पर ही पाप से छुटकारा है। प्राण और अपान का चिन्तन ही परमात्मा को विदित कर लेने का उपाय है और इन सबका माध्यम सद्गुरु है।

गीता

यही निर्णय योगेश्वर श्रीकृष्णोक्त गीता का भी है-

(क) इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। (३/३४)

इन्द्रिय और इन्द्रियों के भोगों में राग और द्वेष स्थित हैं। इन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए; क्योंकि यही दोनों इस आत्मपथ के लुटेरे हैं।

श्रीकृष्णकाल में भी धर्म-अधर्म तथा पाप-पुण्य को लेकर समाज में अनेकानेक रूढ़ियाँ प्रचलित थीं, जिनमें से कुछेक का शिकार अर्जुन भी था। उसने भी सुन रखा था कि कुल का क्षय करना पाप है, स्त्रियों का स्वैराचार पाप है, वर्णसंकर पाप है, पिण्डोदक-क्रिया का लुप्त होना पाप है, मित्रद्रोह पाप है, राज्य और सुख के लिए स्वजनों को मारना महापाप है; किन्तु उसकी इन तमाम मान्यताओं को योगेश्वर ने **'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं'** कहा, **'कश्मल'** अर्थात् अज्ञान ठहराया। कहा कि न तो सम्भावित पुरुषों ने इसका कभी आचरण किया है, न यह स्वर्ग को ही देनेवाला और न यश ही बढ़ानेवाला है। अतः सिद्ध हुआ कि सामाजिक व्यवस्थाओं का पाप-पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीकृष्ण के अनुसार इन व्यवस्थाओं को पाप-पुण्य मान लेना अज्ञान है। वह सब अज्ञान ही था, फिर पाप है क्या?

(ख) इस पर कहते हैं *(गीता, २/३८)*- अर्जुन! सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर तू युद्ध कर। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो पाप को प्राप्त होगा। यहाँ युद्ध न करना पाप है। अध्याय ३, श्लोक ३० में युद्ध की विधि भी बताते हैं-

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।

'अध्यात्मचेतसा'- अन्तरात्मा में चित्त का निरोध करके अर्थात् ध्यानस्थ होकर, सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशा, ममता और सन्ताप से रहित होकर युद्ध

कर। अर्जुन! जो कोई भी मनुष्य मेरे इस मत के अनुसार बरतता है वह सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाता है और जो दोष-दृष्टिवाले मेरे इस मत के अनुसार नहीं बरतते अर्थात् इस प्रकार का युद्ध नहीं करते, उन अचेत चित्तवालों को तू सम्पूर्ण ज्ञान से भ्रष्ट हुआ जान। उनका कर्म-बन्धन नहीं छूटता। कर्मों के बन्धन से छूट जाने का उपाय युद्ध है।

वस्तुतः यह अन्तःकरण की एक लड़ाई है। जिसका चित्त सब ओर से सिमटकर ध्यान में स्थिर है, इन्द्रियाँ सिमट गई हैं, एकान्त-देश का सेवन है- पास में कोई भी नहीं, तो कौन लड़ेगा और किससे लड़ेगा? आप सब चित्त को सब ओर से समेटकर ईश्वर में लगायेंगे, ध्यान में प्रवेश करना चाहेंगे तो काम, क्रोध, राग, द्वेष, आशा, तृष्णा इत्यादि विजातीय प्रवृत्तियाँ बाधा के रूप में खड़ी रहती हैं। इन प्रवृत्तियों का पार पाकर ध्यानस्थ होते जाना ही वास्तविक युद्ध है। यह युद्ध केवल अर्जुन का ही नहीं, श्रीकृष्ण कहते हैं कि सबको इसी मत के अनुसार बरतना चाहिए।

(ग) इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया, भगवन्! जब पाप से बचने का यही एकमात्र उपाय है तो लोग करते क्यों नहीं? मनुष्य न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुए के सदृश किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? वह आपके मत के अनुसार इस युद्ध में प्रवृत्त क्यों नहीं होता? (३/३६) इस पर योगेश्वर ने बताया कि-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। *(३/३७)*

अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न यह काम और क्रोध अग्नि के सदृश भोगों से कभी न तृप्त होनेवाले महान् पापी हैं अर्थात् काम और क्रोध ही पाप के मूल हैं, जन्मदाता हैं। काम माने कामना!

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इनके वासस्थान कहे गये हैं, इसलिये अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को संयत करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले इस कामरूपी पापी को ही मार। *(३/४१)* अर्थात् काम पापी है और इन्द्रियों को संयत करके इसे मारने का विधान है।

(घ) अध्याय २/५९ में कह आये हैं कि इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करनेवाले पुरुषों के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि वे विषय ग्रहण ही नहीं करते, परन्तु विषयों में आसक्ति बनी रह जाती है; किन्तु परमात्मा के साक्षात्कार के साथ वह आसक्ति भी निवृत्त हो जाती है। अतः परमात्मा के साक्षात्कार से पूर्व पाप का मूल राग समूल नष्ट नहीं होता।

(ङ) योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में इसी तथ्य को बार-बार दृढ़ाया। अध्याय ३, श्लोक १३ में कहते हैं कि यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खानेवाले सन्तजन सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं। योगेश्वर के अनुसार, यज्ञ चिन्तन की एक निर्धारित प्रक्रिया है जिसमें

मन में स्थित चराचर जगत् के संस्कार ही हवन-सामग्री है। मन में ही तो राग और द्वेष भी हैं। मन के संस्कारों के स्वाहा होते ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है। **'यज्ञशिष्टामृत भुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** *(४/३१)*- यज्ञ के पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी संरचना करता है उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी शाश्वत सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। यज्ञ से शेष परमात्मा ही बचता है; प्रकृति खो जाती है, पुरुष ही शेष बचता है। वह ब्रह्म ही अन्न है। उस ब्रह्म को प्राप्त होनेवाले सन्तजन सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं, और जो चिन्तन तो करते हैं किन्तु बदले में शरीरों के लिये कामना करते हैं, श्रीकृष्ण कहते हैं- वे पापी हैं, अर्थात् शरीरों के बारम्बार जन्म का जो कारण है वह पाप है और जो ब्रह्म को जना देता है वही पुण्यकर्म है।

(च) अध्याय १०, श्लोक ३ में कहते हैं कि जो मुझ जन्म-मृत्यु से रहित, आदि-अन्त से रहित, सब लोकों के महान् ईश्वर को साक्षात्कार के साथ विदित कर लेता है वही ज्ञानी है और वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। अतः ईश्वर के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम ज्ञान है और साक्षात्कार के साथ ही पापों से पूर्ण निवृत्ति मिलती है, इससे पहले नहीं।

(छ) अध्याय ७, श्लोक २७-२८ में कहते हैं कि अर्जुन! राग और द्वेष से संसार के सम्पूर्ण प्राणी अति अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं; किन्तु 'पुण्यकर्म' करनेवाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से मुक्त हुए व्रत में दृढ़ रहकर मेरे को भजते हैं। जो मेरी शरण होकर जरा-मरण से छूटने के लिये यत्न करते हैं वे उस ब्रह्म को जानते हैं, सम्पूर्ण कर्मोंसहित मुझको जानते हैं और मुझे जानकर तत्क्षण मुझमें सदा-सदा के लिये स्थित हो जाते हैं अर्थात् पुण्यकर्म वह है जो जरा-मरण से छुटकारा दिलाता है। 'पुण्यकर्म' वह है जो शाश्वत की जानकारी और उसी में स्थिति दिलाता है। इस पुण्यकर्म के आचरण के लिये शरण लेंगे श्रीकृष्ण की और जानेंगे ब्रह्म को, सदा-सदा के लिये स्थित होंगे श्रीकृष्ण में। तात्पर्य यह है कि इस पुण्यकर्म का माध्यम सद्गुरु है। ठीक वही बात, जैसा उपनिषद् के ऋषि कहते हैं।

(ज) इसी 'पुण्यकर्म' को योगेश्वर ने गीताशास्त्र में स्थान-स्थान पर 'विहित कर्म', 'यज्ञार्थ कर्म', 'कार्यम् कर्म', 'नियत कर्म' अथवा 'निष्काम कर्म' कहकर सम्बोधित किया है। जिसके अन्तर्गत तीन बातें आती हैं- (१) एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा, (२) उसी परमात्मा के नाम का जप और (३) समकालीन तत्त्वदर्शी महात्मा की सेवा और उसके प्रति समर्पण, जिसके लिए वे प्रोत्साहित करते हैं कि- **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'** *(गीता, ४/३४)*- तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण जाकर निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न कर तू उस ज्ञान को प्राप्त कर, जिसकी प्राप्ति से सभी पाप समूल नष्ट हो जाते हैं।

(झ) इसी पर पुनः बल देते हैं (अध्याय ८/१३) कि 'ॐ' यह अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, इसका जप कर और ध्यान मेरा धर। (१८/६६) कि सम्पूर्ण धर्मों की चिन्ता छोड़कर तू एक मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा। पहले कहा- हृदयस्थ ईश्वर की शरण में जाने से पाप नष्ट होते हैं, फिर कहा- तत्त्वदर्शी की भी शरण में जाने से पाप नष्ट होते हैं और यहाँ कहते हैं- मेरी शरण में आ, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। अर्थात् श्रीकृष्ण एक योगी थे, परमात्म-भाव में स्थित योगेश्वर थे, सद्गुरु थे। अर्जुन ने कहा भी था कि **'शिष्यस्तेऽहं'** *(२/७)*- भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ।

संक्षेप में योगेश्वर श्रीकृष्ण भी पाप और पुण्य के निर्णय में आपको वेद, उपनिषद् के उसी धरातल पर खड़ा कर देते हैं कि राग और द्वेष अथवा काम और क्रोध ही पाप के मूल हैं। इन्द्रियाँ और मन ही इनका निवास है। पाप से मुक्ति का एक ही रास्ता है- परमात्मा को विदित कर लेना। वेद और उपनिषद् जिसे प्राण-अपान का चिन्तन कहते हैं, योगेश्वर उसी को 'यज्ञार्थ कर्म' कहते हैं और उसी से परमात्मा की प्राप्ति बताते हैं। उनके द्वारा नियत यज्ञ में प्राण-अपान के द्वारा नाम-जप ही मुख्य क्रिया है, साथ ही योगेश्वर दैवी सम्पद् के अर्जन और इन्द्रिय-संयम पर बल देते हैं तथा सद्गुरु की शरणागति और ध्यान पर भी- जिनकी पुष्टि उपनिषदों में स्थान-स्थान पर है। जैसे कठोपनिषद्, द्वितीय बल्ली में है कि जो दुश्चरित से विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं और जिसका मन चञ्चल है, उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। पाप से मुक्ति का तथा 'पुण्यकर्म' द्वारा आत्मानुभूति की क्रिया का एक ही स्थान पर जितना क्रमबद्ध, स्पष्ट, बोधगम्य एवं पूर्ण विवरण गीताशास्त्र में है उतना अन्य किसी धर्मग्रन्थ में नहीं है, इसीलिए गीता विश्वभर के मानवमात्र का एकमात्र विशुद्ध शास्त्र है। इतना ही नहीं बल्कि पाप और पुण्य के विश्लेषण में तो योगेश्वर श्रीकृष्ण उपनिषदों से भी अधिक गहराई में उतरकर बताते हैं कि पाप का मूल राग अथवा काम का भी मूल आसक्ति है और आसक्ति का भी मूल विषयों का चिन्तन है, अतः विषयों का चिन्तन ही न करें बल्कि मन को निरन्तर एक परमात्मा के नाम में, सद्गुरु के ध्यान में लगाये रखें तो आप पायेंगे कि पाप के मूल इन विकारों का अस्तित्व है ही नहीं। विकारों को उनके विरोधी विचारों द्वारा जीत पाना सम्भव नहीं है। वे जब भी मिटेंगे तो परमात्म-चिन्तन से ही मिटेंगे। लोग करते ही नहीं अन्यथा निरन्तर चिन्तन के द्वारा इन विकारों की निवासस्थली मन तक को मिटा दें। इतना सुगम है कि इससे सुगम अन्य कुछ है ही नहीं।

पाप का मूल काम है अतः सभी कामनायें त्याज्य हैं- केवल एक को छोड़कर कि **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** *(७/११)*- धर्म से जो अविरोध रखता

है, जो उसके अनुकूल है, जो परमधर्म परमात्मा के अनुकूल है, ऐसा काम अर्थात् ऐसी कामना मैं हूँ, मेरी प्राप्ति की कामना करनी चाहिये। यही एक कामना ऐसी है जो उचित ही नहीं, आवश्यक भी है- **'मामिच्छाप्तुं धनञ्जय'** *(१२/६)*- मेरी प्राप्ति की इच्छा कर। इसके लिए **'मत्कर्मपरमो भव'** *(१२/१०)*- मेरी प्राप्ति के लिये नियत कर्म को कर; क्योंकि यही एक ऐसा कर्म है जो अन्य सभी कर्मों के बन्धन को काट देता है और स्वयं भी जल जाता है और इस प्रकार जन्म-मरण के क्रम पर पूर्ण विराम लगा देता है।

सभी परिस्थितियों में शाश्वत एकमात्र परमात्मा की प्राप्ति के लिये नियत कर्म का आचरण ही पुण्य है और आत्मिक क्रिया में अवरोध उत्पन्न करना पाप है। सम्पूर्ण गीता में इसके अतिरिक्त पाप और पुण्य की अन्य किसी मान्यता को समर्थन नहीं मिलता। अतः परमात्मा में श्रद्धा और उसकी प्राप्ति के लिये निर्धारित यज्ञ, जैसा श्रीकृष्ण ने बताया, उसमें से जितना आपसे पार लगे, जितना समय आप दे सकें उतना चिन्तन करें। इस अभ्यास को क्रमशः बढ़ायें, जैसा कि निर्देश देते हुए अध्याय ६, श्लोक ३५ में कहा कि प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी अर्थात् परमात्मा से मिलन के लिये यत्नशील व्यक्ति सभी पापों से भली प्रकार शुद्ध होकर परमगति को पा लेता है।

'श्रीरामचरितमानस' में पाप और पुण्य

पाप और पुण्य के प्रकरण पर ज्यों-का-त्यों यही निर्णय गोस्वामी तुलसीदासजी के श्रीरामचरितमानस का भी है। पाप के मूल राग या काम को सांख्यशास्त्र में मोह कहा गया है। गोस्वामीजी भी कहते हैं- **'करहिं मोह बस नर अघ नाना।'** *(७/४०/४)*- मोह के वशीभूत होकर लोग जो नहीं करना चाहिये, ऐसा पाप भी करते हैं। **'क्रोधु पाप कर मूल।'** *(१/२७७)*- यहाँ क्रोध पाप का मूल है, जैसा 'गीता' कहती है-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। *(गीता, ३/३७)*

काम और क्रोध यही पाप के मूल हैं। अब ये रहते कहाँ हैं? तो-

तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ।। *(मानस, ३/३८ क)*

ये विज्ञान-धाम मुनियों के मन को भी पलभर में क्षुभित कर दिया करते हैं। अस्तु ये मन में रहते हैं और योगेश्वर श्रीकृष्ण का कहना है कि इनका निवास मन और इन्द्रियाँ हैं। ये दूर कैसे होंगे? तो-

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि।
संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि।। *(मानस, ७/१२९/६)*

सदैव एक राम का ही चिन्तन करना चाहिए।

रामचरितमानस के अनुसार पाप का निवारण भगवान के सम्मुख होने से होता है- **'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।'** *(५/४३/२)* एकमात्र राम, परमतत्त्व परमात्मा के प्रति श्रद्धावान् हो जायँ, लगनवान् हो जायँ तो करोड़ों जन्मों के पापों का शमन हो जायेगा। आप कुछ भी करें, कहीं भी रहें, केवल एक परमात्मा के प्रति अनन्य भाव से श्रद्धा हो। **'पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं।।'** *(४/२८/३)*- पापी ही क्यों न हों, उस परमात्मा के परिचायक नाम का चिन्तन करें तो भवसागर का पार पा जायेंगे। **'सरन गएँ मो से अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी।।'** *(७/१२३/८)*- कोई पाप की राशि ही क्यों न हो, भगवान का आश्रय लेते ही शुद्ध हो जाता है।

मध्यकालीन भारत में यह विचार घर कर गया था कि कुछ जातियाँ जन्म से ही पापी होती हैं, जैसे- आभीर, यवन, किरात, खस, श्वपच, निषाद, तेली, कुम्हार, वैश्य, शूद्र और स्त्रियाँ; किन्तु प्राचीन आर्षग्रन्थों में न तो इसका समर्थन है और न महापुरुषों ने ही ऐसी किसी रूढ़ि को मान्यता दी। इनकी छायामात्र से सवर्ण भले ही स्नान करते रहे हों; किन्तु महापुरुषों ने इन्हें समान दृष्टि से ही देखा, सभी पवित्र थे। पाप से छूटने का जो उपाय सवर्णों के लिये था, तथाकथित अस्पृश्यों के लिये भी वही है।

स्वपच सबर खस जमन जड़, पावँर कोल किरात।
रामु कहत पावन परम, होत भुवन बिख्यात।। *(२/१९४)*

नाम लेते ही वह परम पवित्र है। संसार भर में यदि कोई निर्मल व्यक्ति है तो वह है। संसार भर के लिये एक ही पाप और एक ही पुण्य है जिसे प्राप्त करने के सभी समान अधिकारी हैं।

'जासु नाम पावक अघ तूला।' *(२/२४७/२)*- उनका नाम पापरूपी रूई के लिए अग्नि है, **'गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहिं भव पास।'** *(६/७३)*- काल की फाँसी कट जाती है; किन्तु चार श्रेणियों से चलकर ही इस स्थिति को पाने का विधान है।

राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृती चारिउ अनघ उदारा।। *(१/२१/६)*

गोस्वामीजी की दृष्टि में पुण्य करनेवाले यही चार हैं, चारों निष्पाप हैं; किन्तु इस सुकृति का आधार क्या है? भगवान का नाम!

चहू चतुर कहुँ नाम अधारा।
ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा।। *(१/२१/७)*

किन्तु ज्ञानी पाप और पुण्य दोनों से लगभग पार है, इसलिये विशेष प्रिय है।

इन्हीं चार सोपानों को गोस्वामीजी ने कहीं चार प्रकार के भक्त, तो कहीं चार प्रकार के भव (भवसिन्धु, भवसरिता, भवकूप और गोपद) कहकर सम्बोधित किया है। चिन्तन करके ही भगवान को पाने का विधान है; किन्तु अपनी क्षमता के अनुसार लोग क्रमशः इन चारों सोपानों से चलते नहीं, उच्च क्षमतावालों की नकल करने लग जाते हैं। जीवात्मा का अपने शुद्ध वर्ण परमात्मा की ओर अग्रसर होना रुक जाता है। व्यक्ति प्रकृति में मिश्रित होने लगता है। ऐसा करनेवाला पाप को प्राप्त होता है और यही वर्णसंकर का रूप है-

भये बरन संकर कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।। *(७/१०० क)*

अतः क्षमता के अनुसार चिन्तन करना चाहिये।

युग भी साधना के चार सोपान हैं, जिनमें कलियुग आरम्भिक सोपान है। कलियुगीन व्यक्ति को गोस्वामीजी एक महत्वपूर्ण आश्वासन भी देते हैं-

कलि कर एक पुनीत प्रतापा।
मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।। *(७/१०२/८)*

कलि भगवत्-पथ का आरम्भिक सोपान है। अचेत आत्मा के जागृत होते ही यह आत्म-पथ का पहला चरण है। तामसी गुणों के बाहुल्य के कारण ऐसा साधक सन्त सद्गुरु की सेवा तथा भगवान के गुण-गायन से ही कलि का पार पाकर द्वापर में प्रवेश पाता है। अभी वह मन को समझने की क्षमता नहीं रखता। अतः मन में कितने भी संकल्प आयें, यदि शरीर से भूल न हो, विकारों को कार्यरूप न दें तो पाप नहीं लगता; किन्तु मन से ही सही, यदि वह सत्पथ का संकल्प लेता है तो उसका पुण्य होगा; क्योंकि उसी पथ में तो लगा था। किन्तु जब यही साधक तीसरी और चौथी श्रेणी में पहुँच जायेगा तो संकल्प मात्र से पाप होने लगेगा और उसका प्रायश्चित करना पड़ता है।

पुण्य के एकमात्र उद्गम की घोषणा भगवान राम अयोध्या की जनसभा में करते हैं- **'पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा।।'** *(७/४४/७)* संसार में यही एकमात्र पुण्य है, दूसरा कोई पुण्य है ही नहीं। कौन? यही कि मन, कर्म और वचन से विप्र के चरणों की पूजा करो। जैसा कि उपनिषद् का निर्णय है कि ब्राह्मण एक स्थिति है। जो ब्रह्म के परायण है, उससे पूरित है, वही विप्र है, उसी को सन्त कहते हैं। उनके चरणों का आश्रय लेना ही पुण्य है। गोस्वामीजी इंगित भी करते हैं- **'बंदऊँ प्रथम महीसुर चरना।'** उनका लक्षण क्या है?, कहते हैं- **'मोह जनित संसय सब हरना।।'** *(१/१/३)*- वे मोह से उत्पन्न समस्त संशयों को दूर कर देते हैं और यही लक्षण सन्त का भी है। सन्त मिलने से संशय और भ्रमों का समुदाय ही मिट जाता है।

यही हैं वे द्विज, जो द्वैत पर जय पाकर परमात्मा के एकीभूत हो चुके हैं। उन्हीं का आश्रय लेना पुण्य है, वही पूजनीय हैं।

आदि शंकराचार्य कहते हैं, **'कः पूजनीयः शिवतत्त्वनिष्ठः।'**- पूजनीय कौन है? जो शिवतत्त्व में स्थित महापुरुष है वही पूजनीय है। इसी की पुष्टि सन्त तुलसीदासजी भी करते हैं, मानस के बालकाण्ड का मंगलाचरण देखें- **'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।'**- उन ज्ञानस्वरूप, नित्यस्वरूप, शिवस्वरूप गुरुदेव की मैं वन्दना करता हूँ, जिनका आश्रय लेने से टेढ़ा चन्द्रमा भी सर्वत्र वन्दनीय हो जाता है। **'मन ससि चित्त महान।'** *(६/१५ क)*- मन ही चन्द्रमा है। यह टेढ़ा स्वभाववाला है किन्तु सद्गुरु का आश्रय लेने पर यही वन्दनीय स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त प्रकरण में तथा अन्यत्र भी भगवान राम कहते हैं कि विप्र की पूजा से केवल पुण्य ही नहीं मिलता बल्कि सभी देवी-देवताओं समेत मैं भी वश में हो जाता हूँ। **'मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताकें सब देव।।'** *(३/३३)*; **'संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।'** *(७/४५)*- भक्ति मेरी मिलेगी लेकिन सेवा शंकर की, शिवस्वरूप गुरुदेव की! **'मोतें संत अधिक करि लेखा।'** *(३/३५/३)*- मुझसे अधिक सन्त की सेवा। **'तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी।।'** *(२/१२८/८)* श्रद्धा परमात्मा में; किन्तु पूजा सद्गुरु की। लक्ष्य परमात्मा; किन्तु माध्यम सद्गुरु। **'हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई।'** *(७/१०८/११)*- तुष्ट हरि को करना है; किन्तु सेवा द्विज की। ध्यान गुरु-पदनख का; किन्तु सूझेगा रामचरित!- यही तो तरीका है।

मानस लिखने के साथ-साथ गोस्वामीजी ने कुछ मानस रोगों का भी वर्णन किया है, जैसे- **'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।'** *(७/१२०/२६)* मोह समस्त व्याधियों का मूल है जिससे बहुत से शूलों की सृष्टि होती है। काम वात है, कफ लोभ है, क्रोध पित्त है- जो छाती को जलाता है, अहंकार गाँठ का रोग है। इस प्रकार कुछ रोगों का चित्रण करते हुए अन्त में निर्णय दिया कि ये अपार हैं। **'जाने ते छीजहिं कछु पापी।'** *(७/१२१/३)*- जान लेने पर ये पापी कुछ क्षीण हो जाते हैं अर्थात् यही पापी हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह यही पाप के उद्गम हैं।

ये भली प्रकार नष्ट कब होंगे? इस पर कहते हैं-

सद्गुर बेद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।।

(मानस, ७/१२१/६-८)

भगवान राम की भक्ति ही संजीवनी जड़ी है, उनमें श्रद्धा ही अनुपान है अर्थात् एक परमात्मा में श्रद्धा। सद्गुरु ही वैद्य हैं; उनके प्रति अटूट विश्वास, उन्हीं के निर्देशन में चलना है। तीसरी बात है विषयों से विरक्ति। इस प्रकार पाप के उद्गम ये रोग भले ही नष्ट हो जायँ अन्यथा करोड़ों उपायों से भी नष्ट नहीं हो सकते। जब वे नष्ट नहीं होंगे, अन्य करोड़ों उपायों से भी नष्ट नहीं होंगे, तो पाप को नष्ट करने का आप कौन-सा उपाय कर रहे हैं?

इन्द्रिय-संयम ही हरि में श्रद्धा और हर की पूजा का आरम्भ है। **'हरि हर निन्दा सुनइ जो काना।'** *(६/३१/२)* हरि और हर की निन्दा वही सुनेगा जिसकी इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं। फिर तो उसकी इन्द्रियों के सभी दरवाजे खुले हैं। निन्दा करना और सुनना ही उसके पास रह जाता है जो भयानक पाप है।

सन्त या सद्गुरु का दर्शन जितना बड़ा पुण्य है, असन्त का दर्शन और सान्निध्य- चाहे वह किसी भी वेश में हो, पाप का कारण बन जाता है, जैसा कि प्रतापभानु के साथ हुआ। मानस की एक घटना है कि प्रतापभानु नामक एक चक्रवर्ती नरेश थे। उनके द्वारा हराया हुआ एक राजा मुनि का वेश बनाकर घोर जंगल में अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। एक बार शिकार का पीछा करते वह नरेश भी मार्ग भूलकर उसी बीहड़ में जा निकले; किन्तु तपस्वी वेशधारी उस राजा को पहचान न सके। उसकी वाणी से प्रभावित नरेश ने अपने लिये एकछत्र, अकण्टक राज्य और सैकड़ों कल्पों तक उसके सुख को भोगने के लिए जरा, मरण और दुःख से रहित शरीर की कामना की, जबकि यह सब उस नरेश को उस समय प्राप्त था।

मुनि वेशधारी उस राजा ने इस कामना की पूर्ति का ऐसा उपाय बताया कि प्रतापभानु को राज्य और वैभव से भी हाथ धोना पड़ा। उनके वंश का समूलोच्छेद हो गया और **'भए सकल अघरूप'** *(१/१७६)*- सब-के-सब पापस्वरूप हो गये जबकि जीवन भर उन्होंने पुण्य के लिए ही प्रयास किया था; किन्तु किन कार्यों द्वारा? उन्होंने गुरु, देवता, सन्त, पितर और ब्राह्मणों की सेवा की थी, राजधर्म का पालन किया था, दान दिया था। वेद, शास्त्र और पुराण सुनते थे। कुआँ, तालाब, ब्राह्मणों के लिए भवन तथा प्रत्येक तीर्थ में देवताओं के लिए मन्दिर बनवाया था। वेद-पुराणोक्त प्रत्येक यज्ञ को हजार-हजार बार किया था, इन सबके फल की कामना भी नहीं थी, फिर भी **'भए सकल अघरूप'**- एक भी पुण्य ने साथ नहीं दिया। गोस्वामीजी इस कथानक के माध्यम से कहना क्या चाहते हैं?

वास्तव में जैसा अभी आपने उपनिषदों का निर्णय सुना, गोस्वामीजी भी वही कहने जा रहे हैं कि आत्मदर्शन की निर्धारित क्रिया से रहित प्रत्येक कर्म का पुण्य सामाजिक

है परमकल्याण के लिए नहीं। यह पुण्य अत्यल्प है। प्रतापभानु की कामना परमात्मा के लिए होती, तो ये संसार की सारी कामनायें स्वतः तृप्त होतीं। इन्हीं भौतिक इच्छाओं के लिये व्याकुल होकर ही तो लोग भगवान की शरण में जाते हैं और उन्हें मिलता भी है। ध्रुव को अचल स्थिति मिली, विभीषण को कल्पभर का राज्य मिला, काकभुशुण्डि कालजयी हो गये। जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि और दुःखों से मुक्ति पाने के लिये ही पूर्वजों ने परमात्मा की कामना की और प्रतापभानु की भी यही कामना थी।

कामना पाप का मूल है, जैसा श्रीकृष्ण कहते हैं, केवल एक को छोड़कर- परमात्मा की कामना और उसके लिए निर्धारित क्रिया अवश्य करनी चाहिये, जिसके पाने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। पूज्य गुरुदेव (स्वामी श्री परमानन्दजी) कहते थे- **'इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहिचान।'** जिसमें मोक्ष की इच्छा ही नहीं है वह कैसा शिष्य? इसी प्रकार जो शिष्य को मोक्ष की राह पर चला न दे, उसके हृदय से रथी होकर उसे बोध न दे दे वह कैसा सद्गुरु?

सद्गुरु का आश्रय महान् पुण्यों का फल और अक्षय पुण्य का स्रोत है; किन्तु जब तक ऐसे सद्गुरु नहीं मिल जाते तब तक आप सन्तों में श्रद्धा रखें, सेवा करें, उनसे परमकल्याण की ही कामना करें। एक परमात्मा में निष्ठा रखें, उनका नाम जपें। भूखे को भोजन और प्यासे को पानी दें, स्नेह दें। इन सबका पुण्य घनीभूत होकर आपको कल्याण के प्रेरक उन सन्तों या सद्गुरुओं की पहचान तक स्वतः पहुँचा देगा। मानस में इस बात पर बल दिया गया है कि **'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।'** *(७/४४/६)*

'सन्त दरस जिमि पातक टरई।' *(४/१६/६)*- सन्तों के दर्शन से पातक टल जाते हैं और भगवान के सम्मुख हो जाने से मिट जाते हैं; किन्तु एक और विशिष्ट धारणा भी पायी जाती है कि तीर्थों के सेवन से भी पाप की हानि और पुण्य की वृद्धि होती है और कदाचित् तीर्थों में कोई पाप ही कर बैठा तो वह पाप अनन्त गुना बढ़ जाता है- **'जिमि तीरथ कर पाप।'** *(६/६७)* अतः एक नवीन प्रश्नबिन्दु आ जाता है कि तीर्थ है क्या? इस पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। महापुरुषों की वाणी-

साधूनां दर्शनम् तीर्थभूता हि साधवः।
काले पलन्ति तीर्थानि सद्यः साधु समागमः।।

सन्तों का दर्शन ही पुण्य है। भूतकाल का सन्त-स्थल ही आज का तीर्थ है। तीर्थ तो कालान्तर में फल देनेवाला होता है; किन्तु साधु-दर्शन तो तत्काल फल देनेवाला होता है। भारतीय जनमानस में ही नहीं अपितु विश्वभर में तीर्थस्थलों को पापनाशक और पुण्यदायक मानने की परम्परा रही है। वास्तव में सन्तों की तपस्थली ही तीर्थ हैं। संसार में जितने भी तीर्थ हैं चाहे जिस मज़हब के हों, विश्व के किसी कोने में हों, सब-के-सब

सन्तों की क्रीड़ास्थली के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं। कहीं उनका जन्म है तो कहीं साधना, कहीं शिष्यों को उपदेश है तो कहीं महाप्रयाण। हाँ, यह बात अलग है कि समय का अन्तराल पड़ जाने के कारण हम उन स्थलियों और उनसे सम्बन्धित महापुरुषों को भी एक चमत्कारिक जामा पहना देते हैं।

तीर्थों के मूल में सन्त ही हैं। महापुरुष ने उस सत्य को कैसे पाया?- बस इस मार्गदर्शन, प्रेरणा और सामूहिक उपदेश केन्द्रों के रूप में ही उन स्थलियों का उपयोग है। वहाँ का वायुमण्डल शुद्ध है, उनकी मनन की हुई जगह है। चिन्तन की भावना से वहाँ जाने पर सहज ही भगवान में मन लगने लगता है। उन महापुरुषों को हम नमन करते हैं, उनसे शाश्वत सत्य को पाने और समृद्धि की कामना करते हैं। देखादेखी दान-पुण्य भी होता है और जो साधन द्वारा चलकर परमात्मा में खो गये हैं अथवा उस पथ के पथिक हैं ऐसे क्रियावान् पुरुष दान के अधिकारी भी हैं। पण्डे-पुजारियों को लेकर कुछ गन्दगी निःसन्देह आ जाती है; किन्तु समय स्वयं ही उसकी धुलाई कर देता है। साथ ही तीर्थों की पवित्रता बनाये रखना सभी का दायित्व है और इस परिप्रेक्ष्य में सबकी सतर्क दृष्टि रहनी चाहिये।

समाज के लगभग शत-प्रतिशत लोगों के लिये तीर्थों का उपयोग है। इन स्थलियों में आते-जाते जिसे आत्मिक पथ का बोध हो गया, जो इस पथ पर चलने लगे, मन के अन्तराल में ही चित्तवृत्तियों को प्रवाहित करने की क्षमता आ गई तो उसे मन में सिमटकर आत्मदर्शन की ओर चलना है। पार्वतीजी से भगवान शिव कहते हैं-

इदं तीर्थं इदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कुतः मोक्षः शृणु प्रिये।।

यह तीर्थ है! यह तीर्थ है!- ऐसा कहते हुए तामसी लोग भटकते रहते हैं। वे अपने भीतर आत्मतीर्थ को नहीं जानते। ऐसे लोगों के लिये मोक्ष कहाँ। वस्तुतः चिन्तनरत साधक के लिये तीर्थों का विधान नहीं है अपितु अधिक से अधिक समय चिन्तन में देने का विधान है, अविरल चिन्तन का विधान है; किन्तु ऐसे लोग हजार में एक होते हैं- **'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी।।'** *(७/५३/१)* शेष निन्यानबे दशमलव नौ प्रतिशत लोगों के लिए तीर्थ का पूर्ण महत्व है, मन्दिर ही आरम्भिक प्रेरणा-स्थल हैं।

तीर्थाटन साधन समुदाई।
जोग बिराग ग्यान निपुनाई।। *(७/१२५ ख/४)*
जहँ लगि साधन बेद बखानी।
सब कर फल हरि भगति भवानी।। *(७/१२५ ख/७)*

तीर्थाटन इत्यादि सभी साधन का एकमात्र फल है भगवान की भक्ति। अतः जहाँ जाने से श्रद्धा सब ओर से सिमटकर सर्वत्र व्याप्त एक परमात्मा में स्थिर न हो जाती हो, जहाँ आत्मदर्शन की विधि न बतायी जाती हो, लोग स्वयं क्रिया में चलकर आपको भी आत्मपथ पर चलने का आह्वान न करते हों, जहाँ जाने से विषयों से वैराग्य और इन्द्रिय-संयम की प्रेरणा-प्रोत्साहन न मिलता हो, वह तीर्थ तीर्थ नहीं है, वह मन्दिर मन्दिर नहीं है। वहाँ जाने से आपका नुकसान होगा, कल्याण कदापि नहीं।

जो स्वयं पवित्र हो गये हों और आपको भी पवित्र करने की क्षमता रखते हों वे तीर्थ हैं, इसीलिये जैन समाज में महापुरुषों को तीर्थंकर कहा जाता है और चिन्तन के इस पवित्र पथ में जो भी आ गया वह तीर्थ का निवासी है। पूज्य महाराजजी इसी को लक्ष्य करके कहते थे कि घर में रहकर भजन करो। यदि गलती करोगे तो भगवान क्षमा कर देंगे; किन्तु घर छोड़ने के बाद चिन्तन के इस पथ में यदि थोड़ी भी गलती हुई तो भगवान कभी क्षमा नहीं करेंगे, उसका इलाज करेंगे। **'जिमि तीरथ कर पाप'**- वह तीर्थ का पाप है।

प्रश्नोत्तरी में आदि शंकराचार्य कहते हैं, **'तीर्थं परं किं?'**- सर्वश्रेष्ठ तीर्थ कौन है? **'स्वमनो विशुद्धः'**- विशेष रूप से शुद्ध किया हुआ अपना मन ही सर्वोपरि तीर्थ है। जिन महापुरुषों के अन्तःकरण में लोगों को पवित्र करने की क्षमता आ गई, बाहर उनकी निवासस्थलियों पर भी उनकी इस क्षमता का प्रभाव पड़ा, इसीलिये तीर्थों के दो स्वरूप हैं। रामचरितमानस में भी प्रयाग, चित्रकूट, काशी, कैलाश, अवध इत्यादि जिन तीर्थों और गंगा, यमुना, गोदावरी, सरयू और मंदाकिनी-प्रभृति जिन पवित्र नदियों का वर्णन है वे सभी बाह्य स्थलियों के साथ-साथ मानसिक तीर्थ भी हैं और जिन विशेषताओं का वर्णन मानस में है वह बाहर इन नामों के किसी स्थान पर ढूँढ़ने पर नहीं मिलेंगी।

उदाहरण के लिये प्रयाग को लें। जिन महापुरुषों के अन्तःकरण में प्रयाग की स्थिति आ गई, बाहर उनकी निवासस्थली भी प्रयाग बन गयी। स्वयं भगवान कहते हैं- **'तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत जन्म कोटि अघ भागा।।'** *(६/११६/७)* चौरासी लाख जन्मों के ही नहीं, करोड़ों जन्मों के पाप प्रयाग देखने से भाग जाते हैं; किन्तु देखनेवालों का शोक-सन्ताप बना ही रहता है, पाप का परिणाम भय, रूज, शोक, वियोग, जन्म-मरण लगा हुआ है तो कैसे मान लें कि पाप दूर हो गये? कहते हैं कि प्रयाग में **'चारि पदारथ भरा भंडारू।'** *(२/१०४/४)* किन्तु इस जन्म में मिलता दिखायी तो नहीं देता?

एक अन्य प्रयाग का भी वर्णन मानस में है-

मुद मंगलमय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।। *(१/१/७)*

सन्त समाज चलता-फिरता प्रयाग है। यह प्रयाग प्रेम का है, भक्ति का है, मंगल का है। इस प्रयाग में भगवान के चरण-कमलों में प्रीति का आविर्भाव होता है जिससे **'लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग।'** *(१/२)* चारों फल मरने के बाद नहीं बल्कि इस शरीर के रहते प्राप्त हो जाते हैं। आखिर दो प्रयाग बताकर गोस्वामीजी कहना क्या चाहते हैं? यही कि मानस तीर्थ भी है और लोक में प्रचलित प्रयाग की अपेक्षा सन्त समागम से पैदा होनेवाला प्रयाग प्रत्यक्ष फलवाला और श्रेष्ठ है। अतः इस मानस तीर्थ को भी अपने में शोध करें, इस तीर्थ को अपने में ढालने का यत्न करें। भगवान स्वयं अनन्त कोटि तीर्थों से बढ़कर पवित्र हैं- **'तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन।।'** *(७/६१/२)* इधर तीर्थों से पवित्रता आती है, उधर नाम से पाप का निवारण है। नाम भी पवित्र करता है- **'कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते।'** (७/१२६/छन्द १) भगवान के 'पावनं पावनानाम्' नाम में तीर्थ के सृजन की क्षमता है।

इसी प्रकार की मानसिक नदी है मानस की मन्दाकिनी। लिखा है-

सुरसरि धार नाउँ मन्दाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि।। *(२/१३१/६)*

यह मन्दाकिनी गंगाजी की धारा है। लगता है कि इन गोस्वामीजी को भूगोल का भी ज्ञान नहीं है। ऐसा ही वे सरयू के लिये भी लिखते हैं कि- **'नदी पुनीत सुमानस नन्दिनि।'** *(१/३८/१३)*; **'मानस मूल मिली सुरसरिही।'** *(१/३६/५)* पवित्र सरयू मानसरोवर से निकली है और गंगा में मिल जाती है। गोस्वामीजी क्या इतना भी नहीं जानते थे कि मन्दाकिनी न तो गंगा से निकली है और न सरयू मानसरोवर से। इसी प्रकार न तो मंदाकिनी गंगा में मिलती है और न सरयू। किन्तु वास्तव में ऐसा ही है। गोस्वामीजी की मानस में रामभक्ति ही सुरसरि की धारा है और रामकथा ही मन्दाकिनी है। कथा भक्ति का ही एक अंग है, आरम्भिक स्तर है। मन्दगति से चलनेवालों की अवस्था का प्रतीक है मन्दाकिनी, इसीलिए पाप को नहीं **'पातक पोतक'**- पाप के बच्चों को ही खाने में सक्षम है। कुछ ऐसा ही सरयू का स्वरूप है तथा अन्य तीर्थों का भी।

बाह्य तीर्थ मानसिक तीर्थों की योग्यता प्रदान करते हैं। सहसा कोई मानसिक पवित्रता नहीं पा सकता। इसी का प्रतिपादन सन्त कबीर करते हैं-

तीरथ गये एक फल, सन्त मिले फल चारि।
सद्गुरु मिले अनन्त फल, कहै कबीर विचारि।।

'तीरथ गये एक फल'- तीर्थों में जाने से एक फल यही है कि पुण्य-पुरुषार्थ बढ़ता है, जो आपको जागृत सन्त से मिला देता है। **'सन्त मिले फल चारि'**- सन्तों के मिलते ही अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों का स्रोत खुल जाता है। इन्हीं सन्तों में सद्गुरु हैं, कहीं सद्गुरु मिल गये तो **'अनन्त फल'**- जो अनन्त है, असीम है, शाश्वत

एवं एक है, वह परमतत्त्व परमात्मा सुलभ हो जाता है।

सांसारिक व्यवस्थाओं के लिये सामाजिक नियमों के साथ पाप और पुण्य की जो अवधारणा जुड़ गई है, गोस्वामीजी उसे जगत् के अन्तर्गत और विधाता का प्रपंच मानते हैं- **'बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना।'** *(१/५/४)* प्रपंच है क्या? **'दुख सुख पाप पुन्य दिन राती।'** *(१/५/५)* पाप और पुण्य प्रपंच है। संसार में इन नियमों के पालन को पुण्य मानने की परम्परा है; किन्तु आत्मदर्शन की क्रिया से रहित होने के कारण उपनिषदों के ही स्वर में गोस्वामीजी इन्हें प्रपंच कहते हैं और कदाचित् ये आत्मदर्शन में बाधक हों तो गोस्वामीजी इन सबके जल जाने की कामना करते हैं- **'सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।।'** *(२/२६०/१)* सामाजिक मर्यादाएँ अपनी जगह हैं, उनकी उपादेयता भी है; किन्तु आत्मदर्शन के पथ पर इन मर्यादाओं का पाप-पुण्य से प्रयोजन नहीं रह जाता। भगवान कहते हैं- **'गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।।'** *(३/१५/१०)* वह मेरी ही सेवा करे। अन्य किसी के भी प्रति उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। **'पाप पुण्य की करे न आसा। सो पहुँचे रघुनायक पासा।।'**

एक ओर वे कहते हैं- **'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।'** *(२/२७/५)* कि झूठ के बराबर कोई पाप नहीं है; किन्तु उसी मानस में कहते हैं- **'समुझि न परइ झूठ का साचा।'** *(३/१०/२४)* एक दृष्टि से देखने पर जो वस्तु सत्य लगती है दूसरी दृष्टि से प्रतीत होता है कि इससे बड़ा झूठ तो कुछ हो ही नहीं सकता। आप कहते हैं- यह वस्त्र हमारा है, यह नाम है। अपनी समझ से तो आप सच ही बोल रहे हैं; किन्तु जब शरीर ही आपका नहीं है तो वस्त्र आपका कैसे हो गया? गर्भ में आप ही थे, क्या उस समय भी आपका यही नाम था? यही आगे भी रहेगा? कब तक? जो आपका है उस पर तो आपका अधिकार होना चाहिये, फिर आपके स्वजन असमय में ही क्यों चले जाते हैं? इसलिये जब गोस्वामीजी कहते हैं- **'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।'** तो उनका अभिप्राय क्या है? वास्तव में परमात्मा ही एकमात्र सत्य है- **'ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी।।'** *(१/२२/६)* वही सत्य है। परम चेतन, असीम और अनन्त आनन्द की राशि है, और कोई सत्य है ही नहीं। इनका पालन ही पुण्य है और इसके विपरीत होना, इस 'सत्य' को विस्मृत कर देना अर्थात् परमात्मा को विस्मृत कर देना ही पाप का पुञ्ज है।

उपशम

हम अच्छे कार्य ही क्यों करें?- इस सम्बन्ध में गीता (१५/२) का निर्णय है कि मनुष्य कर्मों का रचयिता है- **'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।'** इस शरीर में अच्छे-बुरे कर्म द्वारा दोनों प्रकार के संस्कार बनाने और नष्ट करने की क्षमता है। यदि मनुष्य राग और

द्वेष से प्रेरित होकर ही कार्यों को करता रहेगा तो उसी प्रकार के संस्कार बनते रहेंगे, अन्तकाल में भी उन्हीं का चिन्तन रहेगा और इन संस्कारों के अनुरूप आगामी शरीर में भी वही करता रहेगा तो परमात्म-चिन्तन का मौका ही उसे कब मिला? इन कार्यों को करते रहने से वह अपने वास्तविक कल्याण से वंचित रह जायेगा। अतः पाप और पुण्य केवल संस्कार बनाते हैं, जबकि परमात्मा को विदित कराने की क्रिया इन संस्कारों का निरोध करती है।

मन एक भी क्षण शान्त नहीं रहता। संकल्प का नाम ही तो मन है। यह हमेशा कुछ-न-कुछ करता ही रहता है किन्तु एक समय में केवल एक काम करता है। नियत कर्म आराधना तथा माता-पिता एवं गुरुजनों की सेवा, देश-सेवा, समाज-सेवा और इसके विपरीत अविहित कर्म चोरी-बेईमानी तक जो कुछ भी आप करते हैं, अपने लिये संसार का एक संस्कार ही तो तैयार कर रहे हैं, जिसे आप ही को भोगना है और भोगने के लिये शरीर धारण करना है। अतः अधिक से अधिक समय चिन्तन में दें, जो जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाकर आपको अनन्त आनन्द में स्थिति प्रदान कर दे। यही पाप से बचने का और पुण्य अर्जित करने का एकमात्र स्रोत है। विकार मन में होते हैं तन में नहीं, रोएँ में नहीं, अतः शरीर धोने से वे कभी नष्ट नहीं होंगे। भजन इन मानसिक विकारों का मानसिक उपचार है।

सारांशतः पाप और पुण्य के प्रश्न पर वेद, उपनिषद्, गीता, रामचरितमानस और संसार भर के महापुरुषों का एक ही निष्कर्ष है। ईसाई, यहूदी और इस्लाम विचारधाराओं में भी इसी का अंश है। वे भी पाप का कारण शैतान को मानते हैं कि शैतान कोई अदृश्य जीव है जो मनुष्य-शरीर के बाहर रहकर भी उसे अल्लाह या गॉड की आज्ञा न मानने को उकसाता है, जबकि भारतीय मनीषी इस बिन्दु को अधिक स्पष्ट करते हुए देवता और असुरों को मानव में अन्तर्निहित गुणों के रूप में देखते हैं तथा मानव-शरीर में ही चराचर जगत् का बीज और उसके भी नियामक परमात्मा को जानते हैं। राग और द्वेष के जन्मदाता के रूप में असुरों तथा इसके विपरीत शम, दम, विवेक, वैराग्य, धारणा, ध्यान इत्यादि दैवी सम्पदा के गुणों की स्वाभाविक मान्यता विचारधारा को अधिक ग्राह्य बना देती है।

भारतीयेतर विचारधाराएँ भी पाप का परिणाम मृत्यु मानती हैं कि आदम का मूल पाप हमें भोगना पड़ रहा है जन्म लेकर! और अपने जीवन में जो पाप करेंगे, उसका परिणाम सदा-सदा के लिये दोज़ख- सुधरने का कोई अवसर नहीं, जबकि भारतीय मनीषी पुनर्जन्म में नारकीय जीवन से छुटकारा बताते हैं और बारम्बार जन्म एवं मृत्यु को इसी पाप का परिणाम, अपने कर्मों का परिणाम मानते हैं। आजकल विश्वस्तर पर प्रकाश में आनेवाली पुनर्जन्म की अगणित घटनाओं को छोड़ भी दें, यदि केवल इतना

ही मान लें कि यह जीवन ही अन्तिम जीवन है, तब तो ईश्वर और सामाजिक नैतिकता के नियमों का भी औचित्य नहीं रह जाता। जिस सत्ता को हम देख नहीं रहे हैं और उसके विषय में कुछ दिखा भी नहीं रहे हैं, केवल यह कहकर उसे कैसे मनवाया जा सकता है कि उसे न मानने पर मरने के बाद यातनायें मिलेंगी, यदि वह है तो उसे जाना जा सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं- वही तो एकमात्र सत् है। उसे इसी शरीर में, इसी जीवन में न केवल जाना जा सकता है बल्कि वह आपके दर्शन, स्पर्श और प्रवेश के लिये भी सुलभ है। प्रत्येक भारतीय महापुरुषों की यही अनुभूति रही है। **'जानें बिनु न होइ परतीती।'** *(मानस, ७/८८/७)*- बिना जाने कोई बात मान लेना विश्वास नहीं अन्धविश्वास कहलाता है।

इस्लाम विचारधारा में पुण्य का परिणाम सदा-सदा के लिये जन्नत- जिसमें शीतल जल के चश्में, शराब के झरनें, मेवें, हूरें और गुल्में हैं, सांसारिक दुर्लभ वस्तुओं से मिलती-जुलती वस्तुओं का प्रचुर मात्रा में भोग है, जबकि भारतीय मनीषियों की अनुभूति में पुण्य की परिणति उस परमात्मा की प्राप्ति में है जो अनन्त किन्तु अनिर्वचनीय आनन्द स्वरूप है। यह आनन्द भोग का नहीं अपितु आप्तकामता का है। इस सम्बन्ध में ईसा के विचार भारतीयों के निकट लगते हैं कि एक परमात्मा और ईसा में विश्वास का परिणाम अनन्त जीवन है, शब्दों में प्रचुर साम्य झलकता है। ईसा की कुछ अन्य उक्तियाँ भी इसी तरह की साम्य रखती हैं- 'मैं प्रभु में हूँ और प्रभु मुझमें हैं।...', 'मैं तुम्हारे पिता और अपने पिता के पास जाता हूँ।...', 'जो मुझमें विश्वास रखेगा, वह मेरे जैसा ही कार्य कर सकेगा बल्कि मुझसे भी बड़ा कार्य करेगा।...' किन्तु ईसाई उन्हें ईश्वर का इकलौता बेटा मानकर स्वयं ईश्वर का वैसा बेटा बनने का यत्न छोड़ बैठते हैं और इस्लाम के अनुयायी भी यह मानकर बैठ जाते हैं कि आदमी खुदा नहीं हो सकता। मुहम्मद अल्लाह के सन्देशवाहक मात्र थे, नबी थे। सभी नबियों पर ईमान लाओ लेकिन मानो इस्लाम को! 'मुहम्मद साहब अन्तिम नबी हैं।'- इस प्रकार आगे किसी के वैसा होने का रास्ता ही बन्द हो जाता है। किन्तु जिन सूफियों ने मुहम्मद के आशय को समझा, उन्होंने उन जैसी साधना की तो पा गये- **'देखते-देखते क्या से क्या हो गया। कतरा दरिया में गिरा तो फना हो गया।'** उनको न कयामत का इन्तजार करना पड़ा, न जन्नत जाना पड़ा और न दोज़ख का खतरा रहा। वे खुदा में प्रवेश पा गये। कुछ वैसी ही अनुभूति उन्हें भी हुई- जैसा भारतीय चिन्तन में है।

पाप-निवारण के प्रश्न पर ईसाई प्रार्थना पर विशेष बल देते हैं, धर्मगुरु (पोप) के समक्ष (confession) पाप कबूल करके उनसे यही क्षमादान ले लेते हैं। कुरान शरीफ में भी है कि जो तौबा करता है, ईमान लाता है, नेकी का काम करता है, मैं उसके गुनाहों को क्षमा कर देता हूँ। पापों की पुनरावृत्ति न हो, इसके लिये हार्दिक

पश्चाताप का भारतीय दर्शन में भी महत्व है किन्तु इसके साथ ही भारतीय विचारधारा में पाप समूल नष्ट करने के लिए एक निर्धारित क्रिया द्वारा चलकर परमात्मा में प्रवेश पा लेने का विधान है। दोनों विचारधाराओं में अन्तर का मुख्य कारण यह नहीं है कि उन महापुरुषों को इन क्रियाओं को बताने और उस पर समाज को चलाने का अवसर ही नहीं मिला, गुमराह समाज को एक परमात्मा के प्रति झुकाने तक में ही उनका समय पूरा हो गया, जो आत्मिक पथ की प्रवेशिका है।

भारतीय विचारधारा में जैसा महत्त्व सद्गुरु का है कुछ वैसा ही स्थान इन विचारधाराओं में पैगम्बरों का है कि सद्गुरु या पैगम्बरों के बिना कोई भगवान से मिल नहीं सकता या स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता और न किसी के पाप माफ किये जायेंगे; किन्तु वे मानते हैं कि पैगम्बर इस मानवता के लिये अन्तिम व्यक्ति थे, अपने लोगों के बीच उन जैसा होना न केवल असम्भव है बल्कि उस स्थिति को प्राप्त करने की कामना भी गुस्ताखी है- जबकि भारतीय विचारधारा में गुरु शिष्य को अपने जैसा ही बनाकर छोड़ता है और प्रत्येक शिष्य गुरु का गुरुत्व पाने की दिशा में प्रयत्नशील भी रहता है। भारतीय चिन्तन में सद्गुरु को इष्ट के रूप में पूजने और उनके द्वारा अचेत आत्माओं की जागृति, हृदय में यौगिक क्रियाओं की उनके द्वारा जागृति का जो विधान है, इन विचारधाराओं में इसका सर्वथा अभाव है।

एक परमात्मा और एक गुरु में विश्वास आपको सत्य के द्वार तक ले जा सकता है; किन्तु उस सत्य की अनुभूति के लिये हृदय से सद्गुरु की जागृति और उनके द्वारा निर्दिष्ट क्रिया द्वारा परमात्मा में प्रवेश पा लेने का विधान है, जहाँ पहुँचकर पापों के शमन के साथ ही पुण्य भी अपना कार्य पूरा कर सदा-सदा के लिये शान्त हो जाता है, जैसा कि उपनिषद् के ऋषियों की अनुभूति है कि ऐसा व्यक्ति पाप और पुण्य से भी असम्बद्ध हो जाता है। गीता में अर्जुन ने देखा कि कौरव-पक्ष के अनन्तर पाण्डव-पक्ष के लोग भी योगेश्वर में समाहित होते जा रहे हैं, मुखों में चूर्ण होते जा रहे हैं। पुण्य का अर्जन किया जाता है; किन्तु पापों का शमन होने के पश्चात् पुण्य स्वतः शान्त हो जाता है। अतः एकमात्र पुण्य यह है कि निर्दिष्ट क्रिया का आचरण करें।

समाज के अन्तर्गत सदाचार और सद्व्यवहार भी पुण्य हैं जिनके अन्तर्गत सच बोलना पुण्य है, परोपकार पुण्य है, ईमानदारी पुण्य है- जैसा कि अधिकांश धर्मग्रन्थों तथा कन्फ्यूशियस, प्राचीन यूनानी विचारधाराओं में भी है; किन्तु इन छोटे-छोटे स्तरों से चलते-चलते जो एक परमात्मा के सम्मुख कर दे, उस आत्मदर्शन की क्रिया का पालन भली प्रकार पुण्य है, भले ही बीच में स्वर्ग की कामना हो गई। श्रीकृष्ण कहते हैं- मैं वह भी देता हूँ। भगवान राम कहते हैं- **'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे'** ***(मानस, ३/४१/५)***। निःश्रेयस के साथ लौकिक समृद्धि स्वतः मिलती है- **'तिमि सुख सम्पति**

बिनहिं बोलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ।।' *(मानस, १/२९३/३)* वह सब भी मिलती है; किन्तु सीधे एक परमात्मा से माँगने के कारण, साधना विधिसम्मत होने के कारण वह पुरुष शाश्वत धाम पा जाता है। फिर उसका पतन नहीं होने पाता।

अन्त में एक बार फिर से समझ लें। पाप वह है जो पतन की ओर ले जाय, नीचे गिराये- न केवल परलोक में अपितु इस लोक में भी जीवन दुःखमय बना दे और पुण्यकर्म वह है जो पूर्णत्व प्रदान करे- इस लोक में आपको भरा-पूरा रखे और परलोक में शाश्वत धाम दिला दे। जो जन्म-मरण का कारण बनता है वह पापकर्म है और जो उससे उबार कर शाश्वत परमधाम दिला दे वह पुण्यकर्म है। यह पुण्य एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करने और उसके लिये निर्धारित क्रिया के करने से मिलता है। आत्मदर्शन की निर्धारित क्रिया के आचरण से संसार के सारे भोग तो मिलते ही हैं- **'सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अन्तकाल रघुपति पुर जाहीं।।'** *(मानस, ७/१४/४)* अन्त में शाश्वतधाम में प्रवेश भी मिल जाता है। इतने पर भी लोग दुःखी हैं तो हमारी दुःख, दैन्य और गरीबी का कारण मात्र एक परमात्मा में अश्रद्धा का होना ही है, अन्य कोई भी बाधक नहीं है।

सच्चाई, ईमानदारी, निष्कपट स्वभाव इत्यादि भी सचमुच ही पुण्य हैं; क्योंकि किसी व्यक्ति का ऐसा आचरण उसके स्वच्छ मन का प्रतिबिम्ब है। यदि दैनिक जीवन में कोई व्यक्ति सदाचारी है, रहन-सहन में सफाई है, चरित्र में गमक है तो आत्मिक पथ पर भी वह उसी सरलता से चल निकलेगा।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। *(मानस, ५/४३/५)*

अतः सन्त-सत्पुरुषों द्वारा अनुमोदित सदाचार, शिष्टाचार, सद्व्यवहार का पालन करते हुए आत्मदर्शन की नियत क्रिया में लगें। चिन्तन की नियत क्रिया में भी आपको केवल इतना ही तो करना है- एक परमात्मा में श्रद्धा, उसके नाम का जप और सद्गुरु का सान्निध्य। क्या आप इतना भी नहीं कर सकते? इतना ही तो धर्म है! जब इतना ही धर्म का मूल है तो इसके अतिरिक्त आप करते क्या हैं और क्यों करते हैं? अतः भली प्रकार गृहस्थी का निर्वाह करते हुए इसके लिये भी कुछ समय अवश्य दें। **'जासु नाम पावक अघ तूला।'** *(मानस, २/२४७/२)* नाम-चिन्तन की अग्नि सुलगने भर की देर है फिर तो पाप की रूई लाख मन ही क्यों न हो, भस्म होते देर नहीं लगती। **'राम नाम आधी रती, तुलसी पाप पहार।'**- पाप का पहाड़ ही क्यों न हों, चिन्तन की सही प्रक्रिया पकड़ते ही वह भी स्वाहा हो जाता है। अस्तु सही विधि से चिन्तन में लगें।

विचार-विमर्श हेतु आपका एवं आपके सुझावों का सदैव स्वागत है।

।। ॐ ।।

सनातन-धर्म

धर्म के लिए झगड़े व्यर्थ हैं। विश्वभर में धर्म एक है, यदि दो है तो धोखा है। जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं। धर्म में सचाई नहीं है तो जीवन भी निरर्थक है। – स्वामी अड़गड़ानन्द

बन्धुओ!

इस संसार में छोटे-से कीट से लेकर चक्रवर्ती सम्राट तक सभी किसी-न-किसी दुःख से निवृत्ति का यत्न करते हैं फिर भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। मृगतृष्णा के सदृश जिन विषयों के पीछे मनुष्य सुख समझकर दौड़ता है, प्राप्त होने पर वे भी दुःख ही सिद्ध होते हैं। लगता है, सुख कहीं इसके आगे है। इसीलिये आदिशास्त्र गीता में भगवान ने बताया- **'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'** *(गीता, ६/३३)*- सुखरहित क्षणभंगुर शरीर पाकर मेरा भजन कर! इसी उपदेश पर चलकर पूर्व मनीषियों ने दुःख से परे सुख और नश्वर से परे शाश्वत की खोज आरम्भ की। उन्होंने शोध का परिणाम घोषित किया, **'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'** *(श्वेताश्वतर उप०, २/५)*- अमृत-अंश विश्वभर के लोग सुनें। **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'**- मैंने उस परम पुरुष परमात्मा को भली प्रकार जान लिया है, जो **'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।'**- प्रकाशस्वरूप और तम से परे है। **'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'**- केवल उसी को जान लेने पर मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है। **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** *(श्वेताश्वतर उप०, ३/८; यजुर्वेद, ३१/१८)*- इसके अतिरिक्त अन्य कोई शाश्वत सुख का मार्ग नहीं है।

अन्वेषण के इसी क्रम में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की कथा आती है। याज्ञवल्क्य का मन जब सांसारिक भोगों से तृप्त न हुआ तो ऋषियों से मिले, उनसे साधन-क्रम समझा और इसी परमात्मा की शोधहेतु जंगल में जाने लगे। अपनी भार्या मैत्रेयी को धन-दौलत देने लगे। मैत्रेयी ने पूछा- ''क्या इस सम्पत्ति से मैं अमर हो जाऊँगी?'' याज्ञवल्क्य ने कहा- ''नहीं, इससे इतना ही होगा कि जैसे धनी लोग जीवन-निर्वाह करते हैं, वैसे ही तुम भी करोगी।'' मैत्रेयी ने कहा- ''तो फिर यह सब लेकर भी क्या करूँगी, जिससे मृत्यु का भय बना रहे। वह वस्तु दीजिये जिससे मैं अमर हो जाऊँ, कोई शोक न रहे।'' याज्ञवल्क्य ने उसे भी एक परमात्मा की प्राप्ति की विधि बतायी। आज भी वैदिक युग की महान् नारियों में मैत्रेयी का नाम श्रद्धा से लिया जाता है।

जीवन और मृत्यु के इसी रहस्य को जानने के लिए, दुःखों से बचने और समस्त प्राणियों को बचाने की विधि बताने के लिए ही गौतम बुद्ध ने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं इसे जान नहीं लूँगा, तब तक राजधानी कपिलवस्तु के भीतर पैर नहीं रखूँगा। महात्मा ईसा कहते हैं- (For what it is a man profited if he shall gain the whole world and lose his soul.) ''इससे बड़ी हानि क्या होगी कि आदमी संसार भर का वैभव पा जाय; किन्तु अपनी आत्मा को ही खो दे। पहले ईश्वर के राज्य में प्रवेश पा लो, बाकी सभी चीजें तुम्हें अपने आप मिल जायेंगी।'' मुहम्मद साहब भी कहते हैं- ''बड़ा नुकसान उठाया उन्होंने, जिन्होंने अल्लाह को न जाना।'' इस प्रकार सभी महापुरुषों का एक ही निर्णय रहा कि दुःखों से बचने के लिए, शाश्वत शान्ति और भौतिक समृद्धि के लिए भी परमात्मा को विदित कर लेना आवश्यक है।

स्मरणीय है कि सृष्टि के आदि में अविनाशी योग का उपदेश भगवान ने सूर्य को किया था। वह आदि धर्मशास्त्र था। सूर्य से उसी को मनु ने अपनी स्मृति में धारण किया। इस स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए महर्षि व्यास ने इसी आदिशास्त्र को सूत्र रूप में भगवान श्रीकृष्णोक्त गीता और उसका विस्तार वेद के रूप में प्रस्तुत किया। वेदग्रन्थों की संख्या चार है, जिसे कालान्तर में समझने-समझाने के लिए आचार्यों ने उपवेद, वेदांग, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषदों की रचना की।

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' *(कठोपनिषद्, १/२/१५)*- सभी वेद जिस एक परमात्मा का मनन करते हैं, उसी परमात्मा को देखने की विधि का वर्णन मुनियों ने सूत्ररूप में दर्शनशास्त्रों में किया। **'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'**- जिसके द्वारा उसे देखा जाय, ऐसे छः शास्त्र- सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं; किन्तु इसके अनुयायी 'ईश्वर उपादान कारण है अथवा निमित्त कारण? साधक अन्त में ईश्वर बन जाता है कि ईश्वर के समान?'- इन्हीं प्रश्नों में बाल की खाल निकालते-निकालते द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत इत्यादि साम्प्रदायिक संगठनों में संकुचित होते गये। शास्त्रार्थ प्रधान बन बैठा। हृदयस्थ परमपुरुष के शोध की क्रिया धूमिल पड़ गयी। एक धर्म के स्थान पर तान्त्रिक, पाशुपत, पाञ्चरात्र, शाक्त, सौर, गाणपत्य, शैव, वैष्णव, नागपंथी, जैन, बौद्ध, हीनयान, महायान, ब्रजयान, सौतांत्रिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक, श्वेताम्बर, दिगम्बर, दक्षिणमार्गी, वाममार्गी- न जाने कितने सम्प्रदायों और परस्पर विरोधी पूजा-पद्धतियों का बाहुल्य हो चला। शाश्वत का पुजारी नश्वर के पीछे भटकने लगा।

आजकल संसार में प्रचलित प्रचार-प्रसार विरत सनातनी, हिन्दू, जैन, सिख, पारसी, यहूदी तथा प्रचार व संख्या-विस्तार में लगे बौद्ध, ईसाई और इस्लाम विचार-

धाराएँ धर्म नहीं हैं। महापुरुष प्रत्येक देश-काल में होते आये हैं। उनके उपदेशों को जीवित रखने के लिए संस्थाएँ बनायी जाती हैं, ग्रन्थ लिखे जाते हैं और उनकी मूर्ति भी बना ली जाती है- आदर्श पुरुष की स्मृति के लिए। किन्तु कालान्तर में संस्थाएँ, पूजन स्थल, उनकी गद्दी पर बैठनेवाले आचार्य और उनके द्वारा परिवर्द्धित क्रियायें ही धर्म बन जाती हैं। महापुरुष गौण बना दिया जाता है। मन्दिर, मस्जिद, चर्च और गुरुद्वारों में जाना ही धर्म बन गया है। राम, कृष्ण, ईसा और नानक के नाम धूमिल पड़ गये हैं। धर्म के स्थान पर प्रचलित ये विचारधाराएँ नाम तो लेती हैं आध्यात्मिकता का, जो उनमें से कब की विस्मृत हो चुकी है, उनमें रह गई है केवल असहिष्णु संगठन वृत्ति। हाँ, दूसरे सम्प्रदायों से लड़ने के लिए सभी एक हैं।

अपने को सनातन कहनेवाला हिन्दू-धर्म भी दो भागों में बँटा है- श्रौत-धर्म और स्मार्त-धर्म। श्रौत-धर्म में संस्कार और कृतियाँ आती हैं, जिनका उल्लेख वैदिक संहिताओं में है, जैसे- अग्नियों की प्रतिष्ठा, यज्ञ और सोमकृत्य, जिन्हें आज का समाज जानता भी नहीं। स्मार्त-धर्म में उन कर्तव्यों की चर्चा है जिनका वर्णन मनु तथा अन्य महापुरुषों के नाम से प्रचारित तथाकथित स्मृतिग्रन्थों में है, जिन्हें धर्मशास्त्र भी कहा जाता है।

इन तथाकथित धर्मशास्त्रों में धर्म के कई रूप मिलते हैं, जैसे- विशिष्ट धर्म वह है जिसका पालन वर्ण-विशेष अथवा आश्रम-विशेष के सदस्यों द्वारा आवश्यक ठहराया गया है, जैसे- अपनी जीविका के लिए ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ और दान का आश्रय ले। क्षत्रिय रक्षा-कार्य देखे। वैश्य कृषि, गो-रक्षा और व्यापार करे तथा शूद्र सेवा करे। आश्रम-धर्म में जीवन के प्रारम्भिक पचीस वर्षों तक विद्याध्ययन, पचास वर्षपर्यन्त शादी-विवाह और परिवार का पालन-पोषण, इसके उपरान्त वानप्रस्थ आश्रम में गृह त्यागकर विषयों के प्रलोभन से मुक्त होने का प्रयास तथा पचहत्तर वर्ष के बाद मोक्ष-साधन की योजना रखी गयी।

सामान्य धर्म वे हैं, जिनका पालन सभी को करना था, जैसे- किसी जीव को कष्ट न देना, सच बोलना, लेन-देन में ईमानदारी बरतना, दान-दया-क्षमा। इनके साथ ही चोरी, व्यभिचार, अभक्ष्य भोजन, ईर्ष्या, चुगलखोरी, मान-सम्मान, छल-कपट इत्यादि का त्याग तथा यज्ञ, दान और तप इत्यादि काम्यकर्मों को अपने स्वार्थ के लिए न करना धर्म बताया गया है।

निमित्त धर्म विशेष अवसरों पर किये जाते हैं। देश-धर्म और युग-धर्म की भाँति आपत्ति काल में इन नियमों में दी गई शिथिलता को आपद्-धर्म तथा राजकीय कर्तव्यों को राजधर्म कहा गया है। परधर्म उसको कहा गया, जिसके अनुयायी भिन्न हों। इसी प्रकार चल-धर्म कुछ काल तक ही रहनेवाले धर्म और धर्माभास को कहा जाता है। यह

राजा का कर्तव्य है कि जो इन धर्मों से च्युत हो रहे हैं, उन्हें इनकी ओर बढ़ने के लिए नियन्त्रित करे।

आप विचार करें कि धर्म की इस अवधारणा में परमात्मा की खोज किस सीमा तक है? यह मात्र सामाजिक व्यवस्था है। चार वर्णों के रूप में यह समाज का स्तरीकरण और चार आश्रमों के रूप में मानव-आयु का स्तरीकरण मात्र है। समाजविरोधी कार्यों के उन्मूलन की जो व्यवस्था आज राज्य करता है, वही कार्य प्राचीनकाल में ये तथाकथित स्मृतियाँ धर्म के नाम पर कराती थीं- क्या यह धर्म है?

सनातन-धर्म के नाम पर रूढ़ियाँ और कुरीतियाँ पूजी जा रही हैं। संसार भर में हिन्दू सबसे अधिक श्रद्धा से भजन करता है; किन्तु सबसे बड़ा अधार्मिक भी वही है। जाति, देवता और भ्रान्तियाँ- बस इतना ही तो सनातन-धर्म रह गया है।

यदि वर्ण और आश्रम-व्यवस्था ही सनातन-धर्म है, तब तो यह शूद्रों के लिए बेकार है। धर्म के एक भी वाक्य पर विचार करने मात्र से उनके लिए नरक आरक्षित है। उन्हें पढ़ने का अधिकार ही नहीं था। ब्रह्मचर्य आश्रम उनके लिए नहीं था फिर उन्हें संन्यास क्यों होता? जब बुनियाद ही समाप्त हो गई तो मकान कैसे बनेगा? उन्हें सिखाया ही कब गया कि वे वैराग्य के लिए तड़पें? यदि यही सनातन-धर्म है तब तो यह समाज के गिने-चुने विशेषाधिकार प्राप्त लोगों का धर्म है।

आधुनिक सुधारवादी आचार्य देशसेवा, सदाचार और परस्पर मानव-प्रेम को ही सनातन-धर्म मान बैठे हैं। यदि यही सनातन-धर्म है तब तो आपको ये गुण विदेशों से सीखने होंगे; क्योंकि देशभक्ति, ईमानदारी के क्षेत्र में आपसे कहीं अच्छे कीर्तिमान् विदेशों में स्थापित हैं। फिर भारत विश्वगुरु कैसा? पचास करोड़ हिन्दुओं के बीच तैंतीस करोड़ से भी अधिक देवता, उनके हिस्से में पड़नेवाला डेढ़-डेढ़ हिन्दुओं का संगठन ही क्या सनातन-धर्म है?

वस्तुतः ये धर्म नहीं, बल्कि भयंकर भ्रम हैं। इन्हीं सबों ने देश को गुलाम बनाया- राजनीति ढंग से और वैचारिक ढंग से भी। जैसा समय रहा, परिस्थिति रही, उसी के अनुसार ये सामाजिक हथकण्डे धर्म के नाम पर अपनाये गये। किसी समय की सती-प्रथा की तरह आज भी जाति-प्रथा, अस्पृश्यता, वेश्यावृत्ति, देवदासी-प्रथा, बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, नशाखोरी, विवाह-तलाक, शाकाहार-माँसाहार, पेशों का निर्धारण, जनसंख्या-नियोजन इत्यादि विशुद्ध सामाजिक समस्याएँ हैं, जिन्हें सुलझाने के लिए समाज और समाज के बहुमत पर आधारित शासन-तन्त्र है। यह न तो धर्माचार्यों का क्षेत्र है और न उन्हें इसमें टाँग अड़ाना चाहिए।

मानव-समाज गतिशील है अतः सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में आज के उपयोगी नियम, प्रथाएँ, आचार-विचार, आहार-विहार इत्यादि भी कल की परिस्थिति में

अनुपयोगी हो सकते हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि जिन रीति-रिवाजों और संस्थाओं को हमारे पूर्वजों ने स्थापित किया, उन्हें हम उनकी धरोहर समझकर ज्यों-का-त्यों अपनाये रहें। धर्म के नाम पर प्रचारित इन रिवाजों में काव्य है, चरित्र संगठन है तथा सामाजिक व्यवस्था भी निःसन्देह है; किन्तु यह धर्म कैसे हो गया? एक समय वही आवश्यक था, आज बाधक है- यह पहचानकर हम आदर के साथ उसका विसर्जन कर सकते हैं और इनके विसर्जन के दिन आये भी हैं।

प्राचीनकाल की यज्ञ-प्रथा, बलि-प्रथा, दास-प्रथा, स्वयंवर-प्रथा समाप्त हो गयी। इन्द्र और वरुण की पूजा तिरोहित हो गई, उनके स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और नये-नये देवी-देवता स्थानासीन हुए। सोमयज्ञ के स्थान पर अखण्ड कीर्तन और अखण्ड रामायण हो रहा है। स्त्रियों और शूद्रों-सम्बन्धी निर्देश, भोजन, बर्तन, पहनावा, पेशा सभी कुछ तो बदलते जा रहे हैं। यदि यही सनातन-धर्म था तो बदल क्यों रहा है? जो बदल जाय, वह सनातन कैसा?

सनातन तो सदैव रहनेवाली सत्ता का नाम है। वह सत्ता है परमात्मा। एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त पहले भी था, आज भी है। यदि परमात्मा भी दो हैं तो उनके व्याप्त होने के लिए अलग-अलग सृष्टि चाहिए। वह एक ही है और रहेगा। उस एक को खोजना ही धर्म है, जैसा कि ऋषियों ने जाना था। सृष्टि में धर्म एक ही है- अमृत-तत्त्व की प्राप्ति, सदा रहनेवाले शाश्वत धाम की प्राप्ति। चराचर जगत् का धर्म एक ही है। यदि धर्म भी दो हैं तो एक में धोखा है, जरूर धोखा है।

'धर्म' शब्द आज केवल विशेषण बनकर रह गया है। स्थूल-धर्म, सूक्ष्म-धर्म, उप-धर्म, कुल-धर्म, गुण-धर्म, श्रौत-धर्म, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म और भी बहुत से हैं। जो धर्म अभी कहे गये- इतने धर्मों के बीच वास्तविक धर्म अपनी पहचान खो चुका है। धर्म शब्द को उसके शुद्ध रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करने से व्रत-उपवास, तीर्थ-त्यौहार, शुद्धि-श्राद्ध, देवी-देवता, भूत-प्रेत, वृक्ष-पशु, नागपूजा तथा मूर्ति-मजारों की पूजा-जैसी कुरीतियाँ तो जल ही जायेंगी। सामाजिक नीति एवं अर्थ-व्यवस्था की उपयोगी बातों को भी धर्म कहना छोड़ना होगा। आज के परिवेश में यह स्पष्ट करना जरूरी हो गया है कि धर्म के अन्तर्गत केवल एक बात आती है- वह निर्धारित क्रिया, जिसे करने से आत्म-साक्षात्कार होता है।

धर्म का शुद्ध स्वरूप जानने के लिए धर्म जिनकी देन है, उन महापुरुषों द्वारा समझना होगा और उनकी शरण जाना होगा, अन्य कोई रास्ता नहीं है। पोथी को पढ़कर और पोथी के इर्द-गिर्द घेरा डालकर कोई धर्म को नहीं समझ सकता। वेद-शास्त्र सही तो हैं; लेकिन शास्त्र कोई विरला महापुरुष ही जानता है और उसके निर्देशन में कोई

विरला पथिक ही पढ़ता है। सब न पढ़ते हैं, न जानते हैं। वे महापुरुष ही शास्त्र को अक्षरशः जानने में सक्षम हैं, जिनके हृदय में वह शास्त्र उतर आया है।

वेद क्या है? उस परमात्मा की वाणी! परमात्मा तो बोलने आया नहीं। बोलनेवाले सौ-सवा सौ महापुरुष ही थे। कहीं नारायण ऋषि हैं तो कहीं कोई ऋषि। उन ऋषियों के अन्तःकरण में जो प्रस्फुटित हो रहा था, बुद्धि मात्र यन्त्र थी। उनके द्वारा जो व्यक्त होता था, परमात्मा अपना निर्देशन दे रहा था। उन महापुरुषों की वाणी का संकलन वेद है। आज भी जो इष्ट की परिधि में पहुँचेगा, उसके हृदय-देश में वह इष्ट अपनी वाणी, अपना निर्णय देगा कि सत्य क्या है, झूठ क्या है? जिसके हृदय में इष्ट जागृत है, जिसके हृदय में शास्त्र अवतरित हो रहा है, वही भली प्रकार जान पाता है कि पुराने शास्त्रों में क्या लिखा है? क्योंकि जो बात उनमें उतरी थी, वही इनमें उतर रही है। अस्तु, आइए देखें कि महापुरुषो ने 'धर्म' शब्द को किन अर्थों में लिया है? वैसे धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है- धारण करना। **'धारयतीति धर्मः।'** परमात्मा ही सबको धारण करने में सक्षम है, वही एकमात्र धर्म है। धर्म वह है कि जब हम उसकी ओर झुकाव लें तो वह हमें धारण कर ले, मार्ग बताने लगे, उँगली पकड़कर चलाने लगे, हृदय से रथी बन जाय, हृदय में ईश्वरीय आदेशों का सूत्रपात होने लगे।

यही मीमांसाकार जैमिनि कहते हैं कि **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।'** ***(जैमिनी सूत्र, १/१/२)*** ईश्वरीय आदेशों का पालन ही धर्म का लक्षण है। अर्थात् जब तक हृदय से रथी होकर वह निर्देश न देने लगे और उसके अनुसार हम चलना आरम्भ न कर दें, तब तक सही मात्रा में धर्म के लक्षण प्रगट ही नहीं हुए।

'वैशेषिक दर्शन' में महर्षि कणाद कहते हैं- **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'**- जिसके द्वारा जीवन की हर परिस्थिति में सर्वांगीण विकास हो तथा जो निःश्रेयस परमश्रेय की प्राप्ति करा दे, वही धर्म है।

न्यायशास्त्र के प्रणेता गौतम कहते हैं, **'विहित कर्मजन्यो धर्मः।'**- धर्म विहित कर्मजन्य है। विहित कर्म, नियत कर्म, कार्यं कर्म, पुण्य कर्म इत्यादि को गीता में एक ही ईश्वर-प्राप्ति की क्रिया कहकर सम्बोधित किया गया है जो यज्ञ की प्रक्रिया है, चिन्तन-विशेष है, आत्मदर्शन की पद्धति है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार, अपने स्वभाव की क्षमता से नियत कर्म (यज्ञ की प्रक्रिया) का आचरण धर्माचरण है। आत्मा जिस विधि से विदित होती है, उस विधि को क्रियान्वित करते रहना धर्म का आचरण है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि तुम्हारी बुद्धि इसे क्रियान्वित करने में सक्षम न हो, तो सारे धर्मों की चिन्ता छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ- यही है धर्म।

भगवान बुद्ध ने बताया कि सम्यक् वाणी, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् जीविका, सम्यक् कर्म, सम्यक् संकल्प, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि का जो भली प्रकार आचरण करता है, वह परिनिर्वाण को पा जाता है।

महाराज मनु के नाम से प्रचारित स्मृति-ग्रन्थ में यत्र-तत्र गीता के ही अंश हैं जिसमें धर्म के दस लक्षण बताये- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध (मनुस्मृति, ६/९२)। अध्याय २/१ में कहते हैं- **'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।।'** विद्वानों ने राग-द्वेषरहित हृदय से जिसे प्राप्त किया, उस नित्यपथ का सेवन धर्म है।

विद्वान् का अर्थ शिक्षाविद् नहीं होता। **'विद्या हि का ब्रह्मगति प्रदाया।'**- विद्या वह है कि जिसके पास आवे, उसे घसीटकर ब्रह्मगति प्रदान कर दे। वनवासकाल में भगवान राम ने लक्ष्मण से बताया कि विद्या और अविद्या माया के दो पहलू हैं। अविद्या अधोगति और भवकूप में डालनेवाली है। विद्या परमश्रेय को दिलानेवाली है, लेकिन वह है हरिप्रेरित। हम जिस सतह पर खड़े हैं, जिस परमात्मा की हमें चाह है, वह हृदयदेश से जागृत हो जाय, हमें प्रेरित कर चलाने लगे।

यही कारण है कि योगपथ के जितने भी अच्छे विद्वान् हुए, पार्थिव शिक्षा-दीक्षा में शून्य थे। उग्र बुद्धिवाले काकभुशुण्डिजी उसे सुनते-समझते भी थे; किन्तु अच्छा नहीं लगा, नहीं पढ़े, फिर भी अपने युग के सर्वोपरि विद्वान् थे। जिस ज्ञानी गरुड़ का सन्देह ब्रह्मा भी दूर न कर सके, काकभुशुण्डि-आश्रम में जाते ही उनकी शंकायें दूर हो गयीं, समाधान निकल आया। तात्पर्य यह है कि भगवत्पथ में जिस विद्या का उपयोग है, उसे भगवान ही पढ़ाते हैं।

अतः जो व्यक्ति एक परमात्मा में अटूट श्रद्धा और ॐ अथवा राम (जो उस परमात्मा का परिचायक है) का स्मरण करता है, वह धर्म को न जानते हुए भी शुद्ध धार्मिक है।

इस प्रकार सभी महापुरुष एक ही परमात्मा को इंगित करते हैं, फिर भी लोग शाश्वत एकमात्र परमात्मा के स्थान पर नश्वर के पीछे भटक रहे हैं। धर्म के नाम पर आजकल जैसी कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ फैली हैं, कुछ इसी प्रकार की रूढ़ियाँ श्रीकृष्णकाल में भी थीं। उनमें से कुछेक रूढ़ियों का शिकार अर्जुन भी था- कुल की रक्षा को सनातन-धर्म मानता था, पितरों को पिण्डा-पानी देना सनातन-धर्म मानता था। कहने लगा कि ऐसा युद्ध करने से सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा, क्योंकि कुलधर्म ही सनातन-धर्म है; किन्तु योगेश्वर ने कहा- अर्जुन! इस विषम स्थल में तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? अर्जुन सनातन-धर्म की रक्षा के लिए आहें भर रहा था। तो क्या

सनातन-धर्म की रक्षा भी अज्ञान है? श्रीकृष्ण ने बताया कि जिन बातों के लिए तू विकल है, न तो श्रेष्ठ पुरुषों ने इस पर कभी कदम रखा है, न यह कीर्ति बढ़ानेवाला है और न ही स्वर्ग देनेवाला है। कल्याण नहीं, कीर्ति नहीं, सम्भावित पुरुषों ने भूलकर भी कभी आचरण नहीं किया, तो सिद्ध है कि वह सब अज्ञान था।

तब अर्जुन ने विनीत भाव से पूछा- भगवन्! यदि यह धर्म नहीं है तो मैं धर्म नहीं जानता। धर्म के रास्ते में मैं विशेष रूप से मूढ़चित्त हूँ। अतः जो निश्चित रूप से कल्याणकारी है, वह आप मेरे प्रति कहिये।

भगवान ने बताया- अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् वस्तु का तीनों कालों में अभाव नहीं है। वह सत्य क्या है? तब कहते हैं- अर्जुन! यह आत्मा ही सत्य है, आत्मा परम सत्य है, आत्मा ही सनातन है और ये सम्पूर्ण भूतादिकों के शरीर नाशवान् हैं। इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। शरीरों को रोका नहीं जा सकता। आत्मा ही शाश्वत है।

आप कौन हैं? सनातनधर्मी! सनातन क्या है? आत्मा! तो सनातनधर्मी कौन हुआ? आत्मा का पुजारी! यदि आत्मिक पथ की जानकारी नहीं है तो हम सनातनधर्मी कैसे हो गये? इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकता, जल इसे गीला नहीं कर सकता, आकाश इसे अपने में समाहित नहीं कर सकता। पंचतत्त्वों से निर्मित कोई भी पदार्थ जब इस आत्मा का स्पर्श ही नहीं कर पाते, तब भला पंचतत्त्वों से निर्मित अन्न-जल इसका कैसे स्पर्श कर सकते हैं? फिर किसी के छूने से अथवा किसी के हाथ का दो ग्रास चावल खाने से, दो घूँट पानी पीने से हमारा शाश्वत, सनातन-धर्म नष्ट कैसे हो गया? सिद्ध है कि हमारे पूर्वज धर्म के नाम पर जिसका पालन करते थे, वह भूल थी तभी तो श्रीकृष्ण ने इसका खण्डन किया। यह भूल आज भी है जिसके कारण सगे भाइयों को हमने सनातन-धर्म से अलग होने के लिए विवश कर रखा है।

जब शरीर ही नाशवान् है, तब इसके जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था सनातन कैसे हो गई? शरीर-पोषण के लिए व्यवसाय पर आधारित वर्ण-व्यवस्था सनातन कैसे हो गई? **'अचलोऽयं सनातनः'** *(गीता, २/२४)*- यह सनातन आत्मा अचल है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, तो बदल कैसे गया? सनातनधर्मी का धर्म-परिवर्तन कैसे हो गया? क्या सनातन बदल गया? नहीं! और जिन्होंने इस प्रकार का परिवर्तन किया अथवा कर रहे हैं, वे केवल एक प्रकार की कुरीति छोड़कर दूसरी कुरीति में फँसते जा रहे हैं, न कि उन्हें कोई धर्म मिल रहा है। वे धर्म को जानते ही नहीं। यदि हम आत्मपथ को नहीं जानते, आत्मस्थिति दिला देनेवाली विधि-विशेष को नहीं जानते, तो सनातन-धर्म से

हमारा कैसा सम्बन्ध? भूतादिकों के सम्पूर्ण शरीर नाशवान् हैं। ब्रह्मा से उत्पन्न चराचर जगत् परिवर्तनशील, अशाश्वत और क्षणभंगुर है, फिर भी कोई पेड़ पूज रहा है तो कोई पत्थर- वह भी सनातन के नाम पर!

आत्मा अकाट्य, अशोष्य और अपरिवर्तनशील है। वह सर्वत्र, सब में सदा एकरस है। उसे खोजने और पाने की स्थली हृदय-देश है, बाहर नहीं- **'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** ***(गीता, १८/६१)***; किन्तु अकाट्य, अशोष्य, अजर-अमर जैसी कोई सत्ता भीतर दिखायी तो नहीं पड़ती, सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर शोक-सन्ताप, मृत्यु और मोह ही दिखायी पड़ता है। इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि यह आत्मा है तो ऐसा ही; किन्तु अचिन्त्य और अगोचर है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है, तब तक वह अगोचर है, दिखाई नहीं देता। अगोचर का यह अर्थ नहीं कि भगवान इन्द्रियों के रहते दिखायी ही नहीं देंगे। वे दिखायी देंगे किन्तु संयम के पश्चात् उन प्रभु की दृष्टि से। एकादस अध्याय में उन्होंने स्वयं कहा कि अनन्य भक्ति से मुझे देखा जा सकता है और मुझमें प्रवेश पाया जा सकता है।

अब एक नवीन प्रश्न खड़ा हो गया कि चित्त का निरोध कैसे हो? इसके लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! तू कर्म कर। वह नियत कर्म है यज्ञ को कार्यरूप देना। आरम्भ में दैवी सम्पद् के गुणों को हृदय में भली प्रकार धारण करना यज्ञ है, आहार और इन्द्रियों का संयम यज्ञ है। साधना सूक्ष्म होने पर श्वास-प्रश्वास का जप यज्ञ है। यज्ञस्वरूप महापुरुष का ध्यान करना यज्ञ है। इस प्रकार चौदह अंगों से यज्ञ का चित्रण अध्याय चार में प्रस्तुत किया, जो सब मिलाकर चित्त के निरोध की विधि-विशेष हैं, जिनके आचरण से प्राणों का आयाम हो जाता है- न भीतर से संकल्प उठते हैं और न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प अन्दर प्रवेश कर पाते हैं। यही चित्त की अचिन्त्य अवस्था है, मन की निरोधावस्था है, साम्यावस्था है।

प्राणों का व्यापार शान्त होते ही यज्ञ पूरा हो जाता है, परिणाम निकल आता है, जैसा कि अगले ही श्लोक में कहते हैं- **'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** ***(गीता, ४/३१)***- यज्ञ के पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी संरचना करता है, वह अमृत है। उस ज्ञानामृत को प्राप्त करनेवाला योगी सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। पहले कहा- आत्मा सनातन है, यहाँ कहते हैं- ब्रह्म सनातन है। वस्तुतः आत्मा, परमात्मा, तत्त्व, परमतत्त्व, ईश्वर, सच्चिदानन्द, भगवान, शाश्वत, ब्रह्म इत्यादि एक ही परमात्मा के विविध नाम हैं।

इस प्रकार चित्त की अचिन्त्यावस्था में, निरोधावस्था में वह अगोचर सनातन इन्हीं इन्द्रियों में प्रवाहित हो गया। प्रवाहित ही नहीं, प्राप्त हो गया; किन्तु इतने पर ही योगेश्वर

श्रीकृष्ण नहीं रुकते। वे यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'; 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** *(मानस, २/१२६/३)*। उन्हीं के शब्दों में देखें- **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'** *(गीता, ५/१९)*- उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, जिनका मन समत्व में स्थित है। अब समत्व की स्थिति से और संसार को जीतने से क्या सम्बन्ध है? यदि संसार जीत ही लिया तो वह गया कहाँ? रुका कहाँ पर? इस पर कहते हैं कि **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'**- वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर उसका मन भी समत्व की स्थितिवाला हो गया। **'तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।'**- इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

यह स्थिति जिस यज्ञ से मिली है, उसी यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। इसलिए कर्म पर बल देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता, अध्याय २ के ३९वें श्लोक में बतलाया कि अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिससे युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन को भली प्रकार नष्ट करेगा। अतः कर्म उसे कहते हैं जो कर्म-बन्धन से छुड़ा दे। इस नियत कर्म की दूसरी विशेषता बताते हैं- **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**- इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं होता। अगर कर्म आरम्भ भर कर दे तो उस पुरुष का और उस क्रिया का कभी नाश नहीं होता, कल्याण करके ही छोड़ेगा। अभी हुआ नहीं, किन्तु कल्याण का आरक्षण भली प्रकार हो चुका। इस जन्म में जहाँ से साधन छूटता है, अगले जन्म में वहीं से शुरू करता है। दो-चार जन्म के अन्तर से वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति है। इसी कर्म की तीसरी विशेषता बताते हैं कि **'प्रत्यवायो न विद्यते।'**- इस कर्म को करने से विपरीत और सीमित फलरूपी दोष भी नहीं मिलता कि आपको स्वर्ग-बैकुण्ठ, ऋद्धियों-सिद्धियों, धर्मशाला-पाठशाला, आश्रम या लिप्सा में उलझाकर खड़ा कर दे। चौथी विशेषता है कि **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।'** *(गीता, २/४०)*- इस धर्म का थोड़ा-सा भी पालन जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार करनेवाला होता है।

किस धर्म का? इसी नियत कर्म का आचरण ही धर्म है। यहीं से धर्म का आचरण शुरू होता है, जिसके परिणाम में सनातन विदित हो जाता है। जिस कर्म का आचरण ही धर्म है, उसी कर्म को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने साधकों की अन्तःदुर्बलता के आधार पर चार भागों में बाँटा। अध्याय ४ के १३वें श्लोक में वे कहते हैं कि **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'**- चार वर्णों की संरचना मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार भागों में बाँटा? कहते हैं कि नहीं। **'गुणकर्मविभागशः।'** *(गीता, ४/१३)*- गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा।

गुण इस विभाजन का मापदण्ड है। जब अन्तःकरण में तामसी गुण का बाहुल्य है तब आलस्य, निद्रा, प्रमाद, कर्त्तव्य-कर्म में न प्रवृत्त होने का स्वभाव, अकर्त्तव्य-कार्यों को न पहचानने का स्वभाव होगा। मोहमयी प्रवृत्तियों का दबाव रहता है। दो घण्टे ध्यान लगाता है तो दस मिनट भी मन की स्थिरता अपने पक्ष में नहीं पाता- ऐसी परिस्थिति में धर्म का आचरण कहाँ से शुरू करे? इस पर कहते हैं, **'परिचर्यात्मकं कर्म'** *(गीता, १८/४४)*- इसी कर्म को सेवा से शुरू करो।

ठीक इसी प्रकार अर्द्ध-तामसी गुण समाप्त हो गये हैं तो वैश्य है। ध्यान में मन लगने लगेगा, इन्द्रिय-संयम की क्षमता होगी। तामसी गुण के साथ आधा राजसी गुण भी शान्त हो गया और आधा सात्त्विक गुण भी आ गया, तहाँ क्षत्रिय वर्ण की योग्यतावाला है। वह प्रकृति के द्वन्द्व में न घबड़ाने का स्वभाववाला, शौर्य-तेज से संयुक्त होगा और इसी निष्काम कर्म को भली प्रकार चरितार्थ करेगा। तामसी और राजसी गुण बिल्कुल शान्त हो गये हों, सात्त्विक गुण ही कार्य में हो, वहाँ उसके स्वभाव में ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली योग्यता होती है। अतः वह ब्राह्मण श्रेणी का व्यक्तित्व है। इसमें मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, तप, धारणा, ईश्वरीय अनुभूति इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली योग्यता सहज ही स्वभाव में प्रवाहित है, इसलिए ब्राह्मण श्रेणी के कर्म का कर्त्ता है। यह सब **'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'** *(गीता, १८/४१)*- स्वभाव में उत्पन्न हुए गुणों के आधार पर बनते हैं और इसी के अनुसार कर्म करना इस व्यक्ति का धर्म है।

अध्याय १८ के ४५वें श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं- **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'**- स्वभाव से उत्पन्न कर्म की क्षमता के अनुसार कर्माचरण करके मनुष्य भगवत्-प्राप्तिरूपी परमसिद्धि को प्राप्त होता है। अर्जुन! जिस प्रकार स्वभाव में पायी जाने वाली क्षमता के अनुसार कर्म में लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू मुझसे सुन। आप सब भी उस विधि पर ध्यान दें। (अध्याय १८, श्लोक ४६) विधि है कि जिस परमात्मा से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई है, जो सर्वत्र व्याप्त है, उस परमात्मा को स्वभाव से उत्पन्न कर्म करने की क्षमता के अनुसार अर्चन करके, भली प्रकार श्रद्धा से पूजकर (जिसका चित्रण समूची गीता में स्थान-स्थान पर है) मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि इस कर्म-पथ में एक परमात्मा का अर्चन, सर्वांगीण पूजन करना तथा क्रमागत सोपान से चलना ही मुख्य विधि है।

आगे इसी को धर्म कहकर सम्बोधित किया। *(देखें- गीता, १८/४७)* **'श्रेयान्स्व-धर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।'**- स्वभाव से उत्पन्न कर्म करने की क्षमता के अनुसार कर्म में प्रवृत्त होना हमारा धर्म है, दायित्व है। वह शूद्र श्रेणी का ही क्यों न हो, सेवावृत्ति

पर खड़ा हो, तब भी इसी स्तर से करे तो यह परमश्रेय को दिलानेवाला है। यदि अन्दर क्षमता नहीं है और क्षमतावालों की नकल करना चाहें, भली प्रकार अनुष्ठान की भी कोशिश करें तब भी भय को ही प्राप्त होंगे, परमश्रेय को नहीं। इसलिए स्वभाव से उत्पन्न कर्म की श्रेणी के अनुसार धर्माचरण करके आप सम्पूर्ण पापों से अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो जायेंगे।

साथ ही, ब्राह्मण श्रेणी का कर्म भी दोषों से पूर्ण है; क्योंकि प्रकृति का अन्तिम सात्त्विक गुण अभी जीवित है। वहाँ भी पतन के लक्षण विद्यमान हैं, वह गिर भी सकता है। इसलिए गुण जब तक शान्त न हो जायँ, तब तक स्वभाव से उत्पन्न कर्म ही हमारा स्वधर्म है। इसका क्रमागत पालन करते हुए मनुष्य उस शाश्वत, अमृततत्त्व आत्मभाव को भली प्रकार विदित कर लेता है। दर्शन, स्पर्श और प्रवेश पा जाता है। इसलिए इस कर्म का पालन ही धर्म का पालन है।

गीता के अनुसार इस धर्माचरण का अधिकारी कौन है? कहीं आप यह तो नहीं मान बैठे हैं कि धर्म तो साधु-महात्माओं के लिए है, गृहस्थ इसे कर पायेगा या नहीं? इस पर कहते हैं (अध्याय ४/३६)- अर्जुन! तू सभी पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला ही क्यों न हो (अध्याय ६ का तीसवाँ श्लोक भी कि **'अपि चेत्सुदुराचारो'**- अर्जुन! अत्यन्त दुराचारी भी), यदि अनन्य अर्थात् अन्य न, मुझे छोड़कर किसी अन्य देवता को न भजते हुए केवल मुझे भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चय से लग गया है। **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** *(गीता, ६/३१)*- वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

अतः आप अत्यन्त दुराचारी ही क्यों न हों और अन्य बहुत से दुराचारों की योजना भी क्यों न बनाते हों, यदि एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा और उसकी प्राप्ति की क्रिया - यज्ञ की प्रक्रिया कर्म में श्रद्धा के साथ लगते हैं तो आप सन्त हैं, शुद्ध धार्मिक हैं। हाँ, क्रिया के लिए तत्त्वदर्शी के प्रति श्रद्धा और सान्निध्य आवश्यक है। उस परमात्मा के अतिरिक्त सृष्टि में कुछ भी सत्य नहीं है, अन्य किसी के पूजन का विधान नहीं है।

नोट- इतना स्पष्ट निर्देश होते हुए भी लोग पत्थर-पानी पूजते ही रहते हैं। कहते हैं- 'क्या पत्थर में भगवान नहीं हैं? मूर्तिपूजा सगुणोपासना है। हृदय में ध्यान लगाना तो ज्ञानमार्ग है। वस्तुतः यह सब भ्रान्तियाँ हैं। आइये, गीता के ही आलोक में इस प्रश्न पर भी विचार कर लिया जाय।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि आत्मा अकाट्य है, अशोष्य है, सनातन है, अमृतस्वरूप है, सदा और सर्वत्र रहनेवाला यही एक शाश्वत है। प्रश्न उठता है कि- क्या आप भगवान होने के नाते ऐसा कहते हैं? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि- नहीं, अर्जुन!

अजर-अमर-शाश्वत-सनातन-सर्वव्यापी-अमृतस्वरूप इत्यादि गुणधर्मों से युक्त आत्मा को तत्त्वदर्शियों ने भली प्रकार देखा है। किसने देखा? तत्त्वदर्शियों ने! न दस भाषा के विद्वान् ने देखा, न व्याकरण रटनेवाले ने और न किसी समृद्धिशाली ने देखा, बल्कि तत्त्वदर्शियों ने देखा। श्रीकृष्ण भी उसी सत्य का उद्‌घाटन कर रहे हैं, जिसको तत्त्वदर्शियों ने कभी देख लिया था। वह सत्य सदैव एक ही जैसा रहा। समय-समय पर उस सत्य के नाम पर भ्रान्तियाँ आती ही रही हैं। जितने भी महापुरुष संसार में हुए हैं, सबने इन भ्रान्तियों का निराकरण करके समाज को पुनः सत्य के उसी प्रशस्त पथ पर खड़ा किया है। श्रीकृष्ण ने भी वही कहा, जो **'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्'** *(गीता, १३/४)*।

अब एक नवीन प्रश्न खड़ा हो गया कि वह तत्त्वदर्शन क्या है? तत्त्वदर्शी कौन है? क्या हम भी तत्त्वदर्शी हैं? इस पर अध्याय १८, श्लोक ५१-५३ में कहते हैं कि अर्जुन! तत्त्वदर्शन की चाहवाले पुरुष को चाहिए कि एकान्त-देश का सेवन करे। इन्द्रियों को विषयों से भली प्रकार समेटकर मन को ध्यान में लगावे। वैराग्य में रहते हुए (वैरागी का वेश बनाकर नहीं) सतत ध्यान में लगते-लगते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर- ये बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ जब भली प्रकार शान्त हो जायँ तथा विवेक, वैराग्य, शम, दम, धारणा, ध्यान और समाधि भी परिपुष्ट हो जायँ, इनमें स्थिति आ जाय तो उस समय वह ब्रह्म को जानने योग्य होता है।

आवश्यकता तो थी तत्त्व की! एक नयी बात बीच में आ गई कि वह व्यक्ति ब्रह्म को जानने योग्य होता है। वस्तुतः तत्त्व, ब्रह्म, भगवान, आत्मा, ईश्वर सब एक ही हैं।

जिन योग्यताओं की सम्पूर्ण दक्षता में व्यक्ति ब्रह्म को जानने योग्य होता है, श्रीकृष्ण के शब्दों में उस योग्यता का नाम पराभक्ति है अर्थात् भक्ति पराकाष्ठा पर है, अपना परिणाम देने की अवस्था में है। इस पराभक्ति की अवस्था में वह पुरुष तत्त्व को जानता है।

वह तत्त्व को जानता तो है किन्तु वह तत्त्व है क्या? पाँच तत्त्व या पचीस तत्त्व, जैसा कि लोग गणना बैठाते रहते हैं। यह तत्त्व प्रकृतिजन्य है। इस पर श्रीकृष्ण बताते हैं- नहीं, मैं जो हूँ, अजर-अमर-शाश्वत-अलौकिक जिन गुणधर्मोंवाला हूँ, मुझको जानता है और मुझे जानकर तत्क्षण वह मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है। तत्त्व माने वह परमात्मा। प्राप्तिकाल में साधक पहले भगवान को देखता है; किन्तु दूसरे ही क्षण वह स्वयं में ही अजर, अमर, शाश्वत, सनातन इत्यादि गुणधर्मों से ओतप्रोत अपनी आत्मा को देखता है। वह है तत्त्वदर्शी। उन तत्त्वदर्शियों ने देखा कि आत्मा या परमात्मा शाश्वत है, सनातन है। यह उनकी अनुभूति है कि वह कण-कण में व्याप्त है- **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** *(ईशावास्य उप०, १)*; **'सीय राम मय सब जग जानी'** *(मानस, १/७/२)*; **'वासुदेवः सर्वमिति**

स महात्मा सुदुर्लभः।' *(गीता, ७/१९)* अब वह महान् आत्मा है। पत्थर-पानी पूजकर वह तत्त्वदर्शी तो हुआ नहीं; किन्तु आरम्भिक साधना के प्रवेश वे ही हैं।

हमारे आपके लिए जैसा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि अपने स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के अनुसार नियत कर्म (यज्ञ की प्रक्रिया) का आचरण ही धर्म है, जिसकी विधि वे गीता में बता आये हैं, जिससे कि विधि के नाम पर भी पाखण्ड करने की कोई गुंजाइश न रहे। परमात्मा के शोध की स्थली हृदय-देश है। **'तमेव शरणं गच्छ'** *(गीता, १८/६२)*- उसी हृदयस्थ ईश्वर की शरण में जाने का योगेश्वर स्पष्ट निर्देश देते हैं। उसकी अनुभूति की स्थली भी हृदय ही है, **'आत्मनि विन्दति';** बाहर कहीं नहीं। अतः जो लोग बाहर तत्त्वप्राप्ति की आशा लगाये बैठे हैं, भ्रम में हैं। भले ही भगवान सर्वत्र हों किन्तु प्राप्त होते हैं हृदय में ध्यान करने से ही। **'हृदि अयम्'**- यह हृदय में है, यही हृदय शब्द की निष्पत्ति भी है।

सारांशतः योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि आत्मा शाश्वत है, आत्मा ही सनातन है, वही अविनाशी अमृततत्त्व है। उस परमतत्त्व को पाना हमारा-आपका, मानव मात्र का दायित्व है। इसी दायित्व को योगेश्वर श्रीकृष्ण आपका धर्म कहकर सम्बोधित करते हैं। यही सनातन-धर्म है। सनातन-धर्म क्या है? सनातन तक की दूरी को तय करानेवाली क्रिया का आचरण !

अब यदि आप आत्मदर्शनवाली विधि-विशेष को, आत्मदर्शनवाली प्रक्रिया को नहीं जानते तो धर्म नाम की कोई वस्तु आपके पास नहीं है। यदि धर्म के लिए आहें भरते हैं तो प्रत्याशी अवश्य हैं किन्तु धार्मिक नहीं। उसके लिए हृदय में छटपटाहट भले हो किन्तु वस्तु तो तभी सम्भव होगी जब क्रिया उपलब्ध हो, एक परमात्मा में श्रद्धा हो।

एक परमात्मा की भक्ति सृष्टि का एकमात्र धर्म है। उसी एक धर्म को गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में चार प्रकार से समझाया है कि **(१) धरमु न दूसर सत्य समाना, (२) परहित सरिस धर्म नहिं भाई, (३) परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा** और **(४) एकइ धर्म एक ब्रत नेमा**। चारों का अर्थ एक है, क्रिया एक है और परिणाम भी एक ही है। इनमें से प्रस्तुत है सर्वप्रथम-

धरमु न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना।। *(२/६४/५)*

अर्थात् सत्य के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है- जिसकी प्रशंसा वेद, पुराण तथा शास्त्रों में है। प्रश्न उठता है- सत्य क्या है? कोई कहता है- मैं सच बोलता हूँ, झूठ मत बोलो। कोई कहता है कि पृथ्वी डोलती है- यह सच है, तो कोई कुछ कहता है। लोगों ने नश्वर प्रकृति में सच और झूठ की सीमाएँ बना रखी हैं। कोई उन सीमाओं

में कहता है तो सत्य और इस परिधि से बाहर बोलता है तो झूठ। विनयपत्रिका में गोस्वामीजी कहते हैं- **'कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।'** कोई इस सृष्टि को सत्य कहता है तो कोई इस संसार को मिथ्या कहता है, तो कोई ब्रह्म और संसार दोनों को ही सत्य मानता है। किन्तु **'तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै।'** तुलसीदासजी कहते हैं कि ये तीनों विचार भ्रामक हैं। इन तीनों भ्रमों का परित्याग करने पर ही आत्मानुभूति सम्भव है। अर्थात् सृष्टि में कहीं सत्य है ही नहीं- **'झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।।'** *(मानस, ७/३८/७)* जगत् का व्यवहार सब झूठा है। भगवान शिव का निर्णय है, **'जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई।'** *(मानस, १/१११/२)*- जिसे जान लेने पर जगत् ही खो जाता है, जिस प्रकार जग जाने पर स्वप्न का भ्रम समाप्त हो जाता है। अर्थात् जगत् एक भ्रम है जो खो जाता है। उन प्रभु को जान लेने के पश्चात् यह जगत् सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाता है। जो समाप्त हो जाय, उसमें सत्य ही क्या है? जिसका कोई अस्तित्व नहीं, वह सत्य कैसा? सृष्टि सत्य या असत्य अथवा दोनों ही है- ऐसे विचार भ्रामक हैं। इन तीनों ही विचारों को जो त्याग देता है, वही अपने स्वरूप को पहचानता है। अस्तु, सृष्टि में सत्य है ही नहीं। तो सत्य है क्या? इस पर उन महापुरुष ने स्वयं निर्णय दिया-

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी।।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।

(मानस, १/२२/६-७)

वह प्रभु कण-कण में व्याप्त है। एक है, आज तक एक के सिवाय दो कभी हुआ नहीं। वह बृहत् है इसलिए ब्रह्म कहा जाता है। वह अविनाशी है जिसका कभी विनाश नहीं होता। वह सत्, चेतन और आनन्द की राशि है। वही परम सत्य है। ऐसा प्रभु सबके हृदय में वास करता है। वह अविकारी है। कोई कुत्ता, बिल्ली कुछ भी खाता हो, उन विकारों से उसे कुछ लेना-देना नहीं है। वह द्रष्टा के रूप में हृदय-देश में विद्यमान है। ऐसा परमात्मा जो हृदय-देश में है, उसे विदित कैसे किया जाय? **'नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।।'** *(मानस, १/२२/८)* पहले तो नाम का निरूपण करना चाहिए कि नाम है क्या और जब समझ में आ जाय तो दिन-रात उसके लिए यत्न करें जिससे वह प्रकट जो जाय। एक ही नाम को जपने के लिए कई श्रेणियाँ पार करनी पड़ती हैं। **'राम नाम में अन्तर है, कहीं हीरा है कहीं पत्थर है।'** नाम वही है, किसी ने चौबीस घण्टे जपा, कुछ कंकड़ हाथ लगा। उसी नाम को किसी ने उतना ही जपा, हीरे हाथ लग गये। नाम जपने की विधि महापुरुषों के द्वारा जागृत होती है। उनके निर्देशानुसार चलना ही धर्म है। केवल श्रद्धा समर्पित कर नाम-जप के द्वारा उस

परमात्मा को, जो आपके हृदय-देश में है, जगाना भर है। उस परमात्मा के प्रति समर्पण, श्रद्धा स्थिर करना धर्माचरण है।

२- एक स्थल पर धर्म को इंगित करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं- **'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।'** *(मानस, ७/४०/१)* जितना कुछ जीव-जगत् में दिखायी-सुनायी पड़ता है, वह सब प्रकृति के अन्तर्गत है। इससे परे केवल आत्मा है- **'प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।'** *(मानस, ७/७१/७)*

वह प्रकृति से परे है इसलिए पर कहलाता है। इस आत्मा के हित के समान कोई धर्म नहीं और इस आत्मा को पीड़ा पहुँचाने के समान कोई अधम कृत्य नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि अर्जुन! आत्मा ही शत्रु और आत्मा ही मित्र है। जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती गई हैं उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है और परमकल्याण करनेवाली होती है; किन्तु जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गई हैं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और नीच योनियों में फेंकती है। इसलिए अर्जुन! तू अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार कर। इसको अधोगति में न फेंक। वास्तव में यही परहित है। आत्मा प्रकृति पार है इसलिए पर कहलाता है, लेकिन **'सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।।'** *(मानस, ७/११६/३)* यह बँधा हुआ है। इसे बन्धन से छुड़ाकर अपने सहज स्वरूप में स्थिति दिलाना- इसके समान कोई अन्य धर्म नहीं है।

३- **'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'** *(मानस, ७/१२०/२२)* श्रुति अर्थात् वेद भजन में निमग्न महात्माओं को प्रभु द्वारा समय-समय पर दी गई जानकारियों का संकलन है। उसमें उन महापुरुषों की अनुभूतियों का संग्रह है जो ईश्वर के तद्रूप थे, समीप पहुँचे हुए थे। प्राप्ति के पश्चात् ईश्वर किसे पढ़ायेगा और कौन पढ़ेगा? जब तक कुछ दूरी रहती है तभी तक भगवान कुछ समझाते हैं। उन अनुभूतियों को कुछ काल तक शिष्य-परम्परा में रटा गया। वेदव्यास ने उसे पुस्तकाकार प्रदान किया; किन्तु आप भजन करेंगे तो वेद आपके लिए नये सिरे से उतरेगा। वह पुस्तक काम नहीं करेगी; क्योंकि ईश्वर सदा बोलता है, सदैव समझाता है, जड़-चेतन सर्वत्र से बोलता है। उन निर्देशों को पकड़नेवाला साधक ही उसकी अनुभूति पाता है। शनैः-शनैः साधक में दृष्टि जागृत हो जाती है। उस दृष्टि से प्रभु की विभूतियाँ देखने, सुनने और समझने में आती हैं; किन्तु पुस्तक हमें दृष्टि नहीं दे सकती। वह केवल इतना बोध कराती है कि हम प्रयास करें तो किस दिशा में करें।

निर्देशों के अनुसार प्रयास करने से आत्मा जागृत होकर मार्गदर्शन करने लगती है। परमात्मा में सुरत लगाने पर जितना कुछ विदित हो जाय, उसी के अनुसार आचरण

करना परमधर्म है। धर्म की यह परिभाषा प्रयोगात्मक है। ईश्वरप्रदत्त निर्देशों का पालन अहिंसा है और यदि साधक इन आदेशों में कटौती करता है, इनकी अवहेलना करता है तो हिंसा है, वह हत्यारा है। अहिंसा का शुद्ध अर्थ है एक परमात्मा का चिन्तन।

भगवान राम ने एक बार सभा बुलाई। एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया कि मनुष्य-शरीर भवसागर से पार होने के लिए एक जहाज के तुल्य है, मेरी अनुकूलता ही अनुकूल वायु है, सद्गुरु कर्णधार अर्थात् केवट हैं- यह दुर्लभ संयोग यदि उपलब्ध है, फिर भी कोई भवसागर से पार नहीं हो जाता, भजन नहीं करता तो वह कृतनिन्दक है, कल पर टालता रहता है, कतराता है, मन्दबुद्धि है और अपनी आत्मा का हत्यारा है। यह है हिंसा। लेकिन ज्यों-ज्यों सुरत को लगायेंगे, प्रभु की स्मृति मिलती जायेगी। उसके अनुसार आचरण अहिंसा है, यही धर्माचरण है।

४- एकइ धर्म एक ब्रत नेमा।
कायँ बचन मन पति पद प्रेमा।। *(मानस, ३/४/१०)*

सृष्टि में एक ही धर्म है- मन, कर्म व वचन से पति के चरण-कमलों में प्रीति। माताएँ तो पति के चरणों की सेवा कर लेंगी; किन्तु लगता है पुरुष वर्ग इस धर्म से वंचित रह जायेगा। वस्तुतः ऐसा है नहीं। आध्यात्मिक परिवेश में महापुरुषों ने परमात्मा को ही पति इत्यादि शब्दों से सम्बोधित किया है। किष्किन्धा-काण्ड का प्रकरण है कि हनुमान भगवान राम से मिले, तो अपना दैन्य निवेदन किया, उलाहना दिया कि प्रभु ने सेवक को क्यों विस्मृत कर दिया। भगवान ने आश्वस्त किया कि कपि तुम अपने मन में लेशमात्र भी ग्लानि न करो, तुम मुझे लक्ष्मण से भी दूने प्रिय हो। **'देखि पवनसुत पति अनुकूला। हृदयँ हरष बीती सब सूला।।'** *(मानस, ४/३/१)*- हनुमान ने पति को अनुकूल देखा तो उनका हृदय हर्ष से प्रफुल्लित हो गया, सारा दुःख दूर हो गया। हनुमान क्या नारी थे? वानर जातीय पुरुष थे! पत अर्थात् इज्जत की रक्षा करनेवाला पति है। 'पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्' की दयनीय दशा से उबारकर जो सहज स्वरूप की स्थिति दिलाने में समर्थ है, ऐसा मात्र परमात्मा है, वही समस्त जीवों का वास्तविक पति है। इसीलिए हनुमान ने भगवान श्रीराम को पति कहकर सम्बोधित किया। सन्तों ने निवेदन किया है कि-

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे।। *(मानस, ३/१०/२१)*

अस्तु यदि हमें नियम का पालन करना है, व्रत लेना है, धर्माचरण करना है तो मन, कर्म, वचन से पत रखनेवाले एकमात्र परमात्मा के चरण-कमलों में प्रीति करनी

चाहिए, यही पातिव्रत्य है। एक परमात्मा के प्रति समर्पण तथा सत्पुरुषों की सेवा- इसके अतिरिक्त सृष्टि में कोई धर्म है ही नहीं।

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महिमण्डित पण्डित दाता।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता।।

(मानस, ७/१२६/१-२)

वही सर्वज्ञ है, धर्म का विशेषज्ञ है, वही गुणी है, ज्ञाता है - सब कुछ जानता है, पृथ्वी में वही सम्मानित पुरुष है, वही पण्डित है- उसके पाण्डित्य में कोई कमी नहीं है, वही दाता है अर्थात् उसके पास देने योग्य कोई वस्तु है, वह कुल ही पूर्ण धार्मिक है जिसका मन राम-चरण में- एक परमात्मा के चरणों में अनुरक्त है। एक परमात्मा की प्राप्ति की क्रिया धर्म है। राम-चरण में मन का रंग जाना धर्म है। गोस्वामीजी के अनुसार एक परमात्मा के प्रति समर्पण ही सनातन-धर्म है।

सनातन-धर्म केवल हिन्दू कहे जानेवाले कबीले का धर्म नहीं, केवल भारत का धर्म नहीं, बल्कि सार्वभौम है। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक सर्वत्र मनुष्यमात्र में एक जैसी धारणा, वही दस इन्द्रियाँ और एक मन, प्रकृति की लिप्सा और शान्ति की खोज विद्यमान है। प्रकृति के थपेड़ों से घबड़ाकर जब भी वह सुख और शान्ति की खोज में निकलेगा, उसे इसी शाश्वत-सनातन की शरण आना होगा। **'राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं।'** *(मानस, २/२५५/१)*- राम से विमुख रहनेवालों के लिए स्वप्न में भी सुख-सिद्धि है ही नहीं, तो पायेगा कहाँ से? उसे इस आत्मदर्शन के क्रियात्मक पथ पर आना ही होगा और विश्व में जो भी इस आत्मपथ की ओर, शाश्वत शान्ति की ओर बढ़ता है, वह शुद्ध सनातनधर्मी है।

आत्मा को विदित करा देनेवाली क्रिया का आविष्कार विश्व में कहीं भी हो सकता था, किन्तु सौभाग्य से भारत में हुआ। भारत ने ही सबको यह देन दी, इसीलिए भारत विश्वगुरु कहलाया। भारत के ही महापुरुष बुद्ध हुए। उनका अनुयायी आधा संसार था। उन्हीं की अनुयायी-परम्परा में ईसा हुए। एक परमात्मा की पूजा का उपदेश वे कर ही रहे थे कि यहूदियों ने शूली पर चढ़ा दिया। ऐसी ही परिस्थिति मुहम्मद साहब के समक्ष भी थी। आत्मा को विदित करा देनेवाली क्रिया का क्रमबद्ध वर्णन करने का अवसर उन्हें भी नहीं मिला। इसीलिए धर्म के विषय में अधिकांश समाज गुमराह है। कोई इसे पोंगापंथी मानता है तो कोई इसे निठल्लापन कहता है, कोई इसे डरे लोगों का सुरक्षा-कवच तो कोई परोपजीवियों का स्वर्ग कहता है। दोष कहनेवालों का नहीं है। धर्म उन्हें बताया ही कब गया था?

देखिये, धर्म के नाम पर कुछ भी करने या बाह्य विचारों को बौद्धिक मान्यता दे

देने से कोई धार्मिक नहीं हो जाता। धार्मिक वह है जो आत्मदर्शन के नियमों की स्फूर्ति से अनुप्राणित रहता है। उसका आत्मानुशासन, एकाग्रता, युक्ताहार-विहार, इन्द्रिय-संयम इत्यादि गुण देश और मानव-समाज को उन्नति के शिखर पर ले जाने में उपयोगी हैं। धर्म की सही निष्ठा आ जाने पर मनुष्य को स्नायुरोग या घातक रोग कभी नहीं होते; क्योंकि विनय और श्रद्धा से उसका हृदय द्रवीभूत रहता है। उसे भरोसा रहता है कि वह प्रभु देख लेंगे। मानसिक तनावों से भी वह मुक्त रहता है। समृद्धि को भी ईश्वर की देन मानकर अहंकार से बच जाता है। एक परमात्म-पथ पर यदि आप अग्रसर और सामूहिक जानकारी रखते हैं तो आप एक संगठन और एक सूत्र मे बँध जायेंगे और जो समाज एक सूत्र में बँधा है, उसके पास दुःख नहीं रहता।

बन्धुओ! धर्म की जानकारी के लिए आप तीर्थों में जाते हैं। धर्म में यदि सचाई न हो तो जीवन व्यर्थ चला जाता है। यह मनुष्य-शरीर सृष्टि में सर्वोत्कृष्ट है- **'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।'**; क्योंकि सृष्टि में एकमात्र वही विचारशील प्राणी है, उसमें परमात्मा तक के शोध की क्षमता देखी गई है। मानव-तन का सबसे बड़ा उपयोग भी यही है कि शरीर रहते परमात्मा की अनुभूति कर ली जाय।

मानव जब भी इस दिशा में चलता है तो कुछ पूजा-पद्धतियाँ, कोई पन्थ उसे विरासत में मिल ही जाता है। हमें भी मिला था; किन्तु पन्थ, सम्प्रदाय, पूजा-पद्धति, वेष, अखाड़ा या दुआरा लक्ष्य तो है नहीं। इनका समर्थन करने के लिए हम सबको नर-तन नहीं मिला है। श्रीकृष्ण के अनुसार यह सब अविवेकियों और मूढ़बुद्धिवालों की देन है। भगवत्-पथ में निर्धारित क्रिया तो एक ही है; किन्तु अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है, इसलिए वे एक ही निर्धारित क्रिया के स्थान पर अनेक क्रियाओं की संरचना कर लेते हैं। इतना ही नहीं, वे दिखावटी शोभायुक्त वाणी में उसे व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिनके चित्त पर पड़ जाती है, अर्जुन! उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है, न कि वे भजन करते हैं। फिर उन्हें सही बात बतायी जाय तो सुनते नहीं, शीघ्र पकड़ते नहीं; क्योंकि वे पूर्वाग्रह छोड़ नहीं पाते। रूढ़ि से चिपककर बैठ जाते हैं कि 'सभी तो ऐसा कर रहे हैं, मैं नहीं करूँगा तो लोग क्या कहेंगे?' वास्तव में किसी मज़हब के अनुयायियों की संख्या धर्म की कोई कसौटी नहीं है। इसी को लक्ष्य कर सन्त कबीर कहते हैं-

मैं भी भागा जाइयां, लोक बेद के साथ।
आगे ते सतगुरु मिल्या, दीपक दीन्हा हाथ।।
दीपक दीन्हा तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बेसाहुणा, बहुरि ने आवौं हट्ट।।

धर्म मनुष्य के लिए है, मनुष्य धर्म के लिए नहीं। जैसे रोटी मनुष्य के लिए है, मनुष्य रोटी के लिए नहीं। अतः व्यक्ति के निज कल्याण के लिए तथा समष्टि के कल्याण के लिए भी यह बोध कराना जरूरी है कि हर आदमी के भीतर कहीं कोई परमात्मा है, जिसे ढूँढ़ना प्रत्येक का दायित्व है। शाश्वत परमात्मा की प्राप्ति की नियत क्रिया ही धर्म है। जिसमें केवल उस परमात्मा की ही प्राप्ति का विधान हो, लोकरीति का जिसमें रंचमात्र भी समावेश न हो, वही हमारा-आपका, मानवमात्र का विशुद्ध धर्मशास्त्र है और वह है भगवान श्रीकृष्णोक्त 'गीता', जिसमें स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के अनुसार केवल एक परमात्मा के चिन्तन को ही नियत कर्म कहा गया है और इसी नियत कर्म के अन्तर्गत उसी परमात्मा का परिचायक दो-ढाई अक्षर का नाम 'ॐ' अथवा 'राम' का जप तथा समकालीन किसी तत्त्वदर्शी की शरण में जाने का विधान है।

सभी महापुरुषों ने तत्त्वदर्शी महात्माओं की शरण और सान्निध्य पर बल दिया है; क्योंकि धर्म उन्हीं की अनुभूति है। एक बार अनुसुइया आश्रम में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुछ प्रोफेसर आये। उन लोगों ने पूज्य गुरुदेवजी से एक प्रश्न पूछा कि- ''भगवन्! हमलोग दर्शनशास्त्र पढ़ते हैं, कबीर को पढ़ते हैं, यही सब पढ़ाते भी हैं; किन्तु साधन समझ में नहीं आता।'' पूज्य महाराजजी ने कहा- ''हो! का कहीं, दो-दो पैसे में वेदान्त बिकत है। (उन दिनों गीता प्रेस, गोरखपुर की गीता दो पैसे में मिलती थी।) लोग पढ़त जात हैं और न जाने क्या लिखत भी जात हैं।'' साधना एक ऐसी चीज है जो लिखने में नहीं आती, वह तो किसी पहुँचे हुए महापुरुष के द्वारा किसी लगनशील अधिकारी साधक के हृदय में जागृत कर दी जाती है। ऐसे महापुरुषों की टूटी-फूटी सेवा से, दो-चार महीने के ही सान्निध्य से आत्मदर्शन की क्रिया हृदय में जागृत हो जाती है। वह इष्ट निर्देशन, संकेत और अनुभव प्रदान करने लगता है, रास्ता बताने लगता है और धारण कर लेता है।

इसीलिए भगवान राम ने कहा- **'भगति मोरि'** ***(मानस, ७/४४/२)***। श्रीकृष्ण ने कहा, **'मामेकं शरणं व्रज'** ***(गीता, १८/६६)***- एक मेरी शरण में आ जाओ, बल्कि धर्म की चिन्ता छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। पहले कहा- हृदयस्थ ईश्वर की शरण में जाओ, फिर कहा- तत्त्वदर्शी की शरण में जाओ। किसलिए? इसी धर्माचरण को सीखने के लिए! यहाँ कहते हैं- धर्म को भी छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। आखिर भगवान कहना क्या चाहते हैं?

वस्तुतः समर्पण के साथ लगनेवाले साधक का धर्म, कर्म, भगवान सब कुछ वही तत्त्वद्रष्टा महापुरुष है। वह धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूतिवाला है। धर्मस्वरूप, कर्मस्वरूप और उस धर्म-कर्म पर चलनेवाला सभी कुछ है। पूज्य महाराजजी कहते थे- **'तात मोर अति**

पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता।।' *(मानस, ५/३/८)* ''हो! हम भगवान के दूत हैं। हमसे मिले बिना कोई भगवान तक पहुँच ही नहीं सकता।'' भगवान हैं, किन्तु तत्त्वदर्शी सद्गुरु के बिना वे हमारे दर्शन और प्रवेश के लिए नहीं हैं। चूँकि उनकी अनुभूति अन्तःकरण में होती है, इसलिए हृदय से योगक्रिया जागृत करनेवाले तत्त्वदर्शी महापुरुष के अभाव में उस परमात्मा का कोई उपयोग हमारे लिए नहीं रह जाता। किन्तु एक परमात्मा में श्रद्धा और उस प्रभु का परिचायक दो या ढाई अक्षर के नाम का जप-यह धर्मनिष्ठा का ही अंग है।

बौद्ध कहते हैं- **'बुद्धं शरणं गच्छामि'**, जैन कहते हैं- **'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः'** अर्थात् तीर्थंकरों का दर्शन, उनका बताया ज्ञान और उनकी तरह चरित्र बनाने से मोक्ष मिलेगा। इस्लाम के अनुयायी कहते हैं कि मुहम्मद ही अल्लाह के रसूल हैं, सन्देशवाहक हैं, दूत हैं। सिख कहते हैं, 'वाहे गुरु'। ईसा कहते हैं- 'सांसारिक बोझ से दबे हुए लोगो! मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूँगा। जो मेरे पीछे आयेगा, उसे अपने आपको भूलना होगा और मेरा अनुसरण करना होगा।' (Come to me, all that are weary and heavy ladden and I will give you rest. If any man will come after me let him deny himself and follow me.)

सभी महापुरुष अपनी ओर बुलाते हैं। लगता है सभी अपनी-अपनी दुकान लगाये बैठे हैं; किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। अपने-पराये की भावना तो हमारे-आपके भीतर है, इसलिए ऐसा दिखाई देता है। महापुरुषों का आशय केवल इतना है कि जो महापुरुष साधन द्वारा चलकर उस हृदयस्थ परमात्मा में स्थिति पा चुका है, अपने समकालीन उस तत्त्वदर्शी की शरण में जाओ।

किन्तु तत्त्वदर्शी को हम-आप कैसे पहचानें? धूर्तों ने भी इस वेश से लाभ उठाया है। राजा प्रतापभानु और भगवती सीता इसी वेश से छले गये, हनुमान बाल-बाल बच गये। सभी तत्त्वदर्शी होने का दावा करने लगें तो?

वस्तुतः यह कोई समस्या है ही नहीं। हृदय से क्रिया जागृत कर देने की क्षमतावाला तत्त्वदर्शी यदि दृष्टि में नहीं है तो इसका कारण अपने पुण्य-पुरुषार्थ में ही कमी है- **'पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न संता।'** *(मानस, ७/४४/६)* तब तक आप एक परमात्मा में निष्ठा और उस परमात्मा का परिचायक कोई दो-ढाई अक्षर का नाम-जप करते हुए पुण्य अर्जित करें। जिस दिन यह पुण्य काँटे पर खड़ा हो जायेगा, तो सन्त-सद्गुरु जिस सिंहासन पर होंगे अथवा जिस कीचड़ में लोटते होंगे, आप वहाँ तक अपने आप पहुँच जायेंगे अथवा वे ही आपसे मिल लेंगे। आप उनको समझ जायेंगे, अनुभवी सूत्रपातों द्वारा वे आपको समझा लेंगे।

आत्मा को विदित कर लेनेवाले इस पथ पर जो कोई लगन और श्रद्धा के साथ लग जाता है, मार्गदर्शन की आवश्यकता का समय आने पर उसका पुण्य-पुरुषार्थ सद्गुरु से टकराने लगता है। ऐसे पथिक का मार्गदर्शन करना महापुरुषों ने अपना दायित्व माना है। पूज्य महाराजजी प्रायः बताया करते थे- ''इस नाम का, इस रंग-रूप का साधक आयेगा, जिसका मुझे मार्गदर्शन करना है।'' कुछ साधकों के बारे में तो ये संकेत एक-दो वर्ष पहले से ही मिलने लग जाते थे और वे बाद में आये भी।

अतः सद्गुरु खोजने कहीं जाने और देखा-देखी किसी को सद्गुरु मान लेने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें जिस दृष्टि से पहचाना जाता है, वह दृष्टि ही पुण्यमयी है। संत-सद्गुरु ही नहीं, स्वयं भगवान ही सामने खड़े हो जायँ, किन्तु जिनके पास पुण्य-सहयोग नहीं है, उन्हें पागल समझ सकते हैं। कहेंगे, कैसा रूप बनाया है! पूज्य महाराजजी के गुरुदेव को उनके क्षेत्रीय लोग आजीवन पागल ही समझते रहे; किन्तु महाराजजी के लिए वे ही सद्गुरु थे। उन्हीं के निर्देशन में चलकर महाराजजी महाराज हो गये, प्राप्तिवाले महापुरुष हो गये। हाँ! पुण्य-पुरुषार्थ की कमी से जब तक सभी संशयों का अन्त करनेवाले सद्गुरु नहीं मिल जाते, तब तक सन्तों में श्रद्धा ही पर्याप्त है; क्योंकि **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** *(गीता, ४/३६)*- वह पा जायेगा।

प्रश्नोत्तर

महाकुम्भ (हरिद्वार) में इन विचारों को सुनकर कतिपय विचारकों ने धर्म को अधिक स्पष्ट करने का आग्रह किया। उन्होंने महाराजजी से यह भी पूछा कि आप हिन्दूधर्म मानते हैं या नहीं? आप कौन-सा धर्म मानते हैं? आपके धर्म का नाम क्या है? धर्म में कौन-कौन सी बातें आती हैं? आपके धर्म की तालिका क्या है?- इत्यादि।

इन्हीं कुछेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार व्यक्त करते हुए महाराजजी ने कहा कि- ''देखिये, धर्म पर हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, पारसी, यहूदी, हमारा अथवा आपका- किसी का भी एकाधिकार या विशेषाधिकार नहीं है। सृष्टि भर में धर्म एक ही है। आदिशास्त्र गीता में है- जो शाश्वत है वह धर्म है, वही शाश्वत धाम देगा। जो नश्वर है वह अधर्म है, वह मृत्यु देगा। ऋग्वेद में है, **'अतो धर्माणि धारयन्।'** *(१/२२/१८)*- जो सबको धारण करता है (वह है परमात्मा) वही धर्म है, न कि हिन्दू या मुसलमान।

यह अवश्य है कि भारत में धर्म का जो नाम प्रचलित है, वह है हिन्दू। हिन्दू महासभा, विश्व हिन्दू परिषद् इत्यादि अनेक संगठन 'हिन्दू' शब्द को लेकर चलते हैं। बौद्ध, जैन, सिख सब इसी की शाखा माने जाते हैं; किन्तु इन सबका झगड़ा है तो हिन्दुओं से ही है। बौद्ध अलग होना चाहता है तो हिन्दू से, सिख अलग पहचान बनाना

चाहता है तो हिन्दू से, आतंकवादियों का आक्रोश है तो हिन्दू से, क्योंकि हिन्दू की परिभाषा ये जानते ही नहीं।

कुछ लोगों का कहना है कि हिन्दू एक क्षेत्रीय विशेषण है जो अरब आक्रान्ताओं की देन है। गजनी के लुटेरों को भारतीय मन्दिरों में संचित धन-भण्डार लूटने का चस्का लगा तो उन्होंने सीमावर्ती सिन्धु नदी के तटवासियों से इस देश की जानकारी ली। क्षेत्रीय लोगों ने 'सिन्ध' दरिया को 'हिन्द' दरिया बताया। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि राजस्थान के जैसलमेर, बाड़मेर से आर्यों के ही निवास ईरान तक आज भी 'स' का उच्चारण 'ह' होता है। लिखेंगे 'स' किन्तु उसको पढ़ेंगे 'ह'। वे लिखते हैं शेर सिंह, किन्तु उसको पढ़ते हैं हेरि हिंग। वेद में 'सरितो' को 'हरितो' पढ़ना, 'सरस्वत्यो' को 'हरःवत्यो' पढ़ना, बोलचाल में मास को माह कहना, सप्ताह को हफ्ता और केसरी को केहरी कहना उस क्षेत्र में अरबवालों के आने से बहुत पहले वैदिक काल से ही बोला जाता रहा है। अतः हिन्दू शब्द अरबवालों की देन नहीं है।

पूज्य गुरु महाराज के समक्ष भी यह प्रश्न आया था कि क्या हिन्दू शब्द अरबवालों द्वारा प्रयुक्त एक घृणात्मक सम्बोधन है?, तो उन्होंने बताया था- ''हो! यह नाम अरब आक्रमणकारियों की देन नहीं बल्कि उनसे भी प्राचीन है क्योंकि भारत के सुदूर वनप्रान्तों, असम और ब्रह्मा (वर्मा) इत्यादि क्षेत्रों जहाँ इस्लाम का प्रचार-प्रसार और प्रशासन व्यवस्था नहीं थी, वहाँ भी यह शब्द पूर्ण श्रद्धा से स्वीकृत है।'' यही उनकी पहचान है। हिन्द के नाम पर महासागर का नामकरण, गणित को हिन्दसा कहना इस शब्द के प्रति लोगों का आदर ही व्यक्त करता है।

जहाँ तक हिन्दू शब्द का प्रश्न है, अरबवालों द्वारा भारत पर आक्रमण से भी पहले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने महाराजा हर्षवर्धन के समय में भारत की यात्रा की थी, उन्होंने अपने यात्रा विवरण सी.यू.की. (जिसका अंग्रेजी अनुवाद सैमुअल बील ने किया है) के पृष्ठ ६९ पर भारत के नामों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि यहाँ के निवासियों को हिन्दू कहते हैं। यह चीनी भाषा के शब्द 'इन्तु' से मिलता-जुलता है जिसका शुद्ध उच्चारण इन्दु है जिसका अर्थ चन्द्रमा होता है। जिस प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर घने अँधेरे में चन्द्रमा मार्गदर्शन करता है, उसी प्रकार यहाँ के सन्त महात्मा अज्ञान से आच्छादित विश्व को अपने ज्ञान का प्रकाश देते हैं।

ह्वेनसांग ने कोई नयी बात नहीं कहा। उन्होंने वही कहा जो आदिशास्त्र गीता में है- हि = हिय अर्थात् हृदय; और इन्दु अर्थात् चन्द्रमा। गीता में है कि इस जगतरूपी रात्रि में सभी प्राणी अचेत पड़े हैं। इन सबके हृदय में परमात्मा क्षीण प्रकाश के रूप में विद्यमान है। गीता (१३/१७) में है कि वह ज्योतिर्मय प्रभु **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** सबके

हृदय में रहता है। गीता (१५/१५) में भगवान कहते हैं- **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो**'- मैं सबके हृदय में समाविष्ट हूँ। गीता (१८/६१) में भगवान ने बताया- **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'-** अर्जुन! वह ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में निवास करता है। अतः सृष्टि में जो भी उस ईश्वर को ढूँढ़ता है, यत्र-तत्र प्रयत्न कर जब भी पायेगा तो हृदय देश में ही पायेगा। इसीलिए मानवमात्र जो भी हृदयस्थ ईश्वर के आराधक हैं, सब हिन्दू ही हैं। गीतोक्त साधना के अनुसार महापुरुष के शरण-सान्निध्य से संयम और चिन्तन होते ही वह हृदयस्थ परमात्मा जागृत हो उठता है, अविद्या की रात्रि का अवसान होने लगता है, ईश्वरीय प्रकाश फैलने लगता है, इन्दुवत क्षीण प्रकाश ज्योतिर्मय परमात्मा के रूप में परिवर्तित हो जाता है जिसे न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही- **'न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।'** (गीता, १५/६)

इस प्रकार हिन्दू शब्द परमात्मा के निवास-स्थान का परिचायक है और आदिशास्त्र गीता-सम्मत है किन्तु दो-ढाई हजार वर्षों से भारत में पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लग जाने, आदिशास्त्र गीता और इतिहास-संस्कृति ग्रन्थ महाभारत पर प्रतिबन्ध होने से हिन्दू शब्द विवादों के घेरे में आ गया। इसीलिए बहुत से कवियों, मनीषियों ने सनातन और हिन्दू शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में नहीं किया जबकि संत कबीर इत्यादि महापुरुषों ने उद्बोधन के रूप में इस शब्द को लिया। अतः हिन्दू शब्द हृदय में ईश्वर के निवास-स्थान का वाचक है, बाहर किसी स्थान के निवासियों तक ही इसे सीमित मात्र मान लेना उचित नहीं है। प्राचीन काल में देश का नाम धर्म के आधार पर होता था, जैसे- हिन्दुस्थान, आर्यावर्त; किन्तु कालान्तर में वरिष्ठ महापुरुषों के नाम पर देश का नाम होने लगा, जैसे- महाराजा भरत के नाम पर भारतवर्ष, महाराजा कुरु के नाम पर कुरु देश, महाराजा गज के नाम पर गजनी, समरसेन के नाम पर समरकंद, महाराज जैसल के नाम पर जैसलमेर इत्यादि।

विचारणीय है कि चीन में रहनेवाला चाइनीज कहलाता है तो क्या चीनी कोई धर्म है? अमेरिका का निवासी अमेरिकन कहलाता है तो क्या अमेरिकन कोई धर्म है? इसी प्रकार यदि हिन्दुस्तान में रहनेवालों को ही हिन्दू कहें तो जमीन के टुकड़े का नाम धर्म कैसे हो गया? किसी देश का नाम पृथ्वी के ही एक हिस्से का नाम है, धर्म नहीं।

धर्म तो सर्वदेशीय, सर्वकालिक और सबके लिए होता है, और ऐसा है केवल एक परमात्मा। उस अव्यक्त, मन-वाणी से परे सत्ता का क्या नाम होगा? वह तो अनिर्वचनीय है। फिर भी ईश्वर के संकेतक हजारों नामों में से कुछेक नामों का चयन समय-समय पर किया गया। धर्म के तीन विशेषण आर्य, सनातन और हिन्दू 'गीता' शास्त्र के अनुसार

हैं। अस्तित्व केवल एक परमात्मा के प्रति आस्थावान आर्य है। वह परमात्मा ही शाश्वत और सनातन है। उसकी शोध में प्रयत्नशील होना सनातन धर्म है और हृदयस्थ ईश्वर के प्रति समर्पित व्यक्ति हिन्दू है। यह विविध दृष्टियों से ईश्वर की प्राप्ति के उपायों का नामकरण मात्र है। वैदिक वाङ्मय में इसे ही ध्रुव, सत् और सनताधर्माणि अर्थात् सनातन धर्म कहा गया। परवर्ती भारत में उसी का नाम था ब्राह्मण धर्म। यहाँ ब्राह्मण का अर्थ कोई सामाजिक वर्ग नहीं, गोपथ-शतपथ-एतरेय या ताण्ड्य नामक ब्राह्मण-ग्रन्थ नहीं; बल्कि ब्रह्म की प्राप्तिवाली क्रिया से गुजरनेवला प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण है। इन्हीं क्रियाओं का अनुसरण करनेवाले आर्य कहलाये।

आर्य और अनार्य शब्दों के प्रयोग से हमारे प्राचीन आर्ष-ग्रन्थ भरे पड़े हैं। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय, सुग्रीव का परिवार, वानर-भालू जातियाँ सब आर्य थीं। रावण जितना अनार्य था उसके पूर्वज पुलस्त्य, विश्रवा तथा उसका सहोदर विभीषण उतना ही आर्य था। रणक्षेत्र में विशालकाय कुम्भकर्ण को देखकर वानरी सेना विचलित होने लगी तो अंगद ने उन्हें साहस दिया- ''शूरवीरो! हम उन आर्यों की सन्तान हैं, जिन्होंने युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखायी। आज पीठ दिखाकर हम अनार्य कहलायेंगे।'' अतः आर्य उसे कहते हैं जो लक्ष्य पर दृढ़तापूर्वक डटा रहे। गीता में है, **'अनार्यजुष्टम्'** ***(गीता, २/१२)***- अर्जुन! तूने यह अनार्यों का आचरण कहाँ से सीख लिया? आलस्य छोड़कर युद्ध कर!

आर्य और अनार्य शब्दों पर भगवान बुद्ध के विचार मज्झिम निकाय के पाशराशि सुत्त में संकलित हैं। उन्होंने समझाया कि, ''भिक्षुओ! इस संसार में दो प्रकार की खोज (पर्येषण) है- आर्य और अनार्य। अनार्य-खोज उसे कहते हैं, जो स्वयं जात-धर्मा (जन्मनेवाला) होते हुए भी जात-धर्म का पर्येषण करता है। स्वयं जरा-धर्मा (बूढ़ा होने का स्वभाव) होते हुए भी जरा-धर्म का ही आह्वान करता है, व्याधि-मरण-शोक और संक्लेश-धर्मा होते हुए भी इन्हीं की खोज करता है। पुत्र और भार्या जात-धर्मा हैं। सोना-चाँदी तथा सृष्टि की सारी भोग-सामग्री जात-धर्मा है। इन्हीं में यह पुरुष ग्रसित, मूर्च्छित और आसक्त हो स्वयं जात-धर्मा होकर दूसरे जात-धर्मा अर्थात् नश्वर पदार्थों की खोज करता है- यह अनार्य खोज है। किन्तु भिक्षुओ! कोई-कोई पुरुष स्वयं जात-धर्मा होते हुए जात-धर्म में दुष्परिणाम देख अजात (जन्मरहित), सर्वोत्तम, मंगलमय निर्वाण की खोज करता है। स्वयं व्याधि-धर्मा होते हुए भी व्याधिरहित, मरण-धर्मा होते हुए भी अ-मृत, शोक-धर्मा होते हुए भी शोकरहित, स्वयं संक्लेश-धर्मा होते हुए भी मलरहित, अति उत्तम योगक्षेम निर्वाण की खोज करता है- वह आर्य-पथ पर है।''

स्पष्ट है कि आर्य एक पथ है, मन की एक रुझान है, एक निर्धारित दिशा है। आपका एक सगा भाई आर्य और दूसरा अनार्य हो सकता है। एक ही व्यक्ति जीवन के किन्हीं क्षणों में आर्य और दूसरे क्षण अनार्य हो सकता है। कोई कभी आस्तिक तो कभी नास्तिक हो सकता है। जो उस अस्तित्व का उपासक है, आस्तिक है, वह आर्य है। निष्ठा के साथ उस परमात्मा को पाने की विधि का आचरण आर्य-शोध है और इसके विपरीत जो अस्तित्वविहीन, नश्वर, क्षणभंगुर कलेवरों की कामना करता हुआ भटक रहा है, वह अनार्य है। इसी को महापुरुषों ने कभी विद्या और अविद्या कहा, तो किसी ने इसी को अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी, सजातीय-विजातीय, दैवी सम्पद्-आसुरी सम्पद् कहा। यह वृत्ति है, एक प्रवृत्ति है। सत्य की प्रवृत्ति आर्य है। असत्य की प्रवृत्ति अनार्य है। इसीलिए पूरा संसार आर्य है और पूरा संसार अनार्य है। वेद में है कि **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** अर्थात् विश्व को आर्य बनायें। आर्य बनाये जाते हैं, न कि जन्म या स्थान से कोई आर्य होता है।

सृष्टि का आदिशास्त्र गीता, उसी का विस्तार वेद और वेद से गौतम बुद्ध तक सबने आर्य का आशय इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति माना, गुणवाचक माना, न कि भारत के बाहर से आनेवाली कोई जाति! हाँ, भारत में उस परमात्मा की शोध करनेवाले बहुसंख्या में थे, इसीलिये भारत को कभी आर्यावर्त भी कहा जाता था। यहाँ हृदयस्थ परमात्मा की शोध करनेवाले बहुसंख्या में थे इसलिए हिन्दुस्तान भी कहलाया। जिस समाज का बहुमत एक परमात्मा के लिये संकल्पवान् था, जो अपना प्रत्येक कार्य परमात्मा का नाम लेकर आरम्भ करते थे, इन्द्रिय-संयम और मन के निरोध के लिए जो प्रतिबद्ध थे उनका रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, शादी-विवाह, नियम-कानून सब कुछ सुसंस्कृत था, जो आर्य- संस्कृति कहलायी; लेकिन आर्यों की जो मूल क्रिया है उस पर भारतीयों का ही वर्चस्व नहीं है। वह तो विश्व के मनुष्यमात्र की है। अपने को ईसाई माननेवाला भी यदि उस अविनाशी परमात्मा की खोज में तत्पर है, जिसमें अनन्त जीवन है तो वह आर्य है, सनातनी है, हिन्दू है; अन्य कुछ भी नहीं। मुसलमान ही क्यों न हो (सूफी सन्तों की तरह), एक परमात्मा के लिये जो हृदय-मन से प्रयत्नशील है, वह आर्यशोध पर है, आर्य ही है। आर्यत्व की मुख्य पहचान खानपान, वेशभूषा, रहने का ढंग या सामाजिक व्यवस्था नहीं बल्कि वह योग-क्रिया है, जिस पर चलकर यह जीवात्मा अपने मूल परमात्मा तक की दूरी तय करता है। सनातन साध्य है आर्यों का। जो दैवी सम्पद् से युक्त है, वह आर्य है। जो आसुरी सम्पद् से युक्त है, वह अनार्य है।

धर्म के लिए गीता और वेद में प्रयुक्त 'सनातन' शब्द का आशय है- जो सदा से था, है और रहेगा। ऐसा है एकमात्र परमात्मा। उसी के अंशमात्र से सृष्टि का सञ्चार

है। हर कण में वह विद्यमान है। हर आत्मा के लिये उसमें प्रवेश की व्यवस्था है। सभी को वह अविनाशी तत्त्व पाना है। वही सनातन है, वही सत्य है। वह प्रभु सर्वत्र वास करता है और सुमिरण से वह जागृत हो जाता है। जागृत होकर अपने स्वरूप तक की दूरी तय करा लेता है। यह सनातन सत्य है, इसीलिये धर्म का नाम सनातन है।

सत्यान्वेषी महापुरुषों के पश्चात् क्रमशः क्रियाहीन लोग उनका स्थान ग्रहण करने लग जाते हैं तो धर्म के ऊपर आवरण आ जाता है। अनेकों कल्पित पूजा-पद्धतियाँ, विकृतियाँ, आडम्बर तथा रीति-रिवाज धर्म को आच्छादित कर लेते हैं। ऐसे ही तिमिराच्छन्न परिवेश में कोई महापुरुष आलोक-पुञ्ज बनकर उभरता है। उसके आविर्भाव के लिये किसी शिष्य-परम्परा या गद्दी-परम्परा की आवश्यकता नहीं है। **'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'** *(गीता, ६/४५)*- अनेक जन्मों से चला हुआ पथिक कहीं भी जन्म ले सकता है। पूर्वजन्मों के अभ्यास से वह उस योग्यता को अर्जित कर चुका होता है, जहाँ पहुँचकर उसे किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। कई सौ जन्मों से बुद्ध साधु थे। श्रीकृष्ण के दस जन्मों का उल्लेख महाभारत में है। अतः अनेक जन्मों से चलनेवाले पथिक का जो प्राप्तिवाला अन्तिम जन्म है, योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह ज्ञानी साक्षात् मेरा ही स्वरूप है। ऐसा पुण्यात्मा कहीं भी जन्म ले सकता है। जन्म लेकर वह उस क्रिया को पुनः करेगा और शीघ्र ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेगा। लक्ष्य विदित कर जब वह समाज को सम्बोधित करेगा तो वही सत्य उसके मुख से भी प्रस्फुटित होगा; क्योंकि उसमें बोलता तो ईश्वर है। उस महात्मा की बुद्धि मात्र यन्त्र है। मूल सत्य ही उसके मुख से निकलेगा- जो शाश्वत है, सनातन है। इसीलिये विश्व के किसी भी कोने में या किसी भी कबीले में जन्मा हुआ कोई भी सन्त निन्दा का पात्र नहीं है। सन्त सब एक हैं और समान भाव से ही पूज्य हैं।

उन महापुरुषों ने किसी नये धर्म का आविष्कार किया हो, कोई नवीन मार्ग चलाया हो, ऐसी कोई बात नहीं है। जो सत्य है, शाश्वत है, सदा एकरस है, उसमें कोई अलगाव या आविष्कार हो ही नहीं सकता। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो यहाँ तक कह दिया कि ऐसा यह आत्मा अन्य कुछ होनेवाला भी नहीं है। जब अन्य कुछ होनेवाला ही नहीं तो आप कौन-सा आविष्कार कर लेंगे? हमारा भी अलग से कोई धर्म या पन्थ नहीं है। कोई भी महापुरुष नया धर्म नहीं चलाता फिर भी धर्म का जो पुरातन नाम है, उसमें किंचित् परिवर्तन प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वर के हजारों नामों में से किसी एक नाम का प्रयोग वह महापुरुष अधिक करता है। जैसे महात्मा बुद्ध को लें। उन्होंने कोई नया धर्म नहीं चलाया बल्कि साधना में अथक परिश्रम करके जब उन्होंने भगवान की कृपा का अनुभव किया, तो बताया कि रात्रि के अन्तिम प्रहर में मैंने उस अविनाशी पद को पाया, उस

सर्वज्ञता को प्राप्त किया, जो मुझसे पूर्व महापुरुषों ने प्राप्त किया था। *(अश्वघोषकृत बुद्धचरित, सर्ग १४, श्लोक ८५-८६)*

विचारणीय है कि बुद्ध से पूर्व बौद्ध-धर्म नहीं था तो बुद्ध के पूर्वज कौन थे? वही, जो हमारे-आपके थे। बुद्ध हमारे-आपके बीच से ही थे। क्षत्रिय कुल में जन्म हुआ, इन्हीं रीति-रिवाजों में पले। भजन करके क्या पाया? वही अविनाशी परमपद जो उनके पूर्व मनीषियों ने प्राप्त किया था। महात्मा बुद्ध से पूर्व कौन-से महर्षि थे? वही भगवान राम, भगवान श्रीकृष्ण, वशिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि इत्यादि।

गीता कहती है कि सत् का तीनों कालों में कभी अभाव नहीं है। शरीर नाशवान् है, मरणधर्मा है और आत्मा ही परमसत्य है, सनातन है, शाश्वत है। यद्यपि स्वयं में ईश्वर का कोई नाम नहीं है किन्तु विविध दृष्टियों से ये उसके सम्बोधन हैं। इनमें से एक सम्बोधन अविनाशी भी है। बुद्ध ने कहा- हमने उस अविनाशी को पाया। उसी परमात्मा का एक दूसरा सम्बोधन है- सर्वज्ञ। बुद्ध ने कहा कि हमने उस सर्वज्ञता को पाया। स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने उसी शाश्वत सत्य को दुहराया जो आदिसत्य था, जो मूलसत्य है। उन्होंने अविनाशी, सनातन, अमृततत्त्व, परमात्मा या उस सर्वज्ञ को ही दृढ़ाया, जैसा कि गीता में है।

तथागत के मुख से 'बोध' शब्द का अधिक प्रयोग हुआ। बोध का अर्थ है- ज्ञान। आदिशंकराचार्य कहते हैं, **'बोधो हि को यस्तु विमुक्तिहेतुः'**- बोध क्या है? जो मुक्ति का साधन है। गीता में इसी बोध को ज्ञान कहा गया-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१९)*

वेद में भी है कि **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**- ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है। इस प्रकार यह बोध शब्द भी उस परमात्मा का ही एक सम्बोधन है, एक विभूति है। गौतम द्वारा व्यवहृत शब्द के आधार पर पीछेवालों ने एक नारा बना लिया कि- **'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'संघं शरणं गच्छामि', 'धम्मं शरणं गच्छामि'**- धर्म की शरण जाओ। कौन-सा धर्म? वही शाश्वत, सनातन, जो हमारा-आपका सबका धर्म है। यह बोध (ज्ञान) शब्द भी सनातन का ही क्रिया-पक्ष है। ठीक इसी प्रकार हमारे चौबीस अवतारों में एक ऋषभदेव की शिष्य-परम्परा में महावीर स्वामी हुए- जिनकी तपश्चर्या, सहनशीलता विख्यात है। राजपरिवार के होते हुए भी इन्होंने अयाचित भिक्षावृत्ति से निर्वाह किया। कुछ ने इन्हें पागल घोषित कर पत्थरों से मारा, किसी ने कान में कील ठोंक दिया किन्तु इन्हें न क्रोध आया, न क्षोभ, भजन में लगे ही रहे। उन्होंने जब उस स्थिति को पाया तो निर्णय दिया कि आत्मा ही सत्य है, शाश्वत है। कठोर तपस्या के द्वारा, इन्द्रिय-संयम के द्वारा,

तीर्थस्वरूप महापुरुषों अर्थात् तीर्थङ्करों की सेवा द्वारा- इसी कर्म द्वारा उसे प्राप्त किया जाता है, उसे खोजो। उनकी विचारधारा को 'जैन' कहकर पृथक् धर्म माना जाता है, जबकि आत्मा और कर्म का ठीक यही सिद्धान्त गीता में है कि आत्मा ही सत्य है, सनातन है और उसे जानने के लिये किसी तत्त्वदर्शी की शरण में जाओ।

'जीव अयन स जैन।' अयन कहते हैं घर को। इस जीवात्मा को अपना घर, अपना शाश्वत स्वरूप प्रदान करने का व्रत जैन विचारधारा है। यह मिलता है जिन बनने से- जितेन्द्रिय बनने से, केवली बनने से- कैवल्य (परमपद) प्राप्त करने से। यही भगवान श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि हृदय में स्थित ईश्वर की शरण में जाओ। **'तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।'** *(गीता, १८/६२)*- उसकी कृपा से तुम उस स्थान को प्राप्त कर लोगे जो शाश्वत है। यही घोषणा महावीर स्वामी की है कि जीवात्मा को उसका अयन दूँगा। इन्द्रिय-संयम द्वारा साधन-पथ पर चलकर उस मूल का स्पर्श, आत्मा का साक्षात्कार, प्रवेश और स्थिति- यही तो उनकी घोषणा है; फिर उनका धर्म नया कैसे हो गया? सनातन से भिन्न कहाँ रहा? जो श्रीकृष्ण ने कहा, वही महावीर स्वामी भी तो कह रहे हैं। अतः कोई भी महापुरुष किसी नवीन धर्म का सृजन नहीं करता बल्कि शाश्वत के नाम पर जो अवरोध रीति-रिवाज के रूप में पनप जाते हैं, धर्म लुप्त-सा हो जाता है तो ऐसे युगान्तकारी महापुरुषों द्वारा वह आवरण धुल जाता है और जो मूलबिन्दु है, महापुरुष समाज को उस सत्य बिन्दु पर खड़ा कर देता है। इसी प्रयास में सनातन का ही एक नाम 'जैन' पड़ा। गौतम बुद्ध भी अपने को जिन्, केवली और वेदगू कहते थे।

ठीक इसी प्रकार सिखसमुदाय सनातन से अलग अपनी पहचान बनाने के लिये संघर्षरत है। सिख का अर्थ होता है शिष्य- जो सीख प्राप्त करे। सद्गुरु की सीख पर चलनेवाला हर व्यक्ति सिख है। यह भी सनातन का ही एक नाम है, जिसमें सनातन की ओर ले चलनेवाले माध्यम (सद्गुरु) पर अधिक बल दिया गया। किसी ने लक्ष्य पर बल दिया तो किसी ने साधन पर- बात सबकी एक ही है।

सच कहा जाय तो यह सनातन-धर्म, आर्य-धर्म या हिन्दू-धर्म सद्गुरुओं की शिक्षा पर चलनेवाले शिष्यों की परम्परा का ही नाम है। गीता शुद्ध धर्मशास्त्र है; किन्तु यह भी गुरु-शिष्य संवाद के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। गुरु-शिष्य परम्परा का नाम ही धर्म है। भारत ही नहीं, अपितु समस्त संसार में धर्म के नाम पर जो कुछ भी है, गुरुओं के पीछे सिमटा हुआ समाज ही है। अस्तु, भारत में कोई दो-चार प्रकार के धर्म नहीं हैं। वास्तव में धर्म एक ही है। जो काल से परे पुरुष है, जो अविनाशी है- हमारा धर्म है। इस जीव को अपना धाम देने को उद्यत जैन हमारा धर्म है। परमात्मा का सहज

बोध करना-कराना हमारा धर्म है। सद्गुरु के पदचिह्नों का अनुसरण करके उस सत्य में प्रवेश पाना हमारा धर्म है। यही गुरुनानक ने कहा कि एक परमप्रभु ही सत्य है। इसके अतिरिक्त सृष्टि में जो कुछ भी है, सब अस्तित्वविहीन है, नश्वर है। अतः एक परमात्मा का ही सुमिरन करना चाहिए।

सिमिरहु सिमरि सिमरि सुख पावहु। कलि कलेस तन माहिं मिटावहु।।

अर्थात् सुमिरन करो; क्योंकि सुमिरन करके ही सुख पाने और क्लेश मिटाने का विधान है। तो किसका स्मरण करें? 'सुखमनी साहेब' में नानक कहते हैं-

सिमिरहु जासु बिसम्भर एके। नाम जपत अनगनत अनेके।।

उसका स्मरण करो, जो विश्वभर का अकेला ही भरण-पोषण करनेवाला है। वह एक ही है, यद्यपि उसके नाम अनन्त हैं, अनेक हैं। तो उसे क्या कहकर पुकारें? कितने नाम जपें? कहते हैं-

वेद पुरान सिमृति सुधाख्यर। कीन्हे राम नाम इक आख्यर।।

वेद, पुराण, स्मृति इत्यादि सभी एक राम-नाम की देन हैं।

किनका एक जिसु जिय बसावे। ताकी महिमा गनी न आवे।।

इस राम-नाम का एक कण जिसके हृदय में बस जाता है, उसकी महिमा गिनने में नहीं आती।

राम नाम उर में गह्यो, ताके सम नहीं कोय।
जा सुमिरत संकट कटे, दरस तुम्हारो होय।।

राम-नाम जिसके हृदय में बस गया, उसके समान कुछ भी नहीं है। इस नाम के स्मरण से संकट मिट जाता है और प्रभु आपका दर्शन हो जाता है। अब आप ही बताइये कि नानक कौन-सी कुल्हाड़ी मार रहे हैं? वह भी तो ठीक वही बात कह रहे हैं जो गोस्वामी तुलसीदास, महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी और गीता का सन्देश है। नानक को आप सनातन से अलग कैसे करेंगे; क्योंकि उन्होंने कहा- **'एक ओंकार सतगुरु प्रसादि।'** सत्य एक ओंकार है, और सनातन है क्या?

अतः इन महापुरुषों को यदि हम त्याग देते हैं कि ये हमारे नहीं अथवा हमारे धर्म के विपरीत हैं, तो हमने अपने ही पूर्वजों की शोध को खो दिया। उन्होंने जिस सत्य को सबके कल्याण के लिये प्रस्तुत किया, हमने उसका रिकार्ड (लेखा-जोखा) ही खो दिया। यह हमारी अपनी क्षति है, अन्य कुछ भी नहीं है। सत्य को उद्घाटित करनेवाला प्रत्येक महापुरुष समर्चनीय है।

सबके लिए धर्म का शुद्ध नाम आर्य, सनातन या हिन्दू है। 'भोजन ऐसे करो', 'वस्त्र ऐसा पहनो'- इन बातों का धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं है। यह सनातन नहीं

है। सनातन तो एकमात्र परमात्मा है। वही शाश्वत है, अविनाशी है। उसे शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता, आकाश उसे अपने में समाहित नहीं कर सकता, **'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।'** *(गीता, २/२०)*- शरीर के मरने पर भी वह मरता नहीं है। वह सदा रहनेवाला अमृत तत्त्व है, वही एकमात्र धर्म है, वही सनातन है। उसके अतिरिक्त सारी सृष्टि, कश्यप और अदिति की सन्तानें, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, पाताल सब कुछ पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, जिनका कोई अस्तित्व नहीं है। केवल एक वह परमात्मा ही शाश्वत और सत्य है। यदि उस परमात्मा को हमने जीवन का उद्देश्य नहीं बनाया, उसकी सर्वव्यापकता पर हृदय में विश्वास अर्जित नहीं किया, तो हम सनातनी या धार्मिक कैसे?

फिर धार्मिक कौन है? धर्मशास्त्र गीता का निर्णय है कि सृष्टि में जन्म लेनेवाला कोई भी प्राणी यदि अनन्य भाव से एक परमात्मा को भजता है, तो **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** *(गीता, ६/३१)*- वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। अतः गीता के अनुसार धार्मिक होने की केवल एक ही शर्त है, धर्मात्मा की केवल एक ही पहचान है कि **'भजते मामनन्यभाक्'** *(गीता, ६/३०)*- अनन्य अर्थात् अन्य न- केवल एक परमात्मा का जो चिन्तन करता है, वही धार्मिक है। अध्याय १८/६१ में है कि वह ईश्वर **'सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'**- सभी प्राणियों के हृदय में रहता है, अतः उसमें प्रवेश का अधिकार भी सभी प्राणियों को है। वह अमीर-गरीब सबका है, सबको वह सुलभ है।

सत्य से संयुक्त सद्गुरु के उपदेशों का पालन करना, उनके आचरण पर चलना ही धर्म है। जो स्वयं तत्त्व में स्थित हो, ईश्वरीय संकेत समझता हो और समझा सकता हो, वही सद्गुरु है। इन्हीं के पास जाने के लिये गीता, वेद, मुहम्मद, महावीर, ईसा, बुद्ध, नानक और जरथुस्त्र कहते हैं। इसकी विधि सीखने पण्डे-पुजारियों और मौलवियों के पास जाना ही भूल है; क्योंकि किसी भी महापुरुष ने इनके पास जाने को नहीं कहा। ये तो पाठशाला के व्यवस्थापक मात्र हैं।

'गुरोर्वाक्यं सतत गेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः' अर्थात् गुरु का यदि एक वाक्य मिल जाय तो वह सत्य है, धारण तथा अनुकरण करने योग्य है और उसके समक्ष करोड़ों शास्त्र भी व्यर्थ हैं। **'महाजनो येन गतः स पंथा'**- वास्तव में उस अविनाशी तत्त्व (परमात्मा) के पूर्ण ज्ञाता महापुरुष ने जिस क्रिया से चलकर उसे पाया, वही एक पथ है। उन आप्तपुरुषों की शिक्षा का अनुसरण करना ही संसार में धर्माचरण है। अतएव सृष्टि में धर्म एक ही है।

सृष्टि के आदि में भगवान ने इस धर्म का, अविनाशी योग का उपदेश सूर्य को दिया। कालान्तर में लोप हो जाने से आज से लगभग छः हजार वर्ष पूर्व द्वापर में वही

उपदेश भगवान ने अर्जुन के प्रति कहा। तब भी भगवान ने कहा था, दुबारा भी भगवान ने ही कहा। इसलिये गीता सृष्टि का आदिशास्त्र है क्योंकि इसमें भी वही ज्ञान है जो सृष्टि के आदि में भगवान ने कहा था। इसी ज्ञान का विस्तार वेद है।

इतिहासविद् एकमत से स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है। धर्म और ज्ञान का उद्घोष करनेवाले वैदिक ऋषियों का सुविख्यात निर्णय पुरुषसूक्त में है कि वह एक परमात्मा ही सत्य है, जिसके तेज के अंशमात्र से सृष्टि का संचालन है। वही अमृत तत्त्व है। उसे प्राप्त करने के अतिरिक्त अमर होने का अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। पूर्व मनीषियों ने उसी अविनाशी परमात्मा को मानस-यज्ञ के द्वारा हृदय में जाना। सर्वत्र व्याप्त होते हुए उसका निवास हृदय-देश में है। तत्त्वदर्शियों के पास जाकर इसे जानो। इस प्रकार वेद में श्रीमद्भगवद्गीता का ही निर्णय है कि एकमात्र आत्मा ही सत्य, शाश्वत, सनातन और अमृतस्वरूप है। उसके सिवा कुछ भी सत्य नहीं, पूज्य नहीं। उसका निवास हृदय-देश में है और मानस यज्ञ के द्वारा उसे पाया जा सकता है। उसकी विधि किसी तत्त्वदर्शी महात्मा से ही पायी जा सकती है।

भारत के विविध भाषाओं के विविध ग्रन्थों में इसी मूलज्ञान (गीता और वेद) का विस्तार है। बुद्ध, महावीर, गुरुनानक, कबीर इत्यादि महापुरुषों के उपदेशों का सार यही है कि परमात्मा एक है और कठोर तपस्या से हृदय-देश में जागृत होता है। बुद्ध ने वही तप किया और उसी सर्वज्ञता को पाया।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व ईसा मसीह ने भी यही कहा, जो उनके पश्चात् शिष्यों ने बाइबिल में संकलित किया कि ईश्वर एक है और उसका निवास सर्वत्र होते हुए भी प्राप्तिस्थल हृदय-देश में है। 'मेरे पास आ, तुम भी ईश्वर के पुत्र कहलाओगे।' पास आने का अभिप्राय है- ध्यान के द्वारा उस ऊँचाई तक पहुँचना, जहाँ महापुरुष की स्थिति है। एकान्त सेवन, निरन्तर सुमिरन और पूर्वभूलों के लिए पश्चाताप यही उसकी प्राप्ति का उपाय है। स्पष्ट है कि ईसा ने भी वही कहा, जो गीता कहती है।

मुहम्मद साहब ने चौदह सौ वर्ष पूर्व अल्लाह की वाणी कुरान में उसी परमतत्त्व पर प्रकाश डाला, जो गीता और वेद का निर्णय है कि 'ला इलाह इल्लिल्लाह' अर्थात् अल्लाह (परमात्मा) के सिवाय अन्य कोई पूजनीय नहीं है। उस अल्लाह का निवास दिल में है- **'दिल मत किसी का दुखाओ बन्दे, यह घर खास खुदा का है।'** प्राणिमात्र में अपनी आत्मा को देखते हुए उन्होंने कहा कि हरी घास मत तोड़ो, किसी जीव को मत काटो, किसी प्राणी की आत्मा को ठेस न पहुँचाओ- जो इस राह पर चलते हुए प्रार्थना करते हैं, वे अल्लाह की आसमानी आवाज़ सुनते हैं। उसकी प्राप्ति का साधन बताते हैं

कि जो खुदा के बन्दे हैं, तत्त्वदर्शी सन्त हैं, उनमें ईमान लाओ। उनके निर्देशन में चलकर संसार की हर वस्तु को तिलाञ्जलि देकर, कठोर चिन्तन करके उसे हृदय-देश में पा सकते हो। निष्कर्षतः मुहम्मद साहब के उपदेश गीता और वेद-उपनिषद के उपदेशों से अनुप्राणित हैं।

वेद तथा वेदों के भी मूल आदिशास्त्र गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जो निर्णय दिया, वही ज्ञान विश्व में अनेक स्थलों पर अनेक भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है- कहीं कोई तात्त्विक भेद नहीं। गीता और वेद द्वारा उद्घाटित सत्य और साधन-पद्धति ही विभिन्न लोगों को समझाने के लिये विभिन्न सन्तों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में कही गयी है। उन भक्तों के हृदय में आन्तरिक अनुभूतियों के द्वारा परमात्मा ने एक ही जैसा निर्णय दिया है; किन्तु भगवत्प्राप्ति की सम्पूर्ण, क्रमबद्ध साधना केवल गीता में ही सुरक्षित है जिसे समझने के लिए गीता की यथावत् व्याख्या 'यथार्थ गीता' विश्व की अधिकांश भाषाओं और इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है।

जब ईश्वर एक है, धर्म एक है तो धर्मनिरपेक्षता की बात महत्त्वहीन लगती है। सापेक्ष और निरपेक्ष की बात तो तब उठती, जब धर्म एक से अधिक (दो-चार) होते। एक ही सत्य को उद्घाटित करनेवाला धर्म एक ही है तो निरपेक्ष कैसा? भाषाओं और वेशभूषा की पैरवी धर्म से सम्बन्ध नहीं रखती। इसलिये भारत सरकार को चाहिये कि सभी धर्माचार्यों से इस पुस्तिका-जैसी तालिका माँगकर धर्म का शुद्ध स्वरूप प्रस्तुत करे, इससे समाज के सारे झगड़े स्वतः शान्त हो जायेंगे। जिस प्रकार सूर्य की किरणें कोहरे को मिटा देती हैं, अन्धकार को नष्ट कर देती हैं, उसी प्रकार ज्योंही ईश्वरीय प्रकाश से अज्ञान का कुहासा छँट जायेगा तो एक-जैसा बोध, एक-जैसा इष्ट और एक-जैसा मार्ग होने पर कोई झगड़ने का कारण कहाँ रह पायेगा?

रहन-सहन, आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा दो हो सकते हैं; किन्तु साधना दो नहीं है- क्योंकि हैं सभी अविनाशी कल्याण तत्त्व की ओर ही बढ़नेवाले, एक ही वस्तु के उपासक। जैसे- कपड़े की पचीसों दुकानें हैं लेकिन सबके साइन बोर्ड, सबके ट्रेडमार्क अलग-अलग हैं; किन्तु प्रत्येक दुकान में वस्त्र ही मिलेगा। ठीक इसी प्रकार समस्त सम्प्रदायों में एक ही अविनाशी सत्य की शोध है। ये चिह्न गुरुघरानों के हैं। किसी महापुरुष की शिष्य-परम्परा में जब संख्या बढ़ जाती है तो वही मज़हब या सम्प्रदाय बन जाता है।

प्रत्येक सम्प्रदाय में कालान्तर में सच्चे फकीर और साधनारत लोग अलक्ष्य होते जाते हैं, व्यवस्था ही प्रमुख होती जाती है तो वे बाह्य ट्रेडमार्क को ही सजाने में लग जाते हैं, भीतरी वस्तु छोड़ देते हैं, इस प्रकार धर्म के नाम पर भ्रान्तियों और संकीर्णताओं को प्रवेश मिल जाता है।

आप स्वयं विचार करें कि सभी सम्प्रदायों में आराध्य एक है। जो सर्वत्र व्याप्त है, वह अविनाशी तत्त्व एक ही है। उसे खोजने का तरीका है महापुरुषों का सान्निध्य, जो परमात्मा के रसूल हैं, ईश्वर के दूत हैं, तत्त्वदर्शी हैं, परमतत्त्व परमात्मा के तद्रूप अनुभूतिवाले हैं। प्रकृति के प्रवाह से हटकर परमात्मा के तद्रूप होनेवाला साधन एक ही है। मरणधर्मा को अनन्त जीवन दिलाना, दुःख के स्थान पर आनन्द सबका लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति के साथ देहाध्यास शान्त हो जाता है। शाश्वत- जो अपरिवर्तनशील है, अमृततत्त्व- जो मृत्यु से परे है, अकालपुरुष- जहाँ काल नहीं है, इसकी प्राप्ति जिस विधि से होती है उस विधि को धारण करना ही तो धर्म है। वस्तुतः सनातन- जो सदैव था, है और रहेगा, उस अविनाशी को धारण करना, उसकी प्राप्ति की क्रिया में अनुरक्त रहना धर्म है। इस पथ पर कोई आरम्भ में है, कोई मध्य में तो कोई प्राप्ति पर। इसमें सम्प्रदाय कैसा? अलगाव कैसा? विरोध कैसा?

मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और गिरजाघर परमात्मा के प्रार्थना-स्थल हैं। ये ईश्वर के दरबार हैं, परमात्म-तत्त्व की शिक्षास्थलियाँ हैं, ईश्वरीय पाठशालायें हैं। यदि इन स्थलों पर यह नहीं बताया जाता कि ईश्वर क्या है, कहाँ रहता है और उसे प्राप्त करने का तरीका क्या है?, तो उनकी स्थापना का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थलियाँ कालान्तर में धर्म के नाम पर किसी धोखे को ही जन्म देंगी। जिन स्थलियों में उक्त प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत नहीं किया जाता, वे ऐसी पाठशालाओं के समान हैं जिनमें पढ़ाई नहीं होती। केवल पूजा कराने और प्रसाद बाँटनेवाले मन्दिर अपने महान् उद्देश्य से दूर हट सकते हैं। भेदभाव की दीवार खड़ी करके अपनी जीविका चलानेवाले लोग सनातन को नहीं जानते- धर्म जानते ही नहीं।

सृष्टि में मनुष्य मात्र का धर्म एक है। ईश्वर-पथ में अमीर-गरीब, काले-गोरे, बुद्धिमान् और मूर्ख का भेद नहीं है। इसमें तो अनन्य चिन्तन से, अनन्य भाव से जुड़ना ही मुख्य है। एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी श्रद्धा है तो वह भटका हुआ है, शोचनीय है। उस एक परमात्मा के लिये यदि आप उसी की प्राप्तिवाले किसी महापुरुष को पकड़कर चलेंगे तो परमात्मा स्वयं अपना बोध करायेगा, सामने खड़ा होकर समझायेगा और अन्त में अपने स्वरूप में विलय कर लेगा। इसी का नाम शाश्वत शान्ति है। अनेक जन्मों से साधन करनेवाला पथिक इस लक्ष्य को बाल्यकाल में ही पा लेता है।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय।।

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण आत्मपथ की जागृति के पश्चात् ही शुरू होता है। वर्ण एक ही साधन-पथ के चार सोपान हैं और सारा संसार इन चारों वर्णों के अन्तर्गत है। बाहर (जातियों में) वर्ण हो ही नहीं सकता।

स्मृतियाँ व्यवस्था थीं, कानून थीं; धर्म नहीं!

महाकुम्भ के पर्व पर चण्डीद्वीप हरिद्वार में दिनांक ८.०४.१९८६ ई0 की जनसभा में वर्ण-व्यवस्था का स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी द्वारा रहस्योद्घाटन।

बन्धुओ!

भारत का एक उलझा हुआ प्रश्न है, जिससे सभी लोग त्रस्त हैं- वह है 'जाति'। इन जातियों को लेकर ही देश का विभाजन हुआ, साम्प्रदायिक निर्वाचन की माँग उठी और आज भी विभिन्न प्रदेशों में उठ रही है। जातियों को लेकर ही दंगे होते हैं, मनुष्य एक दूसरे के खून का प्यासा हो जाता है और ऊपर से दुहाई देते हैं कि यह तो भगवान ने बनायी है। कहते हैं- ऐसा 'गीता' में लिखा है, जबकि एक भी श्लोक न तो 'गीता' में है और न किसी शास्त्र में, जो जातियों का विभाजन करता हो, मनुष्य को बाँटता हो।

आज हम सब इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि वर्ण है क्या? क्या भगवान ने बँटवारा किया है? वर्ण के विषय में चारों वेदों में केवल एक ऋचा है, स्मृतियों में इसी की चर्चा है और 'गीता' में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस पर पूरा जोर दिया है। आइए देखें कि शास्त्र कहते क्या हैं और हमने-आपने मान क्या लिया?

पहले सभी शास्त्र मौखिक थे। सर्वप्रथम कृष्ण द्वैपायन व्यास ने उन्हें लिपिबद्ध किया, भोजपत्रों पर लिखा। उन महर्षि ने चारों वेद, छः शास्त्र, भागवत महापुराण, महाभारत इन सबका संकलन किया। अन्त में उन्होंने विचार किया कि मैंने इतना लिख डाला है कि पढ़ते-पढ़ते मनुष्य का एक-दो जन्म ही बीत जाय, अतः इन सबमें सर्वोपरि शास्त्र कौन है? स्वयं उन्होंने निर्णय दिया-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

(महाभारत, भीष्मपर्व, ४३/१)

गीता भली प्रकार मनन करके हृदय में धारण करने योग्य है, जो स्वयं योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से निकली है- अन्य शास्त्र के विस्तार में जाने की क्या

आवश्यकता? अतः गीता स्वयं में एक पूर्णशास्त्र है। **'इति गुह्यतमं शास्त्रम्'** *(गीता, १५/२०)* कहकर भगवान ने इसे शास्त्र की संज्ञा दी है। परमात्म-धर्म का शुद्धशास्त्र गीता है। गीता सार्वभौम है। विश्व के प्रत्येक मानव का कोई निर्दोष शास्त्र है, तो गीता ही है।

अब गीता कहती क्या है? कोई व्यापारी गीता उठाता है तो कहता है, **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।'** *(२/४१)*- गीता कहती है कि अपना-अपना व्यवसाय करो। क्षत्रिय के लिए कहती है- युद्ध करो। राजनीतिज्ञ कहते हैं- लाभ के लिए विदेशी कपड़ा बेचते हैं तो आप सकाम कर्मयोगी हैं, देश का कपड़ा देश में बेचें तो आप निष्काम कर्मयोगी हैं। कर्मयोग माने अपना-अपना धन्धा।

गीता पर लाखों विद्वान् व्याख्यान दिया करते हैं, हजारों टीकाएँ हैं- सैकड़ों टीकाएँ तो केवल संस्कृत में हैं, लेकिन आज तक कोई यह नहीं बता सका कि गीता 'कर्म' किसे कहती है? जिसे आप कर्म कहते हैं, गीता उसे कुकर्म एवं अचेत कर्म कहती है। गीता पढ़कर ही हम जानते हैं कि युद्ध हुआ था; किन्तु गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो मारकाट का समर्थन करता हो। ऐसे ही पन्द्रह-पचीस प्रश्न हैं, जो हैं पूरब और हम-आप खोजा करते हैं पश्चिम। है हृदय की योग्यता, देखते हैं बाहर। उन्हीं में से एक प्रश्न है वर्ण-व्यवस्था। जिस जाति-प्रथा को आज तक वर्ण समझा गया, गीता उसे वर्ण कहती ही नहीं।

गीता के अध्याय ४/१३ में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'**- अर्जुन! चार वर्णों की रचना मैंने की। विचार कीजिए, क्या सृष्टि का अर्थ केवल भारत होता है? भारत से बाहर भी क्या ये चारों वर्ण हैं? चारों वर्ण को भगवान ने बनाया, तो विश्व की अन्य जातियों को किसने पैदा किया? भगवान के कथन का अभिप्राय क्या है?

अभी मद्रास में सामूहिक धर्म-परिवर्तन की घटना हुई। हरिजन अपना धर्म बदलकर मुसलमान हो गए। लोग धर्माचार्यों के पास गये। निवेदन किया, ''भगवन्! कुछ कीजिए।'' उन्होंने निर्णय दिया- ''वर्ण तो भगवान का बनाया हुआ है, मनुष्य को बदलने का कोई अधिकार नहीं है। हम कोई व्यवस्था नहीं दे सकते।''

भगवान की व्यवस्था को तो बदलना नहीं चाहिए था; किन्तु लोग बदल रहे हैं। एक-दो नहीं, करोड़ों में बदलते जा रहे हैं। मात्र बारह हजार मुसलमान बाहर से भारत में आए थे और देश के विभाजन के पश्चात् भी भारत में उन्तीस करोड़ के लगभग हैं। जन्मना बढ़ते तो बारह हजार से बढ़कर लाख हो जाते, करोड़ में हो जाते, ये उन्तीस करोड़ आए कहाँ से? ये सब आपके ही सगे भाई हैं। आपने ही तो धक्का देकर इन्हें

अपने से अलग कर दिया। चार वर्ण की ईश्वरीय आज्ञा को कम-से-कम आपने तो माना होता। चार के स्थान पर असंख्य जातियों-उपजातियों की सृष्टि कहाँ से हो गई?

धर्म-परिवर्तन की उपर्युक्त घटना पर दूसरे आचार्य ने कहा था कि यदि वर्ण बदले जायेंगे तो सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। वर्ण-व्यवस्था तो हमारा सनातन-धर्म है कि तुम शूद्र बने रहो, हम वैश्य बने रहें; तुम क्षत्रिय बने रहो, हम ब्राह्मण रहें। यदि शूद्र न रहा तो सनातन-धर्म नहीं रहेगा; क्योंकि उसका एक अंग टूट जायेगा।

तीसरे आचार्य ने आशंका व्यक्त की कि धर्म-परिवर्तन से उनकी संख्या बढ़ जायेगी, वे पुनः अलग राष्ट्र की माँग करेंगे। देश की अखण्डता को खतरा है इसलिए सरकार को धर्म-परिवर्तन पर रोक लगानी चाहिए। अब सरकार तो धर्म-निरपेक्ष है, उसे तो बहुमत चाहिए- आपसे मिले या उनसे। अलग राष्ट्र की माँग वे क्यों करेंगे? माँग तो अल्पसंख्यक करते हैं और संख्या आपकी घटेगी।

वस्तुतः सनातन-धर्म की गठरी फट गयी है। दो-दो दाना चावल गिरता जा रहा है। यदि इन भ्रान्तियों का निवारण नहीं किया गया, तो एक समय ऐसा भी आयेगा कि गठरी बिल्कुल हल्की हो जायेगी।

यह सच है कि गीता के अनुसार वर्ण भगवान की सृष्टि है; किन्तु गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो मनुष्य-मनुष्य में दरार डालता हो। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप स्त्री हों अथवा पुरुष, शूद्र हों अथवा वैश्य, कोई पाप-योनिवाले कीट-पतंगादि ही क्यों न हों, जो सर्वभाव से मुझे भजता है, वह मुझे परमप्रिय है।

इतना ही नहीं, **'अपि चेत्सुदुराचारो'**- दुराचारियों का सिरमौर ही क्यों न हों, यदि **'भजते मामनन्यभाक्।'**- अनन्य माने अन्य न अर्थात् एक मेरे सिवाय अन्य किसी देवता को न भजकर केवल मुझे भजता है, तो **'साधुरेव स मन्तव्यः'**- वह साधु मानने योग्य है, क्योंकि **'सम्यग्व्यवसितो हि सः।।'** *(गीता, ९/३०)*- वह यथार्थ निश्चय से लग गया है। इसका परिणाम बताते हैं कि वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। पुण्यात्मा तो लगते ही हैं, मूलतः गीता पापियों के लिए उद्धार की पद्धति है। यह मनुष्य-मनुष्य में किंचित् भी भेद का स्थान नहीं देती।

अध्याय ४/१३ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा- **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'**- चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार भागों में बाँटा? श्रीकृष्ण कहते हैं, नहीं, **'गुणकर्मविभागशः।'**- गुण के आधार पर कर्म को चार भागों में बाँटा। अब यदि आप कर्म समझ लें तो बँटवारा भी सही समझ जायेंगे; क्योंकि जो वस्तु बाँटी गयी है वह है कर्म। कोई कहता है- खेती करना कर्म है, तो कोई व्यवसाय को, देशसेवा-समाजसेवा

को, अपनी नौकरी को कर्म बताता है। कोई कहता है, **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'** *(गीता, १८/४५)*- अपनी-अपनी ड्यूटी करो। वस्तुतः श्रीकृष्ण ने भी तो कुछ कहा होगा कि कर्म क्या है? यदि ज्यों-का-त्यों मान लें कि श्रीकृष्ण ने किसको कर्म कहा, तो आपको वर्ण के सम्बन्ध में कभी भी भ्रान्ति नहीं होगी।

गीता के अध्याय ३/८ में वे कहते हैं, **'नियतं कुरु कर्म त्वं'**- अर्जुन! तू निर्धारित किये हुए कर्म को कर। सिद्ध है कि कर्म बहुत से हैं, उनमें से कोई कर्म निर्धारित किया गया है। उस कर्म की विशेषता बताते हैं कि कर्म न करने से तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो उस पुरुष की शरीर-यात्रा को सिद्ध कराती है, पूर्ण कराती है। यह आत्मा जन्म-जन्मान्तरों से शरीरों की यात्रा ही तो करता चला आ रहा है। कीट-पतंग, देव-दानव तथा जड़-चेतन से गुजरता चला आया है। वस्त्र बदलता है, किन्तु यह कर्म इस प्रकार की नश्वर शरीर-यात्रा को पूर्ण कर इस आत्मा को वह अचल स्थिति दिलाता है जिसके पश्चात् शरीरों की यात्रा नहीं करनी पड़ती।

अब वह निर्धारित कर्म है क्या? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता के अध्याय ३/९ में कहते हैं, **'यज्ञार्थात् कर्मणो'**- अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। इस यज्ञ के अतिरिक्त संसार में जो कुछ भी किया जाता है, दिन-रात जिसमें लोग व्यस्त रहते हैं, क्या वह कर्म नहीं है? श्रीकृष्ण कहते हैं, नहीं **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'**- यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है वह इसी लोक का एक बन्धन है, इसी लोक में बाँधकर रखने का उपाय है। **'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।'**- इसलिए अर्जुन! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए तू संग-दोष से रहित होकर भली प्रकार कर्म का आचरण कर। अतः कर्म ऐसी विधा है जिसका आचरण संग-दोष के रहते नहीं किया जा सकता।

अब वह यज्ञ क्या है जिसे करना ही कर्म है? योगेश्वर श्रीकृष्ण यज्ञ की विशेषता बताते हैं कि इस यज्ञ से देवत्व की वृद्धि करो। दैवी सम्पद् ज्यों-ज्यों बलवती होगी, त्यों-त्यों तुम्हारी प्रगति होगी। इस प्रकार क्रमशः परस्पर उत्थान करते-करते परमकल्याण को प्राप्त हो जाओ। अतः यज्ञ कोई ऐसी वस्तु है जो परमकल्याण को सुलभ कराती है।

उस यज्ञ में किया क्या जाता है? इस पर अध्याय चार में कहते हैं- अर्जुन! बहुत से योगीजन श्वास का प्रश्वास में हवन करते हैं। इन्द्रियों को संयत कर, मन को विषयों से समेटकर एक इष्ट के ध्यान में लगाते हैं। साधना और सूक्ष्म होने पर श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध कर प्राणायाम-परायण हो जाते हैं। प्राणों की गति का याम हो जाता है। श्वास नहीं प्राणों का, श्वास में उठनेवाले संकल्प-विकल्पों का निरोध हो जाता है।

न भीतर से संकल्प उठते हैं और न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। मन के अन्तराल में उठनेवाली तरंगों का ही दूसरा नाम संकल्प है। इस मन के निरोध के साथ ही परिणाम निकल आता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। ***(गीता, ४/३१)***

पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, यज्ञ के अन्त में शेष उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन शाश्वत ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। अर्जुन! यह सम्पूर्ण यज्ञ मन और इन्द्रियों की क्रिया से सम्पन्न होनेवाले हैं, केवल मन और इन्द्रियों के संयम से ही सम्पन्न होते हैं। उसी यज्ञ को उन्होंने पुनः स्पष्ट किया कि, ***'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'*** ***(गीता, १०/२५)***, तो जौ, तिल, घी, वेदी इत्यादि भौतिक द्रव्यों से जो यज्ञ किया जाता है क्या वह यज्ञ नहीं है? श्रीकृष्ण कहते हैं (अध्याय ४ के ३९वें श्लोक में) कि अर्जुन! भौतिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाला यज्ञ अत्यन्त अल्प है, प्रारम्भिक शिक्षा के लिए प्रोत्साहन मात्र है और जो अभी श्रीकृष्ण ने बताया वह यज्ञ सब-का-सब केवल मन के संयम द्वारा होता है तथा परिणाम में ब्रह्म का दिग्दर्शन करा देनेवाला है। अब बाह्य किसी चीज से आपकी श्वास का निरोध होता हो तो कीजिए, प्राणों की गति का आयाम होता हो तो कीजिए। किसी हरकत से इन्द्रियों का दमन होता हो तो कीजिए। कदापि नहीं होगा। यह जब होगा तब चिन्तन से ही होगा। अतः यज्ञ का मतलब है आराधना, यज्ञ का अर्थ है चिन्तन की विधि और उस विधि को कार्यरूप देना कर्म है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण भी कहते हैं- अर्जुन! कर्म क्या है? अकर्म क्या है और विकर्म क्या है?- इस विषय में बड़े-बड़े विवेकी पुरुष भी मोहित रहते हैं इसलिए मैं इसे बताता हूँ, जिसे जानकर तू संसार-बन्धन से भली प्रकार छूट जायेगा। कर्म संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाता है। उस कर्म का अर्थ है आराधना को कार्यरूप देना।

अर्जुन! जो पुरुष कर्म में अकर्म देखता है अर्थात् चिन्तन तो करता है किन्तु यह नहीं मानता कि करनेवाला मैं हूँ, चिन्तन तो गुणों के द्वारा प्रेरित होकर हमें करना पड़ रहा है, इष्टदेव हृदय से रथी होकर हमसे कराते हैं, मैं तो एक यन्त्रमात्र हूँ- इस प्रकार जो कर्म में अकर्म देखता है और ऐसा देखने की क्षमता का आ जाना ही अकर्म है, इस अकर्म को कर्म देखता है, समझता है कि मुझसे सही कर्म पार लग रहा है, इष्ट के आदेशों पर समर्पित वह व्यक्ति मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वही सम्पूर्ण कर्म को करनेवाला है।

क्या हम कर्म करते ही रहेंगे अथवा कभी कर्म करने से छुटकारा भी मिलेगा? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता के अध्याय ४/१९ में कहते हैं, **'यस्य सर्वे समारम्भाः'** अर्थात् सम्पूर्णता से आरम्भ किया हुआ कर्म इतना सूक्ष्म हो जाय कि

'कामसङ्कल्पवर्जिताः।'- कामना और संकल्पों का निरोध हो जाय अर्थात् मन संकल्प-विकल्प से रहित शून्य में टिक जाय, उस समय **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'**- जिसको हम नहीं जानते थे, जिसके लिए प्रयत्नशील थे, अजर-अमर-शाश्वत गुणधर्मोंवाला वह परमात्मा विदित हो जाता है। इसी अनुभूति का नाम है ज्ञान और उस ज्ञान में **'दग्धकर्माणम्'**- कर्म सदा-सदा के लिए जल जाते हैं। ऐसी अवस्थावालों को बोधस्वरूप महात्माजन पण्डित कहते हैं। यहाँ भी कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो हमारे चित्त को समेटकर संकल्पों से ऊपर उठा देती है। कर्म माने आराधना! सातवें अध्याय के अन्त में कहते हैं- जो मनुष्य जरा-मरण से छूटने के लिए मेरी शरण होकर यत्न करते हैं, वे सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं, सम्पूर्ण अध्यात्म को जानते हैं, पूर्ण रूप से मुझे जानते हैं और मुझे जानकर सदा के लिए मुझमें स्थित हो जाते हैं। कर्म जरा-मरण से छुटकारा दिला देता है। अर्जुन ने पूछा- भगवन्! वह सम्पूर्ण कर्म क्या है, सम्पूर्ण ब्रह्म क्या है और वह सम्पूर्ण अध्यात्म क्या है? योगेश्वर ने बताया, **'अक्षरं ब्रह्म परमं'**- जो अक्षय है, अमिट है वही परम ब्रह्म है। **'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।'**- स्व अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिर भाव, स्वरूप की उपलब्धि का भाव ही अध्यात्म है। कुछ कह देना अध्यात्म नहीं है। अधि माने आधिपत्य। स्वरूप की उपलब्धि होने पर व्यक्ति माया के आधिपत्य से निकल जाता है। आत्मा का आधिपत्य प्राप्त हो जाता है। यही अध्यात्म है। और **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।'** *(गीता, ८/३)*- भूतों के वे भाव जो कुछ-न-कुछ रचना करते हैं, आपके संकल्पों के वे भाव जो आपके संस्कारों की सृष्टि करते रहते हैं, उनका रुक जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो आपके मन के अन्तराल में छिपे हुए संस्कारों का अन्त करके, भले और बुरे, शुभ और अशुभ संस्कारों पर विसर्ग- पूर्ण विराम लगाकर, उनका निरोध करके आपको अलग खड़ा कर देती है। अतः कर्म माने होता है चिन्तन।

अध्याय सोलह में कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ- ये नरक के तीन द्वार हैं। अर्जुन! इन तीनों को त्याग देने पर ही उस कर्म की शुरुआत होती है जो परमश्रेय को दिलानेवाला है। कर्म वह प्रक्रिया है, काम-क्रोध-लोभ त्यागने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है।

सांसारिक कार्यों में जो जितना अधिक व्यस्त है उसमें काम-क्रोधादि उतने ही सजे-सजाये दिखाई देते हैं। श्रीकृष्ण जिसे कर्म मानते हैं वह एकमात्र आराधना ही है। त्याग के बिना उसका आरम्भ ही नहीं होता। साधना के सिद्ध होते ही ज्यों-ज्यों ये विकार अन्दर से घटते जायेंगे, त्यों-त्यों कर्म में प्रवेश मिलता जायेगा।

इसी कर्म को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने चार भागों में बाँटा है; क्योंकि सहसा कोई एक

साथ उस मंजिल को नहीं पा सकता। जिस प्रकार सांसारिक किसी विद्या को सीखने के लिए भी कई श्रेणियों से गुजरना पड़ता है। इसीलिए योगेश्वर कहते हैं, अर्जुन! चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। वर्ण माने आकृति। इस जीवात्मा का वर्ण शुद्ध है, शाश्वत है, निर्दोष है, निर्लेप है, **'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'** *(गीता, ८/९)* वही हमारा वर्ण है। वर्ण का अर्थ है आपका स्वरूप। चार वर्णों की सृष्टि की, तो क्या मनुष्यों को बाँटा? योगेश्वर कहते हैं- नहीं, **'गुणकर्मविभागशः'** *(गीता, ४/१३)* गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा। कर्म माने चिन्तन, कर्म माने साधना की पद्धति। उस साधन-पथ को चार श्रेणियों में बाँटा। एक ही साधना के चार सोपान हैं, यथा-

१. यदि तामसी गुण है तो आलस्य, प्रमाद, निद्रा, कर्तव्य-कर्म में न प्रवृत्त होने का स्वभाव, अकर्तव्य कार्य से न निवृत्त होने का स्वभाव आप में स्वाभाविक रहेगा। ऐसी परिस्थिति में यदि आप आँख मूँदकर बैठ भी जाते हैं, तो दो घण्टे बैठकर दो मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पायेंगे। शरीर बेशक बैठा रहेगा लेकिन मन जिसे भजन में एकाग्र होना है हवा से बातें करेगा, संकल्पों का जाल बुनता रहेगा। इस आरम्भिक अवस्था में आप शूद्र हैं, क्षुद्र हैं, अल्पज्ञ हैं। ऐसी परिस्थिति में आँख मूँदकर बैठने का दम्भ न करें, बल्कि जो सीधा-सा नियम है इस वर्ण का कि उस पथ के जो ज्ञाता महापुरुष हों उनकी सेवा करें। **'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।'** *(गीता, १८/४४)*- मन-कर्म-वचन से उनकी सेवा में लग जायँ। यह साधना की पहली सीढ़ी है, उस कर्म-पथ का पहला हिस्सा है।

२. महापुरुष की सेवा से तामसी गुण धीरे-धीरे शान्त होते जायेंगे, राजसी गुणों का प्रवेश होने लगेगा और जब आधा राजसी का प्रवेश मिल गया तहाँ फिर आपके मन में टिकने की क्षमता आ जायेगी। तहाँ फिर **'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।'** *(गीता, १८/४४)* स्वभाव कहते हैं आदत को। जब आपके अन्तराल में तामसी गुणों का दमन हो गया, आधा राजसी गुण का भी प्रवेश आ गया तो स्वाभाविक चिन्तन होने लगेगा।

गो-रक्षा? तो क्या भैंस को मार डालें? नहीं! **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।'** *(मानस, ३/१४/३)* गो माने इन्द्रियाँ। आज गो माने इन्द्रियाँ कहना पड़ता है किन्तु वैदिक वाङ्मय में 'गो' शब्द जहाँ मुख से निकलता तो लोगों का ध्यान मस्तिष्क, हाथ, पाँव, नाक, कान- सहज ही इनकी ओर दौड़ जाता था।

एक मुसलमान कौव्वाली गा रहा था- **'मुहम्मद न होते तो कुछ भी न होता।'** यदि मुहम्मद साहब न होते तो कुछ भी न होता। हमारे स्वामीजी ने सुना तो बोले कि ठीक ही तो कहता है। यदि मोह-मद न होता तो कुछ भी न होता, संसार में जन्म-मृत्यु का कारण ही न होता। उन्होंने मुहम्मद का अर्थ विकार लगाया, जबकि उधर मुहम्मद

उनके आचार्य थे। ठीक इसी प्रकार 'गो' नाम का एक पशु भी है। उसका महत्त्व है तो आर्थिक किन्तु भ्रमवश लोग उसे धर्म मानकर पूजने में लगे हैं। इस भ्रान्ति का निराकरण किसी दूसरे दिन करेंगे।

यहाँ गो-रक्षा का अर्थ है मायिक प्रवृत्तियों से अपनी इन्द्रियों की रक्षा। काम-क्रोध, लोभ-मोह, आशा-तृष्णा इनके द्वारा गो बिखरकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं, योनियों का कारण बनती हैं और विवेक, वैराग्य, शम, दम, नियम, श्रद्धा और समर्पण के द्वारा इन्द्रियाँ संयत होती हैं, सुरक्षित होती जाती हैं। वाणिज्य का अर्थ है व्यापार, धन-संग्रह। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। प्रकृति के द्वन्द्व से शनैः-शनैः उस आत्मिक सम्पत्ति को अर्जित करें।

और खेती? जहाँ खेती या क्षेत्र का प्रश्न आया, योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि **'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।'** *(गीता, १३/१)* अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है, जिसमें भला अथवा बुरा बोया हुआ बीज संस्कारों के रूप में जमता है। इसलिए इस क्षेत्र की निराई करें। इसके अन्दर से विकारों को निकालकर फेंक दें और सही रखें। यह वैश्य श्रेणी का कर्म है- **'वैश्यकर्म स्वभावजम्।'** *(गीता, १८/४४)* आपके स्वभाव ने इसको जन्म दिया। स्वभाव परिवर्तनशील है। आज जो स्वभाव है, कल वह नहीं रहेगा। वाल्मीकि पहले हमलावर डाकू और हत्यारे थे। सन्त सत्पुरुषों का जब सान्निध्य प्राप्त हुआ तो **'बालमीकि भये ब्रह्म समाना।'** *(मानस, २/१९३/८)*। क्या बदला था उनका? शरीर वही था, हाथ-पाँव वही थे, केवल गुण बदला तो स्वभाव बदल गया। गुण परिवर्तित हो गये।

३. इसी प्रकार जब तामसी गुण शान्त हो गये, सात्त्विक गुण में प्रवेश मिल गया, कुछ राजसी और सात्त्विक गुण का बाहुल्य आ गया तब आप ही क्षत्रिय हैं। सब भावों पर स्वामीभाव, शौर्य, तेज, दया और प्रकृति के द्वन्द्व में चिन्तन-पथ से पीछे न हटने का स्वभाव- यह क्षत्रिय के स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं। वह साधक महान् विपत्ति आने पर भी हताश होकर चिन्तन-पथ से पीछे नहीं हटता। मीरा को जहर दिया गया। **'लोग कहें मीरा भई बावरी, सास कहे कुलनासी।'** आज उस कुलवन्ती सास को कोई नहीं जानता लेकिन मीरा को दुनिया जानती है। लाख विपत्ति आने पर भी मीरा अपने कर्म-पथ से, इष्ट में श्रद्धा और समर्पण से कभी विचलित नहीं हुई। क्षत्रित्व की यह श्रेणी आपके स्वभाव के अन्तराल में जन्मी है।

इससे उन्नत होने पर जब केवल सात्विक गुण रह गया हो, तामसी और राजसी गुण एकदम शान्त हो गये हों आपके अन्तःकरण में, उस समय ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली सारी योग्यता आपके स्वभाव में है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। *(गीता, १८/४२)*

मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, उस चिन्तन-पथ में इन्द्रियों को तपाने की क्षमता, धारणा-ध्यान और समाधि की क्षमता, अनुभवी उपलब्धि अर्थात् प्रत्येक कार्य में इष्ट का प्रत्यक्ष निर्देशन और उस निर्देशन में चलने की क्षमता- यह सब ब्राह्मण श्रेणी के कर्म स्वभाव से उत्पन्न हैं और स्वभाव में पाये जाते हैं।

विज्ञान का मतलब कोई कल्पना नहीं, इष्ट हृदयदेश से रथी होकर जिन संकेतों से मार्गदर्शन करते हैं उस प्रत्यक्ष अनुभूति (ईश्वरीय अनुशासन) का नाम विज्ञान है। पूज्य महाराजजी प्रायः कहा करते थे- हो! उस स्थान पर भगवान ने हमको बचा लिया। भगवान ने हमें यह बताया, यह आशीर्वाद दिया। हमने पूछा- क्या भगवान भी बातें करते हैं? उन्होंने बताया- हाँ हो! भगवान ऐसे बात किया करते हैं जैसे हम और तू आपस में बैठकर बातें करें, घण्टों बातें करें और क्रम न टूटे। कुछ देर बाद बोले, ''काहे घबरात है, तोहूँ से बतिअइहैं।''

वास्तव में जिस परमात्मा की हमें चाह है और जिस स्तर पर हम खड़े हैं, हमारी श्रद्धा ऐसी हो कि वह परमात्मा उसी स्तर पर उतर आवें, आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जायँ और मार्गदर्शन करने लगें। जब तक भगवान हृदय-देश से रथी होकर मार्गदर्शन न करने लगें तब तक पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाली साधना का श्रीगणेश अभी हुआ ही नहीं। कुछ दिनों बाद वैसी कृपा मिलने भी लगी, जैसा गुरुदेव ने कहा था। इसी अव्यक्त का बोलना विज्ञान है। यह हमारे मन का ज्ञान नहीं, बेज्ञान का ज्ञान है, जिसे परमात्मा का संचार कहते हैं। इष्ट के चरणों में बिना लगाये स्वाभाविक डोरी लग जाती है। ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली सारी योग्यता स्वभाव में ढल जाती है, उस समय **'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।'** यह ब्राह्मण श्रेणी का कर्म किसने दिया? आपके स्वभाव में ही यह जन्मा और स्वभाव परिवर्तनशील है।

ब्राह्मण श्रेणी भी दोषमुक्त नहीं है। **'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।'** *(गीता, १८/४८)*- धुएँ से अग्नि के समान सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से आवृत्त हैं। ब्राह्मण श्रेणी का ही कर्म क्यों न हो, सात्त्विक गुण मात्र शेष ही क्यों न हो, जब तक गुण जीवित हैं, प्रकृति जीवित है तब तक माया कामयाब हो जायेगी। इन चारों सोपानों से ऊपर ब्रह्म में स्थिति मिल जाने पर **'न ब्राह्मणः न क्षत्रियो न वैश्यो न शूद्रः चिदानन्दरूपं शिवो केवलोऽहम्।'**- वह न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है और न वैश्य है, न शूद्र। उसका चित्त परमानन्दस्वरूप है। कैवल्यस्वरूप शिवमात्र शेष रह जाता है।

योगेश्वर स्पष्ट करते हैं- अर्जुन! मैंने मनुष्यों को नहीं बाँटा। फिर बाँटा किसे? **'कर्माणि प्रविभक्तानि'**- कर्म को बाँटा गया है। कैसे बाँटा? **'स्वभावप्रभवैर्गुणैः।'** *(गीता, १८/४१)*- ये कर्म स्वभाव में पाये जानेवाले गुणों के आधार पर बनते हैं, उन गुणों के आधार पर कर्म को बाँटा है। जन्म के समय सभी मनुष्य हैं। जन्म से न कोई क्षत्रिय है न वैश्य, न ब्राह्मण और न शूद्र ही है। जो मेडिकल में बैठा ही नहीं वह किस बात का डाक्टर? जब भर्ती ही नहीं हुई तो श्रेणी कैसी?

जब तक आप इस चिन्तन-पथ को नहीं जानते, गीतोक्त कर्म- जो साधना की एक निश्चित विधि है, उसको नहीं जानते और जानकर उस पर दो कदम नहीं चलते, तब तक आप न शूद्र हैं, न क्षत्रिय हैं, न ब्राह्मण हैं और न वैश्य। तब तक आप कुछ भी नहीं हैं, जड़ जीव मात्र हैं। यदि आप उस विधि को समझकर चलना आरम्भ कर देते हैं तो आप चाहे अरब के निवासी हों चाहे ध्रुव प्रदेश के, आप उस दिन से शूद्र हैं। चिन्तन कर्म के प्रथम सोपान पर खड़े हैं अतः आप शूद्र हैं; फर्क इतना ही है कि शूद्र श्रेणीवाला अभी प्रारम्भिक स्तर पर है। जैसे आपका बड़ा लड़का एम.ए. में है और छोटा शिशु अभी प्रथम कक्षा में है, तो क्या आप छोटे से घृणा करेंगे? प्राप्ति के पश्चात् एक परमात्मा की एक ही जैसी अनुभूति सबके लिये है।

पूजा-विधि के नाम पर लोग प्रायः बहक जाते हैं- कोई देवी को पूजने लगता है, तो कोई देवताओं को; किन्तु अठारहवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने-अपने स्वभाव मे पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार कर्म का आचरण करके मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धि को जिस प्रकार प्राप्त करता है, उस विधि को तू मुझसे सुन। कौन-सी विधि? उन्होंने विधि बतायी कि जिस परमात्मा से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई है, जो सर्वत्र व्याप्त है, हृदय-देश में निवास करनेवाला है, उस परमात्मा को अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म की क्षमता के अनुसार अर्चन करके अर्थात् सर्वांगीण समर्पण और चिन्तन से सन्तुष्ट करके मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण के अनुसार पूजन की विधि यही है कि केवल एक परमात्मा में श्रद्धा हो। जब तक एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर नहीं होती तब तक कर्म का आरम्भ ही नहीं होता। अतः जो लोग क्रिया आरम्भ करते समय 'श्री गणेशाय नमः, देव्यै नमः' इत्यादि कहते हैं, वे अभी भयंकर भ्रम में हैं।

इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण ने मनुष्यों को नहीं, अपितु चिन्तन-पथ को चार सोपानों में बाँटा; क्योंकि सहसा कोई भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु लोग साधना में धैर्य के साथ क्रम-क्रम से इन सोपानों में टिक नहीं पाते। आगेवालों की स्थिति अच्छी देखकर तुरन्त नकल करने का प्रयास करने लगते हैं।

साधुवेश में जहाँ दो-तीन वर्ष व्यतीत हुए कि अपने को ब्रह्म कहने लगते हैं, जिससे उन्हें सम्मान मिलने लगे। इससे सतर्क करते हुए श्रीकृष्ण गीता में अध्याय तीन के पैंतीसवें श्लोक में कहते हैं कि **'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः'**- गुणरहित होते हुए भी स्वभाव से उत्पन्न हुआ कर्मक्षमता हमारा धर्म है। उसे हमें धारण करना है, इसलिए वह धर्म है। यह हमारा दायित्व है। **'परधर्मो भयावहः।'**- दूसरे का धर्म भय देनेवाला है। भय प्रकृति में है, आवागमन में है। वह प्रकृति में पहुँचानेवाला है। प्राइमरी का विद्यार्थी यदि एम.ए. कक्षा में बैठने लगे तो उत्तीर्ण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, वह प्राइमरी की योग्यता भी खो देगा; क्योंकि उसने पढ़ा ही कब? इसलिए उन्होंने कहा- **'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः।'**

अध्याय १८/४७ में पुनः इसी की पुष्टि करते हुए योगेश्वर कहते हैं कि, अर्जुन! स्वभाव से उत्पन्न कर्म को करके तू सम्पूर्ण पापों से छूट जायेगा। मतलब यह है कि क्रम-क्रम से ही चलना चाहिए। गीता में वर्ण अन्तःकरण की स्थितियों का एक चित्रण है और सबके हृदय में उसकी व्यवस्था है। जो उस कर्मपथ को समझकर चलना प्रारम्भ कर देता है उसके लिए वर्ण की योग्यता सुलभ है, चाहे वह विश्व में कहीं का जन्मा हो, निश्चय ही प्राप्त करता है। और जब तक कर्म प्रारम्भ नहीं करता तब तक वह किसी भी वर्ण का नहीं है। वह मोहरूपी निशा में अचेत पड़ा हुआ है। वह रात-दिन जो दौड़-धूप करता है, प्रयास मात्र है।

वेद में 'वर्ण'

गर्हित जाति-प्रथा के समर्थन में पुरुषसूक्त की जिस वैदिक ऋचा का उदाहरण दिया जाता है, उसकी समीक्षा भी आवश्यक है। इस सूक्त में ऋषि ने बताया कि वह परमात्मा अनन्त हाथ, पैर, आँख और मुँहवाला है। उन्होंने पुनः कहा- वह परमपुरुष चार पैरोंवाला है, जिसके एक चरण में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड- सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, पर्वत, समुद्र और नक्षत्र हैं। ऋषियों ने कितने ही प्रकार से उस परमपुरुष की कल्पना की- **'कतिधा व्यकल्पयन्'** उन्होंने पुनः कल्पना की कि उस परमात्मा के पैर के बराबर कौन? जाँघ के बराबर कौन? भुजाओं के बराबर कौन और मुख के बराबर कौन है? अगली ऋचा में उन्होंने कल्पना की-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत।।

अर्थात् पद में शूद्र है, जाँघ में वैश्य है, बाहु में क्षत्रिय है और उस परमात्मा के मुख सहस ब्राह्मण हैं। भला जो सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, उसके हाथ-पैर कहाँ? जब मनु को दर्शन दिया तो **'बिस्वबास प्रगटे भगवाना।'** *(मानस, १/१४५/८)*- विश्व में जहाँ प्रकृति थी, मनु के लिए पुरुषत्व में विलीन हो गई।

एक बार जिन प्रभु के चरणों को धोने से गंगाजी निकल पड़ीं- जो तीनों लोकों को तारने की शक्ति रखती हैं, जिन चरणों से भरत लिपटे रहे, जिन चरणों में लक्ष्मीजी एकाधिकार से बैठी हैं कि कोई अनधिकारी छूने न पाये, जिन चरणों का रज मस्तक पर धारण कर ऋषि-मुनि अपने को धन्य मानते हैं, जिनका चरणोदक लेकर हम-आप कृतार्थ हो जाते हैं, भगवान के पावनं पावनानाम् उन्हीं चरणों से एक ऐसा कीटाणु निकला कि यदि वह भगवान को छू दे तो भगवान गन्दे हो जायँ, वह है शूद्र! यह धोखा नहीं है तो क्या है? यह कुरीतियों और रूढ़ियों का कृत्य है, अशिक्षित जनता के बीच फैलाया हुआ विचार है। शिक्षा के आते ही मूर्खों को चलानेवाला वह तरीका आक्रोश में बदल गया है।

काशी विश्वनाथ मन्दिर में हरिजन-प्रवेश पर एक धर्माचार्य ने यह घोषणा की- ''शंकरजी नष्ट हो गये, भगवान भ्रष्ट हो गये, अब उस मन्दिर में जाने से अधोगति में जाओगे। हमने नया मन्दिर बना दिया है। इसमें दर्शन करो। इसमें शंकरजी शुद्ध हैं।'' कितनी भयंकर भ्रान्ति है। शास्त्र का एक भी सूत्र नहीं कहता कि बाहर जातियों का बँटवारा भगवान ने किया। हाँ, हम-आप अवश्य बाँट ले रहे हैं। तीन से तेरह और तेरह से सवा लाख हो जाते हैं। भाई-भाई तो लड़ते ही हैं। अफ्रीका में यह फूट अधिक है, कबीले अधिक हैं और अफ्रीका आज भी गुलाम है। वही कबीला सिस्टम यदि आपके ऊपर रहा तो गुलामी आपके सिर पर मँडरा रही है।

वस्तुतः इस वैदिक ऋचा का वही आशय है जो योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में व्यक्त किया है। भजन की आरम्भिक अवस्था में सभी शूद्र हैं, परमात्मा के चरण-स्थल पर हैं। उन चरणों की सेवा करते-करते भजन-पथ में अपने पाँवों पर खड़े होने की क्षमता आ जाती है तो हम-आप वैश्य हैं, मानो शिशु जाँघों पर खड़ा होने लगा। उस समय आत्मिक सम्पत्ति को अर्जित करने की ओर हम अग्रसर हैं। क्षत्रिय- क्षय कहते हैं काटने को, त्रि माने तीनों गुण। इन तीनों गुणों से निर्मित प्रकृति को काटने की क्षमता आ गई तब वही साधक क्षत्रिय है। **'बाहू राजन्यः कृतः'**– उस समय वह इष्ट के भुजाओं के बल पर होता है, अर्जुन की तरह और जब ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त कर लेता है, उस समय परमात्मा उसमें प्रवाहित हो जाता है। वह ब्रह्म में प्रवेश पा लेने की सारी योग्यतावाला है, इसलिए ब्राह्मण है। उस महापुरुष की बुद्धि मात्र यन्त्र है। उसके माध्यम से परमात्मा ही निर्णय देता है, बोलता है इसलिए ब्राह्मण को परमात्मा का मुख कहा गया है।

नोट– भगवान सर्वांगीण पवित्र हैं; किन्तु उन प्रभु के अंगों में से कोई अंग-विशेष मनुष्य के हित में विशेष सहायक और पवित्र है तो चरण, लेकिन उसी चरण-स्थल पर उपजता है घृणाजनक शूद्र! कैसे सम्भव है? सुधीजन विचार करें।

स्मृति

वर्ण के सन्दर्भ में एक प्रचलित श्लोक गीता से मिलता-जुलता है; किन्तु स्मृतियों से रंगा मस्तिष्क वैसा नहीं समझ पाता।

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदाध्यायी भवेद् विप्र ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।।

अर्थात् इस धरा-धाम पर जन्म लेनेवाला हर एक प्राणी शूद्र है। **'संस्काराद् द्विज उच्यते'-** जब संस्कार प्राप्त कर लेता है तो वह द्विज है। संस्कार का यह अर्थ नहीं है कि कुछ मन्त्र पढ़कर यज्ञोपवीत डाल लिया और हो गये संस्कारी। सः माने वह परमात्मा और उसका आंशिक प्रवाह आपके हृदय में आ जाता है; सञ्चित की पर्त पर, मन के अन्तराल में उस परमात्मा का बीजारोपण हो जाता है तहाँ वह द्विज है। उसने द्वितीय जन्म प्राप्त किया है। एक प्रकार का जन्म गर्भवास है, जिसमें चराचर जगत् के प्राणी आ जाते हैं। इसके ठीक विपरीत आत्मा का अपना निर्मल और शाश्वत स्वरूप है, उसमें प्रवेश पा जाना दूसरे प्रकार का जन्म है। यद्यपि उसने अभी प्रवेश ही पाया है, आरम्भ ही किया है; किन्तु वह निश्चित ही स्वरूप पा जायेगा। श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में बीज का नाश नहीं होता। साधन शुरू भर कर दें, बीजारोपण मात्र कर दें फिर माया के पास ऐसा कोई यन्त्र नहीं है जो उस सत्य को मिटा दे। माया केवल कुछ अवरोध डाल सकती है, विलम्ब कर सकती है; किन्तु उतने से साधन को मिटा नहीं सकती।

इसलिए उस थोड़े से साधन के प्रभाव से हर जन्म में वह वही साधन करता है। जहाँ से छूटता है, वहीं से आरम्भ करता है। जन्म लेकर विषयों में उलझा होने पर भी पिछले जन्म में जहाँ से साधन छूटा था, उसके बुद्धिसंयोग को अनायास ही प्राप्त कर लेता है, चिन्तन करता है और दो-चार जन्म के हेरफेर के पश्चात् वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परमगति है, परमधाम है। इसलिए **'संस्काराद् द्विज उच्यते'-** सः माने वह परमात्मा, उसका आंशिक आकार जहाँ हृदय-देश में जागृत हुआ, बीजारोपण मात्र हो गया तहाँ वह द्विज है। उसने द्वितीय निर्मल जन्म प्राप्त किया। अब उसे मुक्त होना ही होना है।

'वेदाध्यायी भवेद् विप्र'- चिन्तन और सूक्ष्म हुआ, तहाँ वह अव्यक्त प्रभु अपनी जानकारी प्रदान करने लगता है। जो तत्त्व विदित नहीं था वह विदित होने लगता है। वह परमात्मा अपनी अनुभूति देने लगता है, स्वयं को जताने लगता है। अनुभूति में इष्ट जैसा रास्ता बताते हैं, जो निर्देश देते हैं, उस निर्देश का जो अध्यायी है- भली प्रकार उसका अध्ययन कर, उस पर स्थिर रहकर जो चलता है, इष्ट के निर्देशन के अनुरूप

चलने की क्षमता जिसमें आ जाती है वही वेदाध्यायी है, विप्र है। वह भली प्रकार ब्रह्म के परायण है। अब उसके आचरण में लेशमात्र भी त्रुटि नहीं है, वह विप्र है।

'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'- उसी इष्ट के निर्देशन में चलते-चलते साधक जब मूल का स्पर्श प्राप्त कर लेता है, उसे विदित कर लेता है, वह ब्राह्मण है। इस प्रकार अत्रि-स्मृति केवल इतना बताती है कि यह पुरुष कैसे बनता है, वर्ण कैसे बनते हैं? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का श्रेणी विभाजन नहीं है। लोक में नहीं है।

वास्तव में ये साधन-पथ के चार सोपान हैं। आरम्भ में निकृष्ट, मध्यम, उससे उन्नत होने पर उत्तम और अति उत्तम- इस प्रकार एक ही पथिक को इन चार सोपानों से गुजरकर उस शाश्वत-सनातन ब्रह्म में प्रवेश पाना होता है। यह साधन-पथ है, धर्माचरण है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति का कहना है कि सभी प्राणी माता से समान रूप से जन्म लेते हैं। उनमें से जिनका उपनयन संस्कार कर दिया जाता है, वे द्विज हैं। आठ में ब्राह्मण, ग्यारहवें में क्षत्रिय, बारहवें में वैश्य का उपनयन होता है और जिनका संस्कार नहीं होता, वह शूद्र है। यदि मन्त्र पढ़ने से अथवा जनेऊ पहनने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बनता है तो क्यों नहीं सबके लिए मन्त्र पढ़े गये। उपवीत धारण करते समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है-

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।। *(ब्रह्मोपनिषद्)*

इस मन्त्र को पढ़ने से आठ वर्ष के बालक को क्या मिलता है? वास्तव में यह मन्त्र सामाजिक व्यवस्था थी, धर्म से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उन दिनों इस संस्कार द्वारा बालक को विद्याध्ययन का अधिकार दिया जाता था। बारह वर्ष वाले को शस्त्र-संचालन और रक्षा विभाग में प्रवेश दिया जाता था। जिस प्रकार आज का कोई बच्चा नेवी में चला जाता है तो कोई किसी ट्रेनिंग में और विशेषज्ञ बनकर निकलता है।

आजकल ये व्यवस्थायें सरकार के हाथ में चली गयीं। अध्ययन-अध्यापन, धनोपार्जन-हेतु उद्योग और नौकरियाँ, रक्षा का दायित्व योग्यता और सामाजिक समानता पर आधारित हो चला है। राजा बदल गया, राजतन्त्र बदल गया और वह तरीका भी बदल गया कि केवल उपनयनवाला ही पढ़े। स्मृतियों में निषेध था कि शूद्र को पढ़ानेवाला, धर्म का उपदेश करनेवाला अन्धतामिस्र नरक में जायेगा। आज सभी पढ़ रहे हैं, पढ़ा रहे हैं।

बाह्य वर्ण महाराजा मनु ने बनाया और बल दिया कि वर्णों में रहने से मोक्ष मिलता है। मोक्ष के लिए घर छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। यदि ऐसा ही था तब

स्वयं महाराजा मनु ने उस कल्याण के लिए घर क्यों छोड़ा, नैमिषारण्य में जाकर तपरत क्यों हुए? उन्हें तो राज-धर्म और क्षत्रिय-धर्म का पालन करना चाहिए था।

प्राचीनकाल में शनैः-शनैः सभ्यता आयी। महाराजा मनु ने उसकी व्यवस्था की। कुछ लोगों को पढ़ने-लिखने और नियम बनाने के कार्य में नियुक्त किया, जो ब्राह्मण कहलाये। कुछ को शस्त्र-संचालन और सुरक्षा का भार दिया, वे क्षत्रिय कहलाये। कुछ को धन-सम्पत्ति संग्रह और खाद्य पदार्थों की आपूर्ति में लगाया, जो वैश्य कहलाये और इन सब की सेवा में नियुक्त लोग शूद्र कहे गये। किन्तु आज महाराजा मनु और उनके अनुयायी चले गये। इस व्यवस्था को कार्यरूप देनेवाली स्टेटों का सन् १६५२ में उन्मूलन हो गया, सत्ता जनता के हाथ में आ गई।

व्यवस्था बदल गई, दण्ड-विधान बदल गया, पुराने कानून दफना दिये गये, कोई नाम भी नहीं लेता, नाम लेने से कुछ होनेवाला नहीं तब इन व्यवस्थाओं की क्यों दुहाई देते हैं? ये स्मृतियाँ समाज में अब कण्टक हैं, एक दरार हैं।

सौभाग्य की बात तो यह है कि इन स्मृतियों में लिखा है कि इसे किसी को मत दिखाना, कोई छूने न पाये। गर्भाधान से लेकर चिता तक का जिसे मन्त्र मालूम हो, वही इन्हें पढ़ने का अधिकारी है। उसे बता सकते हो क्योंकि उसे जरूरत है। वह यही सब करेगा। लाखों ब्राह्मणों में से दस-पन्द्रह इसके जानकार थे, शेष सभी तो उनके संकेतों पर चलते थे। इसलिए ब्राह्मण का कदापि दोष नहीं है। दोष तो कतिपय लोगों का था, जो राजा के बगल में बैठकर उपाधि मन्त्रीपद पाये हुए थे। लिखा है- राजा प्रातः उठकर ब्राह्मणों का पूजन करे और उनसे पूछकर हर कार्य करे। वास्तविक राजा तो वे थे। दोष तो उनका था, जिन्होंने धर्म की दुहाई देकर नरक का आतंक दिखाकर राजसत्ता के माध्यम से शत प्रतिशत निरक्षर जनता का मनमाना शोषण किया। स्मृतियों में सामाजिक व्यवस्था के अनेक उपयोगी सूत्र भी हैं किन्तु हमारा विनीत निवेदन है कि पूर्वजों की प्रत्येक उपयोगी-अनुपयोगी व्यवस्था को धरोहर मानकर रूढ़ि पालने का कोई उपयोग नहीं है।

यह जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूआछूत इत्यादि मनुष्य के अन्तःकरण में स्थित राग-द्वेष से उत्पन्न काम-क्रोध-मोह-अहंकार-दम्भ-द्वेष इन प्रकृतिजन्य विकारों की देन है। जगत् सदैव अपने को श्रेष्ठ घोषित करता आया है। भाई-भाई लड़ते आये हैं। यह गुटबन्दी अज्ञान और अविवेक की उपज है। पूरा विश्व काले-गोरे, लाल-पीले रंग को लेकर बँटा हुआ है। परस्पर दमन के लिए शस्त्रों की होड़ लगी है, शीतयुद्ध का वातावरण बना है। कभी यह जाति और जमीन को लेकर है तो कभी व्यवसाय और आकृति को लेकर है। होता जरूर है और होते भी रहेंगे; किन्तु इनका धर्म से सम्बन्ध नहीं है।

आज जातिवादी कौन नहीं है? जाति, सम्प्रदाय, भाषा और क्षेत्रीय संकीर्णताओं को आधार बनाकर चुनाव में टिकट दिया जाता है, उसी जाति के लोग चुनाव-प्रचार में भेजे जाते हैं, उन्हीं से प्रभावित होकर आप भी मत देते हैं। कर्मचारियों के चयन में भी जातिवाद से क्या आप अपरिचित हैं? बात कहने की नहीं, आचरण में ढालने की है। दोष हमारा-आपका है, जिसे हम-आप कभी सरकार की आरक्षण नीति में ढूँढ़ते हैं तो कभी उसके लिए धर्म को दोषी ठहराते हैं। वैसे शास्त्रों में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है कि भगवान ने कभी मनुष्यों को विभाजित किया हो; ऊँच-नीच, छूत अथवा अछूत बनाया हो।

गीता के अनुसार संसार भर में मनुष्य दो प्रकार के होते हैं- न चार प्रकार के, न तीन प्रकार के, न तेरह और न सवा लाख। मनुष्य केवल दो प्रकार के हैं- एक देवताओं-जैसा, दूसरा असुरों-जैसा। या तो वह नास्तिक होगा अथवा आस्तिक। परमात्मा की ओर अग्रसर होगा अथवा माया की ओर। प्रकृति में विश्वासवाला है तो असुरों-जैसा है और यदि परमतत्त्व परमात्मा के देवत्व के लिए प्रयत्नशील है तो देवताओं-जैसा है। संसार में यही दो जातियाँ हैं, जो अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियों आसुरी सम्पद् और दैवी सम्पद् पर आधारित हैं, जिनका उल्लेख गीता के सोलहवें अध्याय में है। उस कसौटी पर आपका एक सगा भाई असुर और दूसरा देवता हो सकता है। यही कारण था कि श्रीकृष्ण के कुछ सगे रिश्तेदार असुर थे। वे स्वयं देवता थे, परमात्म-तत्त्व में स्थित भगवान थे। योगशास्त्रों के अनुसार जाति का इतना ही स्वरूप है। बाहर न कोई जाति है और न बाँटने का तरीका ही है।

स्मृतियाँ व्यवस्था थीं, धर्म नहीं!

मनुष्य-मनुष्य के बीच भयंकर घृणा फैलाने का काम स्मृतियों ने किया है। जन्म पर आधारित जाति-प्रथा इन्हीं की देन है। सभी स्मृतियाँ महाभारतकाल के बाद की हैं और कुछ तो गौतम बुद्ध के पश्चात् लिखी गयीं। इनमें मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य और पाराशर-स्मृति अधिक प्रसिद्ध हैं। इतिहास के विद्वान् जानते हैं कि महाभारतकाल और आज के बीच न तो कोई मनु नामक राजा हुआ और न गौतम बुद्ध के पश्चात् याज्ञवल्क्य नामक ऋषि। वैदिक युग के आप्तपुरुषों के नाम पर इन स्मृतियों की रचना करके बीच के बुद्धिजीवी वर्ग-विशेष ने अपने अनुकूल परिस्थिति बना ली, प्रशासनिक व्यवस्था गढ़ ली और राजकीय संरक्षण में इसी जाति-व्यवस्था को धर्म के नाम पर प्रचार कराया। धर्म से इन स्मृतियों का कुछ भी लेना-देना नहीं है।

मनुस्मृति का कथन है कि प्रारम्भ में एक अण्डा था। उस अण्डे में जो प्राणी था, उसने अपने पराक्रम से अण्डे को फोड़ लिया। जो निकला, उसका नाम था ब्रह्मा। ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो भाग कर आधे से स्त्री, आधे से पुरुष बनाया और संसार के

विकास के लिये मुख, बाहु, जंघा और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनाया। उस ब्रह्मा ने मनु को उत्पन्न किया। मनु ने दस महर्षियों को और उन महर्षियों ने सात मनुओं, देव-दानव, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क, जल-थल, जड़-चेतन जीवों को उत्पन्न किया। श्रीरामचरितमानस की कसौटी पर यह सब विधि-प्रपंच है- **'बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना।'** *(१/५/४)* ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि के संचार के लिये इन वर्गों की रचना की। यह प्रपंच है, न कि कोई शाश्वत व्यवस्था। इस प्रपंच के किसी एक अंश की पूजा करने से क्या होगा? इस प्रपंच से हम बाहर कहाँ निकले, जबकि स्वयं ब्रह्मा भी अपने लोकसहित मरणधर्मा हैं।

लगे हाथ इन ब्रह्माजी की सृष्टि देखिये। दृषद्वती नदी से लेकर सरस्वती नदी के बीच का भू-भाग ब्रह्मावर्त कहलाया, जो आजकल कानपुर के पास बिठूर कहलाता है। मथुरा से लेकर तक्षशिला तक पांचाल प्रदेश ब्राह्मणों का पवित्र देश है। विन्ध्याचल से हिमालय की तलहटी तक मध्यदेश है और उसके दक्षिण म्लेच्छ देश है। इतने में ही जगत् की उत्पत्ति का वर्णन समाप्त हो गया। इन ब्रह्मा को इतना भी ज्ञात नहीं था कि हिमालय के पार चीन और जापान भी हैं, समुद्र में बड़े-बड़े द्वीप उभरे हैं। वास्तव में न किसी ब्रह्मा ने सृष्टि रची थी और न उस स्मृतिकार को भूगोल का ही ज्ञान था। जीव-जन्तुओं की रचना में भारतीय पशु-पक्षियों के नाम तो गिनाये गये हैं किन्तु कंगारू, जेबरा, जिराफ का नाम कहीं नहीं है और लिख मारा कि संक्षेप में सृष्टि का प्रकरण समाप्त हुआ।

इन ब्रह्माजी ने पवित्र-अपवित्र बताकर स्थान-स्थान में भूखण्डों में भेद तो डाला ही, उन्होंने यह भी बताया कि आपके शरीर का कौन-सा भाग शुद्ध है और कौन-सा अशुद्ध- नाभि से ऊपर शुद्ध और नीचे अशुद्ध। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ था इसलिए वह सम्पूर्ण संसार का स्वामी है। शूद्र चरण से पैदा होने के कारण अपवित्र है, दास है। शूद्र का नाम घृणासूचक रहना चाहिए। शूद्र से बात करना पड़े तो दाहिना कान छूते रहें; क्योंकि ब्राह्मण के दाहिने कान में अग्नि, जल, वेद, सूर्य, चन्द्रमा, तीर्थ और गंगा-जैसी नदियाँ निवास करती हैं- यह पाराशर-स्मृति की खोज है। क्या बेवकूफी है। यह शुद्ध और अशुद्ध की कल्पना, ऊँच और नीच की कल्पना, स्वामी और दास की कल्पना, घृणा और द्वेष की कल्पना, मन्त्र पढ़कर शुद्ध होने की कल्पना इन्हीं स्मृतियों की देन है।

स्मृतियों की मान्यता है कि माता-पिता कामवश जो सन्तान उत्पन्न करते हैं वे पशु सदृश हैं; किन्तु वेदाध्यायी द्वारा गर्भाधान मन्त्र से संस्कारपूर्वक जो बच्चे पैदा होते हैं, वे द्विज हैं। विचार करना होगा कि कितने लोगों के पिता वेदाध्यायी रहे हैं। लिखा है कि संस्कार से बच्चे सुडौल होते हैं और देश हो गया गुलाम! कैसा सुडौल? ब्राह्मण होने का

एक अन्य सूत्र भी स्मृतियों में मिलता है कि जो वेद पढ़ता है, वह ब्राह्मण है। वेद की एक शाखा मात्र पढ़ता है, वह भी ब्राह्मण ही है। सतयुग में मनुस्मृति प्रमाण थी और कलियुग के लिए पाराशर-स्मृति बनायी गई है। शूद्र इन स्मृतियों के पढ़ने का अधिकारी नहीं है और अन्त में यह भी लिख दिया कि स्मृति पढ़ने का और वेद पढ़ने का एक ही फल है। वेद पढ़ें या न पढ़ें, पाराशर-स्मृति ही पढ़ लीजिए तो आप वेद के ज्ञाता हो गये। कहाँ अपौरुषेय वेद परमात्मा की वाणी और कहाँ पाराशर-स्मृति, कलियुग के ऋषियों की लिखी किताब! यदि किताब पढ़ने से ब्राह्मण बनता है, तो सबको पढ़ाकर अपनी संख्या क्यों नहीं बढ़ा लेते? अब तो सौभाग्य से सबको पढ़ने का अधिकार भी मिल गया है। जब एक अध्याय वेद पढ़ने से ही ब्राह्मण होता है, तो सबको बना क्यों नहीं लेते? इन स्मृतिकारों को यह भी ज्ञात नहीं है कि युग कहीं बाहर नहीं होते, युगों का उतार-चढ़ाव गुणों के आधार पर अन्तःकरण में होता है-

बुध जुग धर्म जानि मन माहीं। *(मानस, ७/१०३/६)*

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदयँ राम माया के प्रेरे।। *(मानस, ७/१०३/१)*

मनुस्मृति का उल्लेख है कि यदि शूद्र द्विजातियों को क्रूर वचन कहे तो उसे जिह्वोच्छेदन का दण्ड देना चाहिए। जलती हुई दस अंगुल की लौह सलाख उसके मुँह में डाल देनी चाहिये; क्योंकि उसकी उत्पत्ति जघन्य स्थान से हुई है। यदि शूद्र किसी ब्राह्मण को धर्म का उपदेश करे, तो राजा उसके मुँह और कान में खौलता हुआ तेल डलवा दे। यदि उच्चवर्णों के साथ बैठना चाहे, तो उसके चूतड़ का मांस कतरवा ले।

यदि चाण्डाल रात को घर में रह गया हो, तो प्रातः घर में से खाद्य-सामग्री निकालकर घर में आग लगा देनी चाहिए, फिर वहाँ पर लिपाई करके ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए और बीस गाय दान देनी चाहिए, तभी आप शुद्ध होंगे अन्यथा कुम्भीपाक नरक में जाएँगे। घर तो आपने फुँकवा ही दिया, खाद्य-सामग्री दूसरे दिन खा गये, बीस गायें दान में भी ले ली- अब उस गरीब के पास बचा क्या? शूद्र इतना त्याज्य है; किन्तु उसके यहाँ का दूध, घी, अन्न, मधु और सुन्दर स्त्री ग्राह्य है- 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।'

भोजन करते ब्राह्मण को कुत्ता अथवा शूद्र देख भर ले तो वह भोजन राक्षस खा जाते हैं। खिलानेवाला भी नरक में जाता है। शूद्र को जूठा अन्न, पुराना वस्त्र, सारहीन अन्न, पुराना ओढ़ना और बिछौना देना चाहिए। यदि वह वेद के एक वाक्य पर भी विचार करता है तो विचारमात्र से अन्ध-कुम्भीपाक नरक में जायेगा। न कभी कायदे से खाने दिया और न पहनने दिया। भगवान से भी उन्हें वञ्चित रखा इन स्मृतियों ने।

इसी कट्टरता की देन है कि केरल चला गया ईसाइयों के हाथ में- दस प्रतिशत सवर्ण बचे हैं वहाँ और अपनी सम्पत्ति कौड़ियों के भाव बेचकर बम्बई की ओर भाग

रहे हैं। कोल-भील जंगली जातियाँ ईसाई बन रही हैं, क्योंकि आप उन्हें अछूत कहकर भगा रहे हैं और वे गले लगा रहे हैं। छूने और खाने से आपका धर्म नष्ट हो जाता है लेकिन जब कोई शूद्र ईसाई बनकर लौटता है तो आप उसे साहब-साहब कहते हैं, कुर्सी पर बैठाते हैं, छिपकर आहे भरते हैं और दुहाई भी देते हैं कि धर्म-परिवर्तन हो रहा है।

स्मृतियों की व्यवस्था दी थी ऋषियों ने। मनुस्मृति के अनुसार, 'जो उपनयन संस्कार के पश्चात् २५ वर्ष की आयु तक गुरुकुल में निवास कर लेता है, वह ऋषि है और उस ऋषि को चाहिए कि विवाह करे।'- भूल जाइए कि ऋषि अत्रि, दुर्वासा और चन्द्रमा-जैसे जितेन्द्रिय होते थे। एक विद्यार्थी जिसने अभी-अभी आचार्य की डिग्री ली, वही ऋषि है।- प्राचीन ऋषियों के स्थान पर कृत्रिम ऋषि पैदा हो गये। आज स्थान-स्थान पर गुरुकुल खुले हुए हैं, वहाँ कोई संस्कृत पढ़ने नहीं जाता। क्यों नहीं सभी अपने बच्चों को ऋषि बना लेते!

और गुरु कौन है? मनुस्मृति के अनुसार जो गर्भाधान से लेकर चिता तक का कृत्य करता है, उसे गुरु कहते हैं। गुरु मर जाय तो गुरु-पत्नी में गुरुभाव रखो, वह भी मर जाय तो गुरु के भाइयों में और उनके पश्चात् गुरु के लड़कों में गुरुभाव रखो जिससे ब्रह्मधाम की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मात्र पेट को लेकर नयी परिभाषायें गढ़नेवाली स्मृतियाँ शाश्वत उस सनातन-धर्म के अनुयायियों के विनाश का कारण बन गईं, भ्रम का सृजन कर गयीं। भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के समय साथ में आनेवाले इतिहासकार मेगस्थनीज ने लिखा है कि क्षत्रिय लड़ रहे थे और बगल में ही किसान अपना खेत जोत रहे थे। लोग अपने धन्धे में लगे थे; क्योंकि स्मृतियों में लिखा है कि शस्त्र केवल क्षत्रिय ही उठायेगा। हाँ, दान में प्राप्त हुए वस्तु पर आपत्ति आती हो तो ब्राह्मण शस्त्र भी उठा सकता है। ब्राह्मण सेना के पीछे रहकर स्वस्तिवाचन करते थे और युद्ध में प्रस्थान करनेवाले राजाओं से प्रचुर दान-दक्षिणा करा लेते थे। लिखा है कि राजा सारा खजाना ब्राह्मणों को दान कर, पुत्र को राज्य देकर युद्ध के लिये प्रस्थान करे। यह स्मृतियाँ भारत की गुलामी और मानव-मानव में घृणा का कारण बनीं। लिखा है कि सबसे नीच है कसाई, दस कसाई के बराबर एक तेली होता है, जबकि तेली कोई पाप नहीं करता। गेहूँ, चना पीसना और सरसों पेरना वनस्पति का एक प्रयोग जैसा है; किन्तु तेल को बहते देखकर उन्हें लगा कि सरसों रोता है। दस तेली के बराबर एक कलवार होता है जो इसी प्रकार मदिरा बनाता है, दस कलवार के बराबर एक वैश्योपजीवी होता है और दस वैश्योपजीवियों के बराबर एक राजा होता है। इस प्रकार राजा सबसे नीच होता है। यदि ऐसा ही था तो मनुस्मृतिकार ऋषियों ने राजा मनु की पूजा क्यों की? वास्तव में यदि कोई मनु रहा होता, तो ऐसा लिखनेवाले को जीवित न छोड़ता। इनका मनु तो

कथा का एक पात्र है, जैसे- कालिदास का मेघदूत। सौ वर्ष के क्षत्रिय और दस वर्ष के ब्राह्मण में भी ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय पुत्र है।

लिखा है कि अग्नि में किये जानेवाले हवन की अपेक्षा ब्राह्मण के मुँह में किया गया हवन श्रेष्ठ है। श्राद्ध में भोजन करनेवाला अन्धा ६० सद्ब्राह्मणों को, काना ६० ब्राह्मणों को, फूलवाला १०० ब्राह्मणों को और पाप रोगी दाता के एक हजार ब्राह्मणों को खिलाने का फल नाश करता है। विकलांगों के प्रति यह दृष्टिकोण मानवता का अपमान है।

किसका अन्न खाया जाय और किसका नहीं? इस पर लिखते हैं- सूद लेते वैश्य, लुहार, कारीगर, कलपुर्जे बनानेवाले का अन्न अर्थात् आज की भाषा में बैंक कर्मचारियों, डॉक्टर और इंजीनियरों का अन्न, वेतन लेकर शिक्षा देनेवालों का अन्न, नगर में मिलनेवाला अन्न, न बेचनेवाले का अन्न, नट-दर्जी-केवट-सुनार और नपुंसक का अन्न अर्थात् आज के परिवेश में परिवार नियोजन करानेवालों का अन्न और कुत्ता पालनेवालों का अन्न नहीं खाना चाहिए। हाँ, कुत्ता हिरण पकड़कर लाता हो तो उसमें कोई दोष नहीं है। राजा और राज्य कर्मचारियों का अन्न तेज को, सुनार का अन्न आयु को और चमार का अन्न यश को नष्ट करता है। चिकित्सक का अन्न पीव, व्यभिचारी का अन्न वीर्य, सूद लेनेवाले का अन्न विष्टा, शस्त्र बेचनेवाले का अन्न मल के समान होता है। इनका अन्न खा लेने पर सात दिन तक गो-मूत्र में पके जौ पर निर्वाह करने से शुद्धि होती है। आदमी-आदमी में अन्तर डालना और फूट डालकर राज्य करना इन्हीं व्यवस्थाकारों की देन है।

इन स्मृतियों में लहसुन, प्याज, गाजर, सूरन, टमाटर, मूली, हींग, गोंद इत्यादि खाने का तो निषेध है; किन्तु देव-पितृ कार्यों में पशु-पक्षियों को मन्त्र पढ़कर काटना चाहिए। और मन्त्र कौन पढ़ेगा? लिखा है, ब्राह्मण द्वारा शूद्रकन्या से उत्पन्न संतान का संस्कार कर देने से नापित (नाई) बन जाती है। प्रत्येक मांगलिक अवसरों पर ब्राह्मण के साथ नाई की उपस्थिति इसी दुरभिसन्धि का परिणाम है। शूद्रों में उनका अन्न भक्षणीय बताया गया है।

दक्षिणा कितनी दें? लिखा है, यज्ञ में थोड़ी दक्षिणा देने से इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु और पशुओं का नाश हो जाता है। ब्राह्मण का धन चुरानेवाला स्वयं मूसल लेकर अपने वध के लिये राजा से निवेदन करे। यह मात्र जीने-खाने की व्यवस्था थी, धर्म नहीं। लिखा है- ब्राह्मण किसी भी जाति की कन्या से विवाह कर सकता है; किन्तु यदि शूद्र ब्राह्मणी रख ले तो उसे स्वयं अपना लिंग और अण्डकोष अपने हाथ में लेकर नैर्ऋत्य

दिशा में हाथ कर तब तक चलना चाहिए जब तक वह मर न जाय। यह मात्र सुरक्षा-व्यवस्था है।

वैसे तो ब्राह्मण को तिनके से भी न मारने का विधान है; किन्तु भूल से किसी ने मार दिया तो उसका पाप दूर कैसे हो?- इसके लिए उसको जलती हुई अग्नि में सिर नीचे करके तीन बार कूदना चाहिए। राजा अन्य जातियों को प्राणदण्ड दे सकता है, किन्तु सिर मुड़ाना ही ब्राह्मण के लिए प्राणदण्ड है। प्रत्येक प्रकार का पाप करनेवाले को भी दण्ड न दें, क्योंकि ब्राह्मण स्वयं अपनी तपस्या और मन्त्रों से शुद्ध होता है।

दोष उन व्यवस्थाकारों का भी नहीं है, जिन्होंने अपने युग-जमाने के लिए इन कानूनों की संरचना की। दोष तो हमारा-आपका है जो आज भी इसे मानते हैं। सचाई तो यह है कि इन्हें न मानते हुए भी मानने का खोखला दावा करते हैं। उन्हें गाली देने की अपेक्षा अपने को सुधारना अधिक उपयोगी होगा।

हाँ, यह बात अलग है कि हम बिजली बनाते हैं तो लाईन मैन, लोहा ठोकते हैं तो लोहार, सोना गढ़ते हैं तो सुनार- यह कोई जाति नहीं, व्यवसाय के नाम हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण सदैव होते रहे और होते रहेंगे; लेकिन भगवत्-पथ में न कोई जाति है और न सम्प्रदाय। **'अपि चेत् सुदुराचारो'** *(गीता, ९/३०)*- अत्यन्त दुराचारी भी इस कर्म का सच्चा अधिकारी है। अस्तु, यदि छुआछूत, ऊँच-नीच, जाति और सम्प्रदाय है तो वह धर्म नहीं और इनको माननेवाला अभी धर्मी नहीं है। परमात्मा एक है और उसकी एक-जैसी अनुभूति सबके लिए है। उसकी अनुभूति पा लेनेवाला महात्मा समाज में कभी दरार नहीं डाल सकता। केवल अधूरी जानकारी और नासमझी के कारण लोग ऐसा समझते और करते हैं।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।

अभ्यास करते-करते बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में, प्राप्तिवाले जन्म में साक्षात्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी 'सब कुछ वासुदेव ही है'- इस प्रकार मेरे को भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है। वह किसी वासुदेव की प्रतिमा नहीं गढ़वाता बल्कि अपने भीतर ही उस परमदेव का वास पाता है। उस ज्ञानी महात्मा को श्रीकृष्ण तत्त्वदर्शी भी कहते हैं। इन्हीं महापुरुषों से बाहर समाज में कल्याण सम्भव है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष तत्त्वदर्शी महापुरुष श्रीकृष्ण के शब्दों में अति दुर्लभ हैं।

- यथार्थ गीता : श्रीमद्भगवद्गीता
(अध्याय ७, श्लोक १६)

विप्र : एक स्थिति

क्रियात्मक पथ पर चलकर ब्रह्म की अनुभूति करनेवाले ब्राह्मण हैं। वह क्रिया है केवल एक परमात्मा में निष्ठा।

– स्वामी अड़गड़ानन्द

'भागवत' में 'विप्र'

श्रीमद्भागवत के समापन पर भगवान व्यास ने कहा, ''हे परीक्षित! इस प्रकार मैंने केवल मनुवंश का संक्षेप में वर्णन किया है। जैसे मुनवंश की यह गणना है, वैसे ही प्रत्येक युग में ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों की वंश-परम्परा समझनी चाहिए।'' इस ग्रन्थ से स्पष्ट है कि कुछ साहसी क्षत्रिय ही आगे चलकर ब्राह्मण बने। ब्राह्मण की उत्पत्ति क्षत्रियों से है; क्योंकि जब विधाता ने सृष्टि-रचना की तो सनकादि चार पुत्रों को उत्पन्न किया। विधाता ने उन लोगों से कहा कि तुम लोग सृष्टि-रचना करो। उन्होंने कहा, ''नहीं, हमलोग ब्रह्म-चिन्तन करेंगे।'' उन्होंने सृष्टि-रचना से इनकार कर दिया। यही चार सृष्टि के आदि ब्राह्मण कहे जाते हैं, जिनका कोई वंश नहीं चला। तदनन्तर ब्रह्मा ने क्षत्रिय श्रेणी के गुणधर्मों द्वारा मनु और शतरूपा को उत्पन्न किया, जिनकी तीन पुत्रियों की सन्तति से सारा संसार भर गया। प्रत्येक मन्वन्तर में ईश्वरभक्त मनु तथा उनकी वंशावली की गौरव-गाथा भागवत में है और इस दृष्टि से नृवंश तथा सम्पूर्ण भागवत क्षत्रियों का इतिहास है। मनु का वंशज होने से ही इन्हें मनुष्य या मानव कहा जाता है।

ईश्वर-पथ में साधना के चार सोपानों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से मनु-सन्तान क्षत्रिय श्रेणी में कदाचित् ही हों किन्तु इतिहास में हजारों वर्षों से जो क्षत्रिय की परिभाषा चली आ रही है- शासन, सुरक्षा, युद्ध, पृथ्वी का भार सँभालना, शौर्य इत्यादि जो प्रचलित हैं, वे सब लक्षण इन मनु राजवंशों में भली प्रकार विद्यमान थे। जिनका ब्राह्मणत्व सिद्धि में प्रतिशत अधिक पाया जाता है।

मनु के दस पुत्रों में से पाँचवें पुत्र धृष्ट से धार्ष्ट नाम क्षत्रिय हुए। वे इस शरीर से ही ब्राह्मण हो गये (९/२/१७)। मनु के नवें पुत्र नरिष्यन्त की दसवीं पीढ़ी में अग्निवेश उत्पन्न हुए। ब्राह्मणों का अग्निवेश्यायन गोत्र उन्हीं से चला (९/२/२२)। क्षत्रिय मनु के चौथे पुत्र दिष्ट का पुत्र नाभाग अपने कर्म के कारण वैश्य हो गया; किन्तु उसी नाभाग की बारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न मरुत्त पुनः चक्रवर्ती नरेश (क्षत्रिय) हो गये। इस प्रकार उन क्षत्रियों के ब्राह्मण तथा वैश्य बनने और पुनः क्षत्रिय बनने के उदाहरण भागवत में हैं।

मनु के तीसरे पुत्र शर्याति आचार्य बने। अंगिरा गोत्र के ऋषियों को यज्ञ में दूसरे स्तर का कर्म उन्होंने बतलाया था (६/३/१)। स्वायंभू मनु की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न आठवें अवतार महाराजा ऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में से दस राजा हुए, नौ संन्यासी हो गये तथा शेष इक्यासी कर्म में प्रवीण ब्राह्मण हो गये। लोग कहते हैं कि चरण से शूद्र, मुख से ब्राह्मण, जंघा से वैश्य और भुजा से क्षत्रिय होता है; किन्तु यहाँ एक ही माता-पिता की सन्तानों में से कुछ क्षत्रिय, कुछ संन्यासी तथा बहुसंख्यक ब्राह्मण हो गये। स्पष्ट है कि भागवत के अनुसार ब्राह्मण एक योग्यता है।

अपने पुत्रों को उपदेश करते हुए भगवान ऋषभ ने बताया कि पंचभूतों की अपेक्षा वृक्ष श्रेष्ठ हैं। वृक्षों से चलने-फिरनेवाले जीव श्रेष्ठ हैं। उनमें भी कीटादि की अपेक्षा ज्ञानयुक्त पशु श्रेष्ठ हैं। पशुओं से मनुष्य, उनसे प्रमथगण, उनसे भी गन्धर्व-सिद्ध-किन्नर श्रेष्ठतर हैं। उनसे भी असुर श्रेष्ठ हैं। असुरों से देवता, देवताओं से इन्द्र, उनसे भी ब्रह्माजी के पुत्र रुद्र, उनसे ब्रह्मा तथा ब्रह्मा की अपेक्षा मैं श्रेष्ठ हूँ; किन्तु ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे शम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा, अध्ययन और ज्ञान इन आठ गुणों से सम्पन्न हैं। इस तरह भागवतकार का निर्णय है कि जो ब्रह्म के परायण हैं वही ब्राह्मण हैं, न कि कोई जाति।

भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में मनु-पुत्र ध्रुव की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न अत्याचारी राजा वेन का इतिहास है। उसके निःसन्तान मरने पर ऋषियों ने उसकी जंघा का मंथन किया। उससे जो पुरुष पैदा हुआ उसी के वंशज निषाद कहलाये। उसी वेन की भुजाओं के मंथन से पृथु और अर्चि उत्पन्न हुए। एक ही राजा से उत्पन्न ये तीनों सगे भाई-बहन थे। पृथु को योग्य समझ ऋषियों ने उसे पैतृक गद्दी पर बैठाया और निषाद को समुद्रपर्यन्त जंगलों का राज्य मिला। इस प्रकार निषाद क्षत्रिय वंश में उत्पन्न महाराज पृथु के सगे भाई क्षत्रिय हैं। निषादराज और निषादों का सामाजिक अवमूल्यन, जंगली रहन-सहन परवर्ती व्यवस्थाकारों की उपज है।

महाराज पृथु को प्रथम चक्रवर्ती सम्राट होने का गौरव प्राप्त है। उन्होंने धरातल का समतलीकरण किया, धरती को गौ बनाकर दुहा, प्रतिकूल बीजों को हटाकर अनुकूल बीजों को उगाया। खेती करना, पशुपालन, पेड़ों से उतरकर बस्तियों में रहना उन्होंने सिखाया। चौबीस अवतारों में महाराज पृथु भी एक अवतार हैं। एक बार उनकी सभा में सनकादि ऋषि पधारे। सम्पूर्ण सभा उनके स्वागत में उठ खड़ी हुई। ऋषि-चरणों में पृथु ने प्रणाम किया। सभा को सम्बोधित करते हुए महाराज पृथु बोले-

''सभ्यगणो! जिस जनपद में आप-जैसे ब्राह्मण विचरते हों, वह जनपद धन्य है। दृष्टि-निक्षेप मात्र से जो दूसरों के अन्तःकरण में प्रसारित हो जाते हैं, ऐसे ब्राह्मणों का

दर्शन दुर्लभ है। (दृष्टि पड़ने मात्र से ही अनुभवों का सूत्रपात कर देना पूज्य गुरुदेव भगवान की विद्या का सहज गुण था।) परब्रह्म को जानने के लिये जो श्रद्धापूर्वक इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, स्वाध्याय विरोधी विचारों का त्याग करते हैं, दीर्घकाल तक संयमपूर्वक समाधि का अभ्यास कर जो उस ब्रह्म को जानते हैं, ऐसे ब्राह्मणों की चरणधूलि मैं आयुपर्यन्त अपने सिर पर धारण करता रहूँ; क्योंकि जो भी धारण करेगा, सारे सद्गुण उसके पास अपने आप आ जायेंगे।''

इस प्रकरण में ब्राह्मण उसे कहा गया जो एकमात्र ब्रह्म के लिए जप-तप, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, धारावाही चिन्तन, एकान्त-देश का सेवन, स्वाध्याय विरोधी विचारों का त्याग, योग-साधना, उसको तत्त्व से जानने के लिये समाधि द्वारा प्रयत्नशील हो। जिसने उसे जाना हो, वह ब्राह्मण है।

दशम स्कन्ध के इक्यावनवें अध्याय में कथा है कि इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा मान्धाता के पुत्र राजा मुचुकुन्द के दृष्टि-निक्षेप मात्र से कालयवन भस्म हो गया। तब भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना दर्शन दिया, वर माँगने को कहा। मुचुकुन्द ने कहा- ''मैं आपके चरणों की सेवा के अतिरिक्त कोई भी वर नहीं चाहता।'' इसे स्वीकारते हुए भगवान ने कहा- ''अगले जन्म में तुम ब्राह्मण बनोगे तथा मुझ परमात्मा को प्राप्त करोगे।''

विचारणीय है कि जिसमें दृष्टि-निक्षेप मात्र से राक्षसों को भस्म कर देने की क्षमता है, ऐसे तपोधन को भी ब्राह्मणत्व अगले जन्म में मिल रहा है, तो क्या ब्राह्मणत्व इतना सरल है? स्पष्ट है कि ब्राह्मणत्व योग की पराकाष्ठा में प्राप्त होनेवाली स्थिति है। सदियों से जिनके लिये मन्दिरों के दरवाजे बन्द हैं कि मन्दिर में जाओ मत, शास्त्र पढ़ो मत, वेदवाक्य पर विचार करो मत, पेड़ के नीचे रहो, ठीकरों में खाओ, सत्कर्म तुम्हारे लिये नहीं- ब्राह्मण जन्मोगे तब करना- इतने कड़े प्रतिबन्ध लगे हैं कि सत्कर्म किया ही नहीं तो वे अगले जन्म में ब्राह्मण कैसे होंगे? यदि ऐसे आचरणहीन हमीं होंगे तो यह कुत्ता, सियार कौन होगा? उतनी बड़ी तपस्या के बाद श्रीकृष्ण ने आशीर्वाद दिया कि अगले जन्म में ब्राह्मणत्व प्राप्त करोगे। अतः ब्राह्मण एक स्थिति है। परब्रह्म परमात्मा जिसे विदित हो, जो उससे संयुक्त हो, उसमें भली प्रकार स्थितिवाला हो, वह ब्राह्मण है और उसकी शुरुआत सेवा से है।

सेवा का महत्त्व भागवत के तृतीय स्कन्ध में मैत्रेय ऋषि ने विदुरजी को बताया कि धर्म की सिद्धि के लिये भगवान के चरणों से सेवावृत्ति तथा उसके अधिकारी शूद्र का आविर्भाव हुआ- परमात्मा की तुष्टि के लिये। यहाँ स्पष्ट है कि श्रीहरि को सन्तुष्ट करना है, धर्म की सिद्धि करनी है तो सेवावृत्ति से आरम्भ करना होगा। शूद्र से ही भगवत्-पथ में प्रवेश है। वहीं ईश्वर की उत्पत्ति है। शूद्र ही श्रम है। यहीं से ईश्वरीय

जागृति है। शेष तीन श्रेणियाँ तो मात्र उस पौधे का विकास है। फिर तो उस पौधे को बढ़ना ही बढ़ना है। **'नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।'** *(गीता, २/४०)* इस ईश्वर-पथ में आरम्भ का नाश नहीं है। जब प्रभु प्रसन्न ही हो गये तो वह स्वयं प्राप्ति की विधि बतायेंगे। विधि जानकर जो चलता है, वह वैश्य है। भजन आरम्भ करने के लिए सभी को शूद्र से आरम्भ करना होगा और जो शूद्र हो गया उसी का ब्राह्मणत्व भी सुनिश्चित है। लगनशील साधक एक ही जन्म में इन चारों सोपानों का अतिक्रमण कर परमात्म-भाव को प्राप्त कर लेता है। 'अर्जुन! तू सम्पूर्ण पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला हो तब भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा निःसन्देह पार हो जायेगा।'- *(गीता, ४/३६)*

भागवत के दशम स्कन्ध में कथा है कि एक बार भगवान श्रीकृष्ण नारद, वामदेव, अत्रि, असित, कण्व, परशुराम, व्यास, शुकदेव, बृहस्पति, मैत्रेय तथा च्यवन इत्यादि ऋषियों के साथ ब्राह्मण श्रुतदेव के यहाँ पधारे। उन्होंने कहा, ''ब्राह्मण जन्म से ही सब प्राणियों से श्रेष्ठ है, इसलिये श्रुतदेव! तुम इन ब्रह्मर्षियों को मेरा ही स्वरूप समझकर पूजा करो। ऐसे ब्राह्मणों के पूजन से ही मेरी पूजा होती है अन्यथा करोड़ों प्रकार से भी मेरी पूजा नहीं हो सकती।'' यहाँ भगवान श्रीकृष्ण ने एक ब्राह्मण को ऐसे ब्राह्मणों की पूजा करने का निर्देश दिया जो जन्मना ब्राह्मण नहीं थे। सुधीजन विचार करें तो पायेंगे कि इन ब्रह्मर्षियों की सामाजिक कुलीनता, जातिगत वरिष्ठता नहीं थी। वे शादीशुदा माता-पिता की सन्तान भी नहीं थे। साधना की सही क्रिया से चलकर इन सबने क्रमशः सोपानों को पार किया, ब्राह्मण का जन्म पाया। यह स्वरूपात्मक जन्म निःसन्देह भाग्यवानों को ही मिलता है, किन्तु इस जन्म के होने में किसी कुलीन माता-पिता का सहयोग नहीं है। ब्राह्मण जाति तो होती ही नहीं- एक स्वरूप है, स्थिति है। वस्तुतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भगवत्पथ के चार सोपान हैं, ये भगवत्पथ पर चलनेवाले पथिक की चार आन्तरिक अवस्थायें हैं। जो भी साधन करेगा यह जन्म पा सकता है और इस दृष्टि से इन ऋषियों में चाण्डाल भी ब्राह्मण बन सकता है।

द्वादश स्कन्ध में मार्कण्डेयजी की कथा है। भगवान शंकर ने उनसे कहा- ''ब्राह्मण चित्त की एकाग्रता, तपस्या, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा हमारे वेदमय शरीर को धारण करते हैं इसीलिये हम तुम्हारे-जैसे महात्माओं की स्तुति और सेवा करते हैं, हमलोग तो ब्राह्मण को ही नमस्कार करते हैं।'' इस प्रकरण में भी आत्मतृप्त, आत्मस्थित महात्मा को ही ब्राह्मण बताया गया है। इसीलिए जन्मना बहुत कुलीन न रहने पर भी नारद, वशिष्ठ, शुकदेव, व्यास, परशुराम, भरद्वाज, च्यवन इत्यादि विशुद्ध ब्राह्मण माने गये।

भागवत में तो स्थान-स्थान पर क्षत्रियों को तपस्या करते, ब्रह्मपद पाते, ब्राह्मण होते दिखाया गया है। महाराज पृथु के पौत्र बर्हिषद के प्रचेता नामक दस पुत्र नारदजी

से उपदेश ग्रहण कर भगवद्-चिन्तन में लगे और ब्रह्मलीन हो गये। इन्हीं प्रचेताओं के पुत्र राजा दक्ष के ग्यारह हजार पुत्र नारदजी से उपदेश लेकर तपस्या में लग गये, जिनकी गाथा भागवत के षष्टम स्कन्ध में भली प्रकार है। अतः यह कहना अतिरंजित न होगा कि ब्राह्मणत्व का मार्ग इन क्षत्रियों से होकर है। वैसे तो सृष्टि के आदिपुरुष मनु तथा शतरूपा ही थे, जिनसे सभी की उत्पत्ति मानी जाती है। अतः मानव मात्र ब्राह्मण बन सकता है, फिर भी ब्राह्मण की योग्यता अर्जित करने में क्षत्रिय जाति के लोगों का प्रतिशत अधिक रहा है; क्योंकि समाज तथा राष्ट्र की रक्षा में जिस साहस और शौर्य के साथ उन्होंने कर्त्तव्य-निर्वाह किया, शीश दिया, उसी सचाई और ईमानदारी के साथ प्राणपण से ईश्वर-पथ पर लगना होता है इसीलिये ब्राह्मणत्व प्राप्ति में क्षत्रियकुमारों को अधिक सफलता मिली।

श्रीमद्भागवत परमहंस-संहिता है। वस्तुतः 'परमहंस' और 'ब्राह्मण' शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं, इसीलिये इसमें स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों की महिमा का गायन देखने को मिलता है। भागवत में ज्यादातर राजकुमार ही इस पद को प्राप्त हुए हैं तथा हर परिस्थिति में जन्म लेनेवाले इस पद को प्राप्त कर चुके हैं, जैसे- भरद्वाज। स्पष्ट है कि इस पद को कोई भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है, वह चाहे जहाँ जन्मा हो, किसी भी वृत्ति से जीवनयापन करता हो। साधन समझकर आचरण करनेवाला ब्रह्म को जानकर ब्राह्मणत्व अर्जित कर सकता है।

'बड़ें भाग मानुष तनु पावा।' *(मानस, ७/४२/७)*- यहाँ मानव-तन का मूल्य है, किसी जाति कुल-विशेष का नहीं।

'महाभारत' में 'विप्र' की अवधारणा

भागवत के रचयिता भगवान वेदव्यास महाभारत के भी रचयिता हुए हैं, जिसमें यत्र-तत्र सर्वत्र विप्र का मौलिक चित्रण हुआ है। वनपर्व की कथा है कि एक बार महाराजा नहुष सौ अश्वमेध यज्ञ कर इन्द्र-पद को प्राप्त हुआ। अधिकार पाते ही वह मदान्ध हो गया। बोला, ''जब मैं देवराज इन्द्र हूँ, तो महारानी शची मेरा वरण करें।'' शची ने गुरुदेव बृहस्पति से प्रार्थना की। उन्होंने उपाय बताया कि नहुष ऐसी पालकी पर चढ़कर आये जिसमें सप्तर्षि जुते हों। शची का प्रस्ताव सुनकर नहुष ने वैसी ही व्यवस्था की। अगस्त्य, अंगिरा, वशिष्ठ इत्यादि ऋषियों से जुती हुई पालकी शची के महल की ओर बढ़ी। मिलन की आतुरता में नहुष उन महर्षियों को शीघ्र चलने के लिए 'सर्प-सर्प' कहता रहा फिर भी उनकी चाल में विशेष अन्तर न देख उसने अगस्त्य ऋषि को लात मारी, तो अगस्त्य ने शाप ही दे डाला कि जाओ, सर्प ही हो जाओ। तत्क्षण नहुष पालकी से गिर पड़ा। उसे अपनी भूल का ज्ञान हुआ। महर्षियों से विनय की, अपने उद्धार का उपाय

पूछा तो उन्होंने बताया कि जब कोई तुम्हें ब्राह्मण की विशुद्ध व्याख्या बता देगा और उसे तुम स्वीकार कर लोगे तभी तुम्हारी इस शरीर से मुक्ति होगी। (ब्राह्मण की परिभाषा न जानने के कारण ही तो नहुष सप्तर्षियों से पालकी ढुलवाने का दुस्साहस कर बैठा था।)।

सप्तर्षियों ने बताया कि इस समय ब्राह्मण की यथार्थ व्याख्या करनेवाला भूतल पर कोई नहीं है। द्वापरयुग में तुम्हारे ही कुल के महाराज युधिष्ठिर वनवासकाल में तुम्हारे पास आयेंगे, वही तुम्हें ब्राह्मण की महिमा का उचित उपदेश करेंगे। उस महिमा को सुनते ही तुम इस सर्पयोनि से मुक्त होकर पुनः इन्द्र-पद प्राप्त कर लोगे। सर्प बोला- भगवन्! इतने दिनों तक मेरा जीवन-निर्वाह कैसे होगा? ऋषियों ने व्यवस्था दी कि दिन के चौथे प्रहर में जो कोई भी तुम्हारे अधिकृत क्षेत्र में आयेगा, वह कितना ही बलशाली क्यों न हो, तुम्हारा आहार बन जायेगा।

इन्हीं परिस्थितियों के बीच अजगर बना नहुष जंगल में दिन काट रहा था। इधर पाण्डवों का वनवास हुआ। पाण्डव तो कुटिया में रहते थे; किन्तु आखेटक भीम विचरण करता हुआ एक दिन उसी अजगर के पास पहुँच गया। अजगर ने भीम को सावधान भी किया कि समीप न आओ। तुम्हें देखकर मुझे दया लग रही है। समीप आओगे तो भूखा हूँ, पकड़कर खा लूँगा। भीम ने कहा, ''क्षुद्र जन्तु! तू मुझे खायेगा?'' भीम ने आक्रमण किया; किन्तु जहाँ अजगर का स्पर्श हुआ, भीम निश्चेष्ट होता गया।

उधर युधिष्ठिर को अपशकुन होने लगा। उन्होंने देखा कि अन्य सभी भाई तो हैं, केवल भीम दिखाई नहीं दे रहा है। लगता है कहीं संकट में है। पुरोहित ऋषि धौम्य को साथ लेकर वे भीम की खोज में निकल पड़े। भीम द्वारा मारे गये शेर, हाथी, भैंसों, गैंडों को देखते, भीम द्वारा उखाड़े गये पेड़ों का अनुकरण करते वे वहाँ पहुँचे जहाँ अजगर से लिपटा भीम शिथिल पड़ा था। युधिष्ठिर ने कहा, ''भीम! कोई साधारण जीव तुम्हें वश में नहीं कर सकता। अजगर के वेश में यह महाभाग कौन हैं?'' भीम जो पहले ही परिचय जान चुका था, बोला- ''यह हमलोगों के पूर्वज महाराज नहुष हैं जो इन्द्रपद से च्युत हुए थे।''

युधिष्ठिर ने प्रार्थना की, ''राजन्! आप कृपा करके हमारे भाई को छोड़ दें। इसके साथ हमलोग जंगल में निरापद विचरण करते हैं। जब तक हम वनवास में हैं आपकी भोजन-व्यवस्था करते रहेंगे।'' सर्प बोला, ''राजन्! मैं दूसरा भोजन कर ही नहीं सकता, ऐसा ही कुछ शाप है। कल तक खड़े रहे तो तुम्हें भी खा लूँगा।'' युधिष्ठिर ने कहा- हजारों यज्ञ करनेवाले आपकी यह दुर्गति कैसे हुई? सर्प ने बताया कि विप्र-शाप से ऐसा हुआ है। युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि विप्रों का अपमान आप-जैसे महात्मा से कैसे हो गया? क्या आप ब्राह्मण की महिमा से अपरिचित थे? ब्राह्मण नाम सुनते ही अजगर को पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। उसने कहा-

ब्राह्मणः को भवेद् राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे।। *(१८०/२०)*

सर्प बोला- ''राजा युधिष्ठिर! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है और उसके लिये जानने योग्य क्या है?''

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो दया।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।। *(१८०/२१)*

नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया से सद्गुण दिखाई देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है।

शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च।
आनृशंस्यमहिंसा च दया चैव युधिष्ठिर।। *(१८०/२३)*

सर्प बोला- सत्य, दान, अक्रोध, क्रूरता का अभाव, अहिंसा और दया आदि सद्गुण तो शूद्र में भी हो सकते हैं?

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।। *(१८०/२५)*
यत्रै तल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रै तन्नभवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत।। *(१८०/२६)*

युधिष्ठिर ने कहा- ''यदि शूद्र में सत्य आदि उपर्युक्त लक्षण हैं और ब्राह्मण में नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण मौजूद हों वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणों का अभाव हो उसे शूद्र कहना चाहिए।''

युधिष्ठिर के इतना कहते ही अजगर का शरीर छूट गया। नहुष एक दिव्यपुरुष के रूप में उपस्थित हुए, पाण्डवों को विजय का आशीर्वाद दिया और चले गये। अतः ब्राह्मण योग-साधना सध जाने के पश्चात् की एक स्थिति है। जन्म से तो कोई ब्राह्मण हो ही नहीं सकता। महाभारत के ही सुविख्यात आख्यान यक्ष-प्रश्न में इसी निर्णय को परिपुष्ट किया गया है। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा-

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम्।।

हे राजन्! कुल-परम्परा, शास्त्र-श्रवण, स्वाध्याय और आचरण इनमें से किसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है? यह निश्चय करके कहिए।

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः।। *(वनपर्व, ३१३/१०८)*

युधिष्ठिर ने कहा, ''हे यक्ष! न तो कुल-परम्परा (जन्म) से, न शास्त्र-श्रवण से, न स्वाध्याय से ही ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है- ब्राह्मणत्व की सिद्धि का कारण मात्र आचार है। जिसमें इन्द्रियों का दमन हो, मन का शमन हो, भली प्रकार अन्तःकरण और मन की वृत्तियाँ शान्त हों, ध्यान और समाधि की क्षमता हो, वह ब्राह्मण है। इस संयम द्वारा जिसने ब्रह्म को जाना हो, वह ब्राह्मण है। साधन करके जो गुणातीत हो गया हो, वह ब्राह्मण है। अतः ब्राह्मण योग-साधना में प्रवृत्त पुरुष को मिलनेवाली अवस्था है।

यक्ष ने पुनः प्रश्न किया, ''राजन्! ये लक्षण तो शूद्र में भी पाये जा सकते हैं?'' युधिष्ठिर ने समाधान किया कि यदि ये लक्षण शूद्र में हैं तो वह शूद्र नहीं बल्कि ब्राह्मण है। यक्ष ने कहा कि इन लक्षणों से हीन ब्राह्मण भी पाये जाते हैं? युधिष्ठिर ने कहा कि तब वह ब्राह्मण नहीं, शूद्र है।

***युधिष्ठिर उवाच* - पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।**
सर्वे व्यसनिनो मूर्खो य क्रियावान् स पण्डितः।। *(३१३/११०)*

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा शास्त्र का विचार करनेवाले- ये सब व्यसनी और मूर्ख हैं। पण्डित तो वही है जो क्रियावान् है।

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्र परो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः।।

चारों वेद पढ़ा होने पर भी जो दुराचारी है, वह अधमता में शूद्र से भी बढ़कर है। जो यज्ञ में तत्पर तथा जितेन्द्रिय है, वही ब्राह्मण कहा जाता है।

अतः ब्राह्मणत्व जन्म लेने के पश्चात् सिद्ध किया जाता है। यक्ष ने (जो स्वयं धर्मराज थे) युधिष्ठिर के उत्तरों को प्रामाणिक स्वीकार किया, उनके भाइयों को जीवनदान दिया, आशीर्वाद दिया और चले गये। अतः सबको एक ब्रह्म-चिन्तन का आचरण करना चाहिए, जो ब्राह्मणत्व का स्रोत है।

'श्रीरामचरितमानस' में 'विप्र' की अवधारणा

भागवत के ही निर्णय का पल्लवन महाभारत में मिलता है; क्योंकि लेखक वही थे। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इन्हीं के निर्णयों का अनुसरण रामचरितमानस में किया। भागवत में भगवान कहते हैं कि इन विप्रों की पूजा से ही मैं पूजित होता हूँ, ठीक यही गोस्वामीजी भी लिखते हैं-

मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताकें सब देव।। *(३/३३)*

जो कपट का त्याग करके मन-क्रम-वचन से पृथ्वी के देवता ब्राह्मणों के चरणों की सेवा करता है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश तथा सम्पूर्ण देवताओंसहित मैं परमात्मा उससे पूजित हो जाता हूँ। अक्षरशः वही निर्णय है, जो भागवत में है।

सर्वप्रथम गोस्वामीजी ने अवतार प्रकरण लिया तो बताया कि भगवान का अवतार होता है तो विप्र के लिये।

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।।

(१/१२०/६-७)

जब कष्ट पाती है धेनु (गाय), कष्ट पाती है पृथ्वी, कष्ट पाते हैं ब्राह्मण और देवता, तब-तब भगवान विविध शरीर धारण करके **'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।'** *(१/१२०/८)* इन सज्जनों की पीड़ा हर लेते हैं। अवतार लेकर क्या समझाते-बुझाते हैं कि इन्हें मत सताओ? तो कहते हैं- नहीं,

असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जन्म कर हेतु।। *(१/१२१)*

उन असुरों को जान से मार डालते हैं- हृदय-परिवर्तन नहीं करते, देवताओं को आश्वस्त कर देते हैं। **'राखहिं निज श्रुति सेतु'-** वेद में जो भ्रान्तियाँ हैं उसे दूर करते हैं। श्रुति-सेतु पुनः प्रशस्त कर देते हैं और अपने विशद यश का विस्तार कर देते हैं। यही रामजन्म का हेतु है।

पञ्चभूतों में से एक जड़ पदार्थ पृथ्वी के लिए भगवान अवतार लेते हैं- न आकाश के लिए, न वायु के लिए। वह अवतार लेते हैं तो पृथ्वी के लिए। उस आविर्भाव का जो सुख-दुःख पृथ्वी को मिला, उसे वह जाने। आप पृथ्वी तो हैं नहीं! दूसरे बचे देवता। भगवान अवतार लेंगे भारत में किन्तु हित करेंगे देवताओं का। देवता जहाँ होंगे, उनका सुख-दुःख वे जानें। पशुओं में पशु-विशेष गाय तो हम हैं नहीं कि अवतार से हमें भी कुछ मिलता। मनुष्यों में एक वर्ग-विशेष ब्राह्मण मात्र के लिए ही अवतार होता है। संसार में तीन-चार सौ देश हैं, उनमें कहीं भी ब्राह्मण नहीं पाया जाता है। विश्व के मानचित्र में भारत बहुत ही छोटा! उसमें भी अनेकों जातियाँ! चार वर्ण! उसमें भी परमात्मा का आविर्भाव केवल मुट्ठी भर लोगों के लिए है- मनुष्यों में ब्राह्मण के लिए। अन्य लोगों के लिए परमात्मा का अवतार होता ही नहीं, तो हम जगत् को क्या उपदेश दे सकते हैं? यह भगवान तो एक कबीले का हो गया। संयोग से आप ब्राह्मण नहीं जन्मे, तो मनुष्य होना भी व्यर्थ चला गया। कदाचित् पुकारने से वह भगवान पैदा भी हो जाय, तो कुल्हाड़ी ही तो चलायेगा। जो लोग इनको सताते हैं वही असुर हैं। भगवान उनका हृदय-परिवर्तन करते नहीं, उन्हें मारने के लिए ही आते हैं, तो भला ऐसे भगवान को कोई क्यों भजेगा? जिनकी रक्षा वह करता है वे भजें। शेष दुनियावाले यदि भज ही लेंगे तो वह उठकर गर्दन ही तो काटेगा। ऐसे सोते शेर को कौन जगाये?

४/२६ में कहते हैं- **'निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि।'** प्रभु अपनी इच्छा से ही अवतार लेते हैं; लेकिन उनकी इच्छा तब होती है जब सुर, महि, गो और द्विज पर संकट आता है। आगे चलकर भगवान केवल **'गो द्विज हितकारी जय असुरारी'** *(१/१८५/छन्द)*- मात्र गो और द्विज के हितैषी रह जाते हैं। मनुष्यों में भगवान ब्राह्मण वर्ण की पुकार सुनते हैं, जो केवल भारत में पाया जाता है। ऐसे भगवान से विश्व के अन्य मानवों को क्या लेना-देना? अन्य वर्ग और मज़हब उसके लिए क्यों आँसू बहाये? फिर भारत विश्वगुरु कैसे? अतः विचारणीय है कि वह द्विज कौन है जिनके लिए भगवान अवतार लेते हैं?

वास्तव में मानस का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि भगवान 'गो द्विज हितकारी' हैं; किन्तु जिस ब्राह्मण के लिए वे अवतरित होते हैं वह संसार में प्रचलित कोई जाति नहीं अपितु योग-साधना की स्थिति है, जैसा कि भागवत तथा महाभारत की पंक्तियों में आपने देखा। मानस के अनुशीलन से स्पष्ट है कि अवतार लेने से परिनिर्वाण के ग्यारह हजार वर्ष की अवधि में परमात्मा राम ने अपने श्रीमुख से न तो कभी गो-महिमा का गायन किया और न गो-संवर्द्धन की योजनाओं का सूत्रपात किया; न तो एक गोशाला खोली, न एक गाय लंका से छुड़ाया। जिस गो-हित के लिए अवतार लिया, उसका कभी नाम तक नहीं लिया कि अब हम आ गये हैं, तुम निश्चिन्त हो जाओ, तो कैसा गो-द्विज हितकारी?

परमात्मा ने जब अवतार लिया, जिन-जिन को तारा, वे सब के सब अधम निकले, उनमें कोई द्विज नहीं था। वनवास की ओर बढ़े तो मिला केवट-

लोक बेद सब भाँतिहि नीचा।
जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।। *(२/१९३/३)*
राम कीन्ह आपन जबही तें।
भयऊँ भुवन भूषन तबही तें।। *(२/१९५/२)*

केवट ने कहा कि समाज मेरी छाया भी नहीं छूता, ब्रह्मा ने भक्ति की रेखा हाथ में लिखी नहीं, लेकिन राम ने अपना लिया। तकदीर में नहीं लिखा है कोई बात नहीं, तकदीर में दो हाथ-पैरोंवाला मानव होना तो लिखा है, इतना काफ़ी है- **'बड़ें भाग मानुष तनु पावा।'** *(७/४२/७)* मनुष्य-शरीर उपलब्ध है तो केवल आप श्रद्धा से लग भर जायँ, पा जायेंगे। भगवान अनाथों के नाथ हैं, अधम उद्धारक हैं। आप लगें तो! केवट द्विज नहीं था। उसकी छाया पड़ जाने पर लोग स्नान करने पर पवित्र होते थे; किन्तु राम ने उसे अपनाया। यह नहीं कहा कि वहाँ दूर बैठ, बल्कि गले लगाया। **'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता।।'** *(७/१९/३)* अपने घर का

दरवाजा ही राम ने उसके लिए खोल दिया। जो स्थान राम के हृदय में भरत के लिए था, वही उन्होंने केवट को दिया कि हमारा घर तुम्हारा घर है, आते-जाते रहना।

वनवासकाल में कोल-भीलों ने प्रभु की सेवा की। राम ने उन्हें भी अपनाया। गीधराज से मित्रता की- **'गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी।'** *(३/३२/२)* माँसाहारी अधम गीध की सेवाओं का उन्होंने मूल्यांकन किया। उसे वह गति दी, जो योगियों को दुर्लभ है। उसका दाह-संस्कार भगवान राम ने अपने हाथों से किया।

भगवान राम शबरी के आश्रम में गये। उसने अपना परिचय दिया- **'अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमन्द अघारी।।'** *(३/३४/३)* सबसे अधम कोल-भील आदिवासी, उसमें भी अधम नारी जाति, उसमें भी मैं बुद्धिहीन हर तरह से अधम हूँ। परमात्मा राम ने कहा- भामिनि! मैं तो केवल एक नाता जानता हूँ भक्ति का। **'भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।।'** *(७/८५/१०)*- भक्तिमान् अत्यन्त नीच भी मुझे परमप्रिय है। भगवान भक्ति के रिश्ते से आते हैं न कि किसी जाति के रिश्ते से।

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार जब राम ने शबरी को दर्शन दिया तो वह चरणों में गिर पड़ी। राम ने कुशलक्षेम पूछते हुए कहा- शबरी! तुम्हारी तपस्या सुचारु रूप से तो चल रही है। तुमने गुरुजनों की सेवा की थी, उसका फल तो मिल रहा है। जिन व्रतों को तुमने धारण किया था, उन नियमों का निर्वाह सुचारु रूप से हो तो रहा है। धर्म के नाम पर प्रचारित स्मृतियों में है कि शूद्र को भजन का अधिकार नहीं है जबकि राम शबरी की तपस्या, व्रत, नियम-संयम को दृढ़ा रहे हैं कि सुचारु रूप से तपस्या चल तो रही है। भगवान ने शबरी को परमगति प्रदान की, जबकि आये थे केवल द्विज के लिये।

तदनन्तर भगवान ने बन्दर और भालुओं को अपनाया। शरण में आने से पूर्व विभीषण ने हनुमान से पूछा कि भगवान क्या मुझ-जैसे निशाचर पर भी कृपा करेंगे? हनुमान ने विभीषण को सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा- **'कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चञ्चल सबहीं बिधि हीना।।'** *(५/६/७)*; **'अस मैं अधम सखा सुनु,....'** *(५/७)*- मैं इतना अधम हूँ फिर भी प्रभु ने मुझे अपनाया। तुम राजपरिवार के हो, तुम पर अवश्य कृपा करेंगे।

निशाचरों के अधम होने में कोई सन्देह ही नहीं है- **'अधम निसाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई।।'** *(३/२८/८)* किन्तु जो भी निशाचर शरण में आये, प्रभु ने सबका कल्याण किया, सबको अपनाया। अवतार तो हुआ था विप्र के लिये; लेकिन राम ने उद्धार किया इन जनजातियों का, कोल-भीलों का, अधम निशाचरों का,

आदिवासी वानर-भालुओं का, गीधों का, छाया निषिद्ध पुरुषों का- एक भी विप्र के सिर पर हाथ रखकर आश्वस्त नहीं किया। तारा अधमों को, जिनके लिए अवतार होता ही नहीं। वास्तव में यही द्विज हैं।

वस्तुतः अवतार किसी-किसी योगी के हृदय में होता है, बाहर नहीं। भगवान सचमुच विप्र हितकारी या द्विज हितकारी हैं; किन्तु यह द्विज कोई जाति नहीं, योग्यता है। जो ब्रह्म के परायण है वह विप्र है। 'द्वि' का अर्थ है द्वितीय, 'ज' का अर्थ जन्म- जिसने द्वितीय जन्म पाया है, भगवान उसके हितैषी हैं। एक जन्म तो वह है जो मल-मूत्र, पीव से सनी गर्भवास की अनन्त योनियों का भ्रमण है। यह शरीर छूटा तो पुनः दूसरा शरीर धारण कर लेंगे। इस प्रकृतिजन्य जन्म के विपरीत आत्मिक स्थिति का जन्म है, जब साधक उस ब्रह्म के भली प्रकार परायण हो जाता है, ईश्वरीय संकल्पों को अपने में धारण कर लेता है। एक बार ईश्वरीय संस्कारों का बीजारोपण हो गया तो उस बीज का कभी नाश नहीं होता। उस स्वल्प साधन के प्रभाव से वह हर जन्म में साधन ही करता है तथा कुछेक जन्मों के अन्तराल से वह वहीं पहुँच जाता है जो आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। इसलिये जिसमें भी आंशिक आकार का बीजारोपण हो गया वह द्विज है, उसने द्वितीय जन्म पाया है।

जिसमें भी आत्मस्वरूप की जागृति है, वह द्विज है। भगवान उसके हितैषी हैं। जो भी परमात्मा की ओर अग्रसर हुआ, वह उसी की पुकार सुनते हैं, उसके लिये उतर आते हैं, उसका हित करते हैं। विप्र कौन है? जो ब्रह्म के परायण है। जो भी प्रभु के परायण अथवा आश्रित हुआ, प्रभु उसे देखते हैं, उसकी आत्मा से अभिन्न होकर उतर आते हैं। दूसरे शब्दों में-

सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।। *(१/१२/५)*

जो प्रणत हैं, समर्पित हैं, वही विप्र हैं। प्रभु उन पर अनुराग रखते हैं। **'राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किये साधु सुखारी।।'** *(१/२३/१)* भक्त के हित के लिए भगवान उस भक्त के शरीर को धारण कर लेते हैं। महापुरुषों की टूटी-फूटी सेवा के सौजन्य से जिस दिन से वे हृदय में जागृत हो जाते हैं, साधक सद्गुणों का अर्जन करने लग जाता है, उस दिन से वह वैश्य है, द्विजत्व की प्रवेशिका में है।

भगवान ने जिन-जिन को तारा, वे सब के सब विप्र थे। तारा था अधमों को क्योंकि वे सब विप्र थे। 'मानस' के अनुसार ब्राह्मण योगपथ की एक अवस्था है। भक्त के लिये अवतार, विप्र के लिए अवतार पर्यायवाची हैं। सृष्टि में कहीं भी मनुष्य है, प्रभु के लिए विरही होकर, प्रणत बनकर लगता है, उसी के लिये अवतार है। विप्र, द्विज, ब्राह्मण आपके हृदय की एक योग्यता का नाम है।

जब से भगवान राम ने होश सँभाला, विप्रों के उद्धार में ही लगे रहे। अभी वे सुकुमार बालक ही थे कि **'बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी।'** *(१/२०५/२)*- महान् ज्ञानी मुनि विश्वामित्र यज्ञ-रक्षार्थ राम और लक्ष्मण को माँगने दशरथजी के दरबार में आये तो दशरथजी अधीर हो उठे। बोले- **'चौथेपन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी।।'** *(१/२०७/२)* विप्रवर! आपने विचार कर वचन नहीं कहा। दशरथजी विश्वामित्र को भली प्रकार पहचानते थे, समकालीन नरेश थे, दशरथजी के रिश्तेदारों में से थे; किन्तु दशरथजी ने उन्हें विप्र कहकर सम्बोधित किया। विश्वामित्रजी 'महामुनि ज्ञानी' थे। जो मुनि है, जिसकी इन्द्रियाँ मौन हैं, ईश्वरीय जानकारी जिसमें प्रसारित है, वही विप्र है। विप्र एक स्थिति है।

वनवासकाल में भगवान राम विविध ऋषियों के आश्रम में पहुँचे। कहीं राम ने ऋषियों को नमन किया, कहीं चरण स्पर्श किया; किन्तु एक वरिष्ठ मुनि वाल्मीकि मिल गये। मुनि को राम ने साष्टांग दण्डवत किया- **'मुनि कहुँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरबादु बिप्रवर दीन्हा।।'** *(२/१२४/१)* उन विप्रश्रेष्ठ ने आशीर्वाद दिया। वाल्मीकि मुनि थे। जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ मौन हैं, परमात्मा में समाहित हैं, वही व्रिप्र है। शरीर से देखा जाय तो **'भील जाति करनी कठिन, धर्म सुना नहिं कान। सद्गुरु के कारन मिला, विप्र रूप सम्मान।।'** कोल-भीलों में शादी-विवाह, उठना-बैठना, करनी से चाण्डाल, कुलीनता के कोई लक्षण नहीं; किन्तु सद्गुरु की कृपा से उन्हें विप्र का स्वरूप एवं सम्मान प्राप्त हुआ।

ऋषियों के आश्रम में विचरण करते भगवान आगे बढ़े, तो हड्डियों का ढेर दिखाई पड़ा। राम को बड़ी दया लगी। जिज्ञासा की तो मुनियों ने बताया, **'निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए।।'** *(३/८/८)* निशाचरों ने ऋषि-मुनियों को खाया है कि भजन क्यों करते हो? किसी दुराचारी को उन्होंने दण्ड नहीं दिया था अपितु भजन करनेवालों को खा गये। सुनकर भगवान के नेत्र भर आये। भुजा उठाकर तुरन्त उन्होंने प्रण किया-

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।। *(३/६)*

उन्होंने प्रण किया कि पृथ्वी को मैं निशाचरों से रहित कर दूँगा। एक-एक मुनि के आश्रम में जाकर आश्वस्त किया, उन्हें सुख दिया। वास्तव में मुनि ही विप्र हैं। जो ब्रह्म के परायण है, परमात्मा उसी के लिए आते हैं, वह प्रणतपाल हैं अन्य कोई विधा नहीं। विश्वामित्र विप्र हैं, वाल्मीकि विप्र हैं, समस्त मुनिगण विप्र हैं- जिनके अस्थि-पंजरों को देखकर उन्होंने 'निसिचर हीन करउँ महि' की प्रतिज्ञा की, उसे पूरा किया, अवतार

का प्रयोजन पूरा हुआ। वास्तव में यही विप्र हैं। **'धरउँ देह नहिं आन निहोरे।'** *(५/४७/८)*- अन्य किसी प्रकार की पुकार पर वह शरीर धारण नहीं करते। मानस के अनुसार परमात्मा का आविर्भाव मानवमात्र के लिये समान रूप से उपयोगी है। आप केवल श्रद्धा से पकड़कर देखें और पायें।

गोस्वामीजी ने द्विज-हितैषी को ही प्रकारान्तर से गो-हितैषी कहा है। 'गो' कहते हैं मनसहित इन्द्रियों को। **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।'** *(३/१४/३)* जहाँ तक मन उड़ान भर सकता है, वह सब माया है। परमात्मा इन इन्द्रियों की सीमा से परे है। **'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।'** *(४/६/छन्द)* मुनिलोग इन्द्रियों को विषय-रस से शून्य करके ही ध्यान में प्रभु को देख पाते हैं। अपनी बुद्धि से साधक इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, इसे पकड़कर प्रभु स्वयं संचालित करने लगते हैं तभी ये वश में होती हैं, तभी इन्हें पुनः इन्द्रियों का रूप धारण नहीं करना पड़ेगा, तभी सहज स्वरूप मिलेगा। इन्द्रियों को संयत करने के लिए ही भगवान का आविर्भाव होता है। **'माया गुन गो पार'** *(१/१९२)*- भगवान माया से परे हैं। माया का दूसरा स्वरूप है त्रिगुणमयी प्रकृति, इसीलिए भगवान गुणों से परे हैं। माया का तीसरा स्वरूप है इन्द्रियाँ, अतः प्रभु इन्द्रियों से परे हैं। माया से अतीत होना, गो से अतीत होना, गुणों से अतीत होना एक ही प्रक्रिया है। गो से अतीत हुए बिना कोई गुणों से अतीत नहीं हो सकता। गुणों से अतीत हुए बिना कोई माया से अतीत नहीं हो सकता। साधक के संयम की ये क्रमोन्नत अवस्थाएँ हैं। इनको पार करने पर ही भगवत्ता का दर्शन होता है, न कि गाय चराने से।

निशाचरों के आतंक से पृथ्वी त्रस्त हो उठती है तो प्रभु अवतार लेते हैं। **'धड़ धरती का एकै लेखा। जो बाहर सो भीतर देखा।।'** जो कुछ हृदय-देश में है, उसी का विस्तार बाहर पृथ्वी पर है। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' (पद १२४) में लिखते हैं-

असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे।।

जिस प्रकार भोजन, वस्त्र, सुख-समृद्धि की व्यवस्थाएँ एक ही बहुमूल्य मणि के अन्तराल में निहित हैं, ठीक इसी प्रकार स्वर्ग, नरक, अपवर्ग इत्यादि मन के अन्तराल में रहते हैं। जब जिसका क्रम आता है मन उसे प्रकट करता रहता है। जब यह पृथ्वी ग्लानि से भर उठती है, साधक अपने बल पर बुराइयों से पार नहीं पाता तो प्रभु की शरण जाता है। प्रभु उसके हृदय में अपने अवतरण की रचना करते हैं, साधक की आत्मा से रथी बन जाते हैं और उसके शरीररूपी धरती का उद्धार करते हैं।

प्रभु अवतार लेते हैं ब्राह्मणों के लिए; किन्तु रक्षा करते हैं देवताओं की। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ हैं- दैवी सम्पद् तथा आसुरी सम्पद्। परमदेव परमात्मा से मिलानेवाली दैवी सम्पत्ति को प्रभु स्थिरता प्रदान करते हैं, **'असुर मारि थापहिं सुरन्ह'**- प्रभु जब करुणार्द्र होकर उतर आते हैं तो आसुरी सम्पद् जो अवरोध है, उसे समाप्त कर देते हैं, दैवी सम्पद् स्थिर करते हैं। **'राखहिं निज श्रुति सेतु।'** *(१/१२१)*- वैदिक पथ में जो भ्रान्तियाँ हैं उसे दूर कर देते हैं, श्रुति-सेतु को पुनः प्रशस्त कर देते हैं, अपने यश का विस्तार कर देते हैं- यही रामजन्म का हेतु है। अतः गो-हितैषी, द्विज-हितैषी, पृथ्वी-हितैषी, देव-हितैषी, सन्त-हितैषी, भक्त-हितैषी इन सबका एक ही अर्थ है, एक ही साधक की क्रमोन्नत अवस्थाएँ हैं।

विप्र के स्वरूप को लेकर समाज में भ्रान्तियाँ देखने को मिलती हैं। अनेक सहृदय विद्वान् भी इन प्रकरणों पर आक्षेप करते रहते हैं। उदाहरण के लिये डा. राममनोहर लोहिया ने कहा था- निःसन्देह रामचरितमानस सम्पूर्ण भारतीय समाज को एकता के सूत्र में गूँथ सकता है; किन्तु गोस्वामीजी से दो-एक भूल हो गई, जैसे- स्त्रियों की निन्दा और ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात। लगता है उन महापुरुष से यह भूल करायी गयी है कि-

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।। *(३/३३/२)*

शूद्र ज्ञान और गुण में प्रवीण हो तब भी ताड़न योग्य है। वास्तव में मानस एक योगशास्त्र है, जिसे योगीजन ही यथार्थ जानते हैं और उनके निर्देशन में कोई क्रियावान् साधक ही उसे समझ सकता है। केवल भाषा-वैदुष्य किंवा बुद्धि के बल पर इसे कोई नहीं समझ सकता। अतः प्रखर विद्वान् होते हुए भी डाक्टर साहब का यह आक्षेप स्वाभाविक ही है।

भागवत में श्रुतदेव ब्राह्मण को भगवान ने समझाया था कि मेरे साथ आनेवाले ये महर्षि जगद्गुरु हैं, जगत् का कल्याण करते विचरण कर रहे हैं, इनकी चरण-पूजा से ही मेरी पूजा होती है। यही भगवान राम ने कबन्ध को बताया, यही शरणागत विभीषण को बताया कि **'ते नर प्रान समान मम, जिन्ह के द्विज पद प्रेम।'** *(५/४८)* सन्त-महिमा में नारद तथा भरत को भी यही समझाया कि मेरी पूजा करनी है तो विप्र की पूजा करो। प्रस्तुत है कबन्ध प्रकरण-

श्रीराम सीता की खोज में दण्डकारण्य से मतंग ऋषि के आश्रम की ओर बढ़े कि चौड़ी छातीवाले विशालकाय राक्षस कबन्ध पर उनकी दृष्टि पड़ी। कबन्ध अर्थात् धड़मात्र उसका स्वरूप था। पेट में ही दहकती हुई दो आँखें, दो विशाल भुजाएँ और बिना पैरों के लुढ़ककर चलनेवाले विकराल राक्षस ने श्रीराम और लक्ष्मण को एक ही हाथ से पकड़कर विवश कर दिया। लक्ष्मण अधीर हो उठे। श्रीराम ने उन्हें सान्त्वना दी। दोनों भाइयों

ने मिलकर कबन्ध के हाथ काट डाले तथा शरीर को एक गड्ढे में डालकर उसमें आग लगा दी। राम के हाथों मरते ही कबन्ध ने दिव्य शरीर धारण कर लिया। उसने बताया-

दुरबासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा।। *(३/३२/७)*

भगवान राम को कबन्ध की यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने कहा- 'गन्धर्व! तुमसे यह भूल कैसे हो गई? तुम तो ज्ञानी थे, विप्र का अपमान कैसे कर बैठे?'' गन्धर्व ईश्वरीय पथ का वह गायक है, श्वास का तार जिसकी पकड़ में आ गया हो। ऐसा साधक प्रायः उच्छृङ्खल हो जाता है। इतने को ही उपलब्धि मानकर वह महापुरुषों का अपमान करने की भूल कर बैठता है। कुछ ऐसी ही भूल कबन्ध से भी हुई थी। श्रीराम ने उसे अपना धर्म समझाया-

मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताकें सब देव।। *(३/३३)*

मन, कर्म और वचन से छल-कपट त्यागकर जो विप्र के चरण-कमलों की सेवा करता है, ब्रह्मा, शिव और चराचर देवताओं सहित मैं परमात्मा उसके वश में हो जाता हूँ। केवल एक ही सूत्र याद रखना है, वह है विप्र के चरण-कमलों की सेवा। चिन्ता न करें, न तो आपसे कभी विंध्यवासिनी माई रुष्ट होंगी और न कभी कोई अन्य देवता। केवल विप्र के चरण-कमलों की पूजा करते रहें तो परमतत्त्व परमात्मा तक विदित हो जायेगा। इतना अवश्य याद रखें-

सापत ताड़त परुष कहन्ता। बिप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।। *(३/३३/१)*

शाप देता हुआ, प्रताड़ित करता हुआ, अपशब्द कहता हुआ, शील और गुण दोनों से हीन होने पर भी विप्र पूजनीय है। तथा-

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।। *(३/३३/२)*

ऐसी मान्यता थी भगवान राम की; किन्तु जब ज्ञात हुआ कि सीता का अपहरणकर्त्ता रावण एक ब्राह्मण है, तो उसकी वह दुर्गति की कि **'रहा न कुल कोउ रोवनिहारा।'** (६/१०३/१०)- उस रावण के कुल में कोई जलदाता या आँसू बहानेवाला न बचा। लगता है इस मर्यादा के रचयिता भगवान स्वयं उस पर आरूढ़ नहीं हैं। राम उसे स्वयं मारते तो कदापि आपत्तिजनक न होता, क्योंकि **'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं।'** (१/६८/८) अथवा **'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहि सब छाजा।।'** *(३/१६/१४)* किन्तु राम के अनुयायी बन्दर-भालुओं ने रावण के वंश का मूलोच्छेदन कर डाला। यज्ञ करते रावण को लातों से मारा, उसकी नारियों के केश पकड़कर बाहर घसीटा। राम कम से कम अपने अनुयायियों से तो कहते कि ब्राह्मण पूजनीय है।

रावण चारों वेदों का प्रकाण्ड विद्वान् था, ज्योतिष का मर्मज्ञ था, ब्रह्मा के लेख को पढ़कर उसे अपनी आयु का ज्ञान था। निःसन्देह रावण गुणी था, यद्यपि शील का अभाव था। गुणों के अनुरूप उसका आचरण नहीं था। राम तो शील-गुण दोनों से हीन ब्राह्मण को भी पूज्य मानते थे। वे स्वयं अपने नियम का पालन नहीं करते। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदासजी कहना क्या चाहते हैं?

ब्राह्मणों में भी उत्तम कुल वाले महर्षि पुलस्ति के पुत्र विश्रवा का पुत्र था रावण। उसका छोटा भाई विभीषण राम की शरण में आया। उसे सन्देह था कि राम शरण देंगे अथवा नहीं? किन्तु राम ने अपना सिद्धान्त बताते हुए उसे आश्वस्त किया-

सगुन उपासक परहित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिन्ह कें द्विज पद प्रेम।। *(५/४८)*

जो मुझ सगुण का उपासक है, पर के हित में अनुरक्त है, वह नर मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय है जिसका द्विज के चरण-कमलों में अटूट प्रेम है।

सुनु लंकेस सकल गुन तोरें। ताते तुम अतिसय प्रिय मोरें।। *(५/४८/१)*

विभीषण! तुम्हारे पास समस्त गुण हैं इसलिए तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो। मानस के मर्मज्ञजन विचार करें कि क्या विभीषण द्विज के चरण-कमलों का प्रेमी था? विभीषण अथवा उसके अनुयायी बन्दर-भालुओं में से किसी ने भी तो द्विज की सेवा नहीं की, तब यहाँ किस द्विज की सेवा पर राम बल दे रहे हैं?

वस्तुतः द्विज वह महापुरुष है जिसने द्वैत पर विजय पा लिया है। जो ब्रह्म-परायण है, आत्मसाक्षात्कार के लिए जो क्रियाशील है, वह ब्रह्मकुल में आ जाता है। साधना के पूर्तिकाल में जो ब्रह्म से परिपूरित है वही विप्र है, वही ब्राह्मण है, भूसुर है; महीसुर भी वही है। ऐसे महापुरुषों के लिए विधि-निषेध नहीं रह जाता। उसका मापदण्ड बाह्य क्रियाकलापों से नहीं अपितु आन्तरिक उपलब्धियों से होता है। उसकी वेशभूषा, उसका स्नान-ध्यान भी जनसाधारण से परे है। पूज्य महाराजजी कहते थे कि महापुरुष कब भजन करते हैं, इसे पास रहनेवाला साधक भी तब तक जान नहीं पाता जब तक वे स्वयं न बता दें। ऐसे महापुरुषों का आचरण साधकों के लिए निर्धारित आचरण से सर्वथा भिन्न होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं-

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते। *(गीता, ३/१७)*

जो पुरुष आत्मा में ही सन्तुष्ट, उसी में ओतप्रोत और उसी आत्मा में भली प्रकार स्थित है, उसके द्वारा कर्म किये जाने से न कुछ लाभ है, और यदि वह कर्म छोड़ दे तो न उसकी कोई हानि ही है; क्योंकि उसे जिस लक्ष्य को पाना था पा लिया है, उसी

से आप्लावित है, उसी में स्थित है तो कर्म द्वारा अब किसे ढूँढ़े? अब तो 'भजन हमार हरि करें, हम पायो विश्राम।' ऐसे महापुरुष पेंशनीयर हो जाते हैं। महाराजजी कहते थे, ''हो! मोके पेंशन मिल गई है, तुम लोग आपन देखो। बगैर किये कोई पायी न! भजनियाँ करै का परी।

बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल।।

(७/१२२ क)

लेकिन हमार नकल मत करो।''

किसी प्रोफेसर से कहा जाय कि वह रात दो बजे उठकर, बत्ती जलाकर पढ़े तो कितना हास्यास्पद होगा? महापुरुष के लिए विधान कुछ और ही है। सन्त कबीर ने उस रहनी पर प्रकाश डाला है-

अवधू बेगम देश है मेरा।
तहाँ न ईश्वर जीव न माया, पूजक पूज्य न चेरा।।

वहाँ ईश्वर-जीव का द्वैत नहीं है। पूजने योग्य कोई नहीं है, पूजनेवाला कोई नहीं। यही है विप्र! ऐसे ही महापुरुष थे जड़भरत। वे स्नान नहीं करते थे। ऐसे ही महापुरुष के सन्दर्भ में मानसकार लिखते हैं-

सापत ताड़त परुष कहन्ता। बिप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।। *(३/३३/१)*

शाप देता हुआ, ताड़ना करता हुआ और कठोर वचन कहता हुआ भी विप्र पूज्य है। महर्षि दुर्वासा का क्रोध प्रसिद्ध है। पूज्य महाराजजी भी कहा करते थे- ''गाली देत न पावत शोभा! लेकिन करीं का? भगवान मोके आदेश दिये हैं कि गाली देइहै त कल्यान होइ जाई। कल फाँसी होनी है और आज मेरी छड़ी लग जाय तो फाँसी नहीं होगी, सजा चाहे जो हो जाय, इसीलिए ताड़ना देते हैं। नहीं तो मोके कहाँ शोभा है गाली देना।'' ब्रह्म से परिपूरित ऐसे महापुरुष विप्र हैं, परमपूज्य हैं- सन्तों ने ऐसा गायन किया है। इनका आचार-विचार समाज से अलग रहता है। बाह्य आचरण को देखकर कोई उनकी अवहेलना न कर बैठे इसीलिए भगवान का आदेश है- **'पूजिअ बिप्र सील गुन हीना।'**

गुणातीत उस महापुरुष में कोई आचरण भी नहीं दिखाई पड़ता। तत्त्व विदित है, सत्ता अलग है ही नहीं तो किसके लिए आचरण करे? उनके पास अध्ययन भी नहीं है, उनकी वाणी ही वेद है। जिसमें न शील है, न गुण है और न आचरण है, वह शूद्र नहीं तो और क्या होगा? किन्तु मानसकार कहते हैं- नहीं, वह **'सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।'** *(३/३३/२)*- वह शूद्र नहीं बल्कि ज्ञान-प्रवीण है। हृदय में ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। उस साक्षात् के साथ आत्मा से ओत-प्रोत और आत्मस्थित

होने के कारण वे प्रवीण हैं। वे शूद्र दिखायी भर पड़ते हैं, वस्तुतः वे परमपूज्य हैं। द्विज एक स्थिति-विशेष का नाम है।

सामाजिक परिवेश में जाति-प्रथा का निर्धारण चाहे जैसा हो; किन्तु धर्मग्रन्थों में ब्राह्मणत्व का निर्धारण जन्मना कभी नहीं रहा। वस्तुतः जो ब्रह्मपरायण है वह ऋषिकुल में आ जाता है। भजन के पूर्तिकाल में जो ब्रह्म से आप्लावित है, वही पूर्ण विप्र है। वही ब्राह्मणत्व की अधिकतम सीमा है।

वाल्मीकीय रामायण का प्रसंग है कि एक बार विश्वामित्रजी की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी आये, बोले- ''आप ऋषि हुए।'' विश्वामित्र को यह उपाधि अच्छी नहीं लगी। वह पुनः तपस्या में रत हो गये। देवताओं के साथ ब्रह्माजी पुनः आकर बोले- ''आज से आप राजर्षि हुए।'' फिर भी उनकी तपस्या को विराम नहीं मिला। ब्रह्मा ने उन्हें महर्षि की उपाधि दी, तब वे बोले- क्या आप मुझे जितेन्द्रिय ब्रह्मर्षि नहीं कहेंगे? ब्रह्माजी ने उत्तर दिया- अभी आप में वह क्षमता नहीं है। विश्वामित्र पुनः तपस्या में लग गये। तपस्या का धुआँ स्वर्ग तक पहुँच गया। ब्रह्मा पुनः देवताओं के साथ आये और बोले- विश्वामित्र! हठ छोड़ दें, आज से आप ब्रह्मर्षि हुए। विश्वामित्र ने निवेदन किया- ''यदि मैं ब्रह्मर्षि हो गया तो वशिष्ठजी आकर प्रमाणित करें और वेद हमारा वरण करे।''

ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कहा। वशिष्ठजी ने समर्थन दिया और वेद विश्वामित्रजी के हृदय में उतर आया। वेद कोई पुस्तक नहीं है कि अध्ययन से आ जाय। वस्तुतः जिस परमतत्त्व की हमें चाह है, चिन्तनकाल में उसी का विदित हो जाना ही वेद है। तब वह महापुरुष जानता है कि ईश्वर कैसे चलता है, कैसे सुनता है, कैसे रहता है? **'कर बिनु करम करइ बिधि नाना।'** *(१/१७७/५)*- तो भला किस प्रकार? इसको वही जानता है जिसके हृदय में वेद उतर आया है, वही विप्र है। इस कथानक से भी यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण कोई जन्म से नहीं होता अपितु तपस्या के द्वारा अर्जित उपाधि है। भागवत, महाभारत, भगवान वाल्मीकि तथा गोस्वामी तुलसीदासजी सबका निर्णय एक है।

वनवासी और विरही राम से नारद ने अपने मन की एक कसक का समाधान चाहा कि आपने मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया? भगवान ने बताया कि जैसे शिशु की रक्षा माता करती है, वैसे ही मैं अपने भक्त की रक्षा सदैव करता हूँ। नारदजी के मन में कौतूहल हुआ कि मुझमें वे लक्षण हैं भी अथवा नहीं, अतः उन्होंने पूछ लिया कि भगवन्! जिन सन्तों की आप रक्षा करते हैं उनके लक्षण क्या हैं? प्रभु ने बताया-

सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ।।
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा।।

(३/४४/७)

सन्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर इन छः विकारों पर विजय प्राप्त किये रहते हैं। वे पाप से रहित, कामनाओं से रहित, पवित्र और सुख के धाम होते हैं। इसी सन्दर्भ में उन्होंने बताया-

बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना।। (३/४५/५)

वे विरक्त हैं- किसी में कहीं लगाव नहीं, वे विवेकी हैं- अपने पथ का उन्हें यथार्थ बोध है। वे निरन्तर चिन्तनपरायण हैं।

जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द बिप्र पद प्रेमा।। (३/४५/३)

जप-तप, संयम-नियम, गुरु गोविन्द तथा विप्र के चरणों में प्रीति इत्यादि सन्त के लक्षण हैं। विचारणीय है कि जो विरक्त है, घर छोड़ा, द्वार छोड़ा वह किस विप्र का चरण धारण करेगा? क्या किसी गृहासक्त का? नहीं, विश्वामित्र की तरह तपस्या में जिसने ब्राह्मणत्व अर्जित किया हो, वस्तुतः ऐसा विप्र ही सद्गुरु है। उसी के पास विश्व को कुछ सिखाने के लिए है।

राज्याभिषेक के पश्चात् भगवान राम एक बार अमराई में बैठे थे। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान इत्यादि सेवा में थे कि सहसा चार ऋषि दिखाई पड़े। राम खड़े हो गये। पीताम्बर बिछाया। जब तक वह सब रहे, सेवकों के होते हुए भी राम स्वयं उनकी सेवा में रहते। यह देख भरतजी को कौतूहल हुआ कि इसी सन्त-वेष में माँ सीता की चोरी हुई, इसी वेष ने भाई लक्ष्मण की मृत्यु का भरसक प्रयास किया, फिर भी राम सेवा में खड़े हैं। भरत ने हनुमान के माध्यम से अनुमति ले प्रश्न रखा कि सन्तों की महिमा वेद-पुराण में है, आपने भी उनकी सराहना की है, उन सन्तों के लक्षण कैसे होते हैं? भगवान ने कहा, ''भाई! सन्तों के लक्षण तो अगणित हैं। वे विषयों से विरक्त, गुण और भक्ति के निधान, मदरहित तथा अजातशत्रु होते हैं।

सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।। *(७/३७/२)*
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री।। *(७/३७/६)*

वे लोभ, अमर्ष, हर्ष तथा भय से रहित होते हैं। उनमें शीतलता है, सरलता है, सर्वत्र मैत्रीभाव है और द्विज के चरणों में अटूट प्रीति है। द्विजपद प्रीति ही धर्म की जन्मदात्री है। विचार करें, घर-द्वार छोड़कर एकान्तसेवी, परम विरक्त किस द्विज का चरण हृदय में धारण करे?

वस्तुतः द्विज एक स्थिति-विशेष है। यह सन्त की अवस्था है, परम से संयुक्त महापुरुष की अवस्था है। इन्हीं सन्तों को भूसुर, महीसुर, महिदेव इत्यादि उपाधियों से सम्बोधित किया गया है। मानस के मंगलाचरण में गोस्वामीजी ने सर्वप्रथम महीसुर के चरणों की वन्दना की-

बन्दऊँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना।। *(१/३)*

सर्वप्रथम मैं पृथ्वी के देवता विप्र के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, जो मोह से उत्पन्न समस्त संशयों का हरण कर लेते हैं। यही है विप्र की परिभाषा! किन्तु जो स्वयं मोहाच्छादित है वह दूसरों का मोह क्या हरेगा? स्वयं दलदल में फँसा जीव दूसरों को क्या निकालेगा? जन्मना ब्राह्मणत्व का निर्धारण करनेवाले समाज के तथाकथित ठेकेदार क्या मोहजनित संशयों का शमन करने में सक्षम हैं? मानस में स्थान-स्थान पर महीसुर को सन्त का पर्याय माना गया है। ऐसे ही सन्त (सद्गुरु) की शरण तथा उनका सान्निध्य जब प्राप्त हुआ तो **'बालमीकि भए ब्रह्म समाना।'** *(२/१६३/८)*- ऐसे ही द्विज की सेवा से वाल्मीकि, नारद, घटयोनि अगस्त्य, भरद्वाज इत्यादि त्रिकालज्ञ ब्रह्मर्षि पद पा गये, जबकि शरीर से ये सब बहुत कुलीन नहीं थे।

वस्तुतः ब्राह्मण, सद्गुरु अथवा ब्रह्मर्षि पर्यायवाची हैं। क्रियात्मक पथ पर चलकर ब्रह्म की अनुभूति करनेवाले ब्राह्मण हैं। वह क्रिया है केवल एक परमात्मा में निष्ठा। उस परमात्मा के शोध का स्थल है केवल अपना हृदय तथा शोध का विधान है केवल श्वास द्वारा परमात्मा के किसी दो-ढाई अक्षर के नाम राम अथवा ॐ का जप तथा उस नाम के अर्थस्वरूप किसी स्थितिवाले महापुरुष (सद्गुरु) के स्वरूप का चिन्तन एवं उनकी सेवा। इस क्रिया से चलकर आत्मस्वरूप में स्थित होनेवाले महापुरुष वर्ण से ऊपर उठ जाते हैं; किन्तु उन्हें विप्र के अतिरिक्त कहा भी क्या जाय? इसलिए इन स्वरूपस्थ महापुरुषों की उपाधि ब्राह्मण है।

गीता में 'ब्राह्मण' का स्वरूप

चार वेद, छहों शास्त्र, भागवत, महाभारत इत्यादि सब कुछ लिपिबद्ध करने के पश्चात् भगवान व्यास ने विचार किया कि इनमें मूलशास्त्र कौन है? उन्होंने स्वयं का सुविचारित मत बताया कि गीता भली प्रकार मनन करके हृदय में धारण करने योग्य है क्योंकि यह पद्मनाभ भगवान के श्रीमुख से निःसृत परमात्मा की वाणी है। अस्तु, अन्य शास्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता है? गीता में है-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।। *(१५/२०)*

गोपनीय से भी यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर तू ज्ञानवान् तथा कृतार्थ हो जायेगा। अतः हमारा मूलशास्त्र गीता है। शेष शास्त्र तो गीता की अनुकृति हैं। इस गीता में भी तीन-चार स्थानों पर ब्राह्मणत्व पर प्रकाश डाला गया है।

गीता के अनुसार ब्राह्मण एक स्थिति है। भगवत्-पथ में चार स्तर हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। साधक को चारों स्तर पार करना पड़ता है। जिसने इस

चिन्तन-पथ में प्रवेश नहीं किया वह शूद्र भी नहीं है। योगेश्वर ने कर्म को चार भागों में बाँटा, जो साधक के वर्ण का निर्धारण करते हैं। वह कर्म परमात्मा के दर्शन की साधना-पद्धति है। इसी चिन्तन-पथ का सर्वोत्कृष्ट स्तर ब्राह्मण है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। *(१८/४१)*

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- इन चारों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं। स्वभाव परिवर्तनशील है। आज का उच्छृङ्खल स्वभाववाला कल सौम्य हो सकता है। वाल्मीकि तथा अंगुलिमाल जैसे व्यक्ति जीवन्मुक्त महापुरुष के रूप में बदल गये। अस्तु, गीता के अनुसार कर्म एक ही है- विहित कर्म, नियत कर्म जो आत्मदर्शन, योग-साधना की निर्धारित विधि है। इस क्रिया के आरम्भ में प्रत्येक प्राणी शूद्र है- **'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।'** *(१८/४४)* वह सेवा करे। दीर्घकाल तक सेवा के परिणामस्वरूप साधन सूक्ष्म होने लगता है। **'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'** *(१८/४४)* आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसका संग्रह गोरक्षा अर्थात् इन्द्रिय-संयम के साथ होने लगता है। क्रमशः **'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।'**- शौर्य, तेज, पराक्रम, धैर्य, चिन्तन में दक्षता, आसुरी वृत्तियों से युद्ध में पीछे न हटने का स्वभाव, समर्पण, ईश्वरभाव, सब जीवों पर स्वामीभाव इत्यादि **'क्षात्रं कर्म स्वभावजम्'** *(१८/४३)*- क्षत्रिय श्रेणी के स्वभावजन्य कर्म हैं। जहाँ साधना और सूक्ष्म हुई तो वह कर्त्ता ब्राह्मण श्रेणी का हो जाता है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। *(१८/४२)*

शम, दम, यम, नियम, तप, शुद्धता, ईश्वरप्रदत्त जानकारी अर्थात् विज्ञान, उस पर भलीप्रकार चलने की क्षमता- यह ब्राह्मण के स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं। जब यह दक्षता स्वभाव में ढल जाय, वह ब्राह्मण है। ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाले ये नौ गुण जिसमें स्वभाव से ही कार्यरत हैं वह ब्राह्मण श्रेणी का कर्त्ता है। ब्रह्म में प्रवेश और स्थिति के साथ ही वह किसी श्रेणी के कर्म का कर्त्ता नहीं रह जाता। जिसे पाना था पा लिया, जब आगे कोई सत्ता नहीं है तो क्रिया करके और किसे ढूँढ़े? आदि शंकराचार्य इसी स्तर पर पहुँचकर कह उठते हैं- **'न ब्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रश्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्'**- अब मैं न शूद्र हूँ, न वैश्य हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न ब्राह्मण हूँ- चित्त परम आनन्द स्वरूपमय है। मैं कैवल्यधाम, कल्याणस्वरूप शिवमात्र शेष हूँ। यह अवस्था सबको मिलनी है।

अर्जुन क्षत्रिय श्रेणी का था। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उसे ब्राह्मणत्व अर्जित करने की प्रेरणा दी-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। *(२/४५)*

अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश कर पाते हैं। इसके आगे का हाल वे नहीं जानते। इसलिये तू तीनों गुणों से ऊपर उठ। बढ़ने की विधि बताते हैं कि 'निर्द्वन्द्वः'- सुख-दुःख के द्वन्द्वों से रहित, नित्य सत्य वस्तु में स्थित, योगक्षेम को न चाहता हुआ, आत्मपरायण हो। हमीं बढ़ेंगे या कोई बढ़ा भी है? आगे बढ़ेंगे तो कहाँ पहुँचेंगे? इस पर कहते हैं कि जो वेद और गुणों से आगे बढ़ता है वह ब्राह्मण है-

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। *(२/४६)*

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य का छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन शेष रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रह जाता है। अर्थात् जो वेदों से ऊपर उठता है, ब्रह्म को जानता है, वही ब्राह्मण है। श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! तू ब्रह्म को जान, ब्राह्मण बन। अतः पूर्ण जानकारी के साथ ब्राह्मणत्व मिलनेवाली एक स्थिति है। क्षत्रिय श्रेणी का अर्जुन इसका अधिकारी है। वास्तव में अनुरागी ही अर्जुन है। जिस घट में अनुराग होगा वह पा जायेगा और इस प्रकार से सभी सच्चे रूप में इस पथ के अधिकारी हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण अत्यन्त दुराचारी को भी भली प्रकार कल्याण का उपदेश देते हैं- गीता, ६/३०।

इस यौगिक आत्मदर्शन, ब्रह्मदर्शन की क्रिया को योगेश्वर कर्म कहते हैं। कर्म क्या है? अकर्म क्या है? विकर्म को भी भली प्रकार समझ लेना चाहिए। इसी सन्दर्भ में उसके अनुष्ठान का तरीका बताया-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(४/१९)*

अर्जुन! **'यस्य सर्वे समारम्भाः'**- जिस पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया क्रमशः उत्थान होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गई कि कामना और मन के संकल्प-विकल्प से ऊपर उठ गई (संकल्पों का चढ़ाव-उतार मन के ऊपर है, जब इसका केन्द्र मन ही समाप्त हो गया) तहाँ **'ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणम्'**- जिसको नहीं जानता था और जानना चाहता था उसकी जानकारी हो जाती है। उस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। उस ज्ञान की अग्नि में कर्म सदा-सदा के लिये जल जाते हैं। ऐसी स्थितिवाले को बोधस्वरूप महापुरुषों ने पण्डित कहकर सम्बोधित किया है। वह पूर्ण ज्ञाता है इसलिए पण्डित है। उस पण्डित की रहनी कैसी होती है?-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। (५/१८)

ज्ञान के द्वारा जिनका पाप शमन हो चुका है ऐसे ज्ञानीजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डाल में; गाय, हाथी और कुत्ते में समान दृष्टिवाले होते हैं। उनकी दृष्टि में विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण न तो कोई विशेषता रखता है और न चाण्डाल कोई हीनता रखता है। न गाय धर्म है और न कुत्ता अधर्म। उनकी दृष्टि शरीर पर नहीं पड़ती बल्कि हृदयस्थित आत्मा पर पड़ती है। अन्तर इतना ही है कि कोई परमात्मा के अधिक निकट है तो कोई थोड़ा दूर; किन्तु हैं सभी उसी पद के प्रत्याशी। जिन विप्रों की चरणों की पूजा भगवान राम ने बतायी, उन सर्वज्ञ विप्रों का यही स्वरूप है।

भगवान महावीर

भक्ति-पथ में प्रवेश के साथ ही जीव का जो क्रमोन्नत विकास है, उसी का नाम वर्ण है। जो आकृति उभरकर सामने आती है उसी का चित्रण प्रत्येक महापुरुष की वाणी में मिलता है। अतः ढाई हजार वर्ष से भी अधिक समय पूर्व भगवान महावीर ने भी उसी सत्य को सम्बोधित किया जो पूर्वातिपूर्व वैदिक ऋषियों से लेकर वाल्मीकि, व्यास इत्यादि महापुरुषों ने कहा। जो गीता का उद्घोष है, भागवत का जो निर्णय है ठीक वही अनुभूति भगवान महावीर को तपस्या द्वारा प्राप्त हुई। ब्राह्मण के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार अक्षरशः वही है जो उनके पूर्वपुरुष भगवान ऋषभ, भगवान श्रीकृष्ण के थे। 'उत्तराध्ययन' के 'यज्ञीय सूत्र' में अपने प्रिय शिष्य गौतम की अनेक शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा-

१) जो प्रिय स्वजनादि के आने पर आसक्त नहीं होता और न जाने पर शोक करता है, जो आर्यवचन अर्हत् वाणी में रमण करता है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।
२) जो राग, द्वेष और भय से मुक्त है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।
३) जो देव, मनुष्य और तिर्यक् सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।
४) जिस प्रकार जल से उत्पन्न कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो काम भोगों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।
५) जो रसादि में लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन-निर्वाह करता है, जो गृहत्यागी है, जो अकिंचन है, गृहस्थी में अनासक्त है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।
६) जो स्वजाति की आसक्ति तथा बान्धवों को छोड़कर पुनः उसी में आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

७) कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य तथा कर्म से ही शूद्र होता है।

८) अर्हत् ने इस तत्त्वों का निरूपण किया है। इसके द्वारा जो साधक पूर्ण होता है, कर्मों से मुक्त होता है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

९) जो अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

१०) सच्चरित से ही सच्चा ब्राह्मण होता है। जाति से कोई मानव ब्राह्मण नहीं होता। न जाति से कोई क्षत्रिय है, न वैश्य है, न शूद्र है।

इस प्रकार भगवान महावीर की वाणी पूर्व महापुरुषों के पदचिन्हों का अनुसरण तथा गीता का अनुवाद मात्र है। राजकुमार तथा विज्ञ विद्वान् होते हुए भी जनता के लिए उन्होंने अर्द्ध-मागधी भाषा का प्रयोग किया। अन्तर केवल भाषा का है, भाव का नहीं। अतः सबको आत्मदर्शन के लिये सक्रिय होना चाहिए।

भगवान बुद्ध

महावीर स्वामी के समकालीन महामानव गौतम बुद्ध की महिमा का इतना प्रसार हुआ कि आधा विश्व उनका अनुयायी हो गया। वह राजकुमार थे, विद्वान् थे फिर भी उन्होंने बोलचाल की भाषा क्षेत्रीय पाली भाषा का प्रयोग अपने उपदेशों में किया। उन महापुरुष ने वही निर्णय दिया जो भागवत का है, जो गीता का है, उपनिषदों का है, परम्परागत महापुरुषों का है। अश्वघोष के बुद्धचरित में उनकी उक्ति है कि चालीस उपवासों के उपरान्त रात्रि के चौथे पहर में मैंने उस अविनाशी पद को पाया, जो मुझसे पूर्व के ऋषियों ने पाया था। मैंने सर्वज्ञता प्राप्त की। ठीक यही गीता में है कि आत्मा ही अविनाशी है। वही सर्वज्ञ है। हमने उस सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया, उस अविनाशी पद को प्राप्त किया जो मुझसे पहले के महर्षियों ने पाया। गौतम के पहले क्या बौद्धधर्म था? तो गौतम के पूर्व ऋषि कौन थे? वही जो हमारे-आपके थे- वही राम, वही कृष्ण, वही वैदिक मनीषी। उनसे भिन्न गौतम के पास कुछ भी नहीं है। ईश्वर एक, पाने की विधि एक, अनुभूति एक, तो दूसरा कोई कहे भी तो क्या? आन्तरिक योग्यता के स्थान पर समाज में जन्मना वर्ण-निर्धारण की पनप रही प्रवृत्ति पर कड़ा प्रहार उनके उपदेशों में है।

मज्झिम निकाय के वासेट्ठ सुत्त (२.५.८) में कथा आती है कि एक बार वशिष्ठ तथा भरद्वाज दो छात्रों में वार्त्ता चल पड़ी कि ब्राह्मण कैसे होता है? एक जन्म से तो दूसरा कर्म से ब्राह्मण होना प्रतिपादित कर रहा था। जब दोनों एक दूसरे को समझा न सके तो भगवान बुद्ध के पास निर्णय के लिए गये। भगवान ने बताया कि जिस प्रकार कीट-पतंग, छोटे-बड़े चौपाये, रेंगनेवाले जन्तु, जलचर, आकाशचारी जीवों की पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं इस प्रकार का भेद मनुष्य-मनुष्य में नहीं है। न केश में न सिर में, न कान

में न आँख में, न मुख में न नासिका में, न पीठ में न पेट में, न गोप्य स्थान में, न मैथुन इत्यादि में ही जाति का कोई पृथक् चिह्न मिलता है। मनुष्यों में जो गोरक्षा से जीविका करता हो, वशिष्ठ! ऐसे को कृषक जानो, ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में जो पुरोहिती से जीता है उसे याचक जानो, ब्राह्मण नहीं। माता और योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं उसे ब्राह्मण नहीं कहता। मैं ब्राह्मण उसे कहता हूँ जो अपरिग्रही है। कमल के पत्ते पर जल और आरे की नोंक पर सरसों की भाँति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। तप, ब्रह्मचर्य, संयम और दम इनसे ब्राह्मण होता है।

गुरु नानक

ठीक इसी प्रकार गुरु नानक अपने समय के सर्वोपरि महापुरुष थे। स्थिति मिलने के पश्चात् उन्होंने मक्का मदीना तक की यात्रा की थी। भाई मरदाना इत्यादि अनेक मुसलमान भी उनके शिष्य थे। उनका कथन है- **'एक नूर ते सब उपज्या है, कौन भला को मन्दा।'** अतः वह मानवमात्र में भेदभाव नहीं मानते थे। उनका विचार था कि **'बन्दे एक खुदाय के हिन्दू मुसलमान। झगड़ा राम रहीम करि लड़दे बेईमान।।'** सर्वव्यापी परमात्मा राम के वह अनन्य भक्त थे। उनकी वाणी है- **'राम नाम उर में गह्यो, ताके सम नहिं कोय। जा सुमिरत संकट कटै, दरस तिहारो होय।।'** जिसके हृदय में राम-नाम उतर आया, उसके समान कोई नहीं है। इसी राम-नाम के सुमिरन से प्रभु आपका दर्शन हो जाता है। उन्होंने वही शिक्षा दी जो सभी ऋषियों ने कहा है, जो सद्गुरुओं की शिक्षा है, सीख है फिर भी लोग गुमराह करने में लगे हैं कि सिख अलग धर्म है। ब्राह्मण के बारे में गुरु नानक ने कहा- **'योग शब्द गियान शब्द ते ब्राह्मण'**- ज्ञान शब्द, योग शब्द- इनका जो मर्म जानता है वह ब्राह्मण है। जो योग की विधि जानता है वह ब्राह्मण है। जानकर चलनेवाला है वह ब्राह्मण है। ब्राह्मण योगपथ की अवस्था है। ठीक वैसा ही निर्णय, जैसा **'शमो दमस्तपः शौचम्'** *(गीता, १८/४२)* इत्यादि गीता का निर्णय है।

भजन द्वारा अर्जित योग्यताओं की नकल में जन्म द्वारा निर्धारित सामाजिक जाति-पाँति को धर्म मान लेने का व्यामोह कुछ अंशों में श्रीकृष्णकाल में भी था। युद्ध के मैदान में अपने स्वजनों को देख अर्जुन काँपने लगा। युद्ध से विरत होने के लिए वह धर्म की दुहाई देने लगा कि **'कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।'** *(गीता, १/४०)*- भगवन्! कुलधर्म सनातन धर्म है। **'उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।'** *(गीता, १/४३)*- जाति धर्म है, यही शाश्वत है। अर्जुन ने कुलक्षय, पिण्डोदक-क्रिया का लोप, वर्णसंकर इत्यादि चार-पाँच आशंकाओं को गिनाया, जिसमें उसने जाति का भी नाम लिया कि जाति धर्म है। इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने हँसते हुए कहा कि **'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।'** *(गीता, २/२)* तुझे इस

विषम-स्थल में यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ? जितना कुछ अर्जुन ने कहा था, भगवान ने उसे अज्ञान ठहराया। अर्थात् जाति का व्यामोह भी धर्म नहीं अज्ञान है। इसके पश्चात् भगवान ने धर्म की विशद व्याख्या दी, जिसके लिए देखें 'यथार्थ गीता'।

संक्षेप में गीता (२/१६-२९) में योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं है। परमात्मा ही सत्य है, शाश्वत है, अजर-अमर-अपरिवर्तनीय और सनातन है; किन्तु वह परमात्मा अचिन्त्य और अगोचर है, चित्त की तरंगों से परे है। चित्त का निरोध करके उस परमात्मा को पाने की विधि-विशेष का नाम यज्ञ है। यज्ञ योग साधना की विधि है। इस यज्ञ को चरितार्थ करना, कार्यरूप देना ही कर्म है, दायित्व है। इसे भली प्रकार आचरण में लाना ही आपका धर्म है। इसी कर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। *(गीता, २/४०)*

अर्जुन! इस कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं है। इस कर्मरूपी धर्म का किञ्चित् मात्र साधन जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार करनेवाला होता है अर्थात् इस कर्म को कार्यरूप देना ही धर्म है।

इस नियत कर्म (साधन-पथ) को साधक के स्वभाव में उपलब्ध क्षमता के अनुसार चार भागों में बाँटा गया है। कर्म को समझकर मनुष्य जब से आरम्भ करता है, उस आरम्भिक अवस्था में वह शूद्र है। क्रमशः विधि पकड़ में आयी तो वही वैश्य है। प्रकृति के संघर्ष को झेलने की क्षमता और शौर्य आ जाने पर वही व्यक्ति क्षत्रिय और ब्रह्म के तद्रूप होने की क्षमता, ज्ञान (वास्तविक जानकारी), विज्ञान- ईश्वरीय वाणी का मिलना, उस अस्तित्व पर निर्भर करने की क्षमता- ऐसी योग्यताओं के आने पर वही ब्राह्मण है। इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण (गीता, अध्याय १८/४६-४७ में) कहते हैं कि स्वभाव में पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार कर्म में लगना स्वधर्म है। हल्का होने पर भी स्वभाव से उपलब्ध स्वधर्म श्रेयतर है और क्षमता अर्जित किये बिना ही दूसरों के उन्नत कर्म का परिपालन भी हानिकारक है। स्वधर्म में मरना भी श्रेयस्कर है; क्योंकि वस्त्र बदलने से बदलनेवाला तो बदल नहीं जाता। उसके साधन का क्रम वहीं से पुनः आरम्भ हो जायेगा, जहाँ से छूटा था। सोपानशः चलकर वह परमसिद्धि अविनाशी पद को पा लेगा।

इसी पर पुनः बल देते हैं कि जिस परमात्मा से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, जो सर्वत्र व्याप्त है, स्वभाव से उत्पन्न हुई क्षमता के अनुसार उसे भलीभाँति पूजकर मानव परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् निश्चित विधि से एक परमात्मा का चिन्तन ही धर्म है (१८/४६)।

धर्म में प्रवेश किसको है? इसे करने का अधिकार किसको है? इसे स्पष्ट करते हुए योगेश्वर ने बताया कि-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। *(गीता, ९/३०)*

अर्जुन! अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मुझे भजता है (अनन्य अर्थात् अन्य न), मुझे छोड़कर अन्य किसी को भी न भजकर केवल मुझे भजता है तो **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** *(गीता, ९/३१)*- वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, उसकी आत्मा धर्म से संयुक्त हो जाती है। अतः श्रीकृष्ण के अनुसार धर्मात्मा वह है जो एक परमात्मा में निष्ठा से लग गया है, धर्मात्मा वह है जो एक परमात्मा की प्राप्ति के लिए नियत कर्म का आचरण करता है, धर्मात्मा वह है जो स्वभाव से नियत क्षमता के अनुसार परमात्मा की शोध में संलग्न है।

अन्त में निर्णय देते हैं कि **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** *(गीता, १८/६६)*- अर्जुन! सारे धर्मों की चिन्ता छोड़कर एक मेरी शरण में हो जा। अतः एक परमात्मा के प्रति समर्पित व्यक्ति ही धार्मिक है। एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करना ही धर्म है। उस एक परमात्मा की प्राप्ति की निश्चित क्रिया को करना धर्म है। इस स्थिति को प्राप्त महापुरुष, आत्मतृप्त महापुरुषों का सिद्धान्त ही सृष्टि में एकमात्र धर्म है। उनकी शरण में जाना चाहिए कि उन महापुरुषों ने कैसे उस परमात्मा को पाया? किस मार्ग से चले? वह मार्ग सदा एक ही है, उस मार्ग से चलना धर्म है।

धर्म मनुष्य के आचरण की वस्तु है। वह आचरण केवल एक है- **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।'** *(गीता, २/४१)* इस कर्मयोग में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है- इन्द्रियों की चेष्टा और मन के व्यापार को संयमित कर आत्मा में (परात्पर ब्रह्म में) प्रवाहित करना *(गीता, ४/२७)*।

गीता के अनुसार धर्म की सही व्याख्या को मान्यता दी जाय तो उसके अन्तराल में विभिन्न जातियाँ फूलेंगी-फलेंगी, विकास करेंगी। पूर्वजों ने कोई गौरव अर्जित किया, कोई पदक पाया, वह सम्मान ही तो ये जातियाँ हैं। पूर्वजों के अर्जित सम्मान को त्यागने की आवश्यकता नहीं है, उस वंश-मर्यादा की रक्षा भी की जाय; किन्तु इसे ही शाश्वत-सनातन न कहें। शाश्वत-सनातन तो उसे ही कहें जिसे भगवान ने कहा, पूर्व महापुरुषों ने जिसे पाया। उसे समझने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण में जायँ।

।। बोलिये सद्गुरुदेव भगवान की जय।।

आर्य

जो सन्मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ है, आर्य है। – गीता

भाग १ : 'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' देखें।
भाग २ : प्रस्तुत लेख।

भारतवर्ष को अत्यन्त प्राचीन वैदिक युग से ही आर्यावर्त कहलाने का गौरव प्राप्त है, जिसका आशय है आर्यों की निवासस्थली! एक ईश्वर के प्रति आस्थावान् एवं उसकी प्राप्ति की विहित क्रिया का आचरण करनेवाले आर्य कहे जाते थे, जिनकी बहुतायत इस पुण्यभूमि में थी। धार्मिक अनुष्ठानों का संकल्प लेते समय 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैक क्षेत्रान्तर्गते' कहकर इस व्रत के स्मरण की परम्परा थी; किन्तु भारत में प्रवेश करनेवाली यूरोपीय जातियों ने 'फूट डालो और राज्य करो' की योजना के अन्तर्गत यह भ्रम सृजित करने का प्रयास किया कि गोरे रंग की एक प्रजाति 'आर्य' उन विदेशियों की तरह भारत में आयी, जिसने यहाँ के मूल निवासी काले द्रविड़ों को दक्षिण भारत की ओर खदेड़ दिया। इसी विचारधारा का पल्लवन करके कुछेक यहाँ तक कहने लगे हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ (सवर्ण जातियाँ) आर्य हैं जो बाहर से आई हैं, इसलिए उन्हें अब यह देश छोड़कर चले जाना चाहिए। यहाँ के मूल निवासी तो चमार इत्यादि दलित एवं पिछड़ी जातियाँ हैं। ऐसे विषाक्त परिवेश में विचारणीय है कि आर्य कौन है? आर्यत्व का निर्धारण कैसे होता है?

सम्प्रति समग्र भारत में इस प्रश्न को लेकर उलझन है कि भारत में आर्य कहाँ से आये? वास्तविकता तो यह है कि आर्य न कहीं से आता है और न जाता है। आर्य आप में से ही कोई हो जाता है। विचारणीय तो यह है कि अंग्रेज भारत आये तो उन्होंने ही इस प्रश्न को जन्म दिया। इससे पहले मुगल तुर्क अथवा राजपूत युग में ऐसे प्रश्न की कल्पना तक नहीं थी। तत्सामयिक किसी भी इतिहासकार ने ऐसा प्रश्न नहीं उछाला कि आर्य कहीं बाहर से भारत आये।

लार्ड मैकाले की प्रसिद्ध उक्ति है कि किसी देश या जाति को सदा-सदा के लिये गुलाम रखना है तो उसकी भाषा, उसका इतिहास, उसकी संस्कृति नष्ट कर देनी चाहिए। इसी मानसिकता की परिणति यह प्रश्न है कि आर्य कहाँ से आए? इस कुत्सित योजना का सूत्रपात इटैलियन व्यापारी फिलिप्पो ने किया, जिसने १५८३ से १५८८ ई. तक भारत में अपने पाँच वर्षों के निवास के उपरान्त पहली बार यह घोषणा की कि भारत की प्राचीन

भाषा संस्कृत तथा यूरोप की कुछ प्रमुख भाषायें निश्चित रूप से सम्बन्धित हैं और इस सम्बन्ध का कारण उनका एक उद्गम स्थान है अर्थात् आर्यों के पूर्वज भी यूरोप से ही आये थे। मूलतः दोनों एक ही नस्ल के हैं।

संगठित रूप से इस विचारधारा को गति प्रदान किया सर विलियम जोन्स ने, जिन्होंने १७८४ ई. में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के समय संकेत किया कि ग्रीक, लैटिन, ग्रोथिक, संस्कृत एवं फारसी भाषाओं का- जिन्हें विद्वानों ने इण्डो-यूरोपियन या इण्डो-जर्मन भाषा-परिवार का नाम दिया- मूलस्थान एक है। इस उद्बोधन ने विद्वानों को एक नई दिशा प्रदान की। फलतः प्रजातीयता के निर्धारण में भाषा एक महत्वपूर्ण साधन बन गई। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मोक्षमूलर ने, जो १८५० ई. में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के प्राध्यापक नियुक्त किये गये, बताया कि 'आर्य' शब्द प्रजाति का बोधक नहीं अपितु मात्र भाषासूचक शब्द है और जब हम प्रजाति के रूप में आर्य शब्द का व्यवहार करते हैं तो इसका अर्थ है- वह प्रजाति, जो आर्य-भाषा भाषी है।

डॉ. गाइल्स का विचार था कि आर्यों का आदि निवास आस्ट्रिया-हंगरी का मैदान या डेन्यूब नदी की घाटी रही होगी; क्योंकि आर्य लोग अश्व, गाय, भेड़, बकरी आदि पालते थे और खेती करते थे। वहाँ पशुओं को चराने और कृषियोग्य भूमि थी। इन्हीं सुविधाओं के आधार पर पार्किन महोदय ने रूस के दक्षिणी मैदान को आर्यों की आदिभूमि होने की सम्भावना व्यक्त की, तो कुछ विद्वानों ने इसी आधार पर पोलैण्ड और कैस्पियन सागर के बीच आर्यों के आदि निवास को रेखांकित करने का प्रयास किया।

एडवर्ड मेयर का विचार है कि आर्यों का मूल निवास काकेशस पर्वत या पामीर के पठार के पास रहा होगा; क्योंकि इसी क्षेत्र के एल अमर्ना नामक स्थान की खुदाई में एक रथ प्राप्त हुआ है जो आर्यों का बताया जाता है, जिसके धुरे पर भोजपत्र बँधा है जो काकेशस पर्वत पर ही पाया जाता है। अतः आर्य पहले यहीं रहते रहे होंगे।

टर्की के बोगाज कोई नामक स्थान पर उत्खनन में कुछ अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें वरुण, मित्र, इन्द्र देवताओं के नाम तथा एक, तेर, पंज, सत्त आदि संख्याएँ उत्कीर्ण हैं। देवताओं के मिलते-जुलते नामों से मोक्षमूलर (मैक्समूलर) महोदय ने आर्यों का निवास मध्य एशिया होने की सम्भावना व्यक्त की।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि सुनहले बाल भारोपीय जाति की विशेषता थी, जिनका स्थान जर्मन प्रदेश रहा होगा। यूनानी देवता अपोलो के बाल सुनहले बतलाये गये। रोमन शासकों के बाल भूरे थे। प्रसिद्ध योगप्रणेता व्याकरणाचार्य महर्षि पतंजलि के

अनुसार भारत के ब्राह्मणों के बाल सुनहले भूरे हैं, अतः जर्मनी को आर्यों का मूल मानना उचित होगा।

प्रजाति के रूप में आर्यों के मूल निवास के अन्वेषकों के अनुसार आर्यों ने वायु, सूर्य, विद्युत, चन्द्रमा, अग्नि इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को विचित्र कार्य करते देख भय से इन्हें देवता मान लिया। यही कारण है कि भारत में देवता अधिक हैं। सैन्धव सभ्यता के प्रणेता अनार्य थे, जो सिन्धुघाटी के मूल निवासी थे। आर्यों और अनार्यों के दीर्घकालीन सहवास के फलस्वरूप दोनों में विचारों का आदान-प्रदान हुआ। अनार्यों के धर्म, उनकी पूजा-पद्धति एवं अन्ध-विश्वासमूलक जादू-टोने इत्यादि ने आर्यों पर क्रमशः अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ कर दिया। आर्य लोग न चाहते हुए भी अनार्य संस्कृति से अछूते नहीं रह सके। उनके चौथे वेद अथर्ववेद में तो जादू-टोने, भूत-प्रेत एवं अभिचार ही मन्त्रों के वर्ण्य विषय बन गये। जान पड़ता है कि इस सांस्कृतिक आमेलन में अनार्यों की वैराग्यमार्गी परम्परा ने आर्य मनीषियों को पर्याप्त प्रभावित किया और ब्राह्मणकाल में ही तप और त्याग की ओर आर्यों का आकर्षण बढ़ने लगा। फलतः आर्यों ने यति, मुनि आदि के रूप में वनों के शान्त वातावरण में अपना आश्रम बनाकर रहना प्रारम्भ कर दिया और ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखे।

उपर्युक्त अनुच्छेद से यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्य मूर्ख थे। सिन्धुघाटी में आने के पश्चात् ही आर्य कुछ सभ्य हुए। जादू-टोना, वैराग्यमार्गी परम्परा इत्यादि उन्होंने अनार्यों से सीखा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कृति को मिटाकर हीनता जगाने का प्रयास है। भारत के जिस-जिस कबीले को आज के विद्वान् अनार्य कहते हैं वे सब पिछड़े हुए हैं। उन्हीं से सारी पद्धतियों को सीखकर ये आर्य सुसभ्य हो गये और वे अनार्य अपनी कल्याणमार्गी परम्परा को ही ऐसा भूले कि उन्हें सिखाने पर भी नहीं आता। उनके लिए उन्हीं की परम्परा का पालन करने पर रोक भी लग गई कि शूद्र वैराग्य न ले। पाश्चात्य मनीषी जताना चाहते हैं कि आर्य न केवल मूर्ख अपितु कायर भी थे, जो क्षुद्र प्राकृतिक शक्तियों से भयभीत होकर उन्हें देवता मान बैठे या वे प्रकृति के सत्यों से अवगत भी न थे। कहना न होगा कि आर्य-चरित्र को लेकर भी पाश्चात्य विचारकों ने जो कुछ भी प्रचारित किया वह उनकी दुरभिसन्धिपूर्ण मानसिकता का ही द्योतक है।

सारांशतः पाश्चात्य विद्वानों में किसी ने भाषा और पुरातत्त्व को, तो किसी ने पेड़-पौधों, पशुओं या रहन-सहन को आधार बनाकर और इससे भी अपने मन्तव्य की पुष्टि न देख कतिपय विद्वानों ने शरीर-विज्ञान को माध्यम बनाकर यह अटकल लगाया कि आर्य एशिया माइनर में सीरीया या टर्की से, यूरोप में आस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी, यूक्रेन

(रूस) इत्यादि देशों में से कहीं से भारत आये होंगे। इस तरह के पचीसों मत हैं जिनमें दस-बारह अधिक मान्यता प्राप्त हैं; किन्तु जिन लोगों ने आर्य-जीवन जिया, जो आर्य थे, उन्होंने भी तो आर्य शब्द का आशय बताया है, आर्य-संस्कृति का परिचय प्रस्तुत किया है, आर्यत्व पर भरपूर बल दिया है। उनके आँखों देखे उपदेशों को, जैसे- भगवान श्रीकृष्ण, भगवान महावीर, भगवान बुद्ध के वक्तव्य, महात्मा वाल्मीकि का आदिकाव्य रामायण, महर्षि व्यासरचित महाभारत इत्यादि आर्षग्रन्थों में स्थान-स्थान पर अनुस्यूत आर्य शब्द के भाव को किसी ने नहीं लिया। इनमें से किसी एक का भी उद्धरण इन यूरोपीय विद्वानों ने प्रस्तुत नहीं किया।

भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार, जो एक परमात्मा के चिन्तन में दृढ़ता के साथ प्रवृत्त है, आर्य है। सन्मार्ग पर जो दृढ़तापूर्वक आरूढ़ है, वह आर्य है। महाभारत-युद्ध के आरम्भ में अर्जुन कुल की रक्षा को ही सनातन-धर्म मानकर उसके लिए विकल था, जिसकी भगवान ने **'अनार्यजुष्टम्'** कहकर भर्त्सना की कि अर्जुन! यह अनार्यों का आचरण तूने कहाँ से पकड़ लिया। न तो आर्य-पुरुषों का यह आचरण है, न कीर्ति करनेवाला और न कल्याण ही करनेवाला है। जिसमें कीर्ति नहीं, कल्याण नहीं, जो आर्य-पद्धति नहीं तब सिद्ध है कि यह अज्ञान है। सनातन एकमात्र आत्मा है। जो आत्मा की शोध में लगा है, आर्य है।

भगवान बुद्ध के अनुसार भी यही है कि जो मरणधर्मा होने पर भी अमरत्व की शोध करता है, आर्य है। दुःखों में रहते हुए भी शाश्वत सुख की तलाश करता है, आर्य है। यह आर्यत्व की अधिकतम कसौटी है; किन्तु इसकी शुरुआत जहाँ से है वह निम्नतम सीमा है आर्य-संस्कारों का बीजारोपण (आर्य-सत्कर्मों की एक लम्बी शृंखला), जिसका पालन आर्य-संस्कृति है।

आर्य-संस्कृति का परिचय ऋषि वाल्मीकि के रामायण में आद्योपान्त भरपूर है। कुम्भकर्ण को देख जब वानरी सेना भागने लगी, तब युवराज अंगद ने अपने सैनिकों को आश्वस्त करते हुए कहा, ''शूरवीरो! हमारे पूर्वजों ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी थीं। उन्होंने विजय प्राप्त की थी अथवा वीरगति को प्राप्त हुए थे; किन्तु कभी पीठ नहीं दिखाई। हम उन्हीं आर्यों की सन्तान हैं। आज पीठ दिखाने से हम अनार्य कहे जायेंगे। शूरवीरो! लौट आओ। अपने सम्मान को मत खोओ। काल भी होगा तब भी हम शत्रु को जीतेंगे या वीरगति प्राप्त करेंगे।'' सेना लौट आयी। यह थी आर्य-संस्कृति। आर्य कभी पीठ नहीं दिखाता।

पंचवटी में सुवर्ण मृग की आवाज सुनकर भी लक्ष्मण को राम की सहायता में जाता न देख सीता ने फटकारा- ''कपटी अनार्य लक्ष्मण! तुमको धिक्कार है। तू भरत के

इशारे पर बड़े भाई की भक्ति का अभिनय कर पीछे लग गया कि राम संकट में पड़ेंगे तब सीता को मैं प्राप्त कर लूँगा।'' लक्ष्मण का धैर्य खो गया और उन्हें जाना पड़ा। यह आर्य-संस्कृति है। आर्य कभी चरित्र से नहीं गिरता।

राम आर्य थे। आदिकवि ने स्थान-स्थान पर आर्य शब्द से उन्हें सम्बोधित किया है। हिन्दी में रामकथा के अमरप्रणेता गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी राम के लिए इस शब्द का प्रयोग किया- **'आरज सुत पद कमल बिनु, बादि जहाँ लगि नात।'** *(मानस, २/६७)* आर्य-संस्कृति की एक झलक गोस्वामीजी के रामचरितमानस में देखें- **'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ।।** *(मानस, १/२३०/५)* सीता के रूप को देख राम के मन के भाव कुछ बदल गये। तब निष्कपट निश्छल राम ने लक्ष्मण से कहा कि भाई लक्ष्मण! यह सब कारण तो विधाता ही जानें। वैसे हमें अपने मन पर पूर्ण भरोसा है जिसने भूलकर भी कुपन्थ पर कदम नहीं रखा। यह आर्यों का सहज स्वभाव है। **'राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।।'** *(मानस, १/२३६/२)* निष्कपट भाव से सम्पूर्ण प्रकरण राम ने विश्वामित्रजी से भी कह सुनाया। यह आर्य-संस्कृति है कि आर्य कपटरहित, छलरहित, मन-अन्तःकरण से सरल, परोपकारी, चरित्रवान् और शरणागतवत्सल होता है।

आर्य शब्द की ठीक यही परिभाषा भगवान महावीर ने की है। उनके अनुसार जो मनुष्य मन से सरल है, आचार से सरल है, कपटरहित है, परोपकारी है, जो अपने दोषों को नहीं छिपाता तथा जिसकी यथार्थ दृष्टि है वह आर्यत्व प्राप्त है। वह शुद्ध आर्य है। जो मनुष्य वक्र है, वाणी एवं आचार से वक्र है, मन से कपटी है, मिथ्या दृष्टि है- वह अनार्य है। आर्य एक दृष्टि का नाम है, निष्ठा है, स्थिति है न कि कोई प्रजाति। आपका एक सगा भाई आर्यत्व प्राप्त कर आर्य हो सकता है और दूसरा आर्यत्व च्युत असुर भी हो सकता है।

आर्यों का भाई-भाई के प्रति सहृदयता, मित्र-व्यवहार, अतिथि-सत्कार, स्त्री-पुरुष के निष्ठापूर्ण सम्बन्ध इत्यादि जीव-जगत् में मिलनेवाले सम्पूर्ण व्यवहार निश्छल और आदर्श होते हैं। वे पड़ोसी का हित करनेवाले होते हैं। माता-पिता, गुरुजनों की सेवा, रोगी तथा वृद्धजनों की निस्वार्थ परिचर्या, दूसरों का दुःख बाँट लेना, सहज कल्याण करना आर्यत्व प्राप्त पुरुषों का रहन-सहन है। इसलिए भारत ने परमकल्याण का ही उपदेश दिया, किसी की सभ्यता सीखने का उनके लिए कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही हमारे पूर्वजों ने **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'**- सम्पूर्ण विश्व को आर्य बना डालने का व्रत लिया था। ये सत्यद्रष्टा इसीलिए विश्वभर में

फैल गये। जहाँ भी वे गये, वहाँ की क्षेत्रीय भाषा को समझा और उसके माध्यम से आर्य-प्रणाली ईश्वर-पथ का उपदेश किया। यही कारण है कि भारत की संस्कृत भाषा और प्राचीन भारतीय सभ्यता से मिलते-जुलते पुरातात्विक अवशेष विश्वव्यापी हैं न कि चन्द शब्द कहीं मिल गये तो वहाँ से आये। लोग इतना भी नहीं सोचते कि आर्य वहाँ से पूरी संस्कृत भाषा ही बाँध लाये और वहाँ किंचित् शब्द ही बचे। आर्य वेद भी लेते आये और बचे परिवार के लिये कुछ भी नहीं छोड़ा; क्योंकि विदेशों में केवल भाषा मिली वेद नहीं, इतिहास नहीं, रहन-सहन भी नहीं।

भारतीय मनीषियों ने सोती आत्माओं को जगाया, परमात्मा के रूप में स्थिति दिलायी किन्तु नश्वर भौतिक सामग्रियों के संग्रह में कभी रुचि नहीं ली; क्योंकि यहाँ पर बच्चे-बच्चे को आर्यशिक्षा प्राप्त होने के साथ ही यह ज्ञान हो जाता है कि सृष्टि में क्या सत्य है और क्या झूठ? यह व्यवहार आर्य-भाव में स्वल्प प्रवेश भी जिन-जिन को है उनका है, जिसे आर्य-संस्कृति कहते हैं; किन्तु भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार एक आत्मा ही सत्य है, उसे प्राप्त करने की निश्चित विधि का आचरण ही धर्म है। यह आर्यत्व की पराकाष्ठा है, उसका विशुद्ध स्वरूप है। जब तक अनुभवी सद्गुरु नहीं मिलते, आर्यत्व का यह प्रशिक्षण पूर्ण नहीं होगा।

आश्चर्य है कि विलियम जोन्स के समय से अर्थात् मात्र दो सौ वर्ष से इस प्रश्न को विद्यालयों में पढ़ा-पढ़ाकर बच्चे-बच्चे को गुमराह किया जा रहा है कि आर्य कहाँ से आये? वैदिककाल से गौतम बुद्ध के समय तक विश्व के कोने-कोने में जो आर्य-संस्कृति के ध्वजवाहक रहे, जिनका साहित्य आर्य-संस्कृति का दर्पण है, विभिन्न अटकलों के बीच उनके सुस्पष्ट विचारों को उद्धृत करने का ध्यान एतद्विषयक किसी शोधकर्त्ता को क्यों नहीं आया? ध्यान अवश्य आया होगा किन्तु विदेशी शासकों के गर्हित मन्तव्यों में सहायक न होने, प्रत्युत् विरोधी होने से ऐसे शोध-प्रबन्धों को मान्यता न मिलती इसीलिए लोगों ने सत्य से आँखें मूँद लीं। अतः आप सब सदा-सदा के लिये भूल जायँ कि आर्य कहीं से आता-जाता है। यह शब्द साधनासूचक है, भाषा या प्रजातिसूचक कदापि नहीं। इस विवाद को विराम देकर किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण में जाकर आर्यत्व के गुणों को सीखें। आर्य और देवता, अनार्य और दस्यु पर्यायवाची हैं। किसी समय देवासुर शब्द के साथ ही आर्य एवं दस्यु शब्द प्रचलन में था, कालान्तर में आर्य-अनार्य शब्द उभरकर सामने आया। आर्य शब्द जाति-पाँति, भेदभाव से परे है। विश्वभर का मानव मात्र एक इकाई है। प्रकृति के थपेड़ों से घबड़ाकर विश्व का कोई भी मानव जब आर्यत्व की शोध में निकलता है तो मृत्यु से अमरत्व की ओर, दुःखों से सहज सुख की ओर गमन कर जाता है।

आर्य और अनार्य शब्दों के प्रयोग से हमारे प्राचीन आर्षग्रन्थ भरे पड़े हैं। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार उत्तर भारतीय-दक्षिण भारतीय, सुग्रीव का परिवार, वानर-भालू जातियाँ आर्य थीं। रावण जितना अनार्य था उसके पूर्वज पुलस्त्य, विश्रवा तथा उसका सहोदर विभीषण उतना ही आर्य था।

आर्य और अनार्य शब्द पर भगवान बुद्ध के विचार मज्झिम निकाय के पाशराशि सुत्त में संकलित हैं। उन्होंने समझाया- ''भिक्षुओ! इस संसार में दो प्रकार की खोज (पर्येषण) है- आर्य और अनार्य। अनार्य-खोज उसे कहते हैं, जो स्वयं जातधर्मा (जन्मनेवाला) होते हुए भी जातधर्म का ही पर्येषण करता है। स्वयं जराधर्मा (बूढ़ा होने के स्वभाववाला) होते हुए भी जरा-धर्म का ही आह्वान करता है, व्याधि-मरण-शोक और संक्लेशधर्मा होते हुए भी इन्हीं की खोज करता है। पुत्र और भार्या जातधर्मा है। सोना-चाँदी तथा सृष्टि की सारी भोग-सामग्री जातधर्मा है। इन्हीं में यह पुरुष ग्रसित, मूर्च्छित और आसक्त हो स्वयं जातधर्मा होकर दूसरे जातधर्मा अर्थात् नश्वर पदार्थों की खोज करता है- यह अनार्य-खोज है। किन्तु भिक्षुओ! कोई-कोई पुरुष स्वयं जातधर्मा होते हुए, जातधर्म में दुष्परिणाम देख अजात (जन्मरहित), सर्वोत्तम, मंगलमय निर्वाण की खोज करता है। स्वयं व्याधिधर्मा (व्याधिरहित), मरणधर्मा (मरणरहित), अ-मृत, शोकधर्मा (शोकरहित), स्वयं संक्लेशधर्मा (मलरहित) अति उत्तम योगक्षेम, निर्वाण की खोज करता है- वह आर्य-पथ पर है।''

स्पष्ट है कि आर्य एक पथ है, मन की एक रुझान है, एक निर्धारित दिशा है। आपका एक सगा भाई आर्य, दूसरा अनार्य हो सकता है। एक ही व्यक्ति जीवन के किन्हीं क्षणों में आर्य और दूसरे क्षण अनार्य हो सकता है। कोई कभी आस्तिक तो कभी नास्तिक हो सकता है। जो उस अस्तित्व का उपासक है आस्तिक है, वह आर्य है। निष्ठा के साथ उस परमात्मा को पाने की विधि का आचरण आर्य-शोध है और इसके विपरीत जो अस्तित्वहीन, नश्वर, क्षणभंगुर कलेवरों की कामना करता हुआ भटक रहा है, कहीं-न-कहीं वह अनार्य है। इसी को महापुरुषों ने कभी विद्या और अविद्या कहा, तो किसी ने इसी को अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी, सजातीय-विजातीय, दैवी सम्पद्-आसुरी सम्पद् कहा। यह वृत्ति है, एक प्रवृत्ति है। सत्यशोध की प्रवृत्ति आर्य है, असत्य-शोध की प्रवृत्ति अनार्य है। इसीलिए पूरा संसार आर्य है और पूरा संसार अनार्य है। वेद में है कि **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** अर्थात् विश्व को आर्य बनायें। आर्य बनाने जाते हैं, न कि जन्म या स्थान से कोई आर्य होता है।

सृष्टि का आदिशास्त्र गीता, उसी का विस्तार वेद, गौतम बुद्ध तक सबने आर्य का आशय इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति माना, गुणवाचक माना, न कि भारत के बाहर से आनेवाली

कोई जाति। हाँ, भारत में उस परमात्मा की शोधवाले बहुसंख्या में थे, इसीलिए भारत को कभी आर्यावर्त भी कहा जाता था। जिस समाज का बहुमत एक परमात्मा के लिये संकल्पवान् था, इन्द्रिय-संयम और मन के निरोध के लिये जो प्रतिबद्ध थे; उनका रहन-सहन, खानपान, वेशभूषा, शादी-विवाह, नियम-कानून सब कुछ सुसंस्कृत था, जो आर्य-संस्कृति कहलायी; लेकिन आर्यों की जो मूल क्रिया है उस पर भारतीयों का ही वर्चस्व नहीं है, वह तो विश्व के मनुष्यमात्र की है। अपने को ईसाई माननेवाला भी यदि उस अविनाशी परमात्मा की खोज में तत्पर है, जिसमें अनन्त जीवन है तो वह आर्य है, अन्य कुछ भी नहीं। मुसलमान ही क्यों न हो (सूफी सन्तों की तरह), एक परमात्मा के लिए जो हृदय-मन से प्रयत्नशील है, वह आर्य-शोध पर है, आर्य ही है। आर्यत्व की मुख्य पहचान खानपान, वेशभूषा, रहने का ढंग या सामाजिक व्यवस्था नहीं बल्कि वह योग-क्रिया है जिस पर चलकर जीवात्मा अपने मूल परमात्मा तक की दूरी तय करता है। सनातन साध्य है आर्यों का। जो दैवी सम्पद् से युक्त है, वह आर्य है। जो आसुरी सम्पद् से युक्त है, वह अनार्य है। इन्हीं क्रियाओं का अनुशीलन करनेवाले आर्य कहलाये। आर्य का अर्थ आर्यसमाजी नहीं, आस्तिक है। आर्य एक स्थिति है।

।। ॐ ।।

गो-रक्षा

गो-रक्षा हमारा सनातन-धर्म है किन्तु पशु गाय धर्म नहीं।
– स्वामी अड़गड़ानन्द

बन्धुओ!

आये दिन 'गो-वध बन्द हो' का नारा लगता है। धर्माचार्यों के अनशन और लाखों रुपये के चन्दे इसी के नाम पर होते हैं। इन सबका परिणाम केवल इतना निकला है कि यदि सन् १९४२ में १७,००० गायें नित्य कटती थीं तो आज उनकी संख्या ५०,००० तक पहुँच चुकी है। विचारणीय है कि क्या गाय हमारा धर्म है? क्या इसके समर्थन में हमारे पूर्वजों ने वेद, गीता और रामचरितमानस-जैसे आर्षग्रन्थों में कुछ कहा है? यदि नहीं कहा तो यह एक धोखा है। इससे हम सबको सतर्क हो जाना चाहिए।

गाय को धर्म मानने का दुष्परिणाम समूचे भारत को भोगना पड़ा है। गाय की ओट से निशाना लेकर मुट्ठीभर तुर्कों ने वीर राजपूतों को उनके ही देश में हरा दिया। अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने के लिए इसी गाय को साधन बनाया। स्वतन्त्र भारत के साम्प्रदायिक दंगों के पीछे गाय कहीं-न-कहीं अवश्य रहती है। इस पागलपन के पीछे अवधारणा यह है कि गाय हमारा धर्म है, किन्तु क्या आप इसके समर्थन में प्रमाण दे सकते हैं?

श्रीरामचरितमानस के अनुसार भगवान का अवतार केवल चार के लिए होता है-

गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा सिन्धु मानुष तनुधारी।। *(५/३८/३)*
निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि।। *(४/२६)*
बिप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार।। *(१/१९२)*....इत्यादि।

जनसाधारण में इन दोहे-चौपाइयों का यह अर्थ प्रचलित है कि भगवान जब भी अवतार लेते हैं तो पशुओं में एक पशु गाय-विशेष के लिए और मनुष्यों में एक वर्ग-विशेष ब्राह्मण के लिए लेते हैं और वह द्विज-समुदाय केवल भारत में पाया जाता है। जब गाय और ब्राह्मण पर विपत्ति आती है- **'सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।'** *(१/१२०/७)* तभी भगवान अवतार लेते हैं। यह विपत्ति ब्राह्मणेतर जाति ही तो डालेंगी, भगवान उनको मारकर गो और द्विज को निर्भय बनाते हैं। तब हर देश, हर जाति के लोग ऐसे भगवान से कौन-सी आशा लगाये बैठे हैं? तो क्या भगवान सबके लिए नहीं

हैं? यह रामचरितमानस कहना क्या चाहता है? विचारणीय है कि भगवान गाय के लिए अवतार तो लेते हैं किन्तु गाय से परे हैं। यह गाय कौन-सा शिकंजा है जिसमें सारा संसार फँसा है, किन्तु भगवान उससे पार हैं। गाय क्या है? यहाँ एक प्रश्न है- **'माया गुन गो पार।'** *(१/१९२)*

मानस के अनुसार भगवान ने अवतार तो लिया किन्तु न तो एक द्विज की सहायता की और न एक गाय ही लंका से छुड़ायी। गोशाला या चरागाह बनवाने पर भी उन्होंने कहीं बल नहीं दिया। अतः आप विचार करें कि वस्तुतः गो है क्या? कहीं कोई भ्रान्ति तो हमारा पीछा नहीं कर रही है?

श्रीरामचरितमानस में लगभग सत्तर बार 'गाय' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें सत्रह बार गाय मात्र दृष्टान्त है, तेरह बार वस्तु है, सम्पत्ति है और लगभग चालीस बार 'गो' शब्द का प्रयोग इन्द्रिय के लिए किया गया है। दृष्टान्त के रूप में 'गाय' का प्रयोग देखें-

अधम निसाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई।। *(३/२८/८)*
भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई।। *(१/१५४/१)*
पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुर बाँभन गाई।। *(२/१४६/३)*

यहाँ गाय मात्र दृष्टान्त है। इसी अर्थ में देखें-

स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान।। *(१/१० ख)*

गाय तो काले रंग की है किन्तु दूध गुणकारी है, इसीलिए सभी उसका पान करते हैं। इसी प्रकार ग्राम्यभाषा में लिखित यह कथा है तो काली गाय की तरह, किन्तु सियराम का यश इसमें अंकित है इसलिए सभी इसे स्वीकार करेंगे। यहाँ गाय मात्र उदाहरण है, धर्म नहीं।

रामजन्म के अवसर पर **'हाटक धेनु बसन मनि'** *(१/१९३)* राजा ने दान में दिया। विश्वामित्र की याचना पर दशरथ ने सहरोष कहा- **'मागहु भूमि धेनु धन कोसा।'** *(१/२०७/३)* जमीन, गाय, धन और खजाना सभी एक श्रेणी में हैं। जनकजी ने **'गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी।।'** *(१/३२५/४)* दहेज में दिया। हाथी-घोड़ा की तरह गाय भी यहाँ एक वस्तु के रूप में है। पिता की मृत्यु के पश्चात् भरतजी **'धेनु बाजि गज बाहन नाना।'** *(२/१६९/८)* का दान देकर विशुद्ध हुए। रामराज्य में भी विदेह नगर की तरह **'मनभावतो धेनु पय स्रवहीं।'** *(७/२२/५)*- मनचाही दूध देनेवाली गायें थीं। कम दूध देनेवाली गायों को कहाँ खपा दिया, यह तो नहीं

बताया लेकिन थी एक भी नहीं। तात्पर्य यह है कि हाथी, घोड़ा, गाय, दास, दासी, वस्त्र, सोना और मणि लेन-देन की वस्तुएँ थीं, धर्म नहीं।

अब आइये उन चालीस प्रसंगों में से कुछेक देखें, जहाँ 'गो' शब्द इन्द्रियों का प्रतीक है-

अनवद्य अखंड न गोचर गो। सबरूप सदा सब होइ न गो।।

(६/११०/छन्द)

जो 'अनवद्य' अर्थात् निर्दोष हैं, अखण्ड हैं, वे न तो गोचर हैं न तो गो ही हैं। अर्थात् वह भगवान न तो इन्द्रियाँ हैं और न इन्द्रियाँ जहाँ से अपनी खुराक पाती हैं वह विषय ही भगवान हैं।

सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।। *(४/६/छन्द)*

आज मेरी आँखों के समक्ष वही भगवान उपस्थित हैं, 'न इति न इति' कहकर श्रुति जिसका गायन करती है, पवन और मन को जीतकर तथा गो को निरस कर मुनि लोग कदाचित् ही उन्हें ध्यान में पाते हैं। गो को निरस करने पर ही वह भगवान ध्यान में आते हैं, तो क्या गाय का दूध, खून तथा हड्डियाँ सुखा दें तब भगवान ध्यान में आएँगे। गो निरस से तात्पर्य क्या है? वास्तव में गो का अर्थ है मनसहित इन्द्रियाँ। जब तक एक भी इन्द्रिय को एक भी विषय में तनिक भी रस मिलता है तब तक ध्यान में वही विषय आएँगे। तब तक ध्यान में भगवान कदापि नहीं दिखायी देंगे, भगवान धूमिल पड़ जायेंगे। तो कैसे करें गो को निरस?

बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरम् ।
गोबिन्द गोपर द्वन्दहर बिग्यानघन धरनीधरम्।। *(३/३१/छन्द)*

उन भगवान का बल अतुलनीय है। वे अनादि हैं, अजन्मा हैं, अव्यक्त हैं, एक हैं, अगोचर हैं अर्थात् इन्द्रियों के विषय नहीं हैं फिर भी इन्हीं इन्द्रियों के बीच हृदय-देश में उनका निवास है इसलिए वे गोविन्द हैं, वस्तुतः 'गो' से परे हैं। वे इन्द्रियों के द्वन्द्व का अपहरण करनेवाले हैं। हम अपनी बुद्धि से इन विकारों का पार नहीं पा सकते। इन्द्रियों में इतनी क्षमता कहाँ कि यथार्थ निर्णय ले सकें, कारण कि-

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।। *(३/१४/३)*

इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय में जहाँ तक मन जाता है, बुद्धि जहाँ तक निर्णय लेती है वह सब की सब माया है, इसलिए आप अपने भरोसे गो को निरस नहीं कर सकते। यदि बुद्धि-विवेक या विचार से कोई निर्णय लेंगे तो वह मायिक क्षेत्र का ही

छोटा-बड़ा निर्णय होगा; क्योंकि बुद्धि इसके आगे का हाल नहीं जानती। इसलिए मनसहित इन्द्रियों (गो) को निरस करने के लिए भगवान का अवतार होता है। भगवान विज्ञान-घन हैं, अनुभवस्वरूप हैं। वह आत्मा से रथी होकर (अनुभव या आन्तरिक निर्देशनों द्वारा) इस पृथ्वी को धारण करते हैं। इसी गाय की सुरक्षा के लिए भगवान अवतार लेते हैं। गो या इन्द्रियजनित विकारों को दूर करने के लिए ही अवतार की व्यवस्था साधक के हृदय में प्रसारित है; किन्तु किसी-किसी लगनशील साधक के हृदय-देश में यह घटना घटित होती है, अवतार होता है।

गीता- गीता का उपदेश करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा- सात्त्विक गुण के कार्यकाल में जो शरीर का त्याग करता है, वह देव इत्यादि उन्नत योनियों को प्राप्त करता है। राजसी गुण की अधिकता में शरीर त्यागनेवाला मनुष्य मानव होता है और तामसी गुण के कार्यकाल में जो शरीर का त्याग करता है वह पशु-पक्षी, कीट-पतंग इत्यादि अधम योनियों को प्राप्त होता है। गीता के अनुसार पशु एक अधम योनि है। जो स्वयं निकृष्ट योनि भोग रही है, वह गाय आपको शाश्वत धाम कैसे देगी? जो आपसे गहरे दलदल में फँसा हो, वह आपको निकाल कैसे सकेगा?

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार, जिस प्रकार पुराने वस्त्र को त्यागकर पुरुष नया वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी यह आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर संस्कारों के अनुरूप नया शरीर धारण कर लेता है। अर्जुन! यह शरीर अनित्य है। जो स्वयं नश्वर है, वह अधम शरीर शाश्वत धाम कैसे देगा? उन शरीरों में से गाय का भी एक शरीर है, वह शाश्वत सनातन कैसे बन जायेगी?

आश्चर्य है कि स्मृतियों और पुराणों में गाय की पूँछ पकड़कर उस वैतरणी को पार करने का विधान है जिसमें कोई तरणी काम नहीं करती। दिनभर में सैकड़ों लोग जिसकी पूँछ पकड़कर (खींचकर) उसे अधमरा बना देते हैं, उन पुजारियों को दया नहीं आती। मरियल-सी गाय आपको वैतरणी पार करा देती है, क्योंकि गाय के शरीर में देवताओं का निवास बताया गया है। यदि गाय के मल-मूत्र, रोम-रोम में देवता भी हैं तब तो गाय और बड़ा धोखा है। डूब मरने के लिये गाय ही काफी थी, जिस पर यह देवता, देवता तो स्वयं बह रहे हैं- **'भव प्रबाहँ संतत हम परे।'** *(मानस, ६/१०६/१२)* आप ही की तरह वे बेचारे बह रहे हैं, आपको क्या तारेंगे?

कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए।।
धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे।।

(मानस, ६/११० छन्द)

इस देव-शरीर को धिक्कार है, आपकी भक्ति के बिना **'भव भूलि परे'**- भव में भूलकर पड़े हुए हैं।

महाभारतकार का निर्णय है कि इस सृष्टि में मनुष्य सर्वोत्कृष्ट है, **'गुह्यं ब्रह्म तदीतं ब्रवीमि। न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।'** श्रीकृष्ण भी कहते हैं, अर्जुन! तू इन्द्रियों को सब ओर से समेटकर मेरा ही चिन्तन कर। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मेरे स्वरूप को प्राप्त होगा। अर्थात् जैसा स्वरूप श्रीकृष्ण का है उसी स्वरूप में अर्जुन भी स्थिर होगा। जो मनुष्य इसी स्वरूप में इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता श्रीकृष्ण उसे आत्महत्यारा कहते हैं। स्पष्ट है कि मानव का परमधर्म परमात्मा तक की दूरी तय करना, उन्हें प्राप्त कर लेना है। मनुष्य-शरीर ही साधन-शरीर है। देवता तक मुक्ति के लिये इसी नर-तन से आशावान् हैं जो बड़े सौभाग्य से आपको प्राप्त है। इस शरीर-प्राप्ति में आप देवताओं से भी बढ़कर हैं; फिर पत्थर, पानी, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आपका धर्म, आपका आदर्श कैसे बन सकते हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण की गीता में दो स्थानों पर गाय का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है। एक तो वैश्यश्रेणी के साधक के लिये गो-रक्षा अर्थात् इन्द्रिय-संयम के सन्दर्भ में और दूसरा तत्त्वदर्शी महापुरुष की रहनी के सन्दर्भ में कि ऐसे पण्डितजन गाय, कुत्ता, हाथी, चाण्डाल में समान दृष्टि रखनेवाले होते हैं। उनकी दृष्टि में न गाय कोई धर्म है और न कुत्ता कोई अधर्म, अथवा न विशालकाय हाथी ही कोई विशेषता रखता है; क्योंकि उस महापुरुष की दृष्टि चमड़ी पर नहीं अपितु इन सबके हृदय में आत्मिक संचार पर पड़ती है।

कुछ लोग गाय के पीछे इसलिए जान देने के लिए तुले हैं कि श्रीकृष्ण गाय चराते थे। यादव वंश में तो जन्म व पालन-पोषण हुआ था, गाय न चराते तो हाथी-घोड़ा कहाँ से पाते! रैदास को चमड़ा मिला, कबीर को सांचा, राम को धनुष, तो क्या यह सब धर्म हो गया? श्रीकृष्ण ने तो एक चंचल बलरूपी धेनुकासुर को मारा। द्वारिकाधीश बनने पर वे एक दिन भी गाय नहीं चरा पाये।

पशु के रूप में गाय धन है- **'गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान।'** प्राचीनकाल में गोधन एक विशिष्ट सम्पत्ति थी। जुताई, बुआई, मड़ाई, खराई, खाद, पानी, प्रदूषण निवारण, पौष्टिक आहार, वाहन एवं भारवाहक साधन के रूप में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध थी। गो-वंश के संवर्द्धन पर समाज की सतर्क दृष्टि थी। जिस प्रकार नागासाकी को फिर से बसाने के प्रयास में उन्तीस बच्चे पैदा करनेवाली महिला को वहाँ मदरलैण्ड की उपाधि से सम्मानित किया गया, कुछ इसी प्रकार गाय की उपयोगिता को

देखते हुए प्राचीनकाल में उसे 'गो माता' की पदवी प्रदान की गयी थी। जिस प्रकार आजकल शेर को राष्ट्रीय पशु घोषित कर उसकी हत्या करनेवाले को दण्डित करने का विधान है, कुछ ऐसी ही व्यवस्था प्राचीनकाल में गाय के साथ थी। आज दण्ड-संहिता है, विधान है; तब स्मृतियाँ थीं।

वस्तुतः विशेषता गाय में नहीं, मानव-मस्तिष्क में है, जिसने गाय में इतनी उपयोगिता का दर्शन किया। विशेषता लोहे में नहीं, अणु में नहीं वरन् उस मनुष्य में है जो उसका प्रयोग कर अन्तरिक्ष में उड़ रहा है, सागर की लहरों पर तैर रहा है। आवश्यकता के अनुरूप नये आविष्कार करना मानव-मस्तिष्क का स्वभाव है। इसलिये आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों के समक्ष गाय धन के स्थान से च्युत हो चली है। गो-वंश के इस अवमूल्यन से मन में कसक चाहे जितनी हो, गाय को धर्म कहनेवाले कितने लोग स्वयं गाय पालते, चराते हैं? सात्त्विक आहार में फलों के पश्चात् गाय के दूध का ही स्थान है तो क्या फल हो गये धर्म? गाय मात्र सम्पत्ति है और सबकी है।

प्राचीनकाल में गाय विनिमय का माध्यम भी थी। आज के रुपयों की तरह उन दिनों गाय के माध्यम से वस्तुएँ आपस में बदली जाती थीं। वैदिककालीन सामाजिक व्यवस्था में इसका व्यवहार अपने उत्कर्ष पर था। इतना ही नहीं, 'सोमयाग' के प्रकरण में तो गाय के द्वारा सोम का लिया जाना आवश्यक माना जाता था। इसका संग्रह समृद्धि का प्रतीक था। अतएव उस समय के बुद्धिजीवी वर्ग ने इन्हें अधिक से अधिक पाने का नयी-नयी स्मृतियों के माध्यम से उद्योग किया। सामाजिक स्मृतियाँ न्यायशास्त्र हैं। दैनिक जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप को पाप की संज्ञा देना और प्रत्येक पाप के निवारण के लिये गाय का दान देने का विधान उन्हीं की देन है। क्योंकि उनकी जीविका के लिये निर्धारित तीन साधन भिक्षा, शीलोंछवृत्ति और दान में से केवल दान का क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है और उन्होंने बढ़ाया भी। नेवला मारने पर कम से कम दस गाय के दान का विधान है मनुस्मृति में। प्रशासन को अपने शिकंजे में रखकर अधिकांश जनता को निरक्षर बनाकर वे ही धर्म के व्याख्याता बन बैठे। उन्होंने परिभाषाएँ बदल दीं, जैसे- ऋषि उसे कहते हैं जो गुरुकुल में पढ़ाता हो। इन्द्रियों के स्थान पर गो का समीकरण पशु में बैठाना, पशु गाय को धर्म के नाम पर उछालना, महाराजाओं या महापुरुषों का नाम लेकर नये-नये नियम गढ़ना उनकी देन है। ये स्मृतियाँ एक वर्ग-विशेष की भोजन-व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं।

स्वतन्त्र भारत के प्रत्येक नागरिक से, जिन्हें सौभाग्य से अब पढ़ने का अधिकार मिला है उन सबसे हमारा निवेदन है कि इन स्मृतियों को एक बार पढ़ें; क्योंकि

न्यायालयों में आज भी हिन्दू-विधि के मामले में हिन्दू धर्मावलम्बियों को न्याय देने के लिए स्मृतियों को ही प्रमाण माना जाता है। त्याग, तपस्या और साधन की तो बात ही छोड़िये, पूरी की पूरी स्मृति में एक बार भगवान का नाम तक नहीं आया है और यह भी लिख मारा कि पाराशर-स्मृति और वेद पढ़ना एक ही बात है। आप इसी को पढ़ें, तब भी आप वेदज्ञ हैं।

इन्हीं स्मृतिकारों की देन है कि आज हम गाय के नश्वर पिण्ड में सनातन-धर्म देखने लगे। हम घरों में रहते हैं, हमारा धर्म बाड़े में बँधा रहता है। चरवाहे तक पेड़ की छाया में रहते हैं और हमारा धर्म जंगल में घूमता रहता है। शेर खा जाता है मर जाता है हमारा धर्म, कोई भी हमारे धर्म को उठा ले जा सकता है। गाय की पूजा आप करें और वह आशीर्वाद दे रही हैं डेनमार्क में, तब तो हमारा धर्म चला गया वहाँ, जहाँ कि गायें दूध देने में कीर्तिमान स्थापित कर चुकी हैं। वहाँ वे पूजा नहीं करते, नस्ल उत्पन्न करते हैं।

यदि गाय धर्म है तो सबसे बड़ा धार्मिक भी वह है जो गाय के अत्यन्त समीप है और वह है ग्वाल परिवार, जिसने सैकड़ों वर्षों, पीढ़ियों से उसी गाय की सेवा की है। आज न उनके शरीर पर वस्त्र है और न खाने को भरपेट अन्न। बुद्धि के स्तर पर मूर्ख-चपाट कहकर उनकी खिल्ली आप ही तो उड़ाते हैं।

न केवल प्राचीन शास्त्रों में अपितु हर युग की सन्तवाणियों में भी गो का अर्थ इन्द्रिय ही है। सन्त कबीर तो गाय को काटने की बात करते हैं-

माता मारि परमपद पावै, पिता बधे सुख होय।
गो काटे बैकुण्ठ सिधावै, सन्त कहावै सोय।।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस संसार में त्रिगुणमयी प्रकृति ही माता है और मैं ही परम चैतन्य बीजरूप पिता हूँ। इसी स्वर में कबीर भी कहते हैं कि जो इस प्रकृतिरूपी माता का दमन कर लेता है वह उस परमपद को पा सकता है। उसी का नाम है पिता और वह पद है परमात्मा। उसकी जानकारी के साथ ही वह भी भिन्न नहीं रह जाता, उसी में विलीन हो जाता है, जहाँ वह सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति, शाश्वत सुख को पा जाता है। लेकिन इन सबकी प्राप्ति के लिए गो काटना ही एकमात्र कुञ्जी है। गो माने इन इन्द्रियों की दौड़ को जो न केवल काट देता है बल्कि संयत इन्द्रियों के स्वरूप को भी जो मिटा देता है, वह उस प्रभु की प्राप्तिवाला होता है और वही सन्त कहलाने का अधिकारी है। यही कारण है कि तुलसीदासजी गोस्वामी कहे जाते हैं।

एक चरवाहे को घड़ी देखना सिखाया गया। वह साढ़े तीन को बता सकता था; किन्तु तीन चालीस नहीं बता सका। बुद्धि का यह हाल है तो उनके पास समृद्धि कहाँ

से होगी। समृद्धि की जड़ तो बुद्धि है, स्मृति है और यहाँ वही साफ है। पशु चराते-चराते मस्तिष्क पशुवत् हो गया, कारण कि संगत नहीं मिली। प्रचार किया जाता है कि गाय समृद्धि और मोक्ष देगी, तो इन्हें क्यों नहीं दे देती? आज तो जो ग्वाल-बाल खुशहाल हैं वे सत्तर प्रतिशत भैंस पालते हैं, गाय नहीं।

शास्त्रों का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि भगवान गो और द्विज के लिए अवतार लेते हैं; किन्तु उस गो का अर्थ गाय नामक पशु नहीं बल्कि मनसमेत इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियजन्य विकारों को दूर करने के लिये भगवान का अवतार होता है। इसी प्रकार जगजामिनी से जब योगी जाग जाता है, गर्भवास की यातनाओं से भिन्न आत्मस्वरूप की ओर अग्रसर होने लगता है, वह द्विज है। द्वितीय जन्म पाया है इसलिए वह द्विज है। इन्हीं भक्तों, साधकों, विरही अनुरागियों के लिए भगवान का अवतार होता है, न कि किसी जाति या पशु के लिए।

हम यह नहीं कहते कि आप गाय को न मानें। जब गो-रक्षा न तो आप्तपुरुषों की वाणी में है और न वरिष्ठ शास्त्रों में ही इसका उल्लेख है, तब क्यों लकीर पीटते हैं? यदि कहीं है तो मानें, बतायें तो हम भी मानेंगे। यदि यह पहले से चली आ रही है जो भूलमात्र है, तो सुधारने के लिए हम सारे समाज का आवाहन करते हैं कि आप साहस के साथ आगे आयें अन्यथा गाय के प्रति यह पूर्वाग्रह हमें, आपको, सबको नष्ट करके छोड़ेगा।

निःसन्देह गाय उपयोगी पशु है, मूल्यवान् धन है, धन की सुरक्षा कौन नहीं चाहेगा? आप रक्षा करें; किन्तु 'गाय धर्म है', 'गाय ही सनातन-धर्म है'- ऐसा कहकर समाज को गुमराह न करें। विचार-विमर्श हेतु आपका एवं आपके सुझावों का सदैव स्वागत है।

विशेष- उन प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषों का यह निर्णय अक्षरशः सत्य है कि भगवान गो और द्विज के लिए ही अवतार लेते हैं; किन्तु न तो उस 'गो' का अर्थ गाय नामक पशु है और न द्विज का अर्थ ब्राह्मण। यदि यही दो अवतार के कारण और रक्षा के पात्र हैं तो अन्य सभी जातियों का क्या होगा? तब तो अन्य सबको परमात्मा का संरक्षण पाने के लिए उनके दर्शन और प्रवेश के लिए किसी अन्य उदार धार्मिक संघ को पकड़ना पड़ेगा; क्योंकि भगवान केवल गाय और ब्राह्मण के लिए ही उतरते हैं किन्तु शास्त्र और पूर्णत्व प्राप्त महापुरुष की वाणी में ऐसा धोखा नहीं है।

शास्त्रों में गो का अर्थ मनसमेत इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ प्रमथन स्वभाववाली हैं। ये सदैव विषयों की ओर भागती हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अनन्त वासनाओं द्वारा

ये विकृत हो जाती हैं, अनन्त योनियों का कारण बन जाती हैं- यही गो-हत्या है। यही सनातन परमात्मा से दूरी पैदा करती हैं इसलिए सनातन की रक्षा का उपाय गो-रक्षा से है। इसके विपरीत शम, दम और नियमों द्वारा इन्द्रियों को इष्ट के आदेश के अनुरूप संयमित रखना गो-रक्षा है। यही हमारा दायित्व है, धर्म है। गो-रक्षा हमारा सनातन-धर्म हैं क्योंकि विवेक, वैराग्य, धारणा, ध्यान, सतत चिन्तन तथा उस परमात्मा के निर्देशनों के अनुसार इन्द्रियों को ढालने से वह सनातन शाश्वत कहलानेवाला अमृततत्त्व विदित हो जाता है।

इष्ट के अनुरूप संयत इन्द्रियाँ ब्रह्मपीयूष धारण करने लगती हैं, उनसे ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति होने लगती है तो यही नन्दिनी है। जिसमें ईश्वरीय आनन्द जागृत है, ऐसे महापुरुष का सान्निध्य और उसके द्वारा निर्दिष्ट टूटी-फूटी सेवा से कामनाओं की स्वाभाविक पूर्ति होने लगती है (जैसा कि पूर्व महापुरुषों की गाय राजा लोग चराया करते थे) और जब यही संयत इन्द्रियाँ ईश्वर के तद्रूप खड़ी हो जाती हैं तहाँ ये सभी कामनाओं की पूर्ति करनेवाली हो जाती हैं इसलिए कामधेनु हैं। उस महापुरुष की इच्छा इच्छा-शक्ति में बदल जाती है। यहाँ तक कि भगवान स्वयं उसकी इच्छा की पूर्ति करने लगते हैं-

जो इच्छा करिहहु मन माहीं।
हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।। *(मानस, ७/११३/४)*

कामधेनु कोई पशु नहीं है जो मनचाहा व्यञ्जन परसने लगे या कल्पवृक्ष वृक्ष जैसा कोई काल्पनिक वृक्ष नहीं है। वस्तुतः **'सुनु सेवक सुरतरु सुर धेनू।'** *(मानस, १/१४५/१)*- भगवान ही सेवक के लिए कल्पवृक्ष और कामधेनु बन जाते हैं। उसकी कामनायें पूरी होने लगती हैं।

निःसन्देह गो-विकृति से (इन्द्रियों की विकृति से) नरक है, अनन्त योनियाँ हैं और गो को भली प्रकार संयत रखने से ही शाश्वत धाम है। इसी पर हमारा शाश्वत, सनातन धर्म टिका है, क्योंकि यही सनातन परमात्मा के उपलब्धि का तरीका है और संसार भर में यही है।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

समीक्षा
शंका–समाधान

श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'पशु गाय धर्म नहीं' पर आक्षेप करते हुए चित्रकूट के एक समादरणीय आचार्य ने पुस्तिका लिखी है, 'सनातन धर्म की विग्रह स्वरूपा गौ माता'। उनका कहना है कि गाय भगवान है, मोक्ष मिलेगा तो गाय से मिलेगा, इसलिए उसकी पूजा करो। अथर्ववेद (९/७/१-२६) का गोपरक अर्थ निकालकर उनका कहना है कि गाय के शरीर में देवता रहते हैं। प्रजापति परमेष्ठी इसकी सींग में है, सिर में इन्द्र, ललाट में अग्नि, गले में यमराज, मस्तिष्क में चन्द्रमा है। ऊपर का जबड़ा द्युलोक, नीचे का जबड़ा पृथ्वीलोक, जीभ बिजली की चमक और मरूत दाँत हैं। पीठ की हड्डी रुद्र हैं, वायु देवता पूँछ हैं। जब यह पूरब की ओर मुँह करके खड़ी होती है तो इन्द्र है, यही जब दक्षिणोन्मुख खड़ी होती है तो यमराज है। इस प्रकार जितने भी देवता हैं, सब गाय में ही निवास करते हैं। गाय क्या है पूरा देव-समूह है। सभी शक्तिशाली देवता इसमें निवास करते हैं। वज्रधारी इन्द्र, दण्डधारी यम उसके अन्तराल में हैं।

उन देवताओं को गाय की रक्षा तो करनी चाहिए, जबकि दक्षिण में ही अधिक कटती हैं। अमृत जिसकी नाभि में है, वे गायें भारत के कई राज्यों में कटती हैं- विश्व की तो बात ही छोड़ें।

वस्तुतः अथर्ववेद के नवम काण्ड, चतुर्थ अनुवाक्, सप्तम सूक्त के इन मंत्रों में किसी गाय का वर्णन नहीं है; क्योंकि इसका तेरहवाँ मन्त्र है- **'क्रोधो वृक्षौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः'**- क्रोध ही इसके दोनों वृक्ष हैं, मन्यु (तेज) दोनों अण्डकोश और प्रजा जननेन्द्रिय है। यह उक्ति गाय-जैसे स्त्रीलिंगीय पशु के लिए चरितार्थ नहीं होती।

ऐसी ही कल्पना अथर्ववेद, नवम काण्ड, चतुर्थ सूक्त (ऋषभ सूक्त) में भी देखने को मिलती है। जिसमें कहा गया है कि देवताओं ने ऋषभ के दोनों कूल्हों में बृहस्पति, पूँछ में वायुदेव, पेडू में सूर्यलोक इत्यादि की कल्पना की। जो ब्राह्मण ऋषभ को प्रसन्न करता है, वह शतयाजी होता है, अग्नियाँ उसे नहीं तपातीं, सभी देवता उसे तृप्त करते हैं।

प्रश्न उठता है - कौन है वह ऋषभ? क्या कोई साँड़? नहीं, क्योंकि यजुर्वेद के सत्रहवें अध्याय के इक्यानवें मन्त्र में चार सींगवाले वृषभ का वर्णन है, तो अथर्ववेद (४/५/१) में **'सहस्रशृङ्गो वृषभो'**- हजारों सींगवाले बैल का वर्णन है। यजुर्वेद

(६/११) में इसका रहस्य स्पष्ट करते हुए बताते हैं, **'इन्द्रस्य रूपमृषभो!'** अस्तु, यह इन्द्र ऋषभ या वृषभ परमात्मा है, कोई बैल नहीं और गाय तो कदापि नहीं।

ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार गाय के शरीर में तो कोई देवता रहता ही नहीं। किसी देवता ने गाय के शरीर को पसन्द ही नहीं किया। इसी उपनिषद् के प्रथम अध्याय, द्वितीय खण्ड के चार मन्त्रों में है कि परमात्मा द्वारा रचे हुए सभी देवता बोले कि हमारे लिए एक ऐसे स्थान की व्यवस्था कीजिए जिसमें रहकर हमलोग अन्न भक्षण कर सकें। परमात्मा उन देवताओं के लिए गौ का शरीर लाये। उसे देखकर उन्होंने कहा कि यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है। उनके ऐसा कहने पर परमात्मा उनके लिए घोड़े का शरीर लाये। उन्होंने कहा कि यह भी हमारे लिए पर्याप्त नहीं है। तब परमात्मा उनके लिए मनुष्य का शरीर लाये। वे बोले- बस! यह बहुत सुन्दर बन गया। सचमुच ही मनुष्य-शरीर सुन्दर रचना है।

यहाँ गाय के तन से मानव-तन को श्रेष्ठ माना गया। परमात्मा ने उन सब देवताओं से कहा कि अपने-अपने योग्य स्थान देखकर इस शरीर में प्रविष्ट हो जाओ, तो अग्नि देवता वाक् इन्द्रिय बनकर मुख में प्रविष्ट हो गये, वायु देवता प्राण बनकर नासिका छिद्र में प्रविष्ट हो गये, दिशायें कान में और चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया। यही बात गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि **'इन्द्रीं द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।।'** *(मानस, ७/११७/११)* देवता हैं तो मानव-तन के भीतर हैं, बाहर कहीं हैं ही नहीं; वह भी दैवी और आसुरी वृत्तियों के रूप में, जैसा कि गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण भी कहते हैं। कौन कहता है कि देवता गाय के शरीर में रहते हैं?

* एक स्थान पर लिखते हैं कि त्रिपुरासुर ने अमृत का कुण्ड चुरा लिया, जिसके प्रभाव से वह मर नहीं रहा था। तब भगवान विष्णु बने गाय, ब्रह्मा को बनाया बछड़ा और पूरा अमृत पी गये। राक्षस मारा गया। सफलता मिली। इसलिए गाय को मानना चाहिए; क्योंकि गाय विष्णुस्वरूपा हो गई।

विष्णु ने तो भस्मासुर से शंकर की रक्षा के लिए एक बार मोहिनी रूप धारण किया, सागर-मन्थन के समय मोहिनी रूप से ही दैत्यों में सुरा का वितरण किया, तो क्या सौन्दर्यसम्पन्न मोहिनीस्वरूपा सभी स्त्रियों की पूजा करते फिरें? **'समर जलंधर सन सब हारे।'** *(मानस, १/१२२/५)* अपनी पत्नी के सतीत्व के प्रभाव से जलंधर मर नहीं रहा था तो **'छल करि टारेउ तासु ब्रत'** *(मानस, १/१२३)*- इन्हीं विष्णु ने छल किया। जलंधर का रूप बनाकर उसकी पत्नी का सतीत्व नष्ट किया। सफलता मिली। राक्षस मारा गया। यदि एक बार एक गाय का रूप बनाने से सभी गायें पूज्य हैं तब तो सभी चारित्रिक मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले विष्णुरूप ही होंगे। करो न पूजा! मत्स्यावतार,

कच्छपावतार, वराह अवतार के नाते मछली, कछुआ या सूअर कुछ भी तो नहीं पूजते, फिर गाय के प्रति ही व्यामोह क्यों? ब्रह्मा-विष्णु-शिव सृष्टि का संचालन करते हैं। जैसे काम चलेगा, वे चलायेंगे। इसमें पूजनेवाली बात कहाँ से आ गई।

* प्रायश्चित तत्व, मदन पारिजात, अपरार्क इत्यादि अर्वाचीन पुस्तकों में गोमती विद्या का वर्णन है जिसमें गो-हत्या से शुद्धि के लिए गायों की प्रशंसा में कहा गया है कि गायें ब्रह्मा की पुत्री हैं। ब्राह्मण और गाय एक ही कुल के हैं और दो भागों में बँटे हैं जिनमें ब्राह्मणों में तो वैदिक मन्त्र निवास करते हैं और गायों में देवताओं के लिये आहुतियाँ रहती हैं।

वस्तुतः ब्रह्मा और ब्रह्मा की सृष्टि दोनों ही नश्वर हैं। **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** ब्रह्मा और उनकी सृष्टि पुनर्जन्म की परिधि में आते हैं। जब वही शाश्वत और सनातन नहीं हैं तो उनसे उत्पन्न गाय सनातन कैसे हो गयी? उसका भजन क्यों नहीं करते, जो जन्म-मरण की सीमा से परे है। **'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।'** *(गीता, ८/१६)*- मुझे प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, अतः **'भजस्व माम्'** *(गीता, ६/३३)*- मेरा भजन कर! गाय अथवा अन्य किसी का नहीं।

रामचरितमानस (१/५/४)- में है कि **'बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना।'** प्रपंच है क्या? बताते हैं कि-

दानव देव ऊँच अरु नीचू।
अमिअ सुजीवनु माहुर मीचू।। *(मानस, १/५/६)*
सरग नरक अनुराग बिरागा।
निगमागम गुन दोष बिभागा।। *(मानस, १/५/६)*

स्वर्ग-नरक, दानव-देवता, स्थावर, जड़-चेतन सब विधाता का प्रपंच है जिसमें गाय भी है। आप प्रपंच की, जञ्जाल की या धोखे की पूजा क्यों करते हो?

शृंगवेरपुर में निषादराज गुह को सान्त्वना देते हुए लक्ष्मण ने बताया कि जगत् का जाल क्या है? **'धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू।।'** *(मानस, २/९१/७)* स्वर्ग और नरक भी जगत् का ही एक जाल है, इनके बारे में सोचना भी मोह है, अज्ञान है, परमार्थ नहीं है और आप इनको पूजने की बातें कहते हो? फिर परमार्थ है क्या? तो **'सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।।'** *(मानस, २/९२/६)* मन, कर्म और वचन तीनों तो राम में लगाना है। अब आपके पास बचा क्या जिसे गाय की पूजा में लगायेंगे?

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिं जग जाल।। *(मानस, २/९३)*

परमप्रभु श्रीराम भक्त की भूमि, इन्द्रियों में दैवी सम्पद् के विकास के लिये, अमलात्मा भूसुर के हित के लिए किसी भाग्यशाली मनुष्य-तन को धारण कर लेते हैं, उसके अन्तराल में चरित्र करने लग जाते हैं, इस चरित्र को जो सुनता है अर्थात् परमात्मा की आवाज को सुनता है, उस पर दृढ़तापूर्वक चलता है उसके लिए जगत् का जाल मिट जाता है।

सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुबीर चरन रत होहू।। ***(मानस, २/६३/१)***

हे सखा! ऐसा समझ मोह को त्यागकर सीतारामजी के चरणों में अनुरक्त हो जाओ। मोह क्या है? धरणि, धाम, धन, स्वर्ग-नरक, देवी-देवता, जिसमें गाय भी है, इसका त्याग करो। और प्रेम किससे करना है? भगवान से! किसी गाय-बैल से नहीं।

यहाँ अवतरण-विधि की ओर भी विज्ञजनों का ध्यानाकर्षण अप्रासंगिक नहीं होगा। अवतार का शाब्दिक अर्थ ऊपर से नीचे उतरना, शरीर धारण करना या प्रादुर्भाव है। इसकी क्षीण रेखा वैदिक वाङ्मय में देखने को मिलती है, जिसमें कहा गया है कि वह एक परमात्मा सत् है। वही इन्द्र, वरुण, मित्र और अर्यमा है (ऋग्वेद, १/१६४/४६)। अवतार होता कैसे था? ऋग्वेद के दशम मण्डल एक सौ पचीसवें सूक्त की पाँचवीं ऋचा में है कि **'यं कामये तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषि तं सुमेधाम्'**- जिसे मैं चाहता हूँ उसे तेजस्वी, ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण, ऋषि तथा निर्मल मेधायुक्त कर देता हूँ। इसी विचारधारा का पल्लवन कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय/द्वितीय वल्ली/बाइसवें मन्त्र में है कि-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन
लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।।

यह आत्मा न तो प्रवचन से, न विशिष्ट बुद्धि से और न बहुत कुछ सुनने से प्राप्त हो सकता है। उसकी ओर चलनेवाले हजारों, लाखों पथिकों में से जिस किसी का भी वह वरण (चयन) कर लेता है वही उसे देख पाता है। उसके निर्देशन में चलकर वही उसे जान पाता है। भगवान सबके हृदय में है किन्तु उसे देख वही पाता है जिसका वह वरण कर लेता है। **'सब घट मेरा साईयाँ, सूनी सेज ना कोय।'** प्रभु सर्वत्र है किन्तु जान वही पाता है जिसके यहाँ वह अवतरित होता है। इसी को गोस्वामीजी कहते हैं- **'सो केवल भगतन हित लागी।'** ***(मानस, १/१२/५)*****, कृपासिन्धु जन हित तनु धरहीं।'** ***(मानस, १/१२१/१)***- भगवान केवल भक्त के हित के लिये शरीर धारण करते हैं। किसी अव्यक्त स्वरूप को प्राप्त महापुरुष द्वारा लगनशील साधक के हृदय में जागृत हो जाते हैं। अवतरण का यही वेदोक्त तरीका है। गाय के लिये अवतार वेद में कहीं है ही नहीं। अवतार किसी योगी के हृदय में होता है, बाहर कहीं नहीं।

* इन सभी आक्षेपों से बच निकलने के लिये लेखक महोदय कहते हैं कि गाय विधाता की सृष्टि से बाहर है, लोकेतर है। उसने स्वेच्छया पशु शरीर धारण किया है। उसका पशुचित आहार-विहार और शरीर-त्याग भी लीलामात्र है, लोकहित के लिये है।

गाय क्या हुई भगवान हो गई। ठीक है, यदि गाय पशु है तो उसका कोई दूसरा नाम रख लें लेकिन भगवान कैसे हो गयी? गाय शरीरधारी है, आँखों से देखी जानेवाली, बुद्धि से पहचानी जानेवाली है- जबकि वह प्रभु मन-बुद्धि से परे है।

गाय ने मानवहित के लिये ही तो अवतार लिया है तो किसी ने अपना हित समझा उसके दूध-दही तथा घी में, किसी ने हित समझा उसकी खाल-हड्डी-माँस-मज्जा और गोरोचन से बनी दवाइयों में, तो क्या बुरा है? यह तो बताया नहीं गया कि हित कैसे समझें?

महाभारत के समरांगण में दिव्यास्त्रों का प्रभाव जिस पर नहीं पड़ा, उन श्रीकृष्ण ने साधारण से बहेलिये का एक बाण स्वीकार कर अपनी लीला का सँवरण कर लिया। यदि गाय भी लीला से ही शरीर त्यागती है तो उसको लीला करने दो, उसकी लीला में बाधा कौन उत्पन्न कर सकता है?

लेखक के अनुसार गाय पर संकट आते ही भगवान अवतार लेंगे। यदि गाय की रक्षा तभी होती है जब भगवान आते हैं, तो बीच में मनुष्य क्यों परेशान हैं? यदि गाय अरक्षित है, रक्षा के लिये आपसे आशावान् है तो आपकी रक्षा कैसे करेगी? जो गाय सहित सबका रक्षक है- **'जा करि तैं (गाय) दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई।'** ***(मानस, १/१८३ छन्द)***- उस अविनाशी भगवान को क्यों नहीं भजते?

भगवान का अवतार शीघ्र हो- इसके लिये नारद-जैसे महर्षि ने कंस द्वारा देवकी के छः अबोध एवं निरपराध शिशुओं की हत्या करा दी। एक महात्मा को ऐसी हत्या के लिये प्रोत्साहन देना क्या शोभा देता है? वे गाय नहीं मरवा रहे थे, मानव-बालकों को मरवा रहे थे, वह भी श्रीकृष्ण के सगे भाइयों को! फिर भी नारद को कोई पाप नहीं लगा। श्रीकृष्ण के यहाँ उनका आना-जाना और सम्मान यथावत् रहा। अतः कम-से-कम महात्माओं को तो यह संकट नारद की चरम सीमा पर पहुँचाना चाहिए, जिससे अवतार लेने की बात भगवान कहीं टाल न दें।

* लेखक महोदय ने कविकुलगुरु कालिदास प्रणीत रघुवंश महाकाव्य का उद्धरण दिया है कि महाराज दिलीप ने गो-सेवा की, जिससे उनको पुत्र हुआ।

दिलीप चक्रवर्ती नरेश थे। यदि गाय चराने मात्र से सन्तान उत्पन्न होती तो अपनी ही गायों को क्यों नहीं चरा लिये? वस्तुतः सन्तान के अभाव का दुःख लेकर वे गुरु वशिष्ठ के पास गये, विनय सुनाया। वशिष्ठ द्रवीभूत हुए, एक सेवा सौंप दी। उनके पास गाय ही थीं तो मोटर साफ करने की सेवा कहाँ से देते।

कथा आती है कि उसी गाय को शेर ने पकड़ लिया। दिलीप ने कहा कि यह ऋषि की गाय है इसलिये छोड़ दो। यह नहीं कहा कि गाय धर्म है, इसलिये छोड़ दो। वस्तुतः महापुरुष के प्रति की गई सेवा ही आशीर्वाद बनकर लौटती है। महापुरुष की इच्छा को भगवान ही पूरा करते हैं- **'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।'** *(मानस, ७/११३/४)* हमारे परमहंसजी महाराजजी ने भी बहुतों को आशीर्वाद दिया; किन्तु यह देन महापुरुष की है, गाय की नहीं। दशरथ को पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद महापुरुष ने ही दिया था। फार्मूला पुराना होते हुए भी गो-सेवा की शर्त उन्हीं महर्षि वशिष्ठ ने नहीं रखी, महाराज दशरथ को पुत्र उत्पत्ति के लिये दूसरा उपाय किया। महाभारतकाल में नियोग विधि अपनायी गयी। गाय चराना पुत्रप्राप्ति का कोई रास्ता होता तो वंशोच्छेद के कगार पर खड़े अनेक परिवारों में आशा के दीप जल उठते, कोई सन्तानविहीन न रहता।

* गायों के समर्थन में लेखक ने महाभारत में उल्लिखित वशिष्ठ की कामना को उद्धृत किया है कि जिस प्रकार नदियाँ सागर में गिरती हैं उसी तरह से उन्मुक्त रूप से दूध देनेवाली, सोने से मढ़ी सींगोंवाली गायें मुझे निरन्तर मिला करें। लिखते हैं कि यदि गाय धर्म न होती, तो वशिष्ठ उनके बीच रहना क्यों पसन्द करते?

वस्तुतः महर्षि वशिष्ठ चक्रवर्ती नरेशों के पुरोहित थे, तभी तो सोने से मढ़ी सींगवाली गाय की कामना करते हैं। सोने के सींगवाली गायें पैदा तो होती नहीं। इसे तो कोई व्यक्ति ही मढ़ाकर देगा। उन्हें कुछ गायों को पाकर तृप्त हो जाना चाहिए था, किन्तु कहावत है कि **'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।'** *(मानस, ६/१०१/१)* सम्पत्ति से मन नहीं भरा तो आश्चर्य क्या? इसी का तो उन्हें खेद था- **'उपरोहित्य कर्म अति मन्दा। बेद पुरान सुमृति कर निन्दा।।'** *(मानस, ७/४७/६)*

वशिष्ठ ही क्यों, वैदिक ऋषियों की कामना देखें- **'सनेयमश्वं गां वासऽ-आत्मानं तव पूरुषः।** *(यजु. १२/७८)* हे परमात्मा! मैं घोड़ा, गाय, वस्त्र और आत्मा का निरन्तर सेवन करूँ। **'अन्नवतां ओदनवतां अमिक्षवतां एषः राजा भूयासम्।'** हे भगवन्! जहाँ अन्न होता हो, जहाँ चावल होता हो, जहाँ दूध-दही और छेना होता हो, मैं ऐसे लोगों का राजा बनूँ। आज के लोग होते तो कहते- भगवन्! मैं बम्बई में रहूँ, फ्लैट खरीदूँ- तो क्या यह हो गया धर्म? वशिष्ठ ने कामना की तो क्या हो गया? पुरोहित और क्या माँगता? बहुत से दानों में, सम्पत्तियों में श्रेष्ठ तो यही गोधन था।

* महाभारत में ही गाय से भी बढ़कर एक चीज बतायी गयी है और वह है सोना! अनुशासन पर्व में है कि क्षत्रियों के संहार का पाप नष्ट करने के लिये परशुरामजी ने पृथ्वी, गाय और अन्न आदि का दान किया, यहाँ तक कि अश्वमेध यज्ञ किया; किन्तु

पाप से मुक्त नहीं हुए। तब उन्होंने वशिष्ठ इत्यादि ऋषियों से पूछा। उन्होंने बताया कि भृगुनन्दन! पृथ्वी पर भूमि, गाय और सभी दानों से पावन है सुवर्ण का दान।

* जिस गाय की रक्षा भगवान करते हैं वह वस्तुतः मनसमेत इन्द्रियाँ ही हैं। अपने बल पर साधक इन्हें वश में नहीं कर सकता- **'छूटइ मल कि मलहि के धोएँ।'** *(मानस, ७/४८/५)* क्योंकि **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।'** *(मानस, ३/१४/३)* बुद्धि-विवेक से जो कुछ भी आप करते हैं, मायिक क्षेत्र का ही छोटा-बड़ा निर्णय होता है। वह माया से परे अविनाशी का निर्णय नहीं हो सकता। इसलिये **'तुलसिदास (मन) बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।'** *(विनय०, ८६)* जब तक वह प्रभु हृदय से रथी होकर रोकथाम न करने लगे, (हृदय से रथी होना ही उनका अवतार है, जब तक वे ऐसा नहीं करते) तब तक आपके ऊपर भगवान की कोई कृपा नहीं है। कृपा मान लेने से कृपा हो नहीं जाती। मानस में है कि **'जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी।।'** *(मानस, १/१०४/६)* अनुभूति होने लगती है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि साधना के सही मार्ग 'नियत कर्म' पर चलते ही वह निर्लेप, साक्षी परमात्मा हृदय-देश में जागृत हो जाता है, क्रमशः **'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः'** और **'परमात्मेति'** बन जाता है (गीता, १३/२२)। पूज्य महाराजजी कहते थे, ''हो! भगवान ऐसे बतियावत हैं जैसे हम तूँ बैठ के घंटों बतिआईं और क्रम न टूटे। भजन कोई करता नहीं बल्कि भगवान ही करा लेते हैं। वे साथ न रहें तो निवृत्ति दिलानेवाला भजन आरम्भ ही नहीं होता।''

बाहर संसार में पशु-योनि में जो गाय है वह केवल सम्पत्ति है। अथर्ववेद में है कि- **'गावो भगो'** *(४/२१/५)* अर्थात् गाय धन है। महाभारत में है कि- **'गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचित् इहाच्युत।'** *(अनुशासन पर्व, ५१/२६)* अर्थात् गाय के समान कोई धन इस संसार में मैं नहीं देखता। अस्तु गाय धन है। धन सामाजिक व्यवस्था के लिये आवश्यक भी है, धनोपार्जन एवं संग्रहहेतु लोग कितना कष्ट उठाते हैं? आप गोधन की सुरक्षा करें; किन्तु गाय को बैकुण्ठ का साधन, परमधर्म बताकर भोलीभाली जनता का भयादोहन न करें।

* इस पुस्तिका के लेखक एक मनोरंजक तर्क यह देते हैं कि **'गो द्विज धेनु देव हितकारी।'** *(मानस, ५/३८/३)*- इस अर्धाली में गोस्वामीजी ने गो तथा धेनु इन समानार्थक शब्दों का प्रयोग इसी अभिप्राय से किया है कि गो शब्द को लोग भले ही अनेकार्थक मान लें; किन्तु धेनु शब्द तो किसी भी प्रकार गाय के अतिरिक्त किसी भी अर्थ का बोध नहीं करा सकता किन्तु अब इसका क्या किया जाय कि धेनु शब्द भी अनेकार्थक है। वेद में यह शब्द वाणी के लिये भी प्रयुक्त हुआ है- **'सा ते काम दुहिता**

धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्' *(अथर्व. ९/२/५)*। धेनु शब्द धनसूचक भी है। मत्स्य पुराण, वाराह पुराण इत्यादि में दस-बारह प्रकार के धेनुओं का वर्णन आता है, जैसे- गुड़धेनु, तिलधेनु, मधुधेनु, शर्कराधेनु, दधिधेनु, घृतधेनु, नवनीतधेनु, रत्नधेनु, जलधेनु, लवणधेनु, कपासधेनु, धान्य अर्थात् अनाजधेनु। ये सब धन नहीं हैं तो क्या हैं? आज के युग में रेडियम धेनु है, पेट्रोल धेनु है, बिजली धेनु है।

भौतिक सम्पत्ति का उपयोग मानव की आयु तक ही सीमित है; किन्तु मृत्यु के पश्चात् भी जो सम्पत्ति साथ देती है वह है आत्मिक सम्पत्ति। वह निज धन है। एक बार यदि प्राप्त हो जाय तो निश्चित कल्याण करके छोड़ेगी। गो-संयम द्वारा ही वह आत्मिक सम्पत्ति अर्जित होती है इसीलिये गो का दूसरा नाम धेनु है। आत्मिक सम्पत्ति को ही श्रीकृष्ण ने गीता में दैवी सम्पद् कहा है, इसलिए गो का तीसरा नाम सुरभि है; क्योंकि यह परमदेव के सुरत्व को अपने में स्थान देती है।

* कहते हैं कि गो-चारण से लौटते समय श्रीकृष्ण के मस्तक पर गोधूलि लगी रहती थी, इसलिए धन्य हैं वे गौ माता।

कोई कहानी सुना रहा था कि एक मौलवी साहब प्रतिदिन पाव भर दूध खरीदते थे। एक दिन मौलवी साहब बहुत बिगड़े- कैसा दूध दिया था, कल तुम्हारे दूध में मक्खी निकली? ग्वाला हँसा और बोला, मौलवी साहब! पाव भर दूध में मक्खी नहीं तो क्या हाथी निकलेगी? इसी तरह श्रीकृष्ण भी बचपन में गाय चराते थे, नन्द के यहाँ वही व्यवस्था थी। गोधूलि से शोभा बढ़ती हो तो आजकल के चरवाहों को क्यों नहीं देख लेते? यह भी कोई तर्क नहीं कि स्वेच्छा से या गाय को धर्म समझकर चराते थे; क्योंकि ज्योंही अक्रूर से पता चला, श्रीकृष्ण मथुरा गये और इसके बाद कभी गो-चारण का प्रसंग नहीं मिलता। कहाँ गई उनकी इच्छा? क्यों छोड़ दिया उन्होंने गो-चारण धर्म? रही गोमूत्र से श्रीकृष्ण को नहलाने की बात तो आज भी आदिवासी पिछड़े क्षेत्रों में, जहाँ अस्पताल नहीं है, खसरा इत्यादि चर्मरोग होने पर गोबर मलकर स्नान करते हैं, घी और दूध के मटके के ऊपर गोबर लगाकर बाजार ले जाते हैं, ग्रहण लगने पर गोबर से गोंठते हैं। यह टोटका है, रीति है, सुरक्षा का प्रयास है न कि धर्म।

* विद्वान् लेखक ने इस ओर भी ध्यान आकर्षित किया है कि निशाचर गो-ब्राह्मण पर ही अधिक अत्याचार करते थे, शूकर या गधे पर नहीं। गाय धर्म न होती तो निशाचरों का सर्वाधिक शिकार क्यों बनतीं? किन्तु ऐसी भी कोई बात नहीं है। रावण के यहाँ **'महिष मानुष धेनु खर अज'** *(मानस, ५/२/छन्द)* इत्यादि सब कुछ खाते थे। गाय ही नहीं गधा भी खाते थे। कौन कहता है कि गधा नहीं खाते थे। हाँ, गाय उस समय की सम्पत्ति थी और ब्राह्मण बुद्धिजीवी था। सामाजिक व्यवस्था के दोनों ही

आधार-स्तम्भ थे इसलिये ये आसानी से नहीं मिलते थे। इसलिये रावण को इन्हें प्राप्त करने में बल प्रयोग करना पड़ता था। आज भी जब कोई देश दूसरे देश पर हमला करता है तो वहाँ सम्पत्ति छीनने और बुद्धिजीवियों को नष्ट करने का प्रयास करता ही है। फिर किसी पर अत्याचार हो तो क्या वह सनातन धर्म हो जायेगा? दानव और देवता विधाता के प्रपंच के दो छोर हैं। एक गुणों का नाम और दूसरा दुर्गुणों का नाम है, न कि कहीं सींगवाले राक्षस होते हैं। श्रीकृष्ण भगवान माने जाते हैं और वसुदेव देवता, नन्द-यशोदा मानव तथा बाणासुर, कंस इत्यादि सगे-सम्बन्धी राक्षस थे। जिनमें जैसे गुणों का बाहुल्य था वैसी संज्ञा मिली। श्रीकृष्ण के अनुसार (गीता, १६/६) सृष्टि में मनुष्य केवल दो प्रकार का होता है न चार प्रकार का, न दस प्रकार का, तीसरी कोई जाति हो ही नहीं सकती। दैवी सम्पद् प्रधान व्यक्ति देवता है और आसुरी सम्पद् को धारण करनेवाला असुर है। दो सगे भाइयों में से एक देवता तो दूसरा असुर हो सकता है और उनका खान-पान धर्म का मापदण्ड नहीं हो सकता।

* लिखते हैं कि गाय हव्य द्वारा देवताओं का, कव्य से पितरों का, दूध-दही से मनुष्यों का और मल-मूत्र से अनाज का पोषण करती है।

मान्यता है कि स्वाहा बोलकर हवन-सामग्री अग्नि में डालकर जो यज्ञ किया जाता है उसी से देवताओं का पालन-पोषण होता है। पहले तो यही विचार करना होगा कि आग में घी और हवि जलाना यज्ञ है भी या नहीं? गीता में श्रीकृष्ण का कहना है कि परमात्मा से मिलन करा देनेवाली विधि-विशेष का नाम यज्ञ है। श्वास-प्रश्वास का हवन यज्ञ है। इन्द्रियों का दमन यज्ञ है। महापुरुष के स्वरूप का स्मरण यज्ञ है। श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध कर प्राणायाम की स्थिति पाना यज्ञ है। संकल्पों का निरोध ही प्राणायाम है- यही मन की विजेतावस्था है, चित्तवृत्तियों के निरोध की अवस्था है- यहीं यज्ञ का परिणाम निकलता है कि **'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** *(गीता, ४/३१)* यज्ञ का परिणाम है परमात्मा, सनातन ब्रह्म। जिसके पूर्तिकाल में सनातन ब्रह्म नहीं मिलता, वह यज्ञ कैसा? स्वाहा बोलने से, चरणामृत पीने से वह परमात्मा मिलता दिखाई नहीं देता।

योगेश्वर श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं कि अर्जुन! यह सम्पूर्ण यज्ञ मन और इन्द्रियों की क्रिया से सम्पन्न होनेवाले हैं। श्वास में आप लग गये, सुरत स्थिर हो गयी तो लगती है आपकी श्रद्धा, आपका मन, अनुराग, विरह- यही लगता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि भौतिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञ भी हैं; किन्तु जो यज्ञ श्रीकृष्ण बताते हैं उनकी तुलना में भौतिक यज्ञ अत्यन्त अल्प हैं, तो आप वह यज्ञ क्यों नहीं करते जिसका परिणाम अल्प नहीं है? वह यज्ञ क्यों नहीं करते जिसकी विधि गीता में है? जबकि श्रीकृष्ण ने इस पर

बड़ा जोर दिया कि यही शास्त्रविधि है। जो इस शास्त्रविधि को त्यागकर नाममात्र के यज्ञ करते हैं अर्थात् यज्ञ का नाम दे रखा है, यज्ञ है नहीं- ऐसे यज्ञ को करते हैं, वे यज्ञ नहीं करते बल्कि परमात्मा से द्वेष करते हैं। मिलने को कौन कहे, दुश्मनी हो गई- वह भी भगवान से! फिर तो बचना असम्भव है।

जो गीतोक्त विधि से यज्ञ नहीं करते, योगेश्वर कहते हैं कि ऐसे नराधमों, क्रूरकर्मियों और पापाचारियों को मैं अपवित्र नरक में गिराता हूँ, बार-बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ, यही नरक है- न कि पाताल में कहीं नरक कुण्ड खोदा गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा निर्धारित यज्ञ में गाय का दूध-घी नहीं लिखा है, हाँ! गो-संयम से मिलनेवाला रस अवश्य प्राप्त होता है। जहाँ गो-संयम हुआ, सनातन विदित होने लगता है। इसलिये गो-रक्षा हमारा सनातन धर्म है। गाय-बैल पालना न तो गो-रक्षा है, न सनातन धर्म!

वेद में भी गाय की नाभि को छेदकर यज्ञ करने की बात कही गयी है। गाय को निरस करके उसे दुहने की बात कही गयी है- **'निरस्य रसं गविषो दुहन्ति'** *(ऋग्वेद, १०/७६/७)*। यही गोस्वामीजी भी कहते हैं **'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।'** *(मानस, ४/६/छन्द)* गो को निरस करने पर ही भगवान ध्यान में आते हैं। क्या गो माने गाय? नहीं, अन्यत्र कहते हैं- **'निरस्य इन्द्रियादिकं यान्ति ते गतिं स्वकं'**- इन्द्रियों को निरस्य करने पर ही स्वयं की स्थिति, स्वरूप में स्थिति मिलती है। होता हो गो माने गाय; किन्तु आत्मा की सद्गति के लिए, परमात्मा की प्राप्ति के सन्दर्भ में गो का अर्थ मनसमेत इन्द्रियाँ ही हैं, पशु गाय कदापि नहीं। **'गच्छन्ति विषयानि इति गावः'**- जो विषयों में गमन करे, वह गाय है अर्थात् इन्द्रियाँ। इन्हीं को विषयों से मोड़कर परमात्मा में लगाना है। यही तो साधना है। वेद में है कि **'शूरो न गोषु तिष्ठति'** *(ऋग्वेद ६/१६/६)* अर्थात् शूरवीर वही है जो इन्द्रियों में रमण नहीं करता। गाय की पूजा से परमगति का विधान कम से कम वेद में तो नहीं ही है, और कहीं भी नहीं है।

* कव्य उसे कहते हैं जो कौओं को खिलाया जाता है। मान्यता है कि उससे पितर तृप्त होते हैं; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण की मान्यता कुछ दूसरी ही है। गीता के अध्याय १५/८ में वे कहते हैं कि, अर्जुन! गन्ध के स्थान से वायु जैसे गन्ध का अपहरण करके ले जाता है, ठीक उसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी यह जीवात्मा जिस शरीर को त्यागता है उस शरीर से इन्द्रियों और मन द्वारा किये गये व्यापार को लेकर दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाता है और दूसरे शरीर में पुनः इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता है।

दूसरे अध्याय के बाइसवें श्लोक में कहते हैं कि **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'**- जैसे हम-आप पुराना वस्त्र बदलकर नया पहन लेते हैं, उसी प्रकार आत्मा

शरीररूपी वस्त्र को बदल लेता है। वस्त्र बदलनेवाला जिन्दा है तो कव्य किसे देते हो? इधर शरीर छूटा, उधर मिला; बीच में कोई विराम नहीं, कोई गड्ढा नहीं, कोई नरक नहीं- जिसमें पितर प्रतीक्षा कर रहे हों, तो आप किसे तृप्त कर रहे हो? आत्मा जहाँ भी गया, जिस नये शरीर में गया, वहाँ भी भोग है ही तो तृप्त किसे करते हो? उस आत्मा की तृप्ति जब भी होगी मानव-शरीर में ही होगी, कव्य से नहीं। इसीलिए जब अर्जुन ने **'लुप्त पिण्डोदकक्रिया'** *(गीता, १/४२)* का भय दिखलाया तो योगेश्वर ने इसे अज्ञान ठहराया कि **'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्'** *(गीता, २/२)*। पूर्वजों के निमित्त जो दान-पुण्य किया जाता है वह श्रद्धा-निवेदन मात्र है। उसे आप चाहे जितना कर लें किन्तु इससे उनको तृप्ति कैसी? कौआ को खिलाने से तृप्ति, वह भी मनुष्यों की- गीता ऐसे किसी भी अन्धविश्वास का समर्थन नहीं करती।

* लिखते हैं कि हव्य-कव्य ही नहीं, गाय मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देती है, लोक और परलोक देती है, इसलिए धर्म है। लेकिन देखें, रामचरितमानस क्या कहता है-

बरषा रितु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादव मास।। *(मानस, १/१६)*

रघुपति की भक्ति ही वर्षाऋतु है, प्रभु का दास धान है। राम नाम के दो अक्षर सावन और भादों के महीने हैं अर्थात् भक्त की तृप्ति इसी नाम से होनी है, गाय से नहीं।

आखर मधुर मनोहर दोऊ।
बरन बिलोचन जन जिय जोऊ।।
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू।
लोक लाहु परलोक निबाहू।। *(मानस, १/१६/१-२)*

राम का नाम-सुमिरन लोक में समृद्धि और परलोक में परमसुख की व्यवस्था देता है। यह रामनाम की महिमा है, गाय की नहीं- **'सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता।।'** *(३/१/८)* जो भगवान से विमुख है उसके लिए समस्त जगत् अग्नि से भी अधिक जलाने वाला हो जाता है, सुख की कौन कहे?

अन्धकारु बरु रबिहि नसावै।
राम बिमुख न जीव सुख पावै।। *(मानस, ७/१२१/१८)*

एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सुख है ही नहीं तो कोई पायेगा कहाँ से?

यह कहते हैं कि गाय मोक्ष देगी, तारेगी गौ माता! जबकि गोस्वामीजी कहते हैं-

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान।
ग्यानवन्त अपि सो नर, पसु बिन पूँछ विषान।। *(मानस, ७/७८ क)*

भगवान के भजन के बिना यदि कोई मोक्ष की आशा करता है तो वह भले ही अपने को ज्ञानी कहता फिरे लेकिन गोस्वामीजी के शब्दों में वह बिना सींग-पूँछ का पशु ही है, मनुष्य नहीं। इससे अधिक गोस्वामीजी क्या कहते?

बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिन हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल।।

(मानस, ७/१२२ क)

* विद्वान् लेखक का अगला तर्क है कि वाल्मीकीय रामायण में मारीच ने राम को धर्म का विग्रह बताया, व्यास ने कृष्ण को धर्म कहा। चूँकि गाय, ब्राह्मण, सती इत्यादि भगवान का शरीर है, इस न्याय से भी धर्म हुई। इतना तर्कशास्त्र पढ़ने की क्या जरूरत है कि विष्णुस्वरूपा है इसलिए धर्म है, धारण करती है इसलिए धर्म है? वाल्मीकि और व्यास ने जो-जो कहा उसे ज्यों-का-त्यों क्यों मान नहीं लेते कि राम और कृष्ण धर्म के स्वरूप हैं। अव्यक्त को प्राप्त महापुरुष वास्तव में धर्म का विग्रह होता है। गाय को तो धर्म का विग्रह कहा नहीं, फिर खींच-तान कर गाय की ओर क्यों भागते हो? लगता है भावुकता के आवरण में कोई रूढ़ि मस्तिष्क को घेरकर बैठी है।

* लिखते हैं कि गाय, ब्राह्मण, वेद, सती, सत्यवादी, लोभरहित और दानी पुरुष पृथ्वी को धारण करते हैं और जो धारण करता है वह धर्म है। अतः गाय धर्म है। किन्तु नहीं, पृथ्वी को ये धारण नहीं करते। पृथ्वी ग्रहों के परस्पर आकर्षण शक्ति से टिकी हुई है। सब मिलकर धारण करते थे तो अकेले गाय ही क्यों? पहले सूर्य के रथ में घोड़े जुतते थे, चन्द्रमा को मृगछाला की चोट लगती थी, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक की धरती गाय बनकर दौड़ती थी; किन्तु इन पौराणिक कल्पनाओं के दिन लद चुके हैं। अन्तरिक्ष की शोध के साथ पौराणिक मान्यताओं के विसर्जन के दिन आये हैं कि पृथ्वी को किसी गाय ने धारण कर रखा है। वास्तव में लोभरहित पुरुष, दानी पुरुष, सत्यवादी पुरुष, बुद्धिजीवी वर्ग या गाय- ये सभी मिलकर सामाजिक व्यवस्था को धारण करते हैं और व्यवस्थायें न तो शाश्वत-सनातन होती हैं और न धर्म! इनमें से अधिकांश का महत्त्व अब समाप्तप्राय है; क्योंकि इनसे भी अच्छी व्यवस्थायें आ गयी हैं।

* लेखक महोदय बताते हैं कि अथर्ववेद (६/१/४) में गायों को **'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसा आदित्यानाम्'** कहा गया है अर्थात् गाय रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री और आदित्यों की बहन है। जो सबको रुलाता है उसे रुद्र कहते हैं। गाय को नहीं मानोगे तो एकादश रुद्र तुम्हें रुलायेंगे। उन्हें क्यों नहीं रुलाते जो गाय को काटते हैं? लिखते हैं, वसु धन के देवता हैं। गाय को नहीं मानोगे तो वसु तुम्हें निर्धन बना देंगे। जबकि भारत के कुछ ही प्रदेशों को छोड़कर अधिकांश विश्व गो-मांसाहारी है। बीफ

(गो-मांस) के लिए बड़े-बड़े फार्म खुल रहे हैं। दुधारू गाय अलग, भोजनवाली गाय अलग, जैसे मत्स्य-पालन करते हैं। पचीस लीटर से कम दूध देनेवाली गायें भोजन के काम आ जाती हैं। पचास से साठ लीटर दूध देनेवाली गायें पाली जाती हैं। विश्वभर को दूध का पावडर सप्लाई करते हैं, उनके मकान तीस-तीस मंजिल के हैं, गायों की रखवाली हेलीकाप्टर से करते हैं। न तो धन का अभाव है, न वस्तुओं ने निर्धन बनाया, न रुद्र ने ही दण्ड दिया। जिस तरह अशिक्षित और भोलीभाली जनता को ओझा लोग आतंकित करते हैं कि भूत यहाँ से आया है, बचो! एक मुर्गा दो, एक बोतल शराब दो- यह धमकी भी कुछ वैसी ही है। स्वतन्त्रता से पूर्व जब भारत में शिक्षा का प्रतिशत शून्य था, गायों के प्रति यह मोह कुछ अधिक ही था, उनकी पूजा होती थी। उस समय छप्पर के स्थान पर खपड़े का छाजन भी नहीं था- इतिहास उठाकर देख लें, वसुओं ने क्यों नहीं धनवान बना दिया?

आदित्यों की बहन भी विचारणीय है। अदिति के लड़के द्वादश आदित्य हैं, जिनमें विष्णु भी हैं। दिति, अदिति, विनिता इत्यादि कश्यप की बारह रानियाँ थीं। दिति से दानव, अदिति से देवता, विनिता से पशु-पक्षी पैदा हुए। इस नाते गाय आदित्यों की बहन हुई। किन्तु आदित्यों की ही क्यों, उसे तो असुरों की भी बहन होनी चाहिए; क्योंकि पिता तो एक ही था।

* कहते हैं कि गाय माता है, ऐसा वेद में लिखा है। गौरव की बात है! आपकी माता है तो रक्षा करो; किन्तु वेद में यह कहाँ लिखा है कि गाय सनातन धर्म है, उसकी पूजा करो? वेद में लिखा है कि गाय माता है तो वेद में यह भी लिखा है कि उसका पति कौन है? अथर्ववेद के नवम काण्ड का चतुर्थ ऋषभ सूक्त है, जिसके दूसरे और चौथे मन्त्र में बैल को **'पिता वत्सानां पतिरघ्नानाम्'** अर्थात् गाय का पति और बछड़ों का पिता कहा गया है। तो क्या बैल को पिता मानकर पूजना होगा? गाय को ही क्यों, ऋग्वेद (१०/६२/३१) में पृथ्वी को माता कहा गया, (१०/६४/६) में जल को माता कहा गया, यजुर्वेद (१२/७८) में **'औषधीरिति मातरः'** औषधियों को माता कहा गया, तो क्या इनको पूजने लगें? इसी प्रकार मानस में- **'जनु मारेसि गुर बाँभन गाई।'** ***(मानस, २/१४६/३)*** इनका विशेष महत्त्व है, होना भी चाहिए। बहुत-सी वस्तुओं का महत्व है। पिता का महत्व है, भाई-बहन का महत्त्व है, गाय का भी महत्त्व है। जो वस्तु विकास में सहयोगी होगी, उसी का महत्त्व होगा। जैसा आजकल बिजली का बड़ा महत्त्व है, राष्ट्रीय सम्पत्ति है। आविष्कारों का महत्त्व बढ़ता-घटता ही रहता है; किन्तु इससे कोई वस्तु धर्म नहीं हो जाती।

* वेद में तो यह भी लिखा है कि अत्यन्त झूठ बोलनेवालों को, मारपीट और तोड़फोड़ करनेवाले को, घमण्डी लोगों को हे राजन्! उसी प्रकार छेद डालो जैसे कूदनेवाली गाय को लात से और हाड़ी को एड़ी से मारते हैं। (अथर्ववेद, ८/६/१७) इसी प्रकार ऋग्वेद में है- **'रजिष्ठया रज्या पश्वः आ गोस्तू तूर्षति पर्यग्रं दुवस्यु'** *(१०/१०१/१२)* अर्थात् जिस प्रकार सेवक गाय आदि पशु की नाक में रस्सी लगाकर, उसे पीड़ित करते हुए आगे ले जाता है.....। इस ऋचा में गाय को पशु कहा गया और उसके रख-रखाव की एक व्यवस्था दी गई, न कि ऐसा करना कोई धर्म है।

अभी लंका में भारत की शान्ति सेना गई थी। वहाँ 'लिट्टे' के सैनिक कहते थे- जय लंकामाता! यहाँ हम कहते हैं- भारतमाता। कहीं कहते हैं गंगामाता! अमेरिका में आमेजन नदी को पिता कहते हैं। यह तो मनुष्यों की दी हुई मान्यतायें हैं। उपाधि किसी को भी मिल सकती है, जैसे आजकल मदर टेरेसा को मिली है। हर पादरी को अंग्रेज फादर कहते हैं। हिरोशिमा पर बम गिरा तो उसे पुनः बसाने के प्रयास में उनतीस बच्चों को जन्म देनेवाली माता को वहाँ 'मदरलैण्ड' की उपाधि से विभूषित किया गया। अस्तु परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था के बारे में कोई भी लिखा-पढ़ी हर देश और हर समय के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। उसका पीछा करोगे तो विकसित देशों से हजारों वर्ष पीछे उसी युग में पहुँच जाओगे। जब मोरपंख से भोजपत्र पर लिखते थे, अरणियों को घिसकर- दो लकड़ियों को घिसकर आग जलाते थे, उसके संग्रह की व्यवस्था भी न थी जैसा कि अभी महाभारतकाल तक था- एक ब्राह्मण की अरणि लेकर मृग भागा तो युधिष्ठिर ने उसका पीछा किया।

आजकल महाभारत को दूरदर्शन पर प्रस्तुत करनेवाले निर्माता निर्देशक श्री बी. आर. चोपड़ा ने एक साक्षात्कार में बताया है कि उन्हें पात्रों की वेशभूषा को लेकर असुविधा का सामना करना पड़ रहा है; क्योंकि उस समय के लोग सिले वस्त्र नहीं पहनते थे, बटन नहीं लगाते थे क्योंकि पहले सुई और बटन दोनों ही हड्डी से बनते थे। बटन शब्द तक अंग्रेजी भाषा का है। यह डींग भले ही हाँक लें कि आधुनिक कम्प्यूटर, राकेट या परमाणु बमों के सूत्र वेद में हैं; किन्तु पुरातत्व की प्राचीनतम खुदाइयों में भी वायुयान तो क्या साइकिल के भी अवशेष नहीं मिलते। वैदिककाल से परवर्ती पूर्वजों की शोध को नकारना अन्याय तो है ही, धृष्टता की पराकाष्ठा भी है कि उपयोग तो हम भैंस का करें किन्तु गुण गाय के गायें, उपयोग ट्रैक्टर का करें गीत बैलों के गायें, उर्वरकों के बिना जीवनयापन न हो किन्तु महिमा गोबर की बतायें। गाय के पीछे नारेबाजी करनेवाले कितने ऐसे हैं जो उन बैलों को बैठाकर खिलाते हों, जिन्होंने आजीवन उनका खेत जोता है? शायद ही कभी कोई बैल किसान के खूँटे पर मरता हो? वृद्ध से वृद्ध बैल को

सौ-पचास रुपये में बेचनेवाले क्या अपनी बला नहीं टालते? क्या वे नहीं जानते कि ले जानेवाला इनका क्या करेगा?

* आचार्य प्रवर लिखते हैं कि गाय पवित्र है।- फिर अपवित्र कौन है? क्या भैंस अपवित्र है? बहुत से लोग गाय का दूध नहीं पीते क्योंकि गाय अभक्ष्य खाती है- जबकि भैंस मर जायगी किन्तु अभक्ष्य नहीं खाती। कौन कहता है कि गाय पवित्र है और भैंस अपवित्र? पाराशर-स्मृति के छठें अध्याय में है कि अन्न को गाय या कुत्ता सूँघ भी ले तो वह अपवित्र हो जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं- **'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा।।'** *(मानस, ७/६५/२)* भजन करनेवाला शरीर पावन है- यह आचार्य कहते हैं गाय पावन है। गोस्वामीजी कहते हैं- कोई क्यों न हो भगवान का **'रामु कहत पावन परम, होत भुवन बिख्यात।'** *(मानस, २/१६४),* यह आचार्य कहते हैं- गोमूत्र पावन परम!

* कहते हैं कि गाय के गोबर से लिपाई होती थी, गोबर में लक्ष्मी का वास है, इसलिये गाय की पूजा करें। लिपाई जरूर होती थी। दीर्घकाल तक भारत के लोगों का उससे काम चला, आदर की वस्तु है; किन्तु क्यों होती थी? उस समय सीमेण्ट का आविष्कार नहीं था। धूल और गर्द को शान्त करने के लिए यही आविष्कार सुलभ था। गाय की महिमा का गायन करनेवाले भी सम्पन्न परिवारों की तरह सीमेण्ट, संगमरमर, मुजैक और एअर कण्डीशन में रहना पसन्द करते हैं। उसके ऊपर गोबर से लीपना सहन नहीं कर सकते, भाषण चाहे जो दे लें। सम्पन्न परिवारों के बीच यदि दो-एक कच्चे घर गोबर से लिपे दिखायी देते हैं तो बड़े आदमियों की निगाह उस पर गड़ी हुई है कि पन्द्रह-पचीस हजार देकर उसे भी खरीद लें। कौन कहता है कि गोबर में लक्ष्मी का निवास है? गोबर की लिपाई आजकल दरिद्रता की निशानी है, निर्धनता का नग्न ताण्डव है। कोई चाहता भी नहीं कि गोबर से लिपे घर में रहें, मुजैक सबको अच्छा लगता है किन्तु करें क्या! विवशता है उनकी, जो अभी भी लीप रहे हैं।

अनुसुइया का एक किसान कहता था कि हमारे बैल की पूँछ में बेर्रा (जौ और चना) का निवास है। उसका आशय था कि अधिक बेर्रा गोबर की देन थी। इसी प्रकार गोबर में लक्ष्मी का निवास तब था जब यूरिया, डाई, पोटाश, कैलशियम इत्यादि उर्वरकों का आविष्कार नहीं था, उपज का माध्यम गोबर था। उस समय अनाज धन था, गोधन था, औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई थी, कल-कारखाने नहीं थे, इसलिये उस जमाने में गोबर में लक्ष्मी का निवास था; किन्तु आज नहीं। आज लक्ष्मी का निवास इक्सपोर्ट, इम्पोर्ट में है, स्मगलिंग में है। गाय की पूँछ छोड़कर लक्ष्मी आजकल फाइव स्टार होटलों में रहने लगी हैं।

आचार्य का यह कथन भी ग्राह्य नहीं है कि गाय को ही वर प्राप्त है इसलिये उसके मल को भी गोबर कहते हैं। प्राप्त होने को तो गाय को शाप भी प्राप्त है फिर भी आचार्य का यह तर्क विचारणीय है कि गोबर नामकरण ही क्यों? भैंसबर क्यों नहीं? शूकरबर क्यों नहीं? कूकरबर क्यों नहीं? गदहीबर क्यों नहीं? गाय श्रेष्ठ है तभी तो गोबर नाम पड़ा।

वस्तुतः ऐसी कोई बात नहीं है। सभ्यता के आरम्भ में ही मानव-मनीषा ने गाय में अनेक उपयोगी वस्तुओं की शोध कर ली थी। चूँकि गाय शोध में पहले आयी इसलिये वैसी ही वस्तुयें अन्यत्र मिलने पर उन्हें भी वही नाम दिया गया। गायों को गोठ में बाँधते थे। गोठ अर्थात् गायों का समूह, उनका घेरा। आज किसी भी वस्तु की परिक्रमा को गोठना कहते हैं। आज राजस्थान में गोठ सामूहिक पिकनिक को कहते हैं- जहाँ लोग चूरमा-बाटी खाते हैं। गायों की व्यवस्था पर विचार-विमर्शहेतु लोग एकत्र होते थे उसे गोष्ठी कहते थे, आज छोटे-मोटे आमेलन को गोष्ठी कहते हैं- जैसे कवि-गोष्ठी। क्या कवि लोग गायों के बारे में ही विचार-विमर्श करते हैं? फिर कवि-गोष्ठी क्यों कहते हैं? गायों के वंश को गोत्र कहते थे। आज यह शब्द मानव-वंश के लिये प्रयुक्त होने लगा है। खोये हुए गायों की खोज को गवेषणा कहते थे, आज प्रत्येक शोध के लिये यही नाम व्यवहृत होता है। गायों पर दृष्टि रखने के लिए प्रयुक्त खिड़की को गवाक्ष कहते थे, आज प्रत्येक खिड़की को गवाक्ष कहते हैं; जबकि गायों की रखवाली के लिए इनका प्रयोग लुप्त हो गया। गायों की बहुतायत वाला प्रदेश 'गोकुल' कहलाया। जैसे बौद्ध-विहार अधिक होने से भारत के एक प्रदेश का नाम ही 'बिहार' पड़ गया। जिस प्रकार बिहार राज्य में बिहार के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है बल्कि बौद्ध-विहार ही कम हैं। आज गोकुल में गायें न के बराबर हैं भैंसें अधिक हैं फिर भी उसे गोकुल ही कहते हैं, उसी प्रकार भैंस के मल को भी गोबर कहते हैं तो आश्चर्य क्यों! कर्मकाण्ड में यदि कोई कहता है कि गाय का गोबर तो नहीं मिला तो पण्डित कहते हैं- भैंस का ही गोबर लाओ। काशी में तो भैंस के गोबर से भी काम चल जाता है।

* इसी प्रकार यह कहना भी विवेकसम्मत नहीं है कि गाय के विकार को गव्य कहते हैं। तब तो कौए के विकार को कव्य कहना पड़ेगा, जिसका उपयोग पितरों के लिये असंगत होगा। लिखते हैं कि गाय से ही पंचगव्य बनता है, अन्य किसी पशु से नहीं। सोचने की बात है कि गाय संसार में सर्वत्र पायी जाती है लेकिन पंचगव्य का आविष्कार और प्रयोग भारत तक ही क्यों सीमित है? भारत में भी केवल ब्राह्मण और ब्राह्मणों में भी केवल पुरोहित पंचगव्य बनाता है। यदि यह कोई उपयोगी आविष्कार होता तो विश्वभर में इसका उपयोग होता, जैसे- टेलीविजन का प्रयोग सब कर रहे हैं, गाय के

दूध का पावडर, मक्खन की टिकिया, गोबर गैस का सर्वत्र प्रयोग है। पंचगव्य का प्रयोग अशुद्ध व्यक्ति अथवा वस्तु को शुद्ध करने में कुछेक स्मृतियों में है, जैसे- किसी ने गाय बाँधा और गले में रस्सी के साथ वह मर गई तो गाय की हत्या का पाप बाँधनेवाले को लगता है। अब शुद्धि के लिये वह गाय का दूध, दही, घी, मल और मूत्र मिलाकर पीये- यही पंचगव्य है। गोमूत्र में जौ उबालकर खाये, गाय चराये, गाय दान दे। यह कोई आविष्कार नहीं टोटका था, रूढ़ि थी, गायों की सुरक्षा का प्रयास था; किन्तु आज इन विधानों को मानने का दावा करते हुए भी इन्हें कोई नहीं मानता। गाय-बैल आज भी मरते हैं; किन्तु गो-हत्या के प्रायश्चित रूप में भीख माँगते, गोशाला में सोते, पंचगव्य पीते या गोमूत्र में जौ उबालकर खाते कोई दिखायी नहीं देता। प्रत्येक जीव की मृत्यु या हत्या में प्रचुर दान-दक्षिणा किसी वर्ग-विशेष की उस युग-जमाने की जीविका थी, जिसे मानना न तो आज सम्भव है और न कोई मानता ही है।

मल-मूत्र के आयुर्वेदिक प्रयोग में गाय के साथ अन्य पशु-पक्षियों का भी स्थान है। किसी पक्षी की बीट फोड़े को बहा देती है, तो बकरी और गैंडे के मूत्र का अपना प्रयोग है। भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ने तो शिवाम्बु का साहसिक प्रयोग किया। अतः यह कथन भी अतिशयोक्ति है कि केवल गाय का मल-मूत्र उपयोगी होता है।

* ऐसी ही अतिशयोक्ति विद्वान् लेखक वहाँ भी करते हैं जहाँ वे कहते हैं कि गाय तो माँ से भी बढ़कर है; क्योंकि माँ बहुत सेवा लेती है, अन्न खाती है, जबकि गाय घास-भूसा खाकर ही सन्तोष करती है। पशु तो है ही और क्या मालपुआ खिलाने का विचार है? कहते हैं, माँ सालभर ही दूध पिलाती है, गाय आजीवन पिलाती है। यदि गाय इतनी ही प्रिय होती तो कष्ट में वृद्ध व्यक्ति भी 'हाय मैया' न कहकर 'हाय गैया' कहता; किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। कहावत है कि 'हरिअर खेती गाभन गाय। तब जानो जब मुख में जाय।' कहीं कोई बच्चा मर गया तो दूध का कोई भरोसा नहीं और दूध है तो 'दुधारु गाय की चार लात' ऊपर से सहनी पड़ती है। रूखी-सूखी खानेवाली गाय सौ ग्राम से अधिक दूध भी नहीं देगी। इतनी अल्पमात्रा में दूध, जिस पर पहला हक बछड़े का है, एक बूँद भी उसे नहीं मिलता- यह देखकर गाँधीजी ने गाय का दूध पीना बन्द कर दिया था, बकरी पाल रखी थी उन्होंने। फिर भी विश्ववन्द्य बापू कहलाये। ईसा भेड़ चराते रहे, मुहम्मद बकरी; किन्तु ईश्वरीय ज्ञान का आलोक मिलने में इन्हें कोई बाधा नहीं हुई, यद्यपि उन्होंने गो-सेवा नहीं की।

जीवनपर्यन्त की कौन कहे, गाय पाँच-छः महीने से अधिक दूध नहीं देती, बदलते रहना पड़ता है। गाय के दूध में प्रचुर घी भी नहीं होता। यदि भैंस चार हजार में मिलती है, तो उतनी ही दूध देनेवाली गाय दो हजार में मिल जाती है। भैंस को घर के भीतर

बाँधते हैं, तो गाय को खेत में भी कोई पूछता भी नहीं। कहते हैं गाय का दूध नवजात शिशु के फाहे के काम आता है, जब माँ का दूध भी काम नहीं आता; किन्तु उससे भी पहले शिशु श्वास में आक्सीजन लेने लगता है और जीवनपर्यन्त लेता रहता है तो क्या आक्सीजन हो गया धर्म?

इस प्रकार उनकी पूरी पुस्तिका में गाय या तो वस्तु है या देवता। वस्तु है तो रक्षा कीजिये। अपनी वस्तु की रक्षा कौन नहीं करता? उसके लिए संकट कौन नहीं सहता? किन्तु वस्तु का उपयोग घटता-बढ़ता है। घर कच्चा था तो लीपने के लिये गोबर का उपयोग था, पक्का हो गया तो आवश्यकता जाती रही। खाद के लिए गोबर आवश्यक था; किन्तु यूरिया और डाई कुछ ऐसी आईं कि गोबर का प्रयोग क्षीण होने लगा। जिस प्रकार भैंस की खोज से गाय का मूल्य घट गया, उसी प्रकार जर्सी इत्यादि के समक्ष भैंसों का अवमूल्यन सम्भव है; यद्यपि जर्सी इत्यादि गाय हैं ही नहीं- क्रास हैं, वर्णसंकर हैं। अस्तु, वस्तु के रूप में गाय का प्रयोग ह्रासोन्मुख है। फिर भी वस्तु है तो भली प्रकार रक्षा करें।

रही बात गाय के देवता होने की! वैसे तो ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार गाय के शरीर में कोई देवता रहता ही नहीं। फिर भी यदि गाय देवताओं की बहन, माता या पूरा देव-समूह भी हो तो क्या? जैसे सृष्टि में सभी जीव हैं वैसे ही देवता हैं। वे भी **'भव प्रबाहँ संतत हम परे।'** *(मानस, ६/१०६/१२)* जन्म-मृत्यु के प्रवाह में निरन्तर बहनेवाले हैं। **'अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेवा।।'** *(मानस, ७/६३/७)*- देवता भी काल की जलपान-सामग्री मात्र हैं। हम उस जलपान-सामग्री से क्यों प्रार्थना करें, ''जो काल तुम्हें खाने बैठा है, उसी से हमें बचा लो।'' वह सक्षम होता तो स्वयं न बच जाता? **'स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई।'** *(मानस, ७/४३/१)* नहुष स्वर्ग से गिरा तो अजगर बना। **'मनुज देह सुर-साधु सराहत'** *(विनय०, पद १७५)*- सराहना मानव-तन की होती है, गाय-तन की नहीं। देवताओं से भी बड़ी एक वस्तु आपके पास है, वह है मानव-तन। यह सुर-दुर्लभ है और आपको मिल चुका है, फिर आप किस देवता या गाय-बैल से आशावान् हैं। गोस्वामीजी कहते हैं-

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।
तजि हरि-चरन-सरोज सुधारस, रबिकर-जल लय लायो।।
त्रिजग देव नर असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो। *(विनय०, १६६)*

अर्थात् मूर्ख मन! कहाँ दौड़ रहा है? भगवान के चरण का अमृत छोड़ मृगतृष्णा के पीछे क्यों दौड़ रहा है? क्या है मृगतृष्णा? देवादि शरीर! और तुम उससे होकर आ रहे हो। तुम देवता रह चुके हो, वहाँ शान्ति नहीं!

भगवान राम के अनुसार भवसागर से पार होने का एक ही उपाय है कि **'नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।'** *(मानस, ७/४३/७)* तरने का उपाय नर-तन में है। गाय कोई उपाय नहीं है।

* कहते हैं, गाय विष्णुस्वरूपा है, तब भी वह परमश्रेय या कल्याण का साधन तो नहीं है। वे सृष्टि-संचालन के अन्तर्गत हैं, सृष्टि के बाहर नहीं। मनु तपस्या कर रहे थे, उस परम प्रभु के लिए- **'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना।।'** *(मानस, १/१४३/६)* पूर्ण पराक्रम से नहीं अपितु जिसके अंशमात्र से अनन्त ब्रह्मा, अनन्त विष्णु और अनन्त शंकर पैदा होते हैं, वह कल्याणस्वरूप परमात्मा इन विष्णु से कहीं आगे हैं। किष्किन्धा में राम का परिचय लेने के प्रसंग में हनुमान ने पूछा- **'की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ।। जग कारन तारन भव, भंजन धरनी भार। की तुम्ह अखिल भुवनपति, लीन्ह मनुज अवतार।।'** *(मानस, ४/१)* अर्थात् तीन देव कुछ और हैं, नर नारायण दूसरे हैं; किन्तु अखिल भुवनपति कोई और ही है। कहीं **'अगनित रबि ससि सिव चतुरानन'** *(मानस, १/२०१/१)* उस परमात्मा से निकल रहे हैं तो कहीं **'बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता।'** *(मानस, ७/९१/६)* एक राम की उपासना पर बल दिया गया है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्यान्य देवी-देवता की श्रेष्ठता पौराणिक कल्पना की उपज है। अवतारवाद की जो क्षीण रेखा वैदिक साहित्य में है और जितनी सरलता से कही गयी है, रामायण और महाभारतकाल तक आते-आते पूर्णतः विकसित हो गई है। वैदिक युग में प्रजापति एवं इन्द्र की विशेषताएँ धीरे-धीरे विष्णु में आरोपित की गईं और महाभारत के पश्चात् सृजित पुराणों में साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह के कारण एक-एक देवी या देवता से अनेकानेक दूसरे देवता निकलते दिखाई देते हैं। गोस्वामीजी भी उसी शैली का प्रयोग करते हैं; किन्तु 'एक परमात्मा ही पूज्य है' की वैदिक धारणा उनके सम्पूर्ण काव्य का केन्द्रबिन्दु है। यद्यपि वाल्मीकीय रामायण एवं महाभारत दोनों ही संकलन ग्रन्थ माने जाते हैं, कई शताब्दियों में उनके कलेवर का विस्तार होता रहा है फिर भी रामायण का अवतारवाद महाभारत का ही एक अंग है। पुरुषसूक्त के अनुसार गाय सृष्टि का ही एक अंग है।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः।। *(ऋग्वेद, १०/९०/१०)*

उसी परमपुरुष परमात्मा से घोड़े उत्पन्न हुए। ऊपर-नीचे दाँतोंवाले पशु उत्पन्न हुए। गायें उत्पन्न हुईं। उसी से बकरियाँ तथा भेड़ें भी उत्पन्न हुईं। जैसे सब पशु वैसे ही गाय भी है, विष्णुस्वरूपा नहीं और विष्णु भी अविनाशी परमात्मा नहीं है।

* रामचरितमानस का उद्घोष है कि भवरोग की केवल एक दवा है-

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।।

(मानस, ७/१२१/६-८)

इसके अतिरिक्त जब कोई रास्ता है ही नहीं तो आप दूसरा यत्न क्यों करते हो? दाहिने-बायें यत्न करो या करोड़ों यत्न करो, गाय को ब्रह्मा-विष्णु मान लो या भैंस मान लो, उससे क्या होता है? यह तो भटकाव है, सम्प्रदायों का झमेला है, जिसमें कल्याण कदापि नहीं।

* वेद का निर्णय है, नारायण ऋषि द्वारा प्रसारित पुरुषसूक्त का निर्णय है कि वह अविनाशी परमात्मा हजारों हाथ, पैर और मुँहवाला है। अकेला वही सर्वत्र व्याप्त है। उसके अंशमात्र तेज से चराचर जगत् की उत्पत्ति है। ब्रह्मा ने यज्ञ द्वारा उसे ही हृदय-देश में पाया, इन्द्र ने उसी को देखा। अनादिकाल से पूर्व मनीषियों ने मानस-यज्ञ द्वारा जिसको पाया, वह अविनाशी तत्त्व यही है। उसे जाने बिना अमर होने का अन्य कोई रास्ता नहीं, अन्यत्र कहीं मुक्ति नहीं, कहीं शाश्वत शान्ति नहीं। फिर गाय के नश्वर कलेवर में आप कौन-सी मुक्ति खोज रहे हैं?

* बड़ा क्षोभ है लेखक महोदय को कि कलियुग में दुष्ट सुखी हैं और सज्जन कष्ट पाते हैं। सुना है, वे मानस के अध्येता भी हैं। इन्हें यह भी पता नहीं कि युग होता क्या है? कब से शुरू होता है और रहता कहाँ है? मानस में ही है कि **'बुध जुग धर्म जानि मन माहीं।'** *(मानस, ७/१०३/६)* विवेकी पुरुष युग को मन के अन्तराल में जानते हैं। बाहर न कहीं युग है, न होगा। कलि या सतयुग जिसे आना है आपके हृदय में आयेगा। आपके चाहने से नहीं आयेगा। आयेगा तब जब राममाया क्रियाशील होगी। **'नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदयँ राम माया के प्रेरे।।'** *(मानस, ७/१०३/१)* जैसे **'तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।।'** *(मानस, ७/१०३/५)* मन के अन्तराल में तामसी गुणों का बाहुल्य हो, किंचित् रजोगुण हो तो व्यक्ति की साधना कलियुगीन है। इस स्तर पर चारों ओर वैर-विरोध उसका स्वभाव होगा। अस्तु, युग साधक की आन्तरिक क्षमता की कसौटी है। यदि कलियुग आज कहीं बाहर है तो सात्त्विक किसी को होना भी नहीं चाहिए।

* अन्त में हताश होकर आचार्यजी कहते हैं कि जो श्रुति, स्मृति और पुराणों को नहीं मानेगा उससे कुछ भी कहना अरण्यरोदन के समान है। श्रुति माने वेद, जो संख्या में चार कहे जाते हैं। शास्त्र छः हैं- सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और

वेदान्त। जिन्हें लोग न जानते हुए भी शास्त्र की दुहाई देते हैं। इनसे भिन्न सैकड़ों पुराण और उपपुराण हैं जिनमें से अठारह अधिक प्रचलित हैं। मनु इत्यादि की स्मृतियों को धर्मशास्त्र भी कहते हैं, जो संख्या में सैकड़ों हैं। अब हम इस आरोप की समीक्षा पर आते हैं कि क्या हम वेद-शास्त्र कुछ मानते भी हैं या नहीं?

मान्यता है कि पहले सभी शास्त्र मौखिक थे। शिष्य-परम्परा में सिखाये-रटाये जाते थे, जिन्हें सर्वप्रथम वेदव्यास ने लिपिबद्ध किया। जिनमें चार वेद, वेदान्त, भागवत, महाभारत और उसी के एक अध्याय रूप में गीता भी है। अन्त में उन्होंने विचार किया कि हमने इतना कुछ लिख डाला कि मनुष्य एक-दो जन्म पढ़ता ही रह जाय फिर भी वह एक निर्णय पर नहीं पहुँच सकेगा। इसलिए व्यास ने स्वयं निर्णय दिया कि **'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।'** *(महाभारत, भीष्मपर्व, ४३/१)*- गीता ही धर्मशास्त्र है। एक अध्याय के रूप में जिसने इसे लिखा, उन महर्षि ने स्वयं इस एक अध्याय को एक शास्त्र माना। केवल इसी के पालन पर बल दिया। यहाँ तक कि वेद तथा अन्य ग्रन्थों की ओर संकेत तक नहीं किया, जबकि उन्होंने ही इन आर्षग्रन्थों का संकलन किया था। इतना ही नहीं, भगवान श्रीकृष्ण ने भी समर्थन दिया कि यह पूर्णशास्त्र है- **'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।'** *(गीता, १५/२०)* अर्थात् यह गोपनीय से भी परम गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। गीता शास्त्र है। इसको आचरण में ढालनेवाला कृतकृत्य हो जाता है। किन्तु इस शास्त्र में निर्दिष्ट विधि को त्यागकर जो मनमाना आचरण करता है उसके लिए न सुख है, न समृद्धि और न शान्ति। अस्तु हमारा-आपका, मानवमात्र का शुद्ध शास्त्र गीता है, जिसमें पुरुषोत्तम परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी की पूजा का निर्देश नहीं है।

फिर भी यह जिज्ञासा रह ही जाती है कि अन्ततः श्रुति में लिखा क्या है कि आचार्य कहते हैं जो श्रुति, स्मृति, पुराण नहीं मानता उससे कुछ कहना अरण्यरोदन है। यों तो विशाल वैदिक वाङ्मय को इस लघु निबन्ध में समझाया नहीं जा सकता फिर भी उसका सारांश प्रत्येक को जानना चाहिए। वेद के पुरुषसूक्त की चर्चा इस लेख में हो चुकी है। उसी की तरह एक दूसरा सूक्त हिरण्यगर्भ सूक्त अथर्ववेद (४/२/७) में है। इसमें कहा गया है कि वह परमात्मा **'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'**- सभी प्राणियों का अकेला मालिक हुआ। उसी ने पृथ्वी और अन्तरिक्ष को धारण कर रखा है। उसके अतिरिक्त **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**- किस देवता के लिए हवि का विधान करूँ? इस प्रकार एक परमात्मा में निष्ठा वेद का प्रधान लक्ष्य है।

वेद के पश्चात् उपनिषद् साहित्य की महत्ता है। आइये देखें उपनिषदों का आशय क्या है-

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनँ हि तदिति।। *(बृहद., ४/४/२१)*

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार बुद्धिमान् ब्राह्मण को चाहिए कि परमात्मा को जानने के लिए उसी में बुद्धि को लगाये, अन्य नाना प्रकार के व्यर्थ शब्दों की ओर ध्यान न दे; क्योंकि वह तो वाणी का अपव्यय मात्र है।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (२/२/५) देखें-

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।।

अर्थात् जिसमें स्वर्ग, पृथ्वी और उनके बीच का आकाश तथा समस्त प्राणोंसहित मन गूँथा हुआ है, उसी एक **'आत्मानम् जानथ'**- आत्मा को जानो। **'अन्याः वाचः'** अर्थात् दूसरी सब बातों को **'विमुञ्चथ'**- सर्वथा छोड़ दो। **'अमृतस्य एषः सेतुः'**- अमृत का यही सेतु है।

कठोपनिषद् (१/२/१५) में है कि **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**- सभी वेद उस परमेश्वर का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार उपनिषदों का भी सार-सर्वस्व गीता में भगवान कहते हैं, **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** *(गीता, १५/१५)* सब वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ। गीता वही कहती हैं जो वेद में है अर्थात् एक परमात्मा का चिन्तन। यही गोस्वामीजी भी कहते हैं-

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहिं जाना।।
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा।।
(मानस, ७/१२६/३-४)

श्रुति का सिद्धान्त उसने भली प्रकार जान लिया, जिसका मन भगवान राम के चरणों में अनुरक्त है। **'श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी।।** *(मानस, ७/१२२/२)*। श्रुति का सिद्धान्त यही है कि राम भजो, एकमात्र राम को भजो, इसके अतिरिक्त प्रत्येक कार्य भूल जाओ। एक परमात्मा के स्थान पर गाय की पूजा श्रुति-सिद्धान्त नहीं है। उपनिषद् नहीं कहते, गीता नहीं कहती, मानस नहीं कहता; फिर भी कहते हैं कि श्रुति नहीं मानते। तुलसीदासजी कहते हैं- 'राम को भजो', तुलसी पीठाधीश्वर कहते हैं- 'गाय को भजो।'

* अब आइये पुराणों को देखें। किंवदन्ती है कि अठारह पुराणों को भी व्यास ने ही लिखा। लगता है व्यास कोई उपाधि है, जैसे आज के कथावाचकों को कहते हैं या 'व्यासोवाच' की कोई शैली है; क्योंकि सर्वत्र एक परमात्मा में आस्था दृढ़ानेवाले व्यासजी स्कन्दपुराण में कहते हैं कि शिव बड़े हैं। राम, श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, देवी-देवता सब

उनके नौकर-चाकर हैं। वही व्यासजी विष्णुपुराण में कहते हैं कि भूल हुई! विष्णु बड़े हैं। देवीपुराण में कहते हैं कि देवियाँ ही सब कुछ हैं, उनके सामने ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी तुच्छ हैं। नहीं, नहीं, इन्द्र शाश्वत हैं, तो कहीं सूर्य बड़े हैं। लगता है कि पुराण के व्यास निर्णय नहीं कर पा रहे हैं। 'एक परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं' का उद्घोष करनेवाले व्यास को हो क्या गया?

पुराणों का एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा। शिवपुराण में है कि एक बार ब्रह्माजी विष्णु के पास पहुँचे। तड़ककर बोले- देख! मैं सबका पिता हूँ, सबसे बड़ा हूँ, भगवान हूँ, मुझे प्रणाम कर। विष्णु बोले कि मेरी नाभि से कमल और कमल से तूँ पैदा हुआ, मुझे प्रणाम कर! मैं भगवान हूँ। वाद-विवाद हाथापाई में बदल गया। अस्त्र-शस्त्र निकल आये। इस झगड़े का तमाशा देखनेवाले देवताओं ने शिव को सूचना दी कि दोनों तो मरने-मारने को तत्पर हैं। इस पर शिव ने उन दोनों देवताओं के बीच एक खम्भा खड़ा कर दिया शिवलिंग। लड़ाई रुक गयी। बोले- हम दोनों के बीच यह स्तम्भ कहाँ से आ गया? चलो पता लगायें। ब्रह्मा हंस बनकर उसकी ऊँचाई नापने उड़े और विष्णु शूकर बनकर हजारों वर्षों तक पृथ्वी की खुदाई करते रहे, जबकि सूअर बिल खोदनेवाला जन्तु भी नहीं है।

उधर ब्रह्मा को एक केतकी का फूल झूठी गवाही के लिए मिल गया, जैसे आजकल लोग चकबन्दी में करते हैं। विष्णु से कहा कि हमने पता लगा लिया। फिर तो विष्णु ने प्रणाम किया। दोनों आपस में उलझे थे कि शंकरजी ने ब्रह्मा के पाँच सिरों में से एक को काट दिया। विष्णु ने बीच-बचाव किया कि न हम भगवान और न यह भगवान, जो जीत गया वही भगवान्। भगवान को भगवत्ता का बोध नहीं। जो स्वयंसिद्ध है, सहज है। मानो तो, न मानो तो भी है। आपके मानने न मानने से भगवान में उतार-चढ़ाव नहीं आता। **'बिधि न बनाये, हरि आप बनि आये।'** किन्तु यहाँ तीन-तीन दावेदार लड़ रहे हैं, जैसे एम.एल.ए. का इलेक्शन हो। लगता है कि यह उस जमाने के राजाओं तथा सामन्तों के झगड़े हों।

शैव सम्प्रदाय के पुराणों में है कि शिवभक्त रामभक्त को मार दे तो उसकी इक्कीस पीढ़ी तर जाती है। भला यह मानने लायक बात है? कहते हैं कि जो पुराण नहीं मानता उससे कुछ कहना अरण्यरोदन है। इसमें मानने लायक क्या है? शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर तथा गाणपत्य सम्प्रदायों का रक्तरञ्जित इतिहास मान लें? 'शिवगीता' में है कि जब रावण ने सीता का हरण कर लिया तब अगस्त्य मुनि से दीक्षा लेकर राम शिवाराधन में संलग्न हुए। शिव प्रकट हुए, तो राम काँपने लगे। देखा, ब्रह्मा, विष्णु, सभी देवता हाथ जोड़कर शिव के सामने चले आ रहे हैं। राम की भक्ति से प्रसन्न होकर शिव बोले कि राम! डरो

नहीं, सब राक्षस मेरे मुख में प्राप्त हो चुके हैं। तुम निमित्त मात्र होकर संग्राम करो, कीर्ति पाओगे। 'इति श्रीशिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे शिवराघवसंवादे रामाय वरप्रदानं नाम पञ्चमोऽध्यायः।।' कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान श्रीकृष्ण की गीता की पंक्तियों में अपनी बातें मिलाकर 'शिवगीता' बना लिया और मूल गीता के आशय से दूर खड़े हो गये। इसी प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरे देवताओं की निन्दा और अपनी प्रशंसा में पुराण लिखता गया। अनेक साम्प्रदायिक उपनिषद् भी लिखे गये, जैसे गणपत्युपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, रामोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, सूर्योपनिषद्, सावित्र्युपनिषद्, राधोपनिषद्, सीतोपनिषद्, रुद्रोपनिषद् और यहाँ तक कि अल्लोपनिषद्! इस प्रकार मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी को तोड़-मरोड़कर कुछ इतना अपनी ओर से मिला दिया गया है कि वास्तविकता उनके बीच में दबकर रह गई है। जनसाधारण के लिये तो सचमुच बहुत बड़ी समस्या है कि परस्पर विरोधी अनेकानेक ग्रन्थों के बीच किसे माने और किसे न माने? तिस पर यह धौंस कि वेद, पुराण, स्मृति और शास्त्र नहीं मानते!

इसीलिये 'विनयपत्रिका' (पद १७३) में गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि **'बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।'** अनेक मत सुने (जबकि वेद का एक मत है) पुराणों में बहुत से पन्थ हैं। ये जहाँ-तहाँ आपस में झगड़े हैं। **'गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो।।'**- गुरुदेव ने कहा कि एक राम का भजन करो- यही मुझे अच्छा लगा, यह राजमार्ग जैसा है। कल्पना कीजिये, गोस्वामीजी के समय का राजमार्ग! सम्राट अकबर का शासनकाल था वह! उस युग-जमाने के बीहड़ रास्तों की तुलना में राजमार्ग कि राजा के चलते समय फूल बिछ जाते थे, इत्र का छिड़काव, न मच्छर, न मक्खी, न किसी से पूछना और न कोई भटकाव- ऐसा ही है एक परमात्मा का भजन।

इसी को मानस में लिखते हैं कि **'दम्भिन्ह निज मति कल्पि करि, प्रगट किए बहु पंथ।'** *(७/९७)*- दम्भियों ने बहुत से पन्थ प्रगट किये। विनयपत्रिका में कहते हैं कि **'बहु पंथ पुराननि'**- पुराणों ने बहुत पन्थ प्रकट कर दिये अतः उन्हीं पुराणपन्थियों को गोस्वामीजी ने दम्भी कहा। आजकल शिक्षित वर्ग प्राचीन रूढ़ियों पर उँगली उठाता है तो निरक्षर आचार्यगण झूठ कह बैठते हैं, ''राम राम! घोर कलियुग आ गया! धर्म-कर्म कैसे होगा?'' **'मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा।'** *(मानस, ७/९७/३)*- कलियुग में तो ऐसा कहेंगे ही किन्तु गोस्वामीजी का आक्रोश स्पष्ट ही उन लोगों के प्रति है जिन्होंने एक वैदिक मार्ग के स्थान पर बहुपन्थ प्रकट कर दिये। वेद कहते हैं, **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** *(शुक्लयजुर्वेद, ३१/१८)*- इस एक मार्ग के अलावा दूसरा कोई पन्थ है ही नहीं। पुराण कहते हैं- बहुत से पन्थ, फिर भी आप कहते हैं कि पुराण नहीं मानते!

धर्म के तथाकथित ठेकेदार इन्हीं पुराणपन्थियों ने स्मृतियों के नाम से कानून बनाकर अधिकांश जनता को शिक्षा से वञ्चित रखा। कदाचित् किसी ने पढ़ ही लिया तो उसकी जिह्वा काट दो, सुन लिया तो कान में रांगा, शीशा पिघलाकर भर दो। फिर भी किसी ने सचाई बताई तो उसको अलग सम्प्रदाय घोषित कर सनातन-धर्म से निष्कासित कर दिया। गौतम बुद्ध ने कहा कि रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने उस अविनाशी पद को प्राप्त किया जिसे ऋषियों ने पाया था। मैंने सर्वज्ञता प्राप्त की। (ठीक वही बात जो गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा सर्वज्ञ है, अविनाशी है।) तो बोले- ये बौद्ध हैं। महावीर स्वामी ने कहा, आत्मा अजर-अमर है। इन्द्रिय-संयम करो। तीर्थ बाहर नहीं, तीर्थस्वरूप किसी तीर्थंकर महापुरुष की सेवा करो और उनके बताये रास्ते पर चलो- इन त्रिरत्नों का पालन करो तो आत्मा को जानोगे। - सच बताया तो बोले यह तो जैन है। कोई नंगी तलवार लेकर पीछा करता हो, सामने जैन मन्दिर में जाने से प्राणरक्षा होती हो तो शिर दे देना किन्तु जैन-मन्दिर में न जाना! बौद्ध स्तूप या विहार में गये तो धर्म नष्ट हो जायेगा। जबकि महावीर भी वही बताते हैं जो गीता कहती है कि आत्मा ही शाश्वत है, सत्य है। कश्मीर से प्रयाग तक आर्यावर्त है, रहने योग्य है। शेष स्थान में रहनेवालों को यहाँ वालों से धर्म सीखना चाहिए; क्योंकि ब्राह्मण-धर्म यहाँ संगठित था और इसके आगे बिहार इत्यादि जो बुद्ध और महावीर स्वामी की स्थली है- कहते हैं म्लेच्छ देश है।

कबीर ने सच बताया तो बोले- वेद नहीं पढ़ा है, गँवार है, कबीरपन्थी है। दयानन्द ने वेद लिया, तो बोले- आर्यसमाजी है। नानक ने सच कहा कि **'सिमरहु जासु बिसम्भर एकै'**- विश्व का भरण-पोषण करनेवाला एक परमात्मा है, उसी का सुमिरण करो, तो बोले- सिख है। ईसा ने कहा, 'परमात्मा एक है, उसी में सुख है, शान्ति है, अनन्त जीवन है। संसार भर के लोगो! मेरे पास आओ, तुम्हें भी अनन्त जीवन मिलेगा।' तो बोले, 'यीशु मसीह पढ़ा रहा है, बहका रहा है।' मुहम्मद ने कहा कि 'खुदा जर्रे जर्रे में है, तुम्हारे दिल के भीतर की प्रत्येक हरकत देख रहा है, उससे कोई बड़ा नहीं, उसके अतिरिक्त कोई पूज्य नहीं', तो बोले- म्लेच्छ है। यद्यपि इन सब महापुरुषों के पीछे आज एक-एक सम्प्रदाय बन गया है, जिनमें कुरीतियाँ अधिक जुड़ गई हैं; किन्तु मूल रूप से इन विचारधाराओं के प्रवर्तक उपर्युक्त सभी महापुरुष वही एक बात कहते हैं जिसकी शोध सर्वप्रथम आपके वैदिक ऋषियों ने की- **'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।'** अमृत-अंश विश्वभर के लोगों सुनो! मैंने प्रकाशस्वरूप उस परमात्मा को जान लिया है। एक उसी को जानकर मृत्यु से बचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है।

धर्म एक है और मानवमात्र को एकता के सूत्र में बाँधता है। एक ईश्वर, एक

नाम, एक धाम, एक प्रार्थना-स्थल, एक शास्त्र, एक महापुरुष के स्थान पर आज का समाज बिखरता जा रहा है। क्रिया के नाम पर वेद द्वारा निर्धारित और इन सबका सारांश श्रीकृष्णोक्त गीता द्वारा निर्धारित और नियत कर्म को छोड़कर, सत्य को छोड़कर बाकी सबकुछ करता है। अभी समाचार-पत्रों में था कि कोई बीस वर्ष से काँटों पर सो रहा है। पूछिये क्यों? तो कहते हैं- भजन कर रहे हैं। कोई सूरज की ओर देखता है, तो भजन कर रहा है। कोई एक पैर से खड़ा है, तो भजन कर रहा है। कोई नाक दबा रहा है, तो कोई कान में उँगली डाल रहा है, कहता है- यही भजन है। और कैसे भजन करें तो बताते हैं कि सिर के बल खड़े हो जाओ। नहीं बना तो बोले- गुदाद्वार से पानी खींचो। न कोई साधना निश्चित हो पायी और न कोई लक्ष्य; फिर भी धर्माचार्य कहते हैं कि जो वेद-पुराण नहीं मानता उससे कुछ कहना ही बेकार है। क्यों, वेद-पुराण में यही सब लिखा है? कुछ भी कहो, कुछ भी करो और कह दो कि वेद में लिखा है। वेद को बदनाम करना, वेद-पुराण के नाम पर भ्रान्तियों का सृजन कर जनता का भयादोहन करना अब तो छोड़ो।

कहते हैं- शास्त्र को मानो। कौन-सा शास्त्र मानें? रामचरितमानस से बताओ तो कहेंगे वाल्मीकि ने तो ऐसा लिखा है, वहाँ से बताओ तो कहेंगे गीता में ऐसा लिखा है, गीता का सही अर्थ बताओ तो कहेंगे वेद में तो ऐसा है, वेद की बात करो तो कहेंगे गरुड़पुराण में ऐसा लिखा है। आप शास्त्र मानते कहाँ हो? जिन महर्षि ने वेद लिखा, अधिकांश शास्त्र लिखा, वह कहता है- गीता शास्त्र है, उसी को मानो, तो आप कहते हैं- स्मृति मानो! वह भी एक नहीं सतयुग के लिये मनुस्मृति, द्वापर के लिये शंखस्मृति, त्रेता के लिए गौतमस्मृति और कलि के लिये पाराशर-स्मृति प्रमाण है। फिर भी अन्य सैकड़ों स्मृतियाँ हैं। पता नहीं किस युग के लिये वे लिखी गयी हैं?

लिखते हैं- स्मृतियाँ वेद की ही व्याख्या हैं इसलिए उन्हें प्रमाण मानो। वेद प्रमाण नहीं रह गया, गीता प्रमाण नहीं है, राम-कृष्ण प्रमाण नहीं रहे, कलियुग में स्मृति प्रमाण हो गई। कहते हैं, जो वेद में है वही स्मृति में है। इसलिये थोड़ा देखें कि स्मृतियों में क्या है? याज्ञवल्क्य-स्मृति (२०६-२०७) में उभयोमुखी गोदान का वर्णन है कि गाय ब्याते समय जब बछड़े का खुर, शिर निकल रहा हो उस समय गाय का मुख एक ओर तो बछड़े का मुँह दूसरी ओर रहता है। उस क्षण गोदान करने से गाय और बछड़े के शरीर में रहनेवाले साढ़े तीन-तीन करोड़ रोयें बराबर युगों तक स्वर्गवास मिलता है। वाराहपुराण के एक सौ बारहवें अध्याय में तथा अग्निपुराण (२१०/३३) में इस दान की महिमा गायी गयी है। विचार कीजिये कि जिस क्षण परिवार के बच्चे बड़ी आशा लगाये गाय के ब्याने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, वह मुहूर्त आया तो स्वर्ग का ठेका लिये आ गये

धर्म के ठेकेदार! मन्त्र पढ़कर गाय हाँक ले गये। बच्चों को एक दिन पायस भी खाने नहीं दिया। स्वर्ग तो जब मिलेगा तब मिलेगा, पूरे परिवार को नरक तो इनके आने से हो गया। कहते हैं जो स्मृति में है वही वेद में है। क्या यही वेद में लिखा है?

पाराशर-स्मृति (१/३६) में लिखा है कि यह स्मृति दो उद्देश्य से बनायी गयी है- (१) ब्राह्मणों के हित के लिये और (२) धर्म की स्थापना के लिये। जब इतने के लिये ही लिखी गयी है तो जिसका हित है वह पढ़े! सबसे क्यों मनवाते हो? यह स्मृति किस धर्म की स्थापना करने जा रही है? लिखते हैं कि शूद्र यदि ब्राह्मण की सेवा छोड़कर कोई अन्य कार्य करे तो उसे नरक होता है (२/१६)। गाय का दूध पीने से, वेद के एक वाक्य पर भी विचार करने मात्र से शूद्र को निश्चय ही नरक होता है (१/७५)। यह सनातन-धर्म है। (२/२०) शूद्र को सारहीन अन्न खाना चाहिए। शूद्र के घर का दूध, दही, घृत, मधु, गुड़ इत्यादि ब्राह्मण खा सकता है; किन्तु उसके घर में न खाये, नदी के किनारे ले जाकर खाये। वेद-वेदांग के जाननेवाले पाराशर ऋषि ने यह व्यवस्था दी। जब वेद-वेदांग में यही लिखा है तो भगवान ही बचाये। लगता है ऋषियों के नाम पर इन स्मृतियों को लिखकर धूर्तों ने वेद को भी बिगाड़ा है। इसीलिये गीता में श्रीकृष्ण ने 'वेदवादरताः' कहकर लोगों को समझाया कि जो संसार-वृक्ष को उसके मूल परमात्मासहित जान लेता है वही वेदवित् है *(गीता १५/१)*। पोथी पढ़नेवाले को श्रीकृष्ण ने वेदज्ञ नहीं कहा जबकि उनके समय में भी इस पुस्तक को कण्ठस्थ करनेवाले, श्रुतिधर कहलानेवाले लोग थे। श्रीकृष्ण ने उनके पास जाने की सलाह नहीं दी बल्कि तत्त्वदर्शी महात्मा के पास जाने की सलाह दी कि- **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।'** ***(गीता, ४/३४)*** इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने यह भी बताया कि तत्त्व क्या है और तत्त्वदर्शिता क्या है? उस तत्त्व को जानने की विधि क्या है?- जिससे पाँच-पचीस तत्त्व की गणना में आप कहीं भटक न जायँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में वैदिक साधना को ही इतना क्रमबद्ध कहा है कि भटकने की कोई गुंजाइश उन्होंने छोड़ा ही नहीं। फिर भी कहते हैं- अरण्यरोदन है।

इन्हीं स्मृतियों में साठ प्रतिशत से भी अधिक समाज को शूद्र घोषित करके न कभी ढंग से खाने-पीने दिया, न कमाने दिया; क्योंकि कमा लेगा तो ब्राह्मणों को सतायेगा। यदि किसी प्रकार वह कमा ही ले तो यज्ञ करने के नाम पर लूट लो। वह कभी पढ़ने न पाये, अशिक्षित और तिरस्कृत बनाये रखो। मन्दिर में न जाने पाये, नहीं तो परमात्मा को टिटनेस हो जायेगा। बनारस में चला गया तो उस मन्दिर के शंकरजी मर गये। धर्माचार्यों ने दूसरा मन्दिर बनवाया कि इसमें शंकरजी शुद्ध हैं, उस मन्दिर के शंकर अशुद्ध हैं।

कौन कहता है कि काशी विद्वानों की नगरी है? जिस काशी में भगवान शिव ने रामचरितमानस को 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' कहकर प्रमाणित किया उसी मानस में है कि काकभुशुण्डिजी अपने पिछले शूद्र-तन में उज्जैन गये तो वैदिक ब्राह्मण गुरु ने उन्हें शिव का मन्त्र दिया। वे शिव-मन्दिर में बैठकर जाप कर रहे थे। उस मन्दिर के शिव शूद्र के प्रवेश से मरे नहीं बल्कि गुरु की अवहेलना पर शाप दिया, आशीष प्रदान किया; जबकि स्मृतियों में है कि वेदवाक्य पर विचारमात्र से शूद्र नरक में जायेगा। गीता में भगवान कहते हैं कि स्त्री-पुरुष, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण अथवा कोई भी पापयोनिवाला हो, मेरी शरण होकर परमगति को प्राप्त होता है। अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भाव से अर्थात् अन्य न- गाय-बैल, देवी-देवता, भूत-भवानी, नागनाथ-साँपनाथ किसी को न भजकर केवल मुझे भजता है, वह साधु मानने योग्य है; क्योंकि वह सही निर्णय के साथ लग गया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है- यह है गीता का धर्मात्मा। गीता की दृष्टि में शूद्र भी धर्मात्मा बन सकता है, स्मृति में है कि उसे निश्चित ही नरक होगा। गीता कहती है कि स्त्रियाँ भी भगवान की भक्ति करें, किन्तु स्मृतियाँ कहती हैं- स्त्रियाँ केवल पति की भक्ति करें। पति की अनुमति न हो तो भगवान की भक्ति कभी न करें। यदि करती हैं तो अपने पति को अल्पायु बनाती हैं तथा मरने पर नरक में जाती हैं- *(पाराशर-स्मृति ४/१७)* फिर भी कहते हैं स्मृति को मानो।

स्मृति में लिखा है कि थोड़े से अन्न को कौआ-कुत्ता जूठा कर दें या गाय-गधा सूँघ लें तो उस अन्न का त्याग कर दें; किन्तु वेद-वेदांग के जानकार पाराशर मुनि ने कहा कि अन्न अधिक है तो नहीं फेंकना चाहिए। जितने में लार लगी है, वह फेंक दें। शेष अन्न सोने के पानी से धोकर आग में तपाकर तथा ब्राह्मणों द्वारा वेदध्वनि से शुद्ध होता है *(पारा. ६/७१-७४)*। अमेरिका का गेहूँ भारत न आता तो लोग भूखों मर जाते, किन्तु इस तरह की शुद्धि किसी ने नहीं की फिर भी कहते हैं कि स्मृति मानो!

कुएँ या तालाब का पानी यदि खराब हो गया हो, तो उसमें से सौ घड़ा जल बाहर फेंककर पंचगव्य डालने पर शुद्ध होता है *(पारा. ७/५)*। आज कोई पंचगव्य नहीं डालता। क्लोरीन, ब्लीचिंग, पोटाश इत्यादि केमिकल्स हो गये हैं। पंचगव्य डालने से तो कालरा के कीटाणुओं को खुराक मिलती है, इसीलिए पहले गाँव के गाँव हैजे से साफ हो जाते थे। लिखा है कि ब्राह्मण-हत्या का दुगुना पाप गर्भपात कराने पर लगता है, उस स्त्री का त्याग कर देना चाहिए *(४/२०)*- जबकि आजकल सिलाई मशीन ईनाम में मिलता है। गर्भपात ही नहीं, वन्ध्याकरण का लक्ष्य पूरा न करने पर वेतन रुक जाता है, पदोन्नति नहीं होती। वस्तुतः यह व्यवस्था है, धर्म नहीं।

आपके मन में बहुत देर से एक प्रश्न उठ रहा होगा कि पुराणों में, स्मृतियों में मानने लायक कुछ है भी या नहीं? देखिये, बुद्धिजीवी वर्ग सदा से ही समाज पर शासन करता आया है। उन्हीं द्वारा निर्मित उस जमाने का कायदा-कानून, रहन-सहन इन स्मृतियों में अंकित हैं। ये प्राचीन व्यवस्थाएँ थीं। अपने विकास का इतिहास देखने के लिए उनका रहना जरूरी है; किन्तु उस जमाने के कानून को, उस युग की सभ्यता को वर्तमान समाज पर थोपना कहाँ का न्याय है? रही इनमें से कुछ लेने की बात, तो आप भी वही ग्रहण करें तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने किया है- **'श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।।'** *(मानस, ७/१२१/१४)* लिखी हो कोई बात इन पुराणों में, गोस्वामीजी उसे देखते भी नहीं। **'नानापुराण निगमागमसम्मतं'** केवल एक बात उन्हें दिखायी देती है कि एकमात्र परमात्मा ही समस्त सुखों का स्रोत है। 'रघुपति भगति' बिना कहीं सुख है ही नहीं और तुलसी पीठाधीश्वर कहते हैं गाय सुख देगी। **'वेदमत सोधि, सोधि-सोधि कै पुरान सबै...'**- गोस्वामीजी ने वेद छान डाला, पुराणों को मथ डाला; लेने लायक बात केवल एक मिली कि **'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।'**

* आचार्य अपनी पुस्तिका में लिखते हैं कि भारतीय संस्कृति में पशु भी पूजा जाता है, जैसे- गणेश के प्रतीक हाथी को पूजते हैं, शंकर का प्रतीक मानकर नीलकण्ठ पूजा जाता है, उसी प्रकार गाय को भी विष्णु की सजीव प्रतिमा मानकर उसका समर्थन करें तो आपत्ति क्या है? **'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।'** *(मानस, १/७/२)*

देखिये, जितनी आसानी से लोग यह चौपाई कह देते हैं, उतनी आसान बात नहीं है। पूज्य परमहंसजी महाराज (गुरुदेव) कहते थे कि साधनाकाल में एक स्तर ऐसा भी आता है, महाराजजी को भी आया था कि जड़-चेतन में सर्वत्र इष्ट दिखायी देने लगता है। यही देखकर महाराजजी ने दातुन करना कुछ दिनों के लिए बन्द कर दिया था। उन्हें लगता था, जैसे रोआँ उखाड़ने में शरीर को कष्ट होता है वैसे ही पेड़ को कष्ट होता है इसलिए दातुन कुछ दिन नहीं किया। किन्तु यह भी बीच की ही एक अवस्था है। आगे जाने पर यह भी एक अज्ञान ही लगता है। ऐसा होता है कि साधक को **'जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।'** *(मानस, २/१३०/७)* भगवान ही सर्वत्र दिखाई देते हैं। गोस्वामीजी के शब्दों में- **'उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।।'** *(मानस, ७/११२ ख)* जब साधना की सही प्रक्रिया में पड़कर केवल राम के चरण में रति शेष रह जाती है, काम-मद-क्रोध शान्त हो जाते हैं, ऐसा ही व्यक्ति जगत् को सीयराममय देख सकता है। सब न देखते हैं, न जानते हैं,

केवल मान लेने से जगत् सीयराममय दिखाई नहीं देता। जानना कुछ और है और मानना कुछ और।

पशु-पक्षियों की पूजा हमारी संस्कृति नहीं बिखराव है, उदारता नहीं आत्मघात है। यह पुराण एवं स्मृतिकालीन विकृति है, न कि भारतीय संस्कृति। यह बीच में आयी एक भँवर है न कि स्वच्छ धारा। शिक्षा को कैदकर स्मृतियों ने मानव-समाज को मूर्ख बनाकर रखा और फिर पेड़ पूजो, पत्थर पूजो, भूत पूजो, साँप पूजो- जो भी चाहा, भोलीभाली जनता को भय दिखाकर मनवा लिया कि नीम में शीतला माई, महुए में वृत्रासुर, बरगद में ब्रह्म तो गाय की तरह पीपल में पूरा देवलोक- 'पात्रे पात्रे देवानाम्' पत्ते-पत्ते में देवता, चेचक में शीतला - इस प्रकार विधाता के सृष्टि को, नश्वर कलेवरों को हजारों तरीके से पुजवा दिया। यह सब वाममार्ग है न कि भारतीय संस्कृति।

हमारी संस्कृति भगवान राम द्वारा प्रदत्त है, भगवान श्रीकृष्णप्रदत्त है। परमप्रभु श्रीराम ने अयोध्या की विशाल जनसभा को सम्बोधित करते हुए कहा कि यदि परलोक चाहते हो अथवा यहीं सुख और समृद्धि चाहते हो तो मेरी बात ध्यान से सुनो, हृदय में दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लो। इन दोनों बातों के लिए एक ही रास्ता है, गरीब-अमीर सबके लिए सुलभ रास्ता है। कौन? 'भगति मोरि'- मेरी भक्ति करो। न सीता की, न हनुमान की, न गाय की, न भैंस की, केवल मेरी भक्ति करो।

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू।।
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।।

(मानस, ७/४४/१-२)

यही पुराण और श्रुतियों ने गायन किया है। एक परमात्मा की भक्ति हमारी संस्कृति का पहला चरण है और दूसरे चरण में है वह सामाजिक मर्यादा जिसे राम ने स्थापित किया- भाई से भाई का कर्तव्य, पिता-पुत्र का कर्तव्य, मित्र-शत्रु एवं समाज के प्रति दायित्वबोध। इतना ही तो भारतीय संस्कृति है।

इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में बताया कि आत्मा ही शाश्वत है, अविनाशी है, अमृतस्वरूप है, वही सनातन है। हमलोग कौन हैं? आत्मा के उपासक हैं। गाय के नहीं, देवी-देवता के नहीं, ईंट-पत्थर के नहीं। यदि आप आत्मा को विदित करने की क्रिया नहीं करते, तो आप सनातनधर्मी कैसे? आत्मा को विदित करने की जो क्रिया योगेश्वर श्रीकृष्ण बताते हैं, उसमें गाय की पूजा तो नहीं है। **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** *(गीता, ४/३१)*- आत्मा, परमात्मा, भगवान, ब्रह्म सब पर्याय हैं। श्रीकृष्ण भी बताते हैं उसी एक परमात्मा की पूजा। यही भारतीय संस्कृति का प्रथम पक्ष है और योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कैसे मित्र का रथ हाँका, दीनों को कैसे अपनाया, कैसा संगठन-कौशल था उनमें;

सफल समृद्ध और जीवन्त जीवन-शैली- यह है हमारी संस्कृति का दूसरा पक्ष। कौआ पूजना, उल्लू पूजना यह हमारी संस्कृति नहीं है, बीच में आई हुई एक कुरीति है।

इन्हीं कुरीतियों की देन है कि सोमवार को शंकर का व्रत, मंगलवार को हनुमान की पूजा, बुध को गणेशजी, गुरुवार को बृहस्पति भगवान, शुक्र को सन्तोषी माता का व्रत, शनि को शनि ग्रह की शान्ति और रविवार को सूर्योपासना होती है। कहते हैं- भारतीय संस्कृति है। सातों दिन देवताओं की पूजा के लिये बाँट दिये गये। भगवान के लिए पूरी जिन्दगी सोचने का कोई दिन ही नहीं बचा। कहीं एकल उपासना, तो कहीं युगल सरकार की उपासना, तो कहीं पाँच-पाँच देवताओं की एक साथ उपासना। कहते हैं- भारत की समन्वयवादी संस्कृति है। संस्कृति यह नहीं, यह तो विकृति है।

कहते हैं- जाति-व्यवस्था भारतीय संस्कृति है। सीधे क्यों नहीं कहते कि आपसी फूट भारतीय संस्कृति है? पहले तो इन स्मृतियों-पुराणों ने पूरे संसार को चार वर्णों में बाँटा, जिसमें ब्राह्मण को सरस्वती देवी की, क्षत्रिय को दुर्गा की, वैश्य को लक्ष्मी की और शूद्र को काली की पूजा करनी चाहिए। भगवान का कहीं नाम ही नहीं। कहते हैं- यह भारतीय संस्कृति है। कायस्थ चित्रगुप्त की पूजा करें तो लुहार विश्वकर्मा जयन्ती मनावें, भंगी लोग वाल्मीकि जयन्ती मनावें। भगवान की पूजा के लिये किसी को आदेश नहीं, जबकि राम और श्रीकृष्ण के आदेशानुसार सिवाय एक परमात्मा के किसी को पूजने का विधान ही नहीं है।

इन पुराणपन्थियों के अनुसार सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धि के दाता गणेश हैं और सम्पूर्ण ज्ञान की देवी सरस्वती हैं। मनुष्य को और चाहिये क्या? या तो ज्ञान या समृद्धि! यह दोनों गणेश और सरस्वती से मिलेगा फिर भगवान की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है? क्या यही है भारतीय संस्कृति? हर तिथि के लिये अलग-अलग व्रत, प्रत्येक नक्षत्र का अलग-अलग व्रत। कहते हैं द्वितीया को अशून्य शयन व्रत करना चाहिए। जैसे विष्णु की शैया पर सदैव लक्ष्मी रहती हैं, उसी प्रकार इस व्रत को करने से पुरुष की शैया स्त्री से और स्त्री की शैया पुरुष से कभी खाली नहीं रहती। क्या यही है संयम-प्रधान भारतीय संस्कृति? श्रुति कहती है- ***'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' (कठोपनिषद्, १/२/१५),*** यहाँ प्रलोभन देते हैं कि शैया खाली नहीं रहेगी। यह संस्कृति नहीं, विषय-लोलुपों द्वारा जोड़ी गई विकृति है, उन्हीं की कृति है।

इतनी स्पष्ट और प्रशस्त भारतीय संस्कृति होते हुए भी लोग नश्वर कलेवरों की पूजा में भटक गये। यह पुराणों और स्मृतियों की देन है; बल्कि यह कहना सचाई के अधिक नजदीक होगा कि इन ग्रन्थों को विकृत बनानेवालों का षड्यन्त्र है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि केवल एक परमात्मा का अस्तित्व है, बाकी किसी का अस्तित्व है ही नहीं। अस्तित्व

की पूजा करनेवाला आस्तिक और नश्वर कलेवरों को पूजनेवाला नास्तिक है; फिर भी बहुत से आचार्य अनजाने ही अस्तित्वविहीन देवी-देवता, पशु-पक्षी इत्यादि नश्वर कलेवरों की पूजा में लगे हैं। मज्झिम निकाय में है कि महात्मा बुद्ध के समय में कूकरव्रती, गोव्रती अनेक सम्प्रदाय भारत में थे। कोई केशकम्बली था अर्थात् बालों को बढ़ाकर कम्बल का काम लेता था, तो कोई कुछ करने को ही भजन मानता था। कुत्ते की तरह रहनेवाले कूकरव्रती थे। गोव्रती के बारे में गौतम बुद्ध से पूछा कि, ''भन्ते! हमारा यह साथी वर्षों से गाय की तरह चलता-फिरता, मुख से बाँ-बाँ करता, नाद में मुँह डालकर खाता और सिर से खुजलाता है। गाय की रहनी को इसने पूरी तरह जीवन में ढाल लिया है। बताइये इसकी क्या गति होगी?'' गौतम बुद्ध ने कहा- यह न पूछते तो अच्छा था। बहुत आग्रह करने पर कहा कि जो गाय का ही चिन्तन करता रहा, उसकी एक ही क्रिया को ढालने में तन्मय रहा तो निःसन्देह उसे अगला जन्म गाय का लेना पड़ेगा। जब मृग का चिन्तन करने से जड़भरत को मृग बनना पड़ा, तो गौतम बुद्ध ने क्या गलत कहा? इसी तरह एक ब्राह्मण सात सौ बछिया, सात सौ बकरी, सात सौ भेड़ की बलि देकर भगवान को प्रसन्न करना चाहता था, बुद्ध ने उसे समझा-बुझाकर रोका। वह उनका शिष्य महाकश्यप हुआ।

तात्पर्य यह है कि एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी श्रद्धा को बिखेरना न तो धर्म है और न भारतीय संस्कृति, फिर भी कोई जगद्गुरु देवी की पूजा बताता है, तो कोई जगद्गुरु विष्णु की, तो कोई गाय की। चार-चार आदमियों का संगठन और लिखते हैं जगद्गुरु! भारत में इस समय सैकड़ों जगद्गुरु है जबकि जगत् एक ही है। आदि शंकराचार्य ने 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का उपदेश दिया तो उनकी गद्दी पर बैठनेवाले शंकराचार्यों ने भूत-भवानी इन सबकी स्तुति में इतना कुछ लिख डाला कि आदि शंकराचार्य का सिद्धान्त ही छिप गया। इसी तरह गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा कि कोई भी क्यों न हों **'तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी।' (मानस, ७/१२३/७)** तो उनकी गद्दी पर बैठनेवाले कहेंगे कि गाय तार देगी।

इन आचार्यप्रवरों को अपने ऊपर तथा समाज के ऊपर तरस आनी चाहिये कि जिस प्रपंच को छोड़कर विरक्त हुए, उसी जाति-पाँति, सम्पत्ति की पुष्टि में अपना जीवन गँवा रहे हैं। ब्राह्मण ही भगवान का अधिकारी है, ब्राह्मण के लिये ही भगवान अवतार लेते हैं- ऐसा कहकर वे आज के शिक्षित समाज में हँसी के पात्र बनते जा रहे हैं। रातभर कथा तो कहेंगे रामायण की **'रामहिं सुमिरिअ गाइअ रामहिं।'** *(मानस, ७/१२९/६);* किन्तु सवेरे पूजा करेंगे- **'गणानां त्वा गणपति ँहवामहे।', 'या देवी सर्वभूतेषु छायारूपेण संस्थिता,..... मायारूपेण संस्थिता।'** न जाने कौन-कौन सी चालीसा पढ़ने बैठ जाते हैं।

अतः बन्धुओ! एक परमात्मा का सुमिरन करें, यही धर्म है। उस परमप्रभु का यद्यपि कोई नाम नहीं है, कोई रूप नहीं है फिर भी साधनकाल में सम्बोधन के लिये भारतीय मनीषियों ने उसे ही पुरुषोत्तम, ब्रह्म, भगवान, आत्मा इत्यादि नामों से अभिहित किया है। परमात्मा से अभिप्राय सर्वत्र व्याप्त उसी सार्वभौम सत्ता से है जो किसी देश-विशेष, काल-विशेष, जाति-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष से सर्वथा अतीत हो बल्कि समान रूप से सबका हो, भले ही भाषा-भेद से उसे कोइ गॉड या अल्लाह कह ले। जिस तरह जल, आग, पानी, वाटर इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों से भी एक ही वस्तु प्राप्त होती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न भाषाओं के नाम भी उसी एक परमार्थ सत्ता के पर्याय हैं, अनुवाद मात्र हैं। प्राप्तिवाला हर महापुरुष एक ही बात कहता है कि परमात्मा एक है, उसके शोध की स्थली हृदय-देश है और विधि है मनसमेत इन्द्रियों को उस परमात्मा में लगाना। मानव मात्र का इतना ही धर्म है, यही भारतीय संस्कृति है और यही मोक्ष का उपाय भी है। अतः हम-आप एक उसी की आराधना में सलग्न हों जिसमें कल्याण निहित है। गोस्वामीजी कहते हैं-

बाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृहमध्य दीप की बातन्ह, तम निबृत्त नहिं होई।।
जबलगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मनमाहीं।
तुलसिदास तबलगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं।।

(विनयपत्रिका, पद १२३)

कोरी व्याख्यानबाजी से कुछ नहीं। पहले विषयों से आसक्ति हटाइये और कुछ ऐसा कीजिए कि आपके हृदय में वह प्रकाशरूप परमात्मा जागृत हो जाय, जिसकी अनुभूति आपके पूर्वजों ने, वैदिक ऋषियों ने की है।

कैसे जागृत हो वह प्रकाश? गोस्वामीजी बताते हैं- **'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती।'** *(मानस, १/चौपाई ५)* उपनिषद् कहते हैं- **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'** *(मुण्डक उप०, १/२/१२)* अतः निर्धारित क्रिया में लगें- यह भारतीय संस्कृति है।

अन्त में हम आभारी हैं आप सबके, जिन्होंने मनोयोग से इस पुस्तिका को पढ़ने में अपना बहुमूल्य समय दिया, साथ ही आभारी हैं चित्रकूट के महाराज प्रज्ञाचक्षुजी के, जिन्होंने अपने चित्त की गाँठ को खोलकर समाज को सनातन-धर्म पर कुछ कहने और जानने का अवसर दिया।

।। बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय!।।

सती

उस परम पुरुष परमात्मा से, शाश्वत सत्य से जिसका स्वभाव जुड़ा है वह सती है। जो सत्य-परायण है, उसे सती कहते हैं। 'सती' यह शब्द स्त्रीलिंगीय है इसलिए कालान्तर में उभय प्रयोग संकुचित होकर स्त्रियों से जुड़ गया। – *स्वामी अड़गड़ानन्द*

कार्तिक पूर्णिमा (५ नवम्बर, १९९७) के पावन पर्व पर त्यागी आश्रम, बिराँव कोट, वाराणसी के वार्षिक समारोह में स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी द्वारा 'सती' विषयक भ्रामक प्रश्न का रहस्योद्घाटन।

बन्धुओ !

राजस्थान में जयपुर के समीप देवराला ग्राम में अठारह वर्षीया रूपकुँवर का अपने पति के शव के साथ चिता में जीवित जल जाने की घटना के पश्चात् सती-प्रथा भारत की बहुचर्चित समस्या बन गयी है। इस प्रकार जलने के दो उद्देश्य बताये जाते हैं- एक तो यह कि पति के साथ जल जाने पर अगले जन्मों में वही पति मिलेगा और दूसरी भावना है कि जलने पर पति-पत्नी को सीधे परमगति मिलती है, किन्तु दोनों बातें किसी समय की रूढ़ि की देन हैं।

महाकाव्यों और पुराणों में तीन-चार प्रकार की सतियों के उल्लेख मिलते हैं। एक तो अत्यन्त उत्तम कोटि की सतियाँ हैं, जिनका पति कभी मरा ही नहीं। दूसरी वे हैं जिन्होंने पति के आदेशों पर विचार किया- उचित समझा तो माना, नहीं समझा तो नहीं माना और वे भी परम सती हुईं। तीसरी वे हैं, जो एक से अधिक पतियों का वरण करके भी सती कहलाईं। चौथी कोई श्रेणी नहीं बल्कि एक भ्रान्ति विशेष है कि पति के साथ जलनेवाली ही सच्ची सती है। फिर भी जो मातायें-बहनें नहीं जलतीं, उन्हें क्या कहेंगे?

* माता अनसूया, नर्बदा, सावित्री इत्यादि अत्युच्च कोटि की सतियाँ रही हैं। उन्हें जो भी आदेश मिला, उसका पालन किया, जैसे- भयंकर अकाल की स्थिति में, जबकि दूर-दूर तक पानी का हर स्रोत सूख चुका था, पति की आज्ञा पर अनसूया जल लेने निकल पड़ीं, मंदाकिनी का अजस्र स्रोत प्रवाहित हो चला। एक परमात्मा के भजन द्वारा इन माताओं ने वह क्षमता अर्जित कर ली थी कि **'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।'** ***(मानस, ७/११३/४)*** भगवान ही उनकी इच्छा पूरी कर दिया करते थे। संसार की कोई अभीष्ट वस्तु इनकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी (यहाँ तक कि काल भी) इनसे छीन नहीं सकता था। उस भजन का ही प्रभाव था कि सावित्री एवं नर्बदा ने अपने पति को मृत्यु से बचा लिया। सीता भी इसी कोटि की थीं। रावण ने सीता

को राम का मायानिर्मित कटा सिर दिखाया, तो सीता शोकविह्वल होकर बोलीं कि अवश्य ही मुझसे कोई भूल हुई होगी अन्यथा मेरे जीवित रहते आप मारे न जाते। ऐसी सतियों का पति मरा नहीं बल्कि यह साधना की उत्कृष्ट अवस्था है, ये इसी स्तर पर थीं। पति के शव के साथ अनसूया, नर्बदा या सावित्री के जल मरने का उल्लेख नहीं मिलता।

श्रीरामचरितमानस में है- **'सती सिरोमनि सिय गुन गाथा।'** *(मानस, १/४१/७)*- साधारण और मध्यम श्रेणी की नहीं, सतियों की सिरमौर थीं सीता। उनकी रहनी देखें। जब राम वन जाने लगे तो सीता साथ जाने को उद्यत हो गईं। माता कौशल्या ने कहा- राम! तुम स्वयं सीता को समझा दो। यदि घर में रहती तो तुम्हारे पिता सुख से जीते, मुझे भी सहारा हो जाता। श्रीराम ने माता का परितोष किया और **'मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं।।'** *(मानस, २/६०/१)* माँ के समक्ष नववधू से वार्त्तालाप करने में श्रीराम को संकोच हो रहा था (आज नहीं होता) फिर भी देखा कि समय माँग रहा है कि सबके सामने ही समझाऊँ। कदाचित् सीता ने न माना, तो लोग यही कहेंगे कि साथ ले जाने में राम का भी मन था। अतः बोले- राजकुमारी! मेरी सीख सुनो। दूसरा कोई भी विचार मन में लाओ ही नहीं, बल्कि-

आपन मोर नीक जौं चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू।।
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई।।

(मानस, २/६०/३-४)

अपना ही नहीं, मेरा भी हित चाहती हो तो मेरी मानो और घर में रहो। मेरी आज्ञा है कि सास की सेवा करो। भवन में रहने पर ही तुम्हारा कल्याण है। किन्तु यह सुनकर सीता की आँखें भर आईं। पैर के अँगूठे से जमीन कुरेदने लगीं। बोलीं-

दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परमहित होई।।
मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं।।

(मानस, २/६३/६-७)

आपने तो वही शिक्षा दी जिसमें मेरा हित है। क्योंकि ऐसा अवसर न कभी कौशल्या के सामने आया था, न राम को ही ऐसा अनुभव हो सकता था। अतः सीता की खोज थी कि पति-वियोग के समान संसार में कोई दुःख ही नहीं है।

भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू।।
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।।

(मानस, २/६४/५-६)

आपके बिना भोग रोग है, आभूषण भार है, कहीं कुछ भी सुखद है ही नहीं। अस्तु, पति के स्पष्ट आदेश पर भी सीता ने विचार किया और साथ लगी रहीं।

सुमन्त वन में पहुँचाकर लौटने लगे तो पिता का सन्देश सुनाया कि- सीता लौट आती तो मैं जी लेता। इसलिये तुम्हारा और राम का कर्तव्य है कि समझा-बुझाकर सीता को लौटाओ, तो **'पितु संदेसु सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना।।'** *(मानस, २/६६/२)*- करोड़ों उदाहरण देकर समझाया कि **'सासु ससुर गुर प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटै खभारू।।'** *(मानस, २/६६/३)*- सास-ससुर, गुरु, प्रियजन और जनपद के परिजन इन सबका मलाल मिट जाता, यदि तुम लौट जाती। करोड़ों विधि से समझाया। जबकि करोड़ गिनने में ही दो दिन लग जायेंगे, आजकल दस-पन्द्रह लाख की मतगणना में ही दिन बीत जाता है। इतना अधिक समझाया; किन्तु सीता नहीं मानीं तथा अपना परामर्श दिया-

प्रभु करुनामय परम बिबेकी।
तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी।। *(मानस, २/६६/५)*

सीता अयोध्या से चल चुकी थीं। आधी दूरी तय कर चुकी थीं। अतः साधिकार बोलीं कि आज आप यह क्या कह रहे हैं? आप तो परम विवेकी हैं, आपको हो क्या गया है? शरीर से अलग क्या छाया को रोका जा सकता है? चन्द्रमा से चाँदनी क्या अलग की जा सकती है? राम से प्रश्न कर बैठीं। **'पतिहि प्रेममय बिनय सुनाई।'** *(मानस, २/६६/७)* पति को प्रेमपूर्ण विनय सुनाया और नहीं लौटीं।

तीसरा प्रकरण वनवासकाल का है। राम पंचवटी में निवास कर रहे थे। एक कञ्चन मृग दिखाई पड़ा। सीता ने राम को प्रेरित किया कि इसे या तो जीवित पकड़ लायें, वनवास के पश्चात् अयोध्या में रनिवास की शोभा बढ़ायेगा अथवा इसे मृत ही लायें, इसकी छाल से मैं कुटी सजाऊँगी। वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड के तैंतालीसवें सर्ग में है कि सीता ने कहा- ''यद्यपि नारी को आदेश नहीं देना चाहिये, यह भयंकर स्वेच्छाचार है और साध्वी स्त्रियों के लिये उचित नहीं माना गया है तथापि इस जन्तु के शरीर ने मेरे मन में विस्मय उत्पन्न कर दिया है। अतः आप शीघ्र जाइये।'' यहाँ अपनी आवश्यकताओं के लिये सीता मचल जाती हैं।

अन्ततोगत्वा रावण मारा गया। सीता अयोध्या लौटीं तो एक धोबी ने आक्षेप किया। मुकदमे को तगड़ा बनाने के लिए अथवा भूल से उसने अपनी पत्नी को भी निकाल दिया। लोकरंजन के लिये राम ने सीता को वन में भेज दिया। महर्षि वाल्मीकि के प्रयासों से जब सीता का लोकापवाद दूर हो गया तो जनसभा के बीच राम ने स्वीकार किया कि सीता ने एक बार अग्नि-परीक्षा देकर अपनी निर्दोषिता का प्रमाण दिया था, जिससे मैंने उन्हें स्वीकार किया था; किन्तु जनमत से विवश होकर मुझे इन्हें त्यागना पड़ा था। अब सबके सामने सीता पुनः परीक्षा दें, तो मैं उन्हें साथ रख सकता हूँ। राम चाहते

थे कि परीक्षा के पश्चात् सीता उनके सिंहासन की शोभा बढ़ातीं; किन्तु राम देखते ही रह गये और सीता पृथ्वी में समा गईं।

कहते हैं कि पृथ्वी के भीतर से एक सिंहासन निकला, सीता को बिठाया और लेकर चला गया। वस्तुतः यह कवियों की कथा-शैली है। प्रायः जितने भी महात्मा हैं, किंवदन्ती है कि उन सबके लिये विमान आया। मीरा देखते-देखते श्रीकृष्ण की मूर्ति में समा गईं। सन्त कवि तुकाराम ने इन्द्रायणी नदी में डूबकर शरीर त्याग दिया तो कहते हैं कि आकाश से विमान उतरा, उन्हें लेकर चला गया; जबकि पृथ्वी के गर्भ में न कहीं पाताल है, न आकाश में ही कोई लोक (बैकुण्ठ) बसा है, न वहाँ विमानों की कोई व्यवस्था है, न कोई आविष्कार और न कोई उद्योग! अस्तु, आरम्भ से लेकर अन्त तक सीता ने विचारपूर्वक निर्णय लिया। जो बातें उचित थीं, उन्हें भली प्रकार ज्यों-का-त्यों माना; किन्तु सब नहीं, फिर भी **'सती सिरोमनि सिय गुन गाथा।'** *(मानस, १/४१/७)* सीता सती थीं, क्यों?

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित।। *(मानस, ३/५ ख)*

पतिव्रता स्त्रियाँ तुम्हारे पद-चिन्हों का अनुकरण करेंगी, क्योंकि **'तोहि प्रानप्रिय राम'**- राम तुम्हें प्राण के समान प्रिय हैं। वास्तव में वही सती है, जिसकी श्रद्धा एकमात्र परमात्मा के चरणों में केन्द्रित है। परमात्मा ही सत्य है। जो इस सत्य से जुड़ा है वह सती है।

गोस्वामीजी भी कहते हैं **'धरमु न दूसर सत्य समाना।'** *(मानस, २/६४/५)* सत्य है क्या? तो **'ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्दरासी।।'** *(मानस, १/२२/६)* वह सर्वत्र है। एक है, कहीं दो हो गया तो दुनिया बस जायेगी, फिर तो सृष्टि हो गई! भगवान कैसा? अतः एक है, सबसे बड़ा है। उसका कभी विनाश नहीं होता। वही सत्य है। एक परमात्मा ही सत्य है। **'अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी।'** *(मानस, १/२२/७)* वह परमात्मा हृदय-देश में वास करता है। उसके मनन-चिन्तन में जो समय देता है, वह वास्तव में सत्पथ पर है, सती है। सीता में यही विशेष गुण था कि राम उनको परमप्रिय थे। इसलिये सीता सती थीं अन्यथा आज भी तो स्त्रियाँ भली प्रकार आदेश और परामर्श देती हैं, उसी के अनुरूप आचरण करती हैं और अकारण लांक्षित होने पर धरती में समा जाती हैं- कोई मिट्टी का तेल छिड़क लेती है, कोई पंखे पर लटक जाती है, किन्तु यह सती का मापदण्ड नहीं है। सती का सतीत्व पति के सह-मरण की देन नहीं थी।

सीता राम को प्राण की तरह इसलिये नहीं मानती थीं कि राम के साथ उनका विवाह हुआ था, बल्कि उस सत्य के लिये मानती थीं कि जिसकी अभिव्यक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण के पाँचवें मन्त्र में महर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा मैत्रेयी के प्रति हुई है कि **'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।....न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** अर्थात् अरी मैत्रेयी! पति के लिये पति प्यारा नहीं होता, आत्मा के लिये पति प्यारा होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिया नहीं होती, आत्मा के लिए ही स्त्री प्रिय होती है। आत्मा के ही प्रयोजन के लिए सब कुछ प्रिय होता है। इसी को गोस्वामीजी ने सरल शब्दों में व्यक्त किया कि **'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें।'** *(मानस, २/७३/७)* पति के नाते नहीं, राम के नाते मानिये।

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जेहि फूटै बहु तक कहौं कहाँ लौं।। *(विनय०, १७४)*

सचाई तो यह है कि वह एक परमात्मा ही सबका वास्तविक पति है। वेद में है कि (**'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।'** ***(ऋग्वेद, १०/१२१/१)*।** सभी भूत-प्राणियों का वही एक पति है। पत माने मर्यादा (इज्जत)- बारम्बार गर्भवास की अनन्त योनियों का चक्कर काटना, मल-मूत्र-पीव से सनी योनियों से गुजरना इससे बड़ी कौन-सी बेइज्जती हो सकती है? इससे बचकर निर्मल रूप प्रदान करने में जो समर्थ है, वह एकमात्र भगवान हैं। इसीलिये महापुरुषों ने ईश्वर को पति कहकर सम्बोधित किया और उसी की याद में एक सांसारिक रिश्ते को भी वही नाम दिया। राणा की मृत्यु पर मीरा से सती होने के लिये कहा गया, तो उसने इनकार कर दिया, बोली-

ऐसे पति को क्या बरूँ, जो जनमे मरि जाय।
मीरा अविनाशी बर्‌यौ, चुड़लो अमर होइ जाय।।

मीरा ने ही नहीं, पुरुष महानुभावों ने भी ईश्वर को पति माना है, चाहे वह सन्त कबीर रहे हों या सन्तकवि गोस्वामी तुलसीदास। ऋष्यमूक पर्वत पर वटुकवेशधारी हनुमान को श्रीराम ने जब कहा कि तुम मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो, तो **'देखि पवनसुत पति अनुकूला। हृदयँ हरष बीती सब सूला।।'** *(मानस, ४/३/१)*- हनुमान ने पति को अनुकूल समझा। हनुमान वानर जाति के एक पुरुष थे, कोई स्त्री नहीं; किन्तु उन्होंने पति को अनुकूल समझा। वास्तव में पति वह है जो अनन्त योनियों से उबारकर आपको ऐसा जीवन दे जो अनन्त हो, ऐसी शान्ति दे जो असीम हो। ऐसा केवल एक परमात्मा ही दे सकता है। इसलिये वही एकमात्र सच्चा पति है, स्वामी है।

वह परमात्मा कण-कण में व्याप्त है- ऐसा सुना जाता है, तो क्या हम पेड़ की पूजा करें? मिट्टी का ध्यान धरें? उस परमात्मा को पकड़ने की विधि क्या है? उसकी प्राप्ति का एक ही साधन है- उस परमभाव को प्राप्त, अव्यक्त का स्पर्श कर अव्यक्त स्थितिवाला महापुरुष (सद्गुरु), उनके बगैर उस परमात्मा में प्रवेश पाया नहीं जा सकता। ऐसा ही निर्णय है आपकी गीता का, रामचरितमानस का और प्रत्येक प्राप्तिवाले महापुरुषों का। परमात्मा यदि परमधाम है तो उसके प्रवेश का दरवाजा सद्गुरु है। इसलिये है तो परमात्मा ही पत रखनेवाला पति, लेकिन साधना में प्रवेश से लेकर पूर्तिपर्यन्त सद्गुरु ही उस परमात्मा की विधि हैं, वही उसकी कुञ्जी हैं। वही उसकी युक्ति बताते हैं, वही पत रखनेवाले हैं, इसलिए वही पति भी हैं। इसलिये अनसूया ने कहा-

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी।।
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही।।

(मानस, ३/४/५-६)

माता, पिता, भाई इत्यादि एक सीमा तक ही हित करनेवाले हैं; लेकिन असीम दान, अनन्त दान- जो कभी न घटे ऐसा शाश्वत दान देनेवाला तो पति ही है। विचार करें कि मरणधर्मा, अस्तित्वविहीन, ससीम सांसारिक पति कौन-सा असीम दान देगा? माँग और पूर्ति के नियमानुसार कभी समाज में लड़कियों का महत्त्व बढ़ जाता है, तो कभी लड़कों का। इनके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला शब्द है सम्भोग। जब दोनों ही एक दूसरे का समान भोग करते हैं तो कोई अधिक और कोई कम कैसा? मीरा तो लौकिक पति को मानती ही नहीं, कहती हैं-

झूठ सुहाग जगत का सजनी, होय होय मिट जासी।
मैं तो इक अविनाशी बरूँगी, जाहि काल नहिं खासी।।

वास्तव में बाहर कोई पति नहीं। असीम और अनन्त एक परमात्मा है, वही पति है। वही तो केन्द्र है, लक्ष्य है, अन्तिम परिणाम है। साधना के आरम्भ से पूर्तिपर्यन्त आत्मा से अभिन्न होकर साधक को ले चलनेवाले सद्गुरु ही पति हैं। इसलिये-

बृद्ध रोग बस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना।।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना।।

(मानस, ३/४/८-९)

किसी को वृद्धावस्था में उपलब्धि मिली, तो वे महापुरुष अत्यन्त जर्जर वृद्ध हो सकते हैं, रोगी हो सकते हैं, जैसे- रामकृष्ण परमहंस को कैंसर था, हमारे गुरु महाराज के गुरु सत्संगी महाराज लँगड़े थे। दत्तात्रेय उन्मत्त और पिशाच की तरह रहते थे (जड़भरत की तरह)। जरूरी नहीं कि वे सिंहासन पर बैठते हों। हो सकता है कि वे

धूल में लेटने के अभ्यस्त हों। काशी के हरिहर बाबा नेत्रहीन होते हुए भी अपने समय के पूर्ण महापुरुष थे। दयानन्द सरस्वती के गुरु बिरजानन्दजी भी प्रज्ञाचक्षु थे। वस्तुतः गुरु शरीर नहीं होता। 'नास्ति तत्त्वो गुरोः परम्'- गुरु एक तत्त्व है। जो परमतत्व परमात्मा के दर्शन, स्पर्श और प्रवेशवाले हैं, जिन्हें तत्व विदित है और उसकी रहनीवाले हैं, गुरुत्व उनके अन्तराल में है, इसलिये साधनकाल में वह सद्गुरु ही पति है। वे किसी भी वेश में हों, उनका अपमान नहीं करना चाहिये। शाश्वत की ओर ले जानेवाले इन कर्णधारों से ही पत की रक्षा होती है। इनका अपमान करने से यमपुर में नाना प्रकार का दुःख झेलना पड़ता है। इस प्रकार सीता-अनसूया वार्ता का 'पति' रहस्यात्मक है, आध्यात्मिक है।

शास्त्र दो दृष्टियों से रचा जाता है- एक तो घटित घटनाओं के इतिहास को कायम रखना, जिससे लोग पूर्वजों द्वारा निर्धारित मर्यादा पर चल सकें और दूसरा है अध्यात्म, जो प्रकृति के द्वन्द्व से निकालकर आत्मा का आधिपत्य दिला सके। आज सब पर माया का आधिपत्य है। इस माया के चंगुल से निकालकर जो ईश्वर-पथ पर चला दे और आत्मा का आधिपत्य दिला दे, उसी का नाम अध्यात्म है, जिसमें प्रतीकों के माध्यम से आन्तरिक स्थिति का बोध कराया जाता है। महापुरुषों ने मन के अमूर्त भावों का समीकरण ऐतिहासिक घटनाओं से बैठाया है, अमूर्त को मूर्त उदाहरणों द्वारा समझाने की कृपा की है। अभी तक आपने ऐतिहासिक दृष्टि से देखा, अब आध्यात्मिक परिवेश में राम-कथा और सती-प्रसंग देखें जो आरम्भ होता है योगरूपी जनकपुर से। चित्त की चंचलता का क्रम ही चाप है, ध्यान ही धनुष है। शुद्ध ध्यान तब लगता है जब चित्त की चंचलता का क्रम ही टूट जाय। चित्तचढ़रूपी चाप को तोड़ते ही तुरन्त ध्यान की स्थिति बन गई। तहाँ शक्तिरूपी सीता, जो आपके हृदय में छिपी हुई है, वह आपकी शक्ति योग के इस स्तर पर आपसे जुड़ जाती है। शक्ति का संचार, शक्ति से सम्बन्ध हो जाता है।

राम वन गये तो सीता को आदेश दिया-

सुनह प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला।।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा।।

(मानस, ३/२३/१-२)

मैं अब विलक्षण नरलीला करने जा रहा हूँ। जब तक यह नरलीला पूर्ण न हो, तुम पावक में निवास करो। 'नरलीला' है क्या? स्टेज पर खेली जानेवाली रामलीला? नहीं! **'निसाचर नासा'**- निशाचरों का नाश ही 'नरलीला' है।

निशा? **'एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।'** *(मानस, २/६२/३)* जगत् ही एक रात्रि है। **'या निशा सर्वभूतानाम्'** *(गीता, २/६९)*- यह संसार ही भयंकर रात्रि है। इस रात्रि की ओर हम-सबको प्रेरित करते हैं- मोहरूपी रावण, क्रोधरूपी कुम्भकर्ण,

लोभरूपी नारान्तक, प्रकृतिरूपी सूपनखा। ये जगत्‌रूपी रात्रि की ओर चलानेवाले हैं, इसलिये यही निशाचर हैं। जब तक मैं इन विकारों का अन्त न कर लूँ, तब तक तुम अग्नि में निवास करो। वास्तव में जब तक ये विकार शान्त नहीं होंगे, तब तक शक्तिरूपी सीता बाहर देखने को नहीं मिलेगी। तब तक योगाग्नि में प्रसुप्त रहा करती है। ज्यों-ज्यों योग का अनुष्ठान करेंगे, त्यों-त्यों वह शक्ति प्रस्फुटित होती जायेगी।

एक समय आया, सब निशाचर मर गये। अन्त में अकेला रावण जब चला तो अपार सेना लेकर चला। कुम्भकर्ण, घननाद इत्यादि दुर्धर्ष योद्धा तो मर गये थे, अपार अभी जीवित ही हैं, ये आये कहाँ से? वास्तव में मोहरूपी रावण! **'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।'** *(मानस, ७/१२०/२६)*- मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है जिससे अनन्त शूलों की सृष्टि होती है। इसलिये भले ही सब कुछ कट गया; किन्तु यदि मूल विद्यमान है तो शाखा-प्रशाखा, पत्ते, फूल सब कुछ पनप जायेंगे। इसी प्रकार सारे विकार समाप्त हों जायँ; किन्तु यदि मोह शेष है तो उसके अन्तराल में काम, क्रोध, लोभ, मद-मत्सर, राग-द्वेष इत्यादि सभी विकार प्रसुप्त हैं। इसीलिये रावण चला तो अपार सेना लेकर चला और जब शान्त हुआ तो **'रहा न कुल कोउ रोवनिहारा।'** *(मानस, ६/१०३/१०)* तत्क्षण अग्नि प्रज्वलित हो गई। फिर से सीता प्रगट हुई।

सर्वत्र राम का साम्राज्य छा गया- **'राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।।'** *(मानस, ७/१६/७)* जन्म और मृत्यु तक का शोक मिट गया, लव-कुश पैदा हो गये। एक परमात्मा में लव लग गयी। अब अन्यत्र कहीं आसक्ति नहीं रही तो शक्ति का उपयोग क्या रहा? तहाँ फिर सीता पृथ्वी में समा गई। वास्तव में **'धड़ धरती का एकै लेखा। जो बाहर सो भीतर देखा।।'** इस स्तर पर शक्तिरूपी सीता शरीररूपी पृथ्वी में प्रसुप्त हो जाती है। रहती योगी में ही है, मर नहीं जाती, कहीं चली नहीं जाती; किन्तु उन योगी के स्वयं के लिए उसका उपयोग कुछ भी नहीं रह जाता। राम भी सरयू में शान्त हो गये। परमात्मा के अनुभवी सूत्रपात का स्वयं के लिए कोई उपयोग नहीं रहता किन्तु लोकहित के लिए रहता है, इसलिए राम भी सदैव रहते हैं। यजन से पूरित श्वास-क्रिया ही सरयू है, उसी में सदा विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण रामायण यौगिक शब्दकोष है। हमारे-आपके अन्तःकरण में घटित होनेवाली घटना है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई है; किन्तु इसका सूत्रपात है सद्‌गुरु की अन्तस्प्रेरणा द्वारा। उसी पर चलकर उस सत्य को पाने का विधान है। भजन शरीर नहीं करता वरन् इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति करती है, यही नारी है। यह सत्य से संयुक्त है तो सती है। अतः उस सत्य के लिये प्रयत्नशील स्त्री-पुरुष कोई भी साधक ही सच्चा सती है।

संसार से विरक्त योग-संन्यास में प्रयत्नशील पुरुष को 'यति' और इसी योग-साधना में दीक्षित स्त्रियों को 'सती' कहने की परम्परा थी। आज भी पूज्य महावीर स्वामी के अनुयायियों में यह नियम यथावत् है कि विरक्त स्त्रियों को सती कहते हैं। यति और सती दोनों के लिए नियम-संयम का पालन तथा दोनों की क्षमता भी एक है। मुहावरा है कि 'जती सती का बोलबाला'। मानस में दोनों की एक-जैसी पहचान है- **'डगइ न संभु सरासनु कैसे। कामी बचन सती मनु जैसे।।'** *(मानस, १/२५०/२)*- दस हजार राजा उठाये किन्तु धनुष नहीं उठा, जैसे कि सती के मन में काम-विकार नहीं उठता। दूसरा अवसर है, जब अंगद का पाँव नहीं उठा तो उन महापुरुष ने बताया कि **'कोटि बिघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग।'** *(मानस, ६/३४ ख)*- जैसे काममयी करोड़ों विघ्न-बाधाओं से भी सन्त का मन चलायमान नहीं होता। दोनों स्थलों पर सती और सन्त के मन की समता बताई गयी। अस्तु, सत्पथ पर प्रयत्नशील स्त्रियाँ सती कहलाईं। जलना उनका मापदण्ड नहीं था।

* दूसरी कोटि की सती नारियों में महारानी मदालसा उल्लेखनीय हैं। महाराज ऋतध्वज (कुवलयाश्व) से उसने इस शर्त पर विवाह किया कि जो कुछ मैं करूँगी उसमें आप साथ देंगे। क्रमशः उन्हें तीन पुत्र हुए, मदालसा ने उन तीनों को शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि कहकर, ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर जंगल का रास्ता पकड़ा दिया।

समाज के वात्सल्य, स्नेह और प्रेम से पूरित रिश्तों का क्या अस्तित्व है? इस पर सती मदालसा ने अपने पुत्र को समझाते हुए बताया था कि-

तातेति किंचित् तनयेति किंचित् अम्बेति किंचित् दयितेति किंचित्।
ममेति किंचित्नममेति किंचित् त्वं भूतसंघं बहुमानयेथा।।

यह पिता है, यह पुत्र है, प्रिय स्त्री, प्रिय पति- यह सम्बोधन नश्वर शरीर के व्यवहार चलाने के नाम हैं। **'शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम'**- तेरा कोई नाम नहीं। तू तो शुद्ध, अविनाशी, अजर, अमर आत्मा है। विचार करें जब यह सभी रिश्ते नश्वर हैं, केवल व्यवहार चलाते हैं, तब इन नश्वर रिश्तों के पीछे कोई सती क्यों होगी?

माता मदालसा ने राजा के बहुत कहने और मन्त्रियों के अनुरोध पर अपनी चौथी सन्तान अलर्क को नाममात्र की राजनैतिक शिक्षा दी; किन्तु अपनी मूलशिक्षा आत्मज्ञान से उसे वञ्चित नहीं रखा। एक ताबीज (अँगूठी) में कुछ सन्देश अलर्क के लिये लिखा। मन्त्रियों को निर्देश दिया कि जब इसके ऊपर महान् संकट पड़े, कोई सहायक न रह जाय तो उस समय इसे ताबीज की याद दिलाना। राजा पर भी रानी की सद्विद्या का प्रभाव पड़ा। वे दोनों पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वन को चले गये।

कालान्तर में अलर्क के संन्यासी अग्रज सुबाहु ने काशी नरेश की सहायता से पिता के राज्य पर अपना अधिकार जताया। अलर्क की सेना पराजित हुई। कोष रिक्त हो गया। सहायक न रहे तो मन्त्रियों ने मदालसा के अँगूठी की याद दिलाई, जिसमें संसार की निस्सारता एवं परमात्मा को ही सुख-शान्ति का स्रोत बताया गया था, जिसकी प्राप्ति का स्रोत सत्संग है। उन निर्देशों पर चलकर भगवान दत्तात्रेय की कृपा से अलर्क, सुबाहु तथा काशी नरेश ने भी परमशान्ति का वरण किया।

यह थी सती मदालसा की सत्यनिष्ठा। पति के अनुनय-विनय पर भी उसने अलर्क को सत्य से वञ्चित नहीं रखा। एक परमात्मा के प्रति कृतसंकल्प होने के कारण वह महासती कहलायी। उस सत्य से संयुक्त जिसकी चित्तवृत्ति है, वही सती है।

* तीसरी श्रेणी आती है तारा, मन्दोदरी, द्रौपदी, कुन्ती और अहिल्या की। ये पञ्चकन्या कही जाती हैं। ऐसा लगता है कि ये इतने प्रभावशाली कुल की थीं कि कवियों की हिम्मत ही नहीं पड़ी कि इन्हें कुछ कह दें तो पवित्र कन्या, पञ्चकन्या, सती इत्यादि कहते ही चले गये कि ये पाँचों चाहे जितना विवाह करें, सदैव कन्या रहेंगी अथवा पाँच पति तक ये क्षम्य थीं। अग्नि के समक्ष वेदी बनाकर भाँवर घूमने की वैदिक बाध्यता भी इनके लिए नहीं थी। द्रौपदी के पाँच पति थे। विवाह के पूर्व ही कर्ण की माँ बननेवाली कुन्ती ने अपने पति पाण्डु के निर्देश पर तीन देवताओं का आह्वान कर पाँच की संख्या पूरी कर ली। मन्दोदरी रावण एवं विभीषण तक ही सीमित रही और तारा बालि एवं सुग्रीव तक। अहिल्या ने दूसरे पर कदम रखा तो शाप मिला। पतिव्रता तो हर पति को समान मानती है। महाभारत में कथा आती है कि पाण्डव द्रौपदी के साथ हिमालय से स्वर्ग की ओर बढ़े। अकस्मात् भीम ने देखा कि द्रौपदी गलने लगी। अधीर होकर उन्होंने युधिष्ठिर से पूछा- ''राजन्! यह द्रौपदी गल क्यों रही है?'' तो धर्मराज ने बताया कि सुन्दरता के कारण नकुल को यह अधिक चाहती थी, इसी पाप से यह गल रही है। क्या पतिव्रता किसी पति को छोटा और किसी को बड़ा मानती है? मानती है तो पाप है। अहिल्या ने दूसरे ही पति को माना था। कदाचित् जानकर ही विचलित हुई तब भी इन्द्र को गौतम से कम क्यों मानती? फिर भी शाप मिला।

वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं है। यह तो अच्छा हुआ कि पञ्चकन्याओं का आरक्षण समाप्त कर दिया गया कि अब छठीं कोई पञ्चकन्या नहीं होगी। एकल विवाह, बहु-विवाह, अनेक पति या पत्नी रखना सामाजिक व्यवस्थायें हैं। इनसे उस सतीत्व से कुछ भी लेना-देना नहीं है। महाभारत के आदिपर्व में पाण्डु ने कुन्ती को बताया कि पहले स्त्रियाँ स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करती थीं। आरुणि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने इसका विरोध किया, एक व्यवस्था दी, तभी से विवाह की प्रथा चल निकली। इस कथानक में सत्य का

अंश चाहे जितना हो, बहुपति समाजों के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। यदि जलना ही सती का मानदण्ड है तो ऐसी स्त्रियों को इस सौभाग्य से वञ्चित होना पड़ेगा।

द्रौपदी, कुन्ती, अहिल्या, तारा और मन्दोदरी के सती होने में मूल कारण था- एक परमात्मा में दृढ़ संकल्प, प्रगाढ़ लगाव। तारा ने बालि को, मन्दोदरी ने रावण को जो उपदेश दिया, वह किसी महात्मा से कम नहीं है। कुन्ती में ऐसी निष्ठा थी कि जब-जब भगवान का स्मरण किया, वे आये। चीर-हरण के समय पाँच-पाँच पति द्रौपदी की रक्षा नहीं कर सके, रक्षा की तो भगवान ने। इन सबकी मुसीबतों में सहायता की तो भगवान ने की। अहिल्या को मुक्ति भगवान से मिली। उसकी श्रद्धा में इतना ठोस बल था कि परमात्मा को उसके पास तक जाना पड़ा। वे सब-की-सब उस सत्य पर आरूढ़ थीं, इसलिये सती कहलाईं।

भगवान राम के अनुसार नरतन एक दुर्लभ तन है, जिसका उपयोग भवसागर से तरने में है, परमात्मा को इसी शरीर से विदित करने में है। यह तन देवताओं को भी दुर्लभ है। किसी शव के पीछे जलाकर यह अमूल्य तन खो न दें। जिसलिए मिला है यत्न करें, यह फिर जल्दी नहीं मिलेगा।

वीरांगनाओं की शौर्य-गाथा

* आजकल समाज में सती का जो अर्थ बहुचर्चित है, जिसके लिए झगड़े होते हैं, आचार्य प्रवर कुछ-न-कुछ कहा करते हैं अर्थात् पति के साथ चितारोहण, इस तथाकथित कोटि में माद्री का नाम उल्लेखनीय है। पाण्डु के अतिरिक्त अश्विनीकुमारों का उसने आह्वान किया था, जिससे नकुल और सहदेव पैदा हुए। पाण्डु की मृत्यु का कारण स्वयं को मानकर ग्लानिवश उसने पाण्डु के साथ चितारोहण भी किया; किन्तु शास्त्रकारों ने उसे सती नहीं कहा। लिखा है **'तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारूरोह।'** ***(महाभारत, आदिपर्व ६५/६५)***। अर्थात् माद्री अपने पति के साथ चिता की अग्नि पर चढ़ गई; किन्तु सती कहा कुन्ती को। वास्तव में जब हम कभी मोहजाल में पड़कर मन का सन्तुलन खो बैठते हैं तो कुछ भी कर गुजरते हैं, अपने कृत्य को महिमा-मण्डित करने और उसका औचित्य सिद्ध करने का भी प्रयास करते-कराते हैं। माद्री ने यही किया।

* महाराजा दक्ष की एक कन्या का नाम ही सती था।

प्रथम दच्छ गृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा।।
दच्छ जग्य तव भा अपमाना। तुम्ह अति क्रोध तजे तब प्राना।।

(मानस, ७/५५/२-३)

उनका विवाह शंकर से हुआ था। शंकर के आदेशों की अवहेलना करके जिन्होंने राम की परीक्षा लीं, अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये पिता के यज्ञ में जल मरीं; किन्तु

शंकर के साथ नहीं गईं। पुरुष भी स्त्रियों के लिये प्राण देते देखे गये हैं। प्रेम-विवाह की असफलता भी इस उन्माद का कारण रही है। स्वामिभक्ति में बहुत से पुरुष भी पुरुषों के लिये जले; जैसा कि 'हर्षचरित' में है कि हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन की मृत्यु पर कितने ही मित्रों, मन्त्रियों और दासों ने अपने को मार डाला। राजतरंगिणी (७/१३८०) में है कि एक माता अपने पुत्र के साथ सती हो गयी। यहाँ जरूरी नहीं कि सती पति के साथ ही जले। बहुत सम्भव है कि प्राणत्याग के लिये जितनी स्त्रियों ने दक्षकन्या सती की विधि का अनुकरण किया, व्यंग्य में उन्हें भी सती कहा गया हो। वास्तविक सती तो कोई विरला होगा, उनके अभाव में इन नाममात्र की सतियों को ही समाज ने सती के रूप में पहचाना।

* जलकर परमगति पाने का तरीका स्त्रीमात्र पर लागू नहीं होता; क्योंकि भारत के बाहर अधिकांश देशों में स्वच्छन्द विचरण-जैसा है। जब तक चाहा साथ रहे, जब चाहा अलग हो गये। स्त्री-पुरुष दोनों के ही तीन-तीन, चार-चार विवाह सामान्य बात है। ईसाइयों में तो ऐसा ही है। इस्लाम में भी स्त्री एक वस्तु है। तलाक, इद्दत, निकाह और मुताह की छूट है। बहु-पत्नीकता, बहु-भर्तृकता तथा पुनर्विवाह के रहते इन समाजों में सतीत्व सम्भव नहीं है।

रहा भारत में! तो समाज मोटे तौर पर चार वर्णों में बँटा हुआ है, जिसमें से शूद्र की स्त्री चारों वर्णों के लिये उपभोग की वस्तु है। वशिष्ठ धर्मसूत्र (१८/१८) के अनुसार, वह आमोद-प्रमोद के लिये होती ही है। पातिव्रत्य धारण करने का उन्हें अवसर ही कब दिया गया? जंगली कबीलों में मातृसत्तामक परिवार हैं, कुमायूँ-गढ़वाल मण्डल में भी ऐसा है कि एक स्त्री के कई पति होते हैं। वह किसकी मृत्यु पर जले? याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने बताया है कि शूद्र स्त्री चितारोहण भी नहीं कर सकती। उनके समाज में विधवा-विवाह, पुनर्विवाह प्रचलित है। उनका पति कभी मरता ही नहीं, एक मरा तो दूसरा तैयार हो गया। अतः सती होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

वैश्यों में भी ससम्मान विधवा-विवाह होता है। एक पति मरा तो दूसरा विवाह स्वाभाविक है। अतः जल मरने का प्रश्न वहाँ भी नहीं है; क्योंकि पति जिन्दा है। अपरादित्य ने अंगिरा, पैठीनसि इत्यादि धर्मशास्त्रकारों को उद्धृत करके बताया कि ब्राह्मणी विधवा के लिये सती होना मना है। विधवा पुनर्विवाह के लिये वेद में न केवल पुनर्भू शब्द है बल्कि अथर्ववेद (५/१७/७-९) में है- **'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ब्रह्मा चेत् हस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा। ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः।।'** अर्थात् यदि कोई स्त्री पहले दस अब्राह्मण पति करे और अन्त में कोई ब्राह्मण उसका पाणिग्रहण करे तो ब्राह्मण ही उसका वास्तविक पति है, न कि क्षत्रिय या वैश्य।

पाराशर-स्मृति में तो यहाँ तक छूट दी गई (अध्याय १०/६६) कि यदि ब्राह्मण की पत्नी घर छोड़कर कहीं अकेली गमन करे और सौ पुरुषों के पास जाकर भी लौट आये, तो सगोत्रियों द्वारा ऐसी स्त्री का बहिष्कार किया जाना चाहिए। पतिगृह में जाने पर भी वह घर उसी का माना जाता है, जिसके यहाँ वह आती-जाती है। इससे स्पष्ट है कि निन्यानबे तक उसका बहिष्कार नहीं होना है, तो वह क्यों जलेगी? महाभारत-युद्ध में ब्राह्मण द्रोणाचार्य की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी कृपी सती नहीं हुई।

प्रथा के रूप में स्त्रियों के जलने का आरम्भ क्षत्रियों से हुआ, जो परिस्थितिजन्य था; क्योंकि विजयी राजा विजित राजाओं और शूरवीरों की पत्नियों से भयंकर प्रतिशोध लेते थे, उन्हें बन्दी बनाकर ले जाते थे। राजपूतों ने जब देखा कि जिस मर्यादा की रक्षा के लिए वे लड़ रहे हैं, पराजय के पश्चात् उन्हीं स्त्रियों और छोटी बच्चियों तक की आहुति चिता में देने लगे। जन्म के समय ही कन्याओं का वध होने लगा। ऐसी कई घटनाएँ हुईं तो क्षत्राणियों ने कहा कि आप वीर हैं तो हम भी वीरांगना हैं, आप हमारी चिन्ता न करें। आप वीरगति पायेंगे तो हम स्वयं चितारोहण कर लेंगे। इस प्रकार सामूहिक जौहर या व्यक्तिगत जलने की प्रथा चल निकली। एक बार जब वह प्रथा जड़ पकड़ गयी तो व्यवस्थाकारों ने इसे सत्पथ करार कर बल दे दिया (राजाओं का विरोध करता भी कौन?) और जलने से मिलनेवाले पुण्यों की झड़ी लगा दी।

विचारणीय है कि जब अन्य किसी के लिये जलने का विधान नहीं, तो इन क्षत्रियों को ही नष्ट करने में क्यों लगे हैं? आप सबकी सुरक्षा के लिये शीश देते-देते जो अल्पसंख्यक हो गये, उन्हीं की आँख पर धर्म की पट्टी बाँधकर क्यों गुमराह किया जाता है?

* राजा-महाराजा जैसे उच्चवर्ग से जब यह प्रथा व्यापक रूप में निकली तो जनसामान्य में भी इसका जहाँ-तहाँ प्रभाव पड़ा। राजस्थान के बाद स्त्रियों के जलने की अधिक घटनाएँ बंगाल में हुईं, क्योंकि कुलीन परिवारों में विवाह करने का व्यामोह इतना अधिक था कि मृत्युशैया पर लेटा वृद्ध रईस भी सिन्दूर-दान करता था। एक-एक रईस के पत्नियों की संख्या सैकड़ों तक पहुँच जाती थी। बंगाल में उत्तराधिकार 'दायभाग' नामक पुस्तक से निर्धारित होता था, जिसमें पुत्रहीन विधवा को भी सम्पत्ति में पति के बराबर का अधिकार था, इसलिये पति के मरने पर परिवारवाले पत्नी के पतिभक्ति की इतनी अतिरंजित प्रशंसा करते थे कि वह चिता में भस्म हो जाया करती थी।

* न केवल विधवा के परिवारवाले, बल्कि इसे धर्म घोषित करनेवाले व्यवस्थाकार भी सम्पत्ति-मोह की भावना से ग्रस्त थे। गरुड़ पुराण में है कि चितारोहण के लिये जानेवाली स्त्री पहले ब्राह्मणों को दान दे, फिर देव-मन्दिर में जाकर अपना सारा आभूषण अर्पण कर दे। (१०/३६-४०) बृहद्नारदीय पुराण में है कि रजस्वला होने की दशा में

स्त्री पति की चिता पर नहीं चढ़ सकती; किन्तु १७९० ई. में लिखित धर्मसिन्धु में है कि यदि स्त्री मासिक धर्म के पहले दिन तीस गाय, दूसरा दिन हो तो बीस गाय और तीसरे दिन दस गाय दान करे, तो ब्राह्मण उसे शुद्ध घोषित कर सकता है और वह उसी दिन चितारोहण कर सकती है। अस्तु, यह कोई धार्मिक विधान नहीं, अपितु शोषण का विधान है। सती चौराओं से चलनेवाली जीविका भी कम प्रेरक नहीं रही है।

* विश्वभर में स्त्रियों के शोषण का लम्बा इतिहास रहा है, स्त्री को जला मारना उसी की अभिव्यक्ति मात्र है। ईसाई विचारधारा में आठवीं शताब्दी तक पादरियों में इस प्रश्न पर मतभेद था कि स्त्रियों में आत्मा होती भी है या नहीं; क्योंकि ईश्वर ने स्त्रियों का निर्माण पुरुष के सीने की कोमल पसलियों से किया है। इस्लाम में भी स्त्री-पुरुष की समानता कहाँ, जब एक पुरुष कई-कई पत्नी रख सकता है? उन्हें खेत के समान माना गया है। नमाज उनके कान में न पड़ने पाये, वे मस्जिद में घुसने न पायें। धर्म को अफीम माननेवाले कितने ही साम्यवादी देशों में भी स्त्री-पुरुष में ही साम्य नहीं है, उन्हें मताधिकार प्राप्त नहीं है। संसार में सर्वत्र स्त्रियों को किसी-न-किसी रूप में यातनाएँ झेलनी पड़ी हैं। अकेले भारत में ही उन्हें पुरुषों के समान सम्मान मिला। भगवान शिव अर्द्धनारीश्वर हैं अर्थात् वह ब्रह्म अर्द्धनारी और अर्द्धपुरुष मिलाकर संसार का सृजन करता है। यह अवश्य है कि समय के साथ कुछ विकृतियाँ भारत में भी आ गई हैं; जैसे- चिता को अग्नि देने के लिए पुरुष की अनिवार्यता क्यों? स्त्री को भी यह अधिकार मिलना चाहिए। इसी प्रकार मुक्ति के लिए पिण्डदान और पिण्डदान के लिए पुत्र की अनिवार्यता, पुत्र के लिए भ्रूण-परीक्षण, पुत्र-जन्म पर विशेष समारोह, दहेज इत्यादि प्रथायें मानवता के नाम पर कलंक हैं। विधवा सामाजिक बहिष्कार झेलती है, अमंगल का प्रतीक मानी जाती है, पर विधुर का कोई तिरस्कार या सामाजिक बहिष्कार नहीं होता। विधुर का विलासी जीवन भी क्षम्य है, किन्तु विधवा सुख-शान्ति से जीने का अधिकार भी खो देती है। विधवाएँ ही अनाथ क्यों होती हैं? महाभारत आदिपर्व में है कि एकचक्रा नगरी में राक्षस से आतंकित एक ब्राह्मणी विधवा होने की आशंका से विलाप कर रही थी कि जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़े माँस के टुकड़े पर पक्षी टूट पड़ते हैं, वैसे ही पतिहीन स्त्री पर पुरुष टूट पड़ते हैं।

* इस प्रकार स्त्रियाँ तब जलती थीं, जब उनके सतीत्व पर संकट था, धर्माचरण में बाधा थी; क्योंकि धर्माचरण का एक ही तो शत्रु है काम। गीता में है- **'काम एष क्रोध एष।'** इन्द्रिय-संयम के साथ सतत तपस्या का व्रत लेनेवाली वेदवती ने जब देखा कि महाबली रावण ने उसके केशों को पकड़ लिया है, तो धर्माचरण को सुरक्षित न समझ उसने उन केशों को काटकर अपने शरीर का दाह कर लिया। दीर्घकाल तक इन्द्रिय-संयम के साथ निरन्तर चिन्तन द्वारा जो उस सत्य के लिये मन को वश में करने में

लगा है, इस व्रत के निर्वाह में यदि बाधा उत्पन्न होती है तो सत्य के बचाव के लिये साधकों ने शरीर का त्याग ही श्रेयस्कर माना है, चाहे पुरुष रहे हों या महिला। महिलाओं के लिए एक बलात्कारिक विघ्न पुरुषों की तुलना में अधिक है, इसलिए माताओं को एक निश्चित क्षमता आने के पूर्व तक घर में रहकर ही भजन करने का विधान है। पतित होने की अपेक्षा शरीर-त्याग अच्छा है। इसी को लक्ष्य करके पूज्य गुरुदेव कहा करते थे- ''हो साधु होना और मरना बराबर है।'' **'साधन कठिन न मन कहुँ टेका।'** ***(मानस, ७/४४/३)*** साधन कठिन नहीं होता, मन की टेक दृढ़ होनी चाहिए। यही बात ईसा कहते थे कि- यदि तेरा हाथ, पाँव या आँख तुझे ठोकर खिलायें तो इन्हें काटकर अलग कर दे। तेरे लिये अच्छा है कि इन अंगों से रहित होकर भला जीवन बिताये। इन अंगों के साथ जीने से क्या लाभ, यदि इन्हीं अंगों के कारण तुझे अनन्तकाल तक नरक को जाना पड़े। (मरकुस ६/४३-४७)। अस्तु वेदवती ने अग्नि-प्रवेश कर लिया; किन्तु जलने से उसे मोक्ष नहीं मिल गया बल्कि जन्म लेना पड़ा। जहाँ से साधन छूटा था, वहाँ से पुनः आरम्भ करना पड़ा। दूसरे जन्म में वही सीता कहलाई। उस शाश्वत सत्य पर दृढ़ निष्ठावान् होने और जन्म-जन्म में सतत साधनापरायण होने से राम को पा गयी।

शरीर देकर भी सत्य को सुरक्षित रखने की गौरवशाली परम्परा रही है; किन्तु प्रथा प्रथा है, धर्म नहीं। प्रथा परिस्थितिजन्य होती है, जबकि धर्म शाश्वत है। माताओं ने जिन किन्हीं परिस्थितियों में यह बलिदान दिखाया, आज वे परिस्थितियाँ नहीं रहीं। अतः हर प्रथा को पूर्वजों की धरोहर मानकर उसे ज्यों-का-त्यों अपनाना कोई बुद्धिमानी नहीं है। एक समय वही जरूरी था किन्तु अब वह आवश्यक नहीं रही- यह जानकर हम श्रद्धा-पूर्वक इस प्रथा का विसर्जन कर सकते हैं और इसके विसर्जन के दिन आये भी हैं।

वेद

चारों वेदों में पति के साथ जलकर मरनेवाली एक भी स्त्री का नाम नहीं है, न कहीं सती शब्द आया है और न कहीं स्त्रियों के लिए पति के साथ जलना धर्म बताया गया है; बल्कि इसके विपरीत वेद का निर्णय है कि एकमात्र परमात्मा को विदित किये बिना जन्म-मृत्यु से बचने का अन्य कोई रास्ता है ही नहीं। विश्वभर के लिए, स्त्री-पुरुष सबके लिए एक ही रास्ता है- परमात्मा का भजन। गार्गी-जैसी विदुषी नारियों ने इसी परमात्मा की शोध को श्रेयतर समझा, उन्होंने विवाह किया ही नहीं। पति के साथ जलना वेदसम्मत होता तो उस काल की इन विदुषी नारियों ने यह स्वर्ण अवसर हाथ से जाने न दिया होता। मैत्रेयी को भी उसके पति याज्ञवल्क्य ने अविनाशी आत्मा को ही विदित करने का बहुमूल्य परामर्श दिया, जलने का नहीं। अपाला, विश्ववारा, घोषा कोई भी तो नहीं जली।

श्रीरामचरितमानस

रामचरितमानस में भगवान श्रीराम ने कहा कि **'पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।'**- इनमें से कोई भी हो, जो सम्पूर्ण भावों से मुझे भजता है- **'सर्ब भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ।।'** *(७/८७ क)*- वह मुझे परमप्रिय है।

गोस्वामीजी का निर्णय है कि-

बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल।। *(७/१२२ क)*

अकाट्य सिद्धान्त है कि बिना हरि-भजन से कोई भवसागर पार नहीं होता और यहाँ तमाम तरीके लोगों ने निकाल रखे हैं, जो सब-के-सब भव ही पार कराने का दावा करते हैं जिसमें से एक उपाय पति के साथ जलना भी है। तब तो वेद झूठा, गोस्वामी तुलसीदासजी झूठे, राम और श्रीकृष्ण की वाणी भी झूठी; किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। परमात्मा तक की दूरी तय करने की, भव पार करने की अन्य कोई क्रिया नहीं, क्रिया एक ही थी, एक ही है और एक ही रहेगी- केवल एक परमात्मा का भजन।

रामायण

वाल्मीकीय रामायण में है कि दशरथ की मृत्यु पर कौशल्या शोक-विकल हो कैकेयी से कहती है कि एक पतिव्रता की भाँति मैं भी पति के शरीर का आलिंगन कर चिता की आग में प्रवेश कर जाऊँगी; किन्तु आदिकवि लिखते हैं कि जब दशरथ की चिता को आग लगा दी गयी, इसके बाद रानियाँ बूढ़े रक्षकों से घिरी हुईं शिविकाओं और रथों पर आरूढ़ होकर नगर से निकलीं। श्मशान में जाकर चिता की परिक्रमा कीं, पुनः सवारियों में जाकर सरयू तट पर उतरीं और दशरथ को जलाञ्जलि दिया, जली एक भी नहीं। अतः पतिव्रता का आशय मात्र एक पति में निष्ठा से है, जीवनपर्यन्त सुख-दुःख में हाथ बँटाने से है। आग में जलने की बात एक परिस्थिति एवं शोकजनित उद्गार है। कहीं-कहीं जलने की घटना हो भी जाती थी; किन्तु उसे धर्म की मान्यता कभी नहीं मिली। तेरहवें दिन अस्थि-सञ्चय के समय भरत और शत्रुघ्न भी इसी प्रकार अपने पिता की स्मृति से विह्वल होकर अग्नि में कूदकर प्राण देने को तत्पर हुए तो सुमन्त ने उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया। कदाचित् वे ऐसा कर भी लेते तो क्या यह धर्म हो जाता? यह भी शोकजनित व्यवहार ही होता।

* बालि की मृत्यु के पश्चात् तारा पति के साथ जलने का निश्चय कर चुकी थी। हनुमान उसे समझाकर हार चुके थे, सुग्रीव भी प्रज्वलित अग्नि में कूदना चाहते थे; किन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने उन दोनों को समझा-बुझाकर प्राण त्यागने से रोका। यदि जीवित जलना धर्म रहा होता तो राम मना क्यों करते? धर्म की रक्षा के लिए,

मृत्युलोक के प्राणियों को शिक्षा देने के लिए ही तो वे आये थे। इस प्रथा का मौन समर्थन भी तो उन्होंने नहीं किया। आजकल के धर्माचार्य कहते हैं कि सती होना चाहिए और उस समय के धर्माचार्य वशिष्ठ इत्यादि ने रोका था, धर्म-धुरीन भरत ने समझाया है। यदि यह सत्य होता तो क्या वे महापुरुष सहमति न देते? वाल्मीकीय रामायण के अनुशीलन से स्पष्ट है कि श्रीराम का प्रभाव जहाँ-जहाँ स्थापित होता गया, उन्होंने ऐसी अमानुषिक घटना नहीं होने दी।

रामचरितमानस में भी है कि भगवान ने तारा को समझाया-

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा।। *(मानस, ४/१०/४)*

अर्थात् शरीर पाँच तत्वों से बना है और नाशवान् है। यदि इस शरीर के लिये रो रही हो तो बेकार है; क्योंकि शरीर तुम्हारे समक्ष अब भी है, और जो निकल गया उस जीवात्मा के लिए शोक करती हो तो व्यर्थ है; क्योंकि वही तो एक शाश्वत है, अमृत है, अशोच्य है, ठीक वही बात जो गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं। अस्तु, हमारे-आपके पूर्वजों ने मृत शरीर को कभी भी महत्त्व नहीं दिया, इसलिये उसके दाह-संस्कार की प्रथा है। गाड़ने, मजार बनाने, पिरामिड बनाने या ममी बनाकर उसे सुरक्षित रखने का विधान स्वीकार नहीं किया गया।

* महासती अनसूया ने सीता के आचरण की प्रशंसा करते हुए कहा कि तुम्हारे समान जो स्त्रियाँ हैं (राम के जीवित रहते सीता सती हैं, इस प्रकार की सती स्त्रियाँ), वे उत्तम गुणों से युक्त होकर पुण्यकर्म में संलग्न रहती हैं। अतः तुम सती-धर्म का पालन करो, अपने स्वामी की सहधर्मिणी बनो। अनसूया ने पति के साथ जलने का उपदेश नहीं दिया बल्कि पति के धर्म का भागीदार बनने को कहा। क्या था राम का धर्म? चित्रकूट में राम ने भरत से कहा था कि पिताजी ने जरा-जीर्ण मानव-शरीर का परित्याग कर दैवी सम्पद् अर्जित की है, जो ब्रह्मलोक में विहार करानेवाली है। मनुष्यों में श्रेष्ठ भरत! पूज्य पिताजी के शुभ आचरणों पर दृष्टिपात करके तुम अपने धार्मिक स्वभाव द्वारा आत्मा की उन्नति के लिये प्रयत्न करो। अतः आत्मा की उन्नति करना ही धर्म है। ठीक यही श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा को अधोगति में न ले जायँ क्योंकि आत्मा ही सत्य है। अस्तु, जो इस सत्य पर आरूढ़ रहे (सत्य एकमात्र परमात्मा है), जो परमात्मा में निष्ठावान् रहे, वही सच्चा सती है। जलने को राम ने न सती कहा, न धर्म।

गीता

वेदों के सारांश उपनिषद् और उपनिषदों का भी सारांश साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी गीता (अध्याय २/१६) में है कि असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत्य

का तीनों काल में अभाव नहीं है। सत्य है क्या? कहते हैं- अर्जुन! आत्मा ही सत्य है। आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, भगवान या परब्रह्म इत्यादि एक दूसरे के पर्याय हैं। आत्मा ही शाश्वत है, आत्मा ही सनातन है। हम कौन हैं? सनातनधर्मी! सनातन कौन है? आत्मा! अब यदि हम उस आत्मपथ को नहीं जानते, उस आत्मा को विदित करने की क्रिया को नहीं जानते तो कैसे सनातनधर्मी? सिद्ध है कि हम अभी धर्म के पिपासु मात्र हैं किन्तु उसे नहीं जानते। अभी उसके समीप भी नहीं पहुँचे। पति के साथ जलना सनातन-धर्म नहीं है बल्कि आत्मा को जानने की निर्धारित क्रिया का आचरण ही सनातन-धर्म है।

* गीता (अध्याय २/१८) के अनुसार- आत्मा सनातन है और भूतादिकों के सम्पूर्ण शरीर नाशवान् हैं, शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है। (२/१३) वह मूढ़बुद्धि है जो शरीरों के लिये पचता है; क्योंकि शरीर नाशवान् है, इसे रोका नहीं जा सकता। अब इस नश्वर शरीर के पीछे कोई शरीर को त्याग दे तो उसने सत्य के पीछे तो त्यागा नहीं, सनातन परमात्मा के पथ में तो त्यागा नहीं, अस्तित्वविहीन, अशाश्वत के पीछे प्राण त्यागनेवाला शाश्वत धाम कैसे पायेगा?

* **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'** ***(गीता, २/२२)***- जैसे पुराने वस्त्रों को त्यागकर हम-आप नया वस्त्र धारण करते हैं (वस्त्र बदलनेवाला जीवित है, वस्त्र फटने के बाद भी आप जिन्दा हैं), ठीक इसी प्रकार आत्मा केवल वस्त्र बदलता है तो सदैव जीवित इस आत्मा को छोड़कर एक वस्त्र के पीछे जल मरने से सनातन शाश्वत धाम कैसे मिल जायेगा? सनातन को पाने की यह विधि नहीं है।

* आत्मा सबमें है तो ढूँढ़ा किसे जाय? योगेश्वर कहते हैं कि है तो अजर-अमर-शाश्वत ऐसा ही; किन्तु (गीता २/२५) आत्मा अचिन्त्य है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है तब तक आत्मा की अनुभूति नहीं होती। इसी चित्त के निरोध के लिये इन्द्रिय-संयम किया जाता है। इन्द्रिय-संयम के साथ चित्त के अचल स्थिर ठहर जाने पर जब अन्तिम संस्कारों का भी शमन हो जाता है तो तत्क्षण जो शेष बचता है उसी का नाम आत्मा, परमात्मा है। अगले जन्मों या किसी कल्पित स्वर्ग में पति के साथ विहार की कामना जिसमें अभी शेष है, तो सिद्ध है कि न तो अभी उसका चित्त निरुद्ध है और न ऐसी विषमता में परमगति ही है।

* गीता, अध्याय १४ श्लोक १८ में है कि तामसी गुणों के कार्यकाल में शरीर त्यागनेवाला पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि अधम योनि को प्राप्त होता है, सात्त्विक गुणवाला उन्नत योनि में जाता है। योनि मिलती है, मोक्ष नहीं। राजसी गुणप्रधान व्यक्ति मध्यम शरीर को प्राप्त करता है। लोग उचित-अनुचित साधनों से अपनी गृहस्थी में ही तो लगे हैं, ईश्वर-चिन्तन तो किया नहीं, उनकी वृत्तियाँ सात्त्विक, राजस या तामस कहीं न कहीं

उलझी अवश्य हैं। जो जैसी परिस्थिति में है वैसी ही योनि प्राप्त करेगा। मान लें, यदि कोई पशु हो गया। नहुष इन्द्रपद से गिरा तो अजगर हुआ। राम के समय कलिंजर और विरक्त गद्दीधारियों की यह हालत है तो सामान्य मनुष्य को पशुयोनि मिले तो आश्चर्य क्या? मान लें, कोई पशु हो गया और उसके पीछे चलनेवाली को पति के लोक में जाना है, परमगति तो मिली नहीं और उसका लोक हो गया पशुयोनि, जहाँ न कोई किसी का पति है, न पत्नी। वहाँ तो उन्मुक्त विचरण है। कहाँ सुरक्षित रहा उसका सतीत्व?

* गीता में ही है कि **'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।'** *(अध्याय ८/६)* अन्तिम समय में जो जिसका स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है, उसी योनि को प्राप्त करता है। मृगशावक का चिन्तन करनेवाले महर्षि जड़भरत को मृग-शरीर मिला। इसी प्रकार पुरुष का स्मरण करते हुए जल मरनेवाली अगले जन्म में बनेगी पुरुष, तो पुरुष का पति कैसा? अस्तु, जल मरना एक भ्रम है।

* योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि (८/५) अर्जुन! जो मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है। जहाँ से पीछे लौटकर आवागमन में नहीं आना होता। तब तो बड़ा सस्ता सौदा है। जन्मभर मस्ती काटें, जब मरने लगेंगे तो भगवान को भी याद कर लेंगे; किन्तु अभी पिछले श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, **'सदा तद्भावभावितः'**- प्रायः वही चिन्तन बलात् उभरकर आ जाता है जिसका जीवन में अधिक प्रयोग किया है। इसलिये अर्जुन! तू आज से ही (कल कभी नहीं आता), अभी से मेरा ही चिन्तन कर। अतः आवागमनरहित परमगति का रास्ता क्या है? परमात्मा का निरन्तर चिन्तन! चिता में जलने से परमगति गीता नहीं कहती। जीवनपर्यन्त पतिपरायण वृन्दा को जलन्धर का पतिलोक भी नहीं मिल सका। अपितु, जिसने पातिव्रत में बाधा पहुँचाई, उसी विष्णु का साथ मिला, जलन्धर का नहीं।

* शरीर धारण करने के सम्बन्ध में गीता का निर्णय है कि शरीर से उत्क्रमण करते हुए जीवात्मा मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के जीवन भर के क्रियाकलापजन्य संस्कारों के अनुरूप नया शरीर धारण करता है। इसलिये अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप पति-पत्नी को तथा उनके परिवारवालों को भिन्न-भिन्न देह की प्राप्ति अधिक सम्भव है।

* महाभारत-जैसे युद्धकाव्य में, जो रक्तरञ्जित इतिहास से भरा पड़ा है, स्त्रियों के जल मरने का प्रतिशत नगण्य है। स्त्री-पर्व में है कि कौरव और पाण्डव पक्ष के वीरों की पत्नियाँ जली नहीं। प्रभास क्षेत्र में श्रीकृष्ण के लीला-संवरण के पश्चात् यदुवंशी वीरों की पत्नियाँ नहीं जलीं। अर्जुन उन्हें लेकर हस्तिनापुर लौट रहे थे कि भीलों ने मार्ग में ही उन स्त्रियों को छीन लिया- **'भीलन लूटी गोपिका, वही अर्जुन वही बान।'**

* गीता में है कि अर्जुन युद्ध के परिणाम नरसंहार के पश्चात् कुल की स्त्रियों के दूषित होने की आशंका से विकल था (गीता १/४१)। यदि उन सबको पति के साथ जलना ही रहा होता, तो अर्जुन इतना चिन्तित क्यों होता? आश्चर्य है कि जिस सती-प्रथा से परमगति मिलनेवाली हो, गीता-जैसे धर्मशास्त्र में उसकी चर्चा तक नहीं है।

* गीता अध्याय ९ श्लोक ३२ में है कि स्त्री, वैश्य, शूद्रादि तथा जो कोई भी पापयोनिवाले हों, वे सभी मेरे आश्रित होकर परमगति को प्राप्त होते हैं। अर्थात् एक परमात्मा को ही भजने का विधान सबके लिए है। ऐसा नहीं है कि स्त्री के लिये कोई दूसरा विधान हो और पुरुष के लिये कोई दूसरा। उसी एक परमात्मा को भजना, पुरुष और स्त्री के लिये एक ही विधान निर्धारित है।

* अध्याय ८/१२-१३ में है कि मन को हृदयदेश में निरुद्ध करके जो पुरुष शरीर का त्याग कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है। अर्थात् पहले मन का निरोध फिर परमगति, यही तरीका है। यहाँ मन का निरोध तो किया नहीं, पहले शरीर को जला दिया, तो परमगति कैसे मिलेगी? साधन-धाम जो शरीर मिला था, वह भी जला दिया? जीते-खाते परिवार में सहसा कोई मरा, आमोद-प्रमोद में जीवन बितानेवाली स्त्री चिता पर चढ़ गयी। जलाना जिस मन को था उसका संयम तो किया नहीं, जला दिया देवदुर्लभ मानव-तन को। अनन्त योनियों का चक्कर काटकर न जाने कब यह साधन-तन मिले? इससे बड़ी क्षति क्या होगी? अतः सबको एक परमात्मा का सुमिरन करना चाहिए।

स्मृति

सती-प्रथा को उछाला स्मृतिकारों ने। पाराशर-स्मृति में है कि जो स्त्री पति के मर जाने पर संयमपूर्वक दिन बिताती है, वह मरने पर स्वर्ग जाती है; किन्तु जो पति के साथ प्राण त्यागकर उसका अनुगमन करती है, वह मनुष्य शरीर में रहनेवाले साढ़े तीन करोड़ रोएँ के बराबर वर्षों तक स्वर्ग में वास करती है। जिस प्रकार सपेरा साँप को उसके बिल से बलात् निकाल लेता है, ऐसी सती अपने पति को खोजकर वहाँ भी उसी के साथ विहार करती है। स्पष्ट है कि इस स्मृतिकार को विधवा का संयमित जीवन भी पसन्द है, किन्तु प्राण त्यागनेवाली विशेष है, क्योंकि वह स्वर्ग में भी सहवास करती है। विधवा का पुनर्विवाह स्मृतिकारों को मान्य नहीं है, क्योंकि उसकी शुद्धि असम्भव है।

इसी स्मृति के चौथे अध्याय में है कि जो ब्राह्मण अनिच्छा से पतितों के साथ पाँच, दस, बारह अथवा पन्द्रह दिन या एक मास, दो मास, छः मास या अधिक से अधिक एक वर्ष तक निवास करे तो उसकी शुद्धि सम्भव है जिसमें गो-मूत्र में पके जौ खाना और तप्त कृच्छ्र व्रत रखना पड़ता है; किन्तु यदि एक वर्ष से एक दिन भी अधिक उनके बीच रह जाय तो उसकी शुद्धि का कोई उपाय नहीं रह जाता। वह वही हो जाता है,

जिनके बीच वह रह रहा है। आज ब्राह्मणों के बालक यूरोप और अमेरिका जाते हैं, ढाई-तीन साल में लौटते हैं। दुबई इत्यादि खाड़ी देशों में रिश्वत देकर भी सर्विस पाना, मुसलमानों के बीच रहना, खाना-पीना पसन्द करते हैं, नाम तक बदल लेते हैं, कुछेक तो वहीं अन्तर्जातीय विवाह करके लौटते हैं। व्यवस्था न होते हुए भी वे ब्राह्मण आज शुद्ध हो गये, कोई धर्माचार्य उनकी ओर अंगुली भी उठाने का साहस नहीं कर पाता, तो माताओं को जलाने में ही क्यों गौरव मानते हैं?

मनुस्मृति के दसवें अध्याय में है कि ब्राह्मण पिता और शूद्र जाति की स्त्री से निषाद या केवट पैदा होता है तो वह नाव चलाये और मछली का व्यवसाय करे। विचारणीय है कि पृथ्वी का तिगुना धरातल जल! इतनी अधिक नदियाँ, झीलें और समुद्र! इन सब स्थानों पर मत्स्य व्यवसाय, विशाल नेवी विभाग का सञ्चालन एक-दो ब्राह्मणों के आकस्मिक भूल से सम्भव नहीं है। इन विभागों को बड़े पैमाने पर छूट देनी होगी कि वे निषादों की संख्या बढ़ायें।

इसी प्रकार क्षत्रिय और ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र सूत घोड़ों और रथों का कार्य देखे। प्राचीन नरेशों के पास चतुरंगिणी सेना होती थी, जिनमें लाखों रथों की देखभाल पचीस-पचास सूत पैदा करने से नहीं हो सकता था। शूद्र और ब्राह्मणी के समागम से उत्पन्न चाण्डाल स्टेटों में वध-कार्य करता था। जेल विभाग उसके अधीन था। जिस वर्ण/वर्णसंकर के लिए जो कार्य निर्धारित था, उसे दूसरे वर्णवाले नहीं कर सकते थे; अन्यथा इसी स्मृति में है कि राजा उसे निर्धन करके देश से निकाल दे। आप विचार करें कि उपर्युक्त विभाग राज्य के प्रमुख अंग हैं और इन्हें चलाने की यदि व्यवस्था थी तो कोई सती कैसे होगी? ऐसी अवस्था में पातिव्रत धर्म कब तक सुरक्षित रह सकेगा?

प्राचीन समाज में वर्णसंकर पैदा करने की छूट के प्रमाण भी मिलते हैं। इतना ही नहीं, जिन माता-पिताओं ने वर्णेतर सहवास किया, उनको दण्ड तो दूर अपमान भी नहीं झेलना पड़ा; प्रत्युत् उनसे पैदा होनेवाले निर्दोष बच्चे ही दोषी ठहराये गये कि वे गाँव के बाहर रहें, मिट्टी के बर्तन में खायें, मुर्दों के उतारे वस्त्र पहनें, पेड़ के नीचे आज यहाँ तो कल वहाँ रहें। मनुस्मृति कहती है कि शुद्ध हृदयवाले ब्राह्मणों ने ऐसी व्यवस्था दी है। भूल माता-पिता ने की और पीढ़ी-दर-पीढ़ी दण्ड बच्चों को? धिक्कार है ऐसी व्यवस्था को!

निष्कर्ष

सती-प्रथा धर्म है या नहीं?- यह जानने के लिए आवश्यक है कि सभी लोग धर्म की सही परिभाषा जान लें कि मात्र एक परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ना ही धर्म है; क्योंकि वही समस्त सुख तथा शाश्वत शान्ति का केन्द्र है। वह है तो सर्वत्र; किन्तु उसे खोजने की स्थली प्रत्येक स्त्री-पुरुष के हृदय के भीतर ही है- बाहर कहीं है ही नहीं।

वेद के पुरुष-सूक्त का उद्घोष है कि दैवी सम्पद् को हृदय में उतारनेवाले पूर्व महापुरुषों ने मानस यज्ञादि साधनों द्वारा शरीर में स्थित जिस पुरुष को जाना था, ब्रह्मा ने जिसकी स्तुति की थी, इन्द्र ने जिसे सर्वत्र व्याप्त देखा था, उस परमपुरुष को जो जानता है वह यहीं, इसी जन्म में अमृतपद प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त अमर होने का अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'** *(ऋग्वेद, १०/९०/१६)*- दैवी गुणसम्पन्न पुरुषों ने यज्ञस्वरूप महापुरुष को लक्ष्य बनाकर उनकी पूजा की। यही धर्म है।

अतः वेद के अनुसार धर्म क्या है? उस एक परम पुरुष को जानना। जानने के लिए क्या करना है? मानसिक यज्ञ, मन का निरोध! वह होगा कैसे? तो हर ऋतु में उसी एक परमात्मा के चिन्तन से, यज्ञस्वरूप महापुरुष से! बस इतना ही धर्म है। यही सत्पथ है। इसी पर चलनेवाला सती है। यह स्थिति जीवित अवस्था में ही मिलती है, जलने या मरने से नहीं।

ठीक यही गीता का निर्णय है कि **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'**- उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, जिनका मन समत्व में स्थित है। **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'**- उधर वह ब्रह्म निर्दोष और सम है और इधर साधक का मन भी निर्दोष और सम स्थितिवाला हो गया। समान गुणधर्मवाला होने से **'तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।'** *(गीता, ५/१९)*- वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। तो ब्रह्म में स्थिति कब मिलती है? जब संसाररूपी शत्रु जीतने में आ जाय। संसार कब जीतने में आता है? जब मन का निरोध हो जाय! **'महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।'** *(मानस, ६/८० क)*

प्राप्तिवाले हर महापुरुष ने मन को जीतने की बात कही है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'** *(ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, १)*- मनुष्यों की मुक्ति और बन्धन का कारण मन है, तो जब तक मन जिन्दा है तब तक शरीर जलाने या न जलाने से क्या होगा? मन के निरोध के लिए ही तो साधन-भजन किया जाता है; किन्तु शरीर जलाने से न तो मन का निरोध देखा-सुना गया है और न यह भजन की कोई विधा ही है।

संसार भर के लोग भजन के नाम पर कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं, जैसे- लोग सवेरे नहा-धोकर सूर्य को, पीपल को या कहीं जल चढ़ाते हैं, धूप-दीप करते हैं, कुछ श्लोक या चालीसा पढ़ लेते हैं। स्त्रियाँ डीहबाबा, चौरा माई, सती माई, विविध पेड़-पौधों अथवा जलाशयों को पूजती हैं, जिसमें सामग्री और आसन (मुद्रा) की भिन्नता रहती है, जैसे- कोई एक पैर उठाकर पूजता है, कोई लेटकर तो कोई बैठकर। तरह-तरह की पूजन सामग्री और नैवेद्य के अन्तर्गत पशु-पक्षी तथा स्त्री-पुरुष की भी बलि चढ़ाकर समृद्धि के साथ परमधाम पाने की चेष्टा करते हैं।

इसी प्रकार गृहत्याग के पश्चात् कोई एक दण्ड को, तो कोई तीन दण्ड को मोक्ष का उपाय मानता है। कोई चन्दन के लेप का, कोई स्नान का महत्त्व बताता है तो कोई मुण्डन का, कोई कुण्डल का, तो कोई विभूति का। ये सन्त-वेष त्याग और तपस्या को ही इंगित करते हैं, सत्य के प्रति हमारे द्वारा लिये गये व्रत की स्मारिका हैं। बाना (पोशाक) सत्य की ही है; किन्तु यह साधन नहीं है, यह केवल फाउण्डेशन (नींव) है।

जैन साहित्य में इसका आशय बताते हुए एक रोचक कथा कही गयी है कि भगवान महावीर अपने पूर्वजन्म में सम्राट भरत के पुत्र मरीचि के रूप में थे। कठोर साधना से विचलित होने पर उन्होंने सोचा कि मैं मन, वचन और काया के विकारों से युक्त हूँ अतः इसके प्रतीक के रूप में त्रिदण्ड धारण करूँगा। मैं तपस्या के शील से सुरभित नहीं हूँ अतः अपनी कमी का बोध करते रहने के लिए चन्दन लगाया करूँगा। मोह के प्रतीक रूप में छत्र धारण करूँगा। राग-द्वेष से कलुषित हूँ अतः काषाय वस्त्र धारण करूँगा। मैं अन्तःपवित्र नहीं हूँ, इसे याद रखने के लिए दिन में तीन बार स्नान किया करूँगा। वास्तव में वेष प्रतिज्ञा को सतत याद दिलाने के लिए है। वेष सत्साधन में लगाता है किन्तु वेष ही सत्साधन नहीं है। इस वेष में या किसी वेष-कुवेष में जो सत्साधन करना चाहिए, वह गुरुओं की विद्या एक ही है, जिसमें बहुत-सी साधनायें नहीं हैं। **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।'** *(गीता, २/४१)*- वह क्रिया एक ही है। उसे महापुरुषों से प्राप्त करना पड़ता है और ये बाह्य आचरण नहाना-धोना इत्यादि न तो धर्म हैं और न अधर्म। विकार मन में हैं तो शरीर धोने से क्या होगा? भजन कोई ऐसी क्रिया है जिससे मन की धुलाई होती है, जिससे संसार में फैला मन धीरे-धीरे सिमटने लगता है, जिससे मन का निरोध होता है। मनगढ़न्त कुछ भी करने से मन नहीं रुकेगा। **'साधन करिय विचारहीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे।'** *(विनयपत्रिका, ११५)*

मन के निरोध के लिए वेद ने बताया परमात्मा का सतत चिन्तन। **'ग्रीष्म इध्मः शरद्धवि'**- ग्रीष्म, शरद्, वसन्त हर ऋतु में सतत चिन्तन द्वारा जब मन के संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं और इस शान्त मन का भी जब विलय हो जाता है तब जो तत्त्व मिलता है उसी का नाम मोक्ष है, परमगति है, परमधाम है। मन के निरोध के लिए जिसने यत्न किया ही नहीं तो शरीर जलाने से मोक्ष कैसे मिल जायेगा?

वायु की तरह चञ्चल मन का निग्रह दुष्कर माननेवाले अर्जुन को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के छठें अध्याय के सैंतालीसवें श्लोक में एक सुगम उपाय बताया कि भक्ति करो, **'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।'** उस भक्ति का आरम्भ है कि हृदय में जो परमात्मा है, उसमें (सद्गुरु में) श्रद्धावान् हो जाओ। और किसी का भी अस्तित्व नहीं है, वही एक शाश्वत है, वही सत्य है, वही अविनाशी है, वही परमतत्त्व

है। उसे अपने जीवन का उद्देश्य बना लो और उसके बाद उसकी प्राप्ति के जो साधन हैं जिसका नाम दैवी सम्पद् हैं, उन गुणों को हृदय में ढालो। इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को **'संयमाग्निषु जुह्वति'** *(गीता, ४/२६)* संयम की अग्नि में हवन करो। विषयोत्तेजक शब्दों के आशय को वैराग्योत्तेजक भावों में बदलकर उनसे बचो। सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापारों को ईश्वरीय आदेशों के आलोक में संयमित करो।

साथ ही आवश्यक है नाम-जप, जिसका उतार-चढ़ाव श्वास पर है। श्वास के साथ यदि नाम-जप की क्षमता नहीं है तो आरम्भ में माला, उँगली या नाड़ी के स्पन्दनों के सहारे भी कुछ लोग नाम-जप के लिये अनुबन्धित हो लेते हैं; किन्तु शीघ्र ही श्वास में सुरत प्रारम्भ हो जाती है, फिर माला या किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता समाप्त हो जाती है, फिर तो श्वास से ही जपना चाहिए। श्वास कब अन्दर गई उसे देखो, कब बाहर निकली उसे देखो, कितनी देर तक बाहर रुकी उसे जानो, फिर तो श्वास अन्दर जाने लगे तो उसके द्वारा नाम जपाओ, जानकारी के बिना श्वास खाली न जाय, सुरत को उस श्वास में लगाओ, श्वास में उठनेवाले शब्द को पकड़ो, श्वास नाम को छोड़ अन्य कुछ कहती ही नहीं। प्रारम्भ में हम सुनने लगेंगे तो नाम नहीं दिखाई देगा, सन्न-सन्न, साँय-साँय सुनाई पड़ेगा; किन्तु बैखरी, मध्यमा के स्तर के पश्चात् पश्यन्ती का स्तर आते- आते यह नाम श्वास में ढल जाता है। इस प्रकार श्वास के द्वारा जप करना चाहिए, जिसे श्रीकृष्ण ने प्राणापान कहा। गौतम बुद्ध ने इसी को 'अनापान सति' कहकर सम्बोधित किया। ऐसा करने से प्राणों का याम अर्थात् निरोध हो जाता है। अब न भीतर से कोई संकल्प उठता है, न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर ग्रहण हो पाते हैं- इसी का नाम प्राणायाम है, यही मन की पूर्ण निरोधावस्था है और निरुद्ध मन भी जहाँ विलय हुआ तो भक्ति का, भजन का, यज्ञ का परिणाम निकल आता है। **'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** *(गीता, ४/३१)*- यज्ञ के पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी संरचना करता है, उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी शाश्वत-सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है।

प्रारम्भ से लेकर परिणाम तक संक्षेप में, सूत्ररूप में कुल इतना ही है भजन की विधि। यही है यज्ञ, योग-साधना भी यही है। परमात्मा में विलय दिला देनेवाली इस क्रिया को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यज्ञ कहकर सम्बोधित किया है। संसार के संयोग-वियोग से रहित अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति की जो क्रिया है, उसी को (वेद ने भी) यज्ञ कहकर सम्बोधित किया, इसी विधि से चलने पर बल दिया। चेतावनी भी दी कि इस यज्ञ से रहित स्त्री-पुरुष के लिये यह शरीर भी सुलभ नहीं है, तो भला उनके लिये परलोक कैसे होगा?

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस विधि से भजन करने के लिए बड़ा प्रोत्साहन दिया कि कोई इस विधि में से कुछ भी करता है तो वह भजन का ज्ञाता है, वह यज्ञ को जानता

है- अन्तर इतना ही है कि कोई आरम्भिक स्तर पर है, कोई मध्य में तो कोई उन्नत अवस्था में है। अध्याय ४, श्लोक २४ से ३१ तक आठ श्लोकों में तथा चौदह भागों में विधि प्रस्तुत की है।

सब ओर से सिमटकर उस एक परमात्मा में श्रद्धा एकत्र हुई, उसी क्षण से भजन की शुरुआत है, वहीं से आपने भजन का पहला कदम भली प्रकार उठाया है, धर्म को न जानते हुए भी आपने धर्म का मार्ग पकड़ा है। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं- **'मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।'** *(गीता, १३/१०)*- भक्ति अव्यभिचारिणी होनी चाहिए, अनन्य भाव से मुझसे जुड़ी होनी चाहिये। जिसको महापुरुषों ने सती कहा, उसी भक्ति को अव्यभिचारिणी कहकर सम्बोधित किया गया। यही है सती के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण का सम्बोधन। स्त्रियों के प्रदूषण की जिस आशंका से अर्जुन विकल था, योगेश्वर ने उसे अज्ञान कहा और बताया कि प्राप्तिवाला महापुरुष यदि पीछेवालों को भजन के पथ पर न चलाये, स्वयं करता हुआ उनसे न कराये तो पीछेवाले भी उनकी देखादेखी क्रिया छोड़ बैठते हैं। सीधे उन्हीं की तरह, प्राप्तिवाले महापुरुष-जैसा स्वांग बना लेते हैं। भजन-पथ में आयी इस विकृति को योगेश्वर वर्णसंकर कहते हैं। महापुरुषों की दृष्टि में ईश्वर की प्राप्ति के लिये निर्धारित उपर्युक्त क्रिया के अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है वह समाज में संस्कार-सृजन का उपादान है, व्यवस्था है- धर्म नहीं। धर्म के नाम पर समाज में भयंकर भ्रान्तियों का सृजन हुआ है, जिसमें सती-प्रथा भी एक है।

अयोध्या की जनसभा में भगवान श्रीराम ने समझाया, जिसका उल्लेख रामचरितमानस में है, उस सभा में **'गुर द्विज पुरबासी सब आये।'** *(७/४२/१)*- सद्गृहस्थ आश्रम में रहनेवाले लोग भी थे। मानव-शरीर की नश्वरता का वर्णन कर भगवान ने कहा कि यदि परलोक चाहते हो अथवा इसी जीवन में सब प्रकार का सुख चाहते हो तो दोनों के लिये केवल एक ही रास्ता है- **'भगति मोरि'**- मेरी भक्ति करो। **'भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।'** *(मानस, ७/४४/२)*- मेरी ही भक्ति का गायन पुराण में है, मेरी भक्ति का ही गायन वेद में है। अतः एक परमात्मा में निष्ठा भक्ति का सबल चरण है। **'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।।'** *(मानस, ७/४४/५)* एक परमात्मा में श्रद्धा दृढ़ाने के लिए आरम्भ होता है सन्तों का सेवन। सन्त सब अच्छे हैं, किन्तु यदि वे एक परमात्मा को छोड़कर अन्य देवी-देवताओं को भजवाते हैं, अनेक स्थानों पर श्रद्धा बिखराते हैं, तो अभी स्वयं बिखरे हुए सन्त हैं। समय पाकर उन्हें भी एक परमात्मा के रास्ते पर आना ही होगा। एक परमात्मा के प्रति निष्ठा ही सती का लक्षण है।

एक परमात्मा के स्थान पर दाहिने-बायें कुछ न कुछ करते-करते शनैः-शनैः हम-आप इतने नीचे उतर आये कि ओझाई, पशुबलि और टोना-टोटका में फँस गये।

जब सब भगवान के ही अंग हैं तो भूत भी होंगे, फिर करो न पूजा। यह भयंकर भ्रान्ति का अन्तिम चरण है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने **'जे परिहरि हरि हर चरन, भजहिं भूतगन घोर।' (मानस, २/१६७)** कहकर इसकी भर्त्सना की है, फिर भी लोग झाड़-फूँक कराते हैं, रामायण भी पढ़ते हैं। भोलीभाली माताओं को आतंकित कर, झिझककर, मनोवैज्ञानिक दबाव डालकर ऐसा करने के लिये बाध्य किया जाता है। बरगलाने के लिये उनकी प्रशंसा भी करते हैं कि माताओं पर ही तो धर्म-कर्म टिका है। माताएँ इस बहकावे में शीघ्र आ जाती हैं; क्योंकि आज तक उन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया। धर्मशास्त्र सुनने का विधान उनके लिये नहीं था। आज तक उन्हें ऐसे नाथकर रखा गया कि पिंजड़े के अन्दर ही रह गईं। पति की इच्छा न हो तो खाना न खायें, न धरम करें। उन्हें सचाई से वंचित रखा गया। भूत-भवानी, पीपल, पेड़-पत्ता, डीह, चौरा, पुत्र जिलानेवाली देवी, जो कुछ भी उन्हें बताया गया उसी को धर्म मानकर वे व्रत-उपवास करने लगीं या लपसी (हलवा) चढ़ाने लगीं। यह भुलावा है, धोखा है। माताओं को भूलकर भी इन भ्रान्तियों में नहीं जाना चाहिए, न भय खाना चाहिये, क्योंकि सृष्टि में ऐसा कोई भूत नहीं है जो मनुष्य से तगड़ा हो। भूत का अर्थ होता है प्राणी- **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** ***(गीता, १८/६१)***

अतः माताओं को कभी भी ओझा, सोखा, भूत-भवानी, टोना-टोटका नहीं मानना चाहिए। यह कुछ नहीं, केवल वाममार्ग है- जिसमें अधिकांश देवता शाकाहारी हैं किन्तु उनकी पत्नी देवियों को मांसाहारी घोषित करके उदरपूर्ति के साधन जुटाये गये हैं। माताओं को जानना चाहिये कि स्त्री-पुरुष सबके लिये भजन का एक ही रास्ता है। हमारा-आपका, संसार में सबका शास्त्र गीता है। आप गीता, रामायण अथवा मूल वेद ही देखें तो उन सबका आशय केवल इतना है कि अविनाशी तत्त्व केवल परमात्मा ही है। उसी एक के प्रति पूर्ण श्रद्धा से समर्पित हो जाओ।

उस जनसभा में भगवान श्रीराम ने इसलिए एक परमात्मा में निष्ठा को भक्ति का आरम्भ बताया और कहा कि भक्ति आरम्भ करने के लिये न तो किसी योग की आवश्यकता है न यज्ञ, जप, तप और उपवास की। शुरू-शुरू में अभी इतना जरूरी है कि **'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई।।'** ***(मानस, ७/४५/२)*** प्रयास है तो केवल इतना कि सरल स्वभाव हो, मन में कुटिलता न हो, इस मन को ही तो सीधा करना है, सम करना है। जैसा कुछ लाभ मिले उसी में सदा सन्तोष रखें। **'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा।।'** ***(मानस, ७/४५/३)*** मेरा दास कहलाता है और अन्य की आशा करता है तो आप ही विचार करें कि उसने मेरा विश्वास ही क्या किया? वह भक्त नहीं है। आगे बताया कि वह किसी से बैर न करे, लड़ाई-झगड़ा न करे, सत्य के अनुयायी जनों का संग करे, मेरे नाम-जप में

अनुरक्त हो ममता, मद और मोह का त्याग करे तो इसके परिणाम में मिलनेवाले सुख को वही जानता है जो परमानन्द राशि को प्राप्त है। यहाँ भगवान ने बताया- एक परमात्मा में दृढ़ श्रद्धा और नाम-जप में सतत संलग्नता। इतने से ही आपका प्रवेश भजन के सही पथ पर हो जायेगा।

प्रकारान्तर से यही भक्ति नौ सोपानों में श्रीरामचरितमानस में शबरी को भगवान राम ने बतायी जिसकी शुरुआत का पहला चरण है सन्तों का संग- **'प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा।'** *(३/३४/८)* उनके सान्निध्य से मिलेगा परमात्मा सम्बन्धित कथा-प्रसंग। जहाँ भली प्रकार समझ काम करने लगी, हृदय के पर्दे धुल गये, तहाँ **'गुर पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।'** *(३/३५)*- गुरु के द्वारा उनकी विद्या मिलेगी, उसे धारण करना ही गुण-गायन है। यही चौथी भक्ति है। फिर पाँचवाँ स्तर आता है उस कोटि के नाम का सतत जप- **'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।'** *(३/३५/१)* एक परमात्मा में ही दृढ़ विश्वास हो जाय, तहाँ **'बिरति बहु करमा'** *(३/३५/२)*- घर-गृहस्थी के बहुत से कर्मों की जिम्मेदारियाँ धीरे-धीरे विचार करो, उत्तराधिकारी (भावी अधिकारी) को सौंपते जाओ। इससे कर्मों में विरक्ति आने लगती है, घर छोड़ने की जरूरत नहीं। इसका परिणाम निकलेगा सातवाँ स्तर कि **'सातवँ सम मोहि मय जग देखा।'** *(३/३५/३)*- सर्वत्र ईश्वर का सञ्चार दिखाई देगा किन्तु सर्वाधिक सञ्चार दीखेगा सन्त में। संसार मेरे बराबर, किन्तु सन्त मुझसे बढ़कर अर्थात् संसार से बढ़कर। **'आठवँ जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।।'** *(३/३५/४)* परमात्मा विषयक दोष न देखें और अन्तिम स्तर आता है कि **'नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।।'** *(३/३५/५)* सरल स्वभाव हो, कुछ भी पाना है तो मेरा भरोसा करो, किसी अन्य का नहीं- यही भजन है, यही भक्ति का पथ है। इनमें से एक भी स्तर जो धारण कर लेता है तो भक्ति-पथ में प्रवेश पा जाता है। ठीक वही बात, जैसा कि गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये सब यज्ञ के जानकार हैं।

किसी ने सन्त कबीर से पूछा कि भजन क्या है? भक्ति क्या है?, तो बड़े नपे-तुले शब्दों में उन्होंने बताया कि **'भजन भगति हरिनाम है।'** पूछा गया कि नाम के अतिरिक्त जो लोग क्रियाएँ करते हैं क्या वह भजन नहीं है? कबीर कहते हैं, नहीं **'दूजा दुख अपार।'**- वह तो दुःख का कारण है, भजन नहीं। **'मनसा वाचा क्रमना, कबीर सुमिरन सार।।'** एक परमात्मा का सुमिरन ही भजन है। इन सबके निष्कर्ष में एक ही बात मिलती है कि एक परमात्मा को अपना जीवन-उद्देश्य बना लेने से, नाम-जप से और शनैः-शनैः दैवी सम्पद् अर्जित करके आचरण करने से आपकी आत्मा पर जो आवरण है हल्का होगा, तहाँ आपकी ही आत्मा रथी होकर बतायेगी कि किधर चलें? कौन आपके सद्गुरु हैं? जब सद्गुरु ही मिल गये तो संशय-भ्रम मिट जाता है। फिर तो सर्वांगीण

समर्पण के साथ चलना है, किन्तु उस सद्गुरु को ढूँढ़ो मत, पहले इसे ढूँढ़ो। एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा को ढूँढ़ो, नामजप को ढूँढ़ो, दैवी सम्पद् के गुणों को अपने में तलाश करो। इनका पुण्य-पुरुषार्थ स्वतः सद्गुरु से मिला देगा। इस पथ में सबसे कम यदि किसी वस्तु की आवश्यकता है तो वह सद्गुरु को ढूँढ़ने की। उनके ढूँढ़ने का ही कुपरिणाम है कि आज सद्गुरुओं की कतार लगी हुई है। किन्तु सन्त या सद्गुरु जिस दृष्टि से पहचान में आते हैं, वह दृष्टि पुण्यमयी है। अतः पहले एक परमात्मा में निष्ठा द्वारा, नाम-जप द्वारा, शुभ आचरणों द्वारा, आप्तपुरुष की सेवा भजन का सबसे सुगम उपाय है इनकी सेवा द्वारा, केवल अपने परिश्रम की कमाई द्वारा सादा जीवन-निर्वाह, स्त्रियों के प्रति माँ-बहन की दृष्टि, ईमानदारी, सचाई, सरलता, अपने पड़ोसी का हित इत्यादि शुभ आचरणों द्वारा पुण्य अर्जित करें। जिस दिन यह पुण्य काँटे पर खड़ा होगा, सन्त या सद्गुरु पहचान में आ जायेंगे, स्वतः आ मिलेंगे- **'पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता।'** ***(मानस, ७/४४/६)***

इसके विपरीत आचरण करने से आप परमात्मा से दूर होते जाते हैं, जो आपकी अपनी अपूरणीय क्षति है। स्त्री हो या पुरुष, जब तक वह परमात्मा को अपने से बाहर बैठा हुआ मानता रहेगा, जब तक वह महसूस न करने लगे कि हृदय के भीतर बैठा परमात्मा उसके प्रत्येक विचार तक को देख रहा है (जिसका परिणाम संस्कार-रूप में उसी को भुगतना पड़ेगा) तब तक वह आत्मानुशासित नहीं हो सकता। केवल आत्मानुशासित व्यक्ति ही सच्चा सती है और वही रूढ़ि जर्जर समाज के जीर्णोद्धार का सत्साहस कर सकता है।

अतः माताओं को चाहिए कि उन्हीं आदर्शों को अपनायें, जैसा कि महासती अनसूया, सीता, मदालसा या मीरा ने आपसे करने को कहा है। इन सबका आदेश केवल इतना ही है कि एक परमात्मा को श्रद्धा से पकड़ें, अपने आपको शनैः-शनैः समर्पित करें, उन्हें पाने के लिये यत्न करें। विपद् सम्पद् हो जायेगी, दुःख सुख में बदल जायेगा और वह प्रभु ही कृपा कर देंगे तो सिर पर पहाड़ आनेवाला हो तो रजकण हो जायेगा। आप करके तो देखें!

विषम परिस्थितियों में अपने उज्ज्वल चरित्र की रक्षा के लिये कुछ भी किया जा सकता है। इज्जत की रक्षा के लिये इस अमूल्य शरीर का अन्त भी किया जा सकता है- किन्तु मुक्ति के लिए नहीं। इसमें कल्याण कदापि नहीं, धर्म कदापि नहीं है। पति के शव के साथ पत्नी का चितारोहण अकारण पीछा करती हुई एक रूढ़िमात्र है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

विचार-विमर्शहेतु श्री परमहंस आश्रम, शक्तेषगढ़ (चुनार-राजगढ़ रोड), मिर्जापुर-उ० प्र० आपको सहर्ष आमन्त्रित करता है। ।। ॐ ।।

अवतार का अनन्त विधान एवं अधिकारी के लिए सम्भव

अवतार योगी के अन्तस्थल में ही होता है। देश, जाति एवं काल-विशेष में प्रभु के अवतरण की परिकल्पना भ्रान्तिमात्र है। प्रक्रिया-विशेष के द्वारा अनुभवी महापुरुष के माध्यम से योगी के अन्तःप्रदेश में परमात्म-तत्त्व की अनुभूति होती है।

– स्वामी अड़गड़ानन्द

कबीर और अवतार

सन्तो! आवै जाय सो माया।।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुं गया न आया।।१।।
का मकसूद मच्छ कछ होना, शंखासुर न संहारा।
है दयाल द्रोह नहीं वाके, कहहु कौन को मारा।।२।।
वै कर्त्ता नहिं बराह कहावे, धरणि धर्‌यो नहिं भारा।
ई सब काम साहेब के नाहिं, झूठ कहै संसारा।।३।।
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल पाषाण नहिं बंधा।
वै रघुनाथ एककै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा।।४।।
वै कर्ता नहिं भये निकलंकी, नहिं कालिंगहि मारा।
ई छल बल सब माया कीन्हा, जत सत्त सब टारा।।५।।
दश अवतार ईश्वरी माया, कर्त्ता कै जिन पूजा।
कहहिं 'कबीर' सुनो हो संतो, उपजै खपै सो दूजा।।६।।

(बीजक, शब्द प्रकरण, शब्द ८)

उपर्युक्त पद पर दृष्टि पड़ते ही ऐसा आभास होता है कि इसमें अवतारों का पूर्णतः खण्डन किया गया है; किन्तु सन्त कबीर ने यथार्थ को परिलक्षित करते हुए यह स्पष्ट कह सुनाया कि दस अवतार ईश्वर नहीं, बल्कि ईश्वरीय तत्त्व की आरम्भ से

पराकाष्ठापर्यन्त ईश्वर प्रसारिणी विशद धाराएँ हैं। **'दश अवतार ईश्वरी माया'**- दस अवतार अधिकारी जनों को ईश्वर में प्रवेश दिलानेवाली माया है। उस ईश्वरीय तत्त्व के प्रवेश के साथ ही पुरुष उसी परमात्मस्वरूप से परिपूरित हो जाता है। इसका परमबोध पूर्णत्व प्रदायिनी परिणाम है।

कबीर के चिन्तन का नाम 'राम' था-

राम न रमसि कवन दण्ड लागा।
मरि जइबे का करिबे अभागा।।

आपने प्रेरणा के शब्दों में कहा कि राम का भजन क्यों नहीं करते-

कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस।

'अवतार का अनन्त विधान एवं अधिकारी के लिए सम्भव'- यह रचना अवतार-सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण, उनकी मौलिक अवधारणाओं का शास्त्रसम्मत विशुद्ध स्वरूप प्रस्तुत करती है। इस कृति का प्रतिपाद्य विषय अनन्त अवतारों की सम्यक् वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करना है। इस कृति की मौलिकता इस तथ्य का उद्घोष है कि अवतार योगी के अन्तस्थल में ही होता है। देश, जाति एवं काल-विशेष में प्रभु के अवतरण की परिकल्पना भ्रान्तिमात्र है। प्रक्रिया-विशेष के द्वारा अनुभवी महापुरुष के माध्यम से योगी के अन्तर्प्रदेश में परमात्म-तत्त्व की अनुभूति होती है। साधक के अन्तःकरण में ही प्रभु का प्राकट्य होता है। अधिकारी के लिए ही आज एवं सदैव अवतार का विधान है।

मनःदेश में अवतार की अवधारणा का पवित्रतम सन्देश लेकर यह आर्षग्रन्थ स्वयं में आत्मदर्शन की उपलब्धि यौगिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में अभिव्यक्त करता है। आत्मा में परमात्मा की अनुभूति ही इस महानतम ग्रन्थ का मूल विषय है। मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह इत्यादि अनेकानेक अवतार इष्टदेव के संस्पर्श एवं अभिन्नता के समय हृदय-देश में अभिव्यक्त होते हैं। कृष्णावतार भी आत्मा की ही सत्, चेतन एवं आनन्दघन अवस्था का निर्देशक है। संक्षेप में, कृतित्व का विवेचन पाठकों के अन्तराल में प्रेरणात्मक स्रोत का सृजन मात्र है; क्योंकि विवेच्य वस्तु का सम्बन्ध तो मन-वाणी से सर्वथा परे है।

।। ॐ।।

कच्छपावतार : सागर-मन्थन

दोहा **– भव सागर मन्थन करि, रतन कह्यो सब देख।**
तेरह बिष की बेलि हैं, अमिय पदारथ एक।।१।।

भावार्थ – चिन्तन की भावधारा में, एक समय की अनुभूति है, भवसागर-मन्थन किया गया, जिसके परिणामस्वरूप उपलब्ध तेरह रत्न विष की वृद्धि करनेवाली लता के सदृश हैं। केवल अमृत ही ऐसा विलक्षण पदार्थ है जिसमें अनेकता नहीं, जो सर्वथा अद्वितीय और अनुपमेय है।

दोहा **– भवनिधि मन्थन कथा सुनि, सन्तन मन दुख चैन।**
लखि तेरह दुख विपुल भे, एक अमिय लखि चैन।।२।।

भावार्थ – संसार-सागर-मन्थन की मानसिक उपलब्धि की इस कथा को सुनकर सन्त-महात्माओं के भाव-पटल पर सुख और दुःख का द्वन्द्वात्मक तनाव स्पष्ट होने लगा। तेरह रत्न सांसारिकता की भली-बुरी स्थितियों का ही चित्रण करते हैं। उनका प्रसार देखकर दुःखात्मक मनोमालिन्य का भाव बना रहा। चिन्मय आभ्यन्तरिक शान्ति उत्पन्न करनेवाले अमृत को देखकर सन्तों के मन में सुखात्मक अनुभूति तरंगित होने लगती है, जिसका सुपरिणाम परमकल्याण है।

दोहा **– तेरह रत्न जग जीविका, विकसित भोग बिलास।**
क्षण सुखकर परिणाम तन, जग जोनी की रास।।३।।

भावार्थ – तेरह रत्न संसार में जीव को अनेक योनियों में, विविध भोग-विलास के सुखों का विस्तार कर घुमाते रहते हैं। जहाँ तक मृगतृष्णा का विस्तार है, प्राणियों के विलासिता की सीमा है, उसके प्रोत्साहन में क्रियात्मक प्रभावशीलता इन्हीं तेरह रत्नों की क्षणिक चमत्कारिकता का दुष्परिणाम है। आकर्षण के विविध साधनों के बीच जीव जन्म और मृत्यु के चक्र में भटकता रहता है। सागर-मन्थन के तारतम्य में प्राप्त त्रयोदश रत्न अन्यान्य योनियों को समूर्त करनेवाले अक्षय भण्डार हैं, जिनके चकाचौंध में जीव आवागमन की पटरी में छटपटाता रहता है।

चौपाई **– तेरह रत्न मिले दुःख मानी।**
जतन प्रगट अमृत रस खानी।।१।।

भावार्थ – मन्थन की अविराम प्रयत्नशीलता का परिणाम यह हुआ कि एक, दो करके तेरह रत्न मिल गये किन्तु सुख का सान्निध्य नहीं हुआ, दुःख की क्लान्ति बनी रही। प्रयत्न चलता रहा। दृढ़ संकल्प और निष्ठा का सुपरिणाम यह हुआ कि मानस

में अमृत का स्रोत फूट निकला। यह अक्षुण्ण प्रवाह चित्त की उस सूक्ष्मतम भूमिका से प्रगट हुआ है जहाँ इसकी अलौकिक खान अनादिकाल से है।

टिप्पणी– *निष्ठापूर्वक यन्त्र की परिणति जो अमृत के रूप में प्रकट हुई, उससे स्पष्ट है कि साधक को पूर्तिपर्यन्त चिन्तन नहीं छोड़ना चाहिए; क्योंकि चिन्तन-शृंखला की लड़ी टूट जाने पर पार्थिवता की धुरी में घुमानेवाले तेरह रत्न पुनः प्रभावशील होने लगते हैं। इस प्रकार जीव पूर्ववत् सांसारिकता के उत्थान-पतन में पड़ा हुआ देहाभिमान से आक्रान्त रहता है।*

यह तन बिष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिए सतगुरु मिले, तो भी सस्ता जान।। (सन्त कबीर)

अनवरत प्रयत्नशील साधक मन्थन की प्रक्रिया के ही बीच अमिय पदार्थ के उद्भव की अलौकिकता का आभास प्राप्त करने लगता है।

चौपाई **– अमिय बिलोकि सुखी पर काजा।**
सकल लोक भव संशय भाजा।।२।।

भावार्थ – दिव्य पदार्थ अमृत का दिग्दर्शन होते ही मानव चिन्तन की अनन्यता में भाव-विभोर होकर पूर्णतः सुख के नीरधि में अवगाहन करने लगता है। भौतिकता से परे जीवनी शक्ति का संचार करनेवाले आत्मतत्त्व का सान्निध्य प्राप्त कर परमात्म-तत्त्व की ओर उन्मुख होनेवाली आशातीत सफलता साधक को उपलब्ध हो जाती है। मृत्युलोक, परलोक आदि अलौकिक आनन्द प्रदायक लोकों के प्रति जो दिव्य कल्पनाएँ रहती हैं उनका इस उपलब्धि के साथ ही अवसान हो जाता है।

नाना प्रकार की भ्रान्तिपूर्ण सन्देहास्पद विचारों का भी मानस पटल में निलय हो जाता है। एतद्रूपेण इस दिव्य पीयूष रस की आभ्यन्तरिक वृष्टि से पूर्ण स्थैर्य प्राप्त कर चित्तवृत्तियाँ चिरन्तन शान्ति के सागर में समाहित होकर परमात्म-तत्त्व में अभिन्नता की स्थिति पर लय हो जाती हैं-

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई।।

(मानस, १/१११/२)

लगनशील पथिक जागृतिकाल में लक्ष्य पर लीन हो जाता है।

चौपाई **– अमिय भोक्ताहू मिटि जाई।**
तब पूरित परमारथ खाई।।३।।

भावार्थ – क्रमशील आभ्यन्तरिक उपलब्धि के परिणामकारक जब अमृत रस का पान करनेवाला भजनानन्दी भी शाश्वत सत्ता में समाहित हो जाय, तभी यथार्थ में परमार्थ पथ पर अवरोध उत्पन्न करनेवाली खाईं की गहराई भी परिपूर्ण हो जाती है।

टिप्पणी- *यह साधक की आत्मिक उपलब्धि की वही चरम सीमा है, जिसका निरूपण कबीर ने इस प्रकार किया है-*

अवधू बेगम देश है मेरा।
जहाँ पहुँच फिर हंस न आवे, भवसागर की धारा।
तहाँ न माया कृत प्रपञ्च यह, लोक कुटुम्ब परिवारा।।

यह वही स्थिति है जहाँ पहुँचकर नारद की वीणा को मधुर स्वर मिला है, जहाँ पर प्रलयंकर भगवान शंकर का डमरू निनादित हुआ है, जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम को रावण पर विजय मिली है। कहाँ तक कहा जाय, गीता का दिव्यज्ञान इसी भाव-भूमि की उपज है, जहाँ खोजनेवाला लक्ष्य में खो जाता है।

चौपाई **- आत्म दरश अमृत सुधि सोई।**
अवर कहैं जन सुध बुध खोई।।४।।

भावार्थ - अन्वेषणकर्त्ता को जब आत्मानुभूति हो जाती है, तभी यह स्पष्ट हो जाता है कि पीयूषवर्षण की अलौकिक वेला का अभ्युदय हो गया है। यही अमृत रस का शोध है। यदि कोई पथिक इस आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया का वर्णन किसी भिन्न ढंग से करता है, तो उसके विषय में यह निर्णय ले लेना चाहिए कि या तो वह चिन्तन-पथ से भ्रमित होकर सुधबुध खो चुका है या अपने लक्ष्य से ही वञ्चित होकर किसी माया की चकाचौंध में ठगा गया है।

दोहा **- अमिय पदारथ अपर नहिं, मृत सारा जप भोग।**
भजन पूर्ती काल महँ, अमिय आत्म संयोग।।४।।

भावार्थ - आत्मानुभूति से पृथक् अमृत की कहीं उपलब्धि नहीं है। जब यौगिक चिन्तन से लेकर जहाँ तक भी समस्त भोगों का विस्तार है, सब नश्वरता के गुण से युक्त हैं, तो बाहर ढूँढ़ने पर वह अमिय रत्न मिलेगा कहाँ? जिस किसी ने भी उसकी रसानुभूति का आह्लाद प्राप्त किया है, वह आत्मसाक्षात्कार के रूप में ही। भजन के पूर्तिकाल में उस अमृत-तत्त्व का संयोग होता है।

चौपाई **- तेहि प्रगटत सर मन्थन पूरा।**
मिलहि तबै वितरित हरि रूरा।।५।।

भावार्थ - दिव्य अमृत रत्न में आत्मा और परमात्मा के विलयन पर मानव मृत्यु से पार हो जाता है। ठीक इसी अवस्था में सागर-मन्थन की यौगिक प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है और वह अलौकिक ब्रह्म इसी शरीर में अपनी व्यापक सचेतनता का प्रसार करता हुआ अन्तःकक्ष को आलोक से भर देता है। लेकिन उस रत्न की अनुभूति उसी क्षण

होती है जब अमृतमय भगवान स्वतः सारथी बनकर उसका संचालन करते हुए पीयूष वितरण करें अर्थात् साधक में रथी बनकर खड़े हो जायँ।

टिप्पणी– *तुलसीदासजी ने कहा है–*

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।।
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन।।

(मानस, २/१२६/३-४)

स्पष्ट है कि बिना उसकी कृपा के चिन्तन-प्रक्रिया में अधिक श्रम के उपरान्त भी वह आवागमन से मुक्त कर देनेवाला परम अमृत-तत्त्व उपलब्ध नहीं होता। हाँ, साधन कभी भी व्यर्थ नहीं जाता, समय की प्रतीक्षा करें।

चौपाई **– यह रूपक परमारथ माहीं।**
विषय भोग रत कर थिति नाहीं।।६।।

भावार्थ – परमार्थ पथ के भीतर ही यह सागर-मन्थन का रूपक है। ऐसे मानव जो विषयात्मक भोगों में आसक्त हैं या चिन्तन-पथ को समझकर कुछ करने के लिए भी प्रयत्न करते हैं परन्तु वासनाओं को प्राथमिकता देकर परमकल्याण को गौण कर देते हैं, उन हीन मनोबलवाले साधकों की बुद्धि सागर-मन्थन की इस आध्यात्मिक धारा में थक जाती है। ऐसे पुरुषों में अधिकार की कमी, क्षमता का अभाव समझना चाहिए।

चौपाई **– विषय भोग तजि जो जन जागा।**
उर अभिषेक हरी संग लागा।।७।।

भावार्थ – जो पुरुष मनसहित इन्द्रियों से विषय-वासनाओं का त्याग करके 'या निशा सर्वभूतानाम्' इस प्रकार की तिमिराच्छन्न रजनी में जाग्रत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, उनका हृदय से अभिषेक परमपिता परमेश्वर के साथ निर्धारित हो जाता है। लगन में लक्ष्य के अंकित हो जाने पर प्रयत्नशील साधक की आत्मा ब्रह्माभिषिक्त होकर कृपारूपी मोतियों को चुगती हुई मनरूपी मानसरोवर में निमग्न रहती है।

चौपाई **– मन तन इन्द्रिय संयम होई।**
कूर्म अंग इव हृदया गोई।।८।।

भावार्थ – मानव की बाह्य परिकल्पनाओं की जहाँ तक दौड़ है, उसे माया का अधोमुखी विस्तार ही समझना चाहिए। मायिक धरातल से ऊपर सुदूर अनन्त में उठकर परम लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए जिसका मन-विहंग विह्वल है, उसे मनसहित इन्द्रियों के बाह्य प्रसार को संयत करना पड़ता है। इस प्रकार इन्द्रियसहित मन को जो मायावी स्पर्शों से संयमित कर लेता है उसके आभ्यन्तरिक प्रकोष्ठ में कूर्मावतार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कच्छप अपने जीवन के प्रतिकूल आहट पाते ही मस्तिष्कसहित अपने पैरों

को समेटकर जिस प्रकार छिपा लेता है, ठीक तदनुकूल एक साधक भी मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों को हृदय-देश में कच्छप की तरह समेट लेता है। उसी क्षण ईश्वर के अवतार का विधान है।

दोहा **– ता क्षण प्रगटे परम प्रभु, परम प्रकाश पुनीत।**
कूर्मा कृत इन्द्रिय मना, तब हरि राखी नीत।।५।।

भावार्थ – तत्क्षण वह परमप्रभु जो दिव्य प्रकाशस्वरूप और पूर्णतया पुनीत हैं, प्रगट हो जाते हैं। यह पीयूषप्लावन योगी के हृदय-देश में होता है। जब पथिक मनसहित इन्द्रियों को हृदय के अन्तराल में समाहित कर लेता है तब हरि उसके मानस में अनुभूति के रूप में जागृत होकर उस मन्थन चिन्तन की नीति का विस्तार करते, समझाते हैं। परमपूज्य गुरुदेव भगवान कहा करें- ''मुझे भगवान बताया करते हैं।''

चौपाई **– एहि विधि कूर्म अवतार बखाना।**
बिनु संयम के कबहुँ न जाना।।६।।

भावार्थ – जो कछुए की तरह मनसहित इन्द्रियों को वासनाओं से पूर्णतया समेट लेता है, हरि उसी का साथ देते हैं। आत्मसंयम के अतिरिक्त इस गूढ़ रहस्यात्मक अवतार की कथा से अवगत होना असम्भव है।

चौपाई **– मन इन्द्रिय कूर्माकृत जानी।**
प्रगटहिं हरि अगणित गुणखानी।।१० क।।
कूर्माकार भई जब इन्द्री।
विश्ववास प्रगटे हरि जिन्द्री।।१० ख।।

भावार्थ – जब मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियाँ कूर्म के आकार में आ जाती हैं और बाह्य विषयों की दौड़ को रोककर अन्तर्मुखी प्रवाहित हो जाती हैं, उसी समय विश्व के कण-कण में निवास करनेवाले अपार गुणों से विभूषित प्रभु प्रगट होने लगते हैं।

टिप्पणी – *परमात्मा निखिल अन्तर्देश को आलोकित कर देते हैं –*

हुआ प्रकाश तमोमय मग में। मिला मुझे तत्क्षण तूँ जग में।।
तेरा हुआ बोध पग पग में। मिटा सकल अज्ञान।।
खोज में हुआ वृथा हैरान। यही पर था तू हे भगवान।।

गुरुदेव भगवान की वाणी में यही स्थिति देखें –

जलत जलत ऐसी जली, जाको आर न पार।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँक दियो संसार।।
करूँ अब किसकी तल्लासी? लावनी सुन बारहमासी।।

शब्दार्थ– जिन्द्री = जीवनदाता।

चौपाई – **सोई कच्छप जन मन गहि राखा।**
मन अविचल मन्दराचल शाखा।।११।।

भावार्थ – वे कच्छप, जिनकी इन्द्रियों के समाहित काल में उत्पत्ति है, वही परम प्रभु साधक के मन को पूर्णतः घेरकर रख लेते हैं। मन की इसी स्थिति-विशेष की निश्चलता का प्रतीकात्मक स्वरूप 'मन्दराचल' से अभिहित किया गया है। पर्वत शब्द के पर्याय भूधर से भी इसी अचलता का लक्षण परिलक्षित होता है।

चौपाई – **अचल करत मन साधत जाहीं।**
तिन पर सिन्धु सकल जरि जाहीं।।१२।।

भावार्थ – वे परमदयालु प्रभु प्रयत्नशील मन को साधना की सही जानकारी देते हुए, उसे विशिष्ट युक्ति के द्वारा साधते हुए अचल करते हैं। ऐसे साधकों के समक्ष संसार-सागर की समस्त बाह्य प्रवृत्तियाँ उत्तेजित हो जाया करती हैं। अचलता की ओर अग्रसर पथिक के प्रति माया ईर्ष्यालु होती है। अतः वह मायाविनी अनेक चमत्कारिक आकृतियों का प्रलोभात्मक प्रभाव डालकर लक्ष्योन्मुख साधक के पथ में अवरोध उपस्थित करती है।

चौपाई – **स्वाँस सुरति संग बिषय डुबावत।**
तब हरि कच्छ रूप बिधि पावत।।१३।।

भावार्थ – श्वास और सुरति की संगति करके जब विषयात्मक वेग साधक को संसार-सागर में डुबाने का प्रयत्न करते हैं तब व्याकुलता की भँवर में फँसा साधक कल्याण की पुकार करता है। ऐसी परिस्थिति में तत्क्षण वे प्रभु इन्द्रियों के निरोधकाल एवं कूर्माकार स्थिति में अन्तर्देश में प्राप्त होकर लीला-प्रसार करते हैं। वास्तव में कच्छप स्वरूप का प्रगटीकरण संयम की कसौटी पर बल देना है।

चौपाई – **कर परसे मन गिरि सम गाढ़ा।**
सिन्धु पैठ हरि परस प्रगाढ़ा।।१४।।

भावार्थ – सर्वप्रथम साधक के हृदय में वे हरि जागृत होकर मन का स्पर्श कर उसे पर्वत के समान स्थिर कर देते हैं, दूसरी ओर संसार-सागर में उसे सुरक्षित रखने के लिए अपनी आभा से योगक्षेम का आश्वासन देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्रभु की सहज कृपा का दिग्दर्शन इन शब्दों में कराया है-

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।

(मानस, ३/४२/५)

चौपाई – **सो मन अचल हेतु सुर संगा।**
स्वाँस वासुकी नाग सुरंगा।।१५।।

भावार्थ - भगवान का कृपापात्र, ऐसे साधक का मन विरह-वैराग्य व अनुराग के साथ दैवी सम्पदा का संग्रह कर मन के पूर्ण स्थैर्यरूपी मन्दराचल का आविर्भाव करता है। श्वास ही वासुकी नाग है। समुद्र-मन्थन से पूर्व यही श्वास सांसारिक योनियों का प्रसार करती है तथा मायिक विकारों का विष उगलती हुई निरन्तर जीवात्माओं को डसती रहती है, इसीलिए इसे सर्प की संज्ञा प्रदान की गई है। परन्तु चिन्तन की सूक्ष्म भावभूमि पर पहुँचते ही यही श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया निर्दोष एवं सम हो जाती है, तभी ईश्वर से स्वरूप की अविरामवाहिनी होने के कारण इसे वासुकी के अलंकरण से विभूषित किया जाता है। श्वास-प्रश्वास का निरन्तर चिन्तन निम्नलिखित पंक्तियों में देखें-

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सहजों एकरस है रहे, तार टूटि ना जाय।।

चौपाई - **दैव निवास वासुकी स्वाँसा।**
स्वर संग मथा सिन्धु हरि पासा।।१६।।

भावार्थ - परमदेव परमात्मा का निवास श्वास में है, इसलिए स्वर ही वासुकी है। इसी स्वर के माध्यम से संसार-सागर का मन्थन होता है; किन्तु यह मन्थन तभी सम्भव है जब हरि अन्तर्प्रेरक के रूप में साथ हों। तभी तो तुलसीदासजी ने भी कहा है- **'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'** ***(मानस, २/१२६/३)***

चौपाई - **देवासुर मन की परमीती।**
मन मरणोत्तर छाँड़त नीती।।१७।।

भावार्थ - दैवी एवं आसुरी प्रवृत्तियाँ ही मन की सीमाएँ हैं। मन के मिटते ही दोनों प्रवृत्तियाँ अपना कार्यकलाप बन्द कर देती हैं। जब तक मन में एक भी संकल्प की लहर तरंगित है तब तक ये जीवित रहती हैं।

चौपाई - **मन संकल्प करत जग माहीं।**
रूप मिलत जन दुविधा जाहीं।।१८।।

भावार्थ - मन का चांचल्य परिगणन से परे है। जहाँ तक संसृति विस्तार है वहाँ तक मन के संकल्पों का भी प्रसार है। गोस्वामीजी भी यही कहते हैं-

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।
(मानस, ३/१४/३)

सूरदासजी भी ऐसा ही मत व्यक्त करते हैं-

यह माया भ्रम जाल कहावै, सूर स्याम सिगरो।
अबकी बेर नाथ मोहि तारो, नहिं पन जात टरो।।

किन्तु मन की तरंगों में अचलता का आविर्भाव होते ही, परमप्रभु के स्वरूप की छँटा मिलते ही साधक की दुविधा सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती है।

***दोहा* - दैवी सम्पत्ति राम की, आसुरि सम्पत्ति काम।**
लक्ष्य विरोधी दुहुन का, स्वर संग आठो याम।।६।।

भावार्थ - दैवी सम्पत्ति राम की ओर एवं आसुरी सम्पत्ति काम की ओर उत्प्रेरित करती है। ये दोनों परस्पर विरोधी सम्पत्तियाँ प्रकृति की ही हैं। एक संसार-सागर में डुबानेवाली है, तो दूसरी संसार-सागर से पार करनेवाली है। दोनों अहर्निश श्वास के साथ संघर्षरत हैं।

***चौपाई* - मन्दराचल मन श्वास लपेटी।**
खैंचत दुहुँ दिसि भव जल पैठी।।१६।।

भावार्थ - प्रवृत्तियों की अविचलता में यह मन ही मन्दराचल पर्वत है। जिसके अगल-बगल चेतनता का सञ्चार करनेवाली श्वास नेती की भाँति लिपटी हुई है। अनन्त सागर के जल के मन्थनकाल में आसुरी सम्पत्ति अपनी ओर खींचती है, तो दैवी सम्पद् भी साँस को स्वाभिमुख करने का प्रयास करती है। दोनों दलों के संघर्ष का क्षेत्र साधक का अन्तःकरण ही है।

***चौपाई* - दैवी सम्पद् देव मिलाहीं।**
उर प्रेरक संग निज बल नाहीं।।२०।।

भावार्थ - दैवी सम्पदा उस परमदेव परमात्मा से मिलाती है; परन्तु इस दैवी सम्पदा के साथ उस प्रेरक महापुरुष का रहना परम आवश्यक है। उर-प्रेरक के रूप में महापुरुष साधक के अन्तर्देश में प्रविष्ट होकर पथिक को गन्तव्य की ओर ले चलता है, वैसे प्रेरकशून्य दैवी सम्पदा का अपना कोई बल नहीं है। यह बात अवश्य है-

पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सत संगति संसृति कर अन्ता।। *(मानस, ७/४४/६)*

उपर्युक्त दैवी सम्पत्ति जिस देव से मिलाती है उसी देव को यहाँ अमिय पदार्थ से सम्बोधित किया गया है-

***चौपाई* - अमिय पदारथ परम प्रकासा।**
भक्त देव गति आसुर नासा।।२१।।

भावार्थ - मृत्यु से परे अमिय पदार्थ ही परमदेव है, जिसके दिव्यालोक से निखिल संसृति प्रकाशित हो रही है। इसी अमृत-तत्त्व की गरिमा से भक्त देवत्व की कोटि में पहुँच जाता है तथा उसके मानस-पटल से संसार के मिथ्या प्रपंचों में ढकेलनेवाली आसुरी सम्पदा का सदा-सदा के लिए विनाश हो जाता है।

कबीर की बानी में भी उक्त आशय द्रष्टव्य है-

पाहन फोरि गंग एक निकसी, चहुँ दिसि पानी पानी।
ओहि पानी दुइ पर्वत डूबे, दरिया लहर समानी।।

नोट- *चौपाई २१ में इंगित 'देव' का तात्पर्य परमदेव परमात्मा है। अब आसुरी सम्पद् का कार्य-विस्तार देखें-*

चौपाई **- आसुरी सम्पद् भोग जगत के।**
उर अन्तर नित साल भगत के।।२२।।

भावार्थ - आसुरी सम्पद् सांसारिक भोग-विलास के साधनों का विस्तार करती है। साधारण मनुष्यों की कौन कहे, यह भक्तों के हृदय प्रकोष्ठ में कील की तरह सदैव चुभती रहती है।

इसी प्रचण्ड सेना की ओर संतप्रवर तुलसीदासजी ने इस प्रकार इंगित किया है-

ब्यापि रहेउ संसार महुँ, माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भट, दम्भ कपट पाषण्ड।। ***(मानस, ७/७१ क)***
ग्यानी तापस सूर कबि, कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडम्बना, कीन्हि न एहिं संसार।। ***(मानस, ७/७० क)***
तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ।। ***(मानस, ३/३८ क)***

चौपाई **- ऋद्धि सिद्धि लगि आसुरी बासा।**
सदा नचावत देख तमासा।।२३।।

भावार्थ - ऋद्धि-सिद्धिपर्यन्त आसुरी सम्पत्ति का निवास है। यह अच्छे से अच्छे साधकों को भी प्रलोभन से चमत्कृत कर नचा देती है और स्वयं किनारे पर खड़ी मुस्कराती रहती है।

माया मायापति के वश में रहती है। उन्हीं की महती कृपा की आड़ में पड़ा रहनेवाला कोई बिरला ही इससे बचकर उन्हें समझ पाता है, और सभी तो माया के बच्चे हैं-

ज्ञान अखण्ड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर।। ***(मानस, ७/७७/४)***

चौपाई **- दोउ प्रवृत्ति महँ माया बासा।**
एक ईस बल एक उदासा।।२४।।

भावार्थ - दोनों प्रवृत्तियों में माया का निवास है। एक विद्या के क्षेत्र की है दैवी सम्पदा, जो ईश्वर से प्रेरित होती है। एक आसुरी सम्पत्ति है, जो अविद्या के क्षेत्र में विषयात्मक प्रसार करती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी का विचार उल्लेखनीय है-

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।।
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।।

(मानस, ३/१४/५-६)

***चौपाई* - महा प्रबल आसुर बल संगा।**
माया नाचत नाच अभंगा।।२५।।

भावार्थ - माया आसुरी शक्तियों से शक्तिमती होकर पूर्ण प्रवेग से साधक को लक्ष्य से विचलित कर देती है। चमत्कारिक आकर्षणों से असतर्क पथिकों को लुभाती और नचाती रहती है। यह मायावी प्रसार सहज ही नियन्त्रित नहीं किया जा सकता इसलिए इसे अभंग, अभेद्य तथा दुर्जय की संज्ञा प्रदान की गई है।

***चौपाई* - सो माया मिटती जिय संगा।**
ईस मिले जिय रूप अभंगा।।२६।।

भावार्थ - यह दुर्जय माया जीवात्मा का पिण्ड तभी छोड़ती है जब उसके अन्तर्देश से जीवगत संस्कारों का पूर्णतः अवसान हो जाता है। आत्मा ईश्वर का ही विशुद्ध स्वरूप है। संसार में आते ही उसमें विषयात्मक संस्कारों का रंग इतना गाढ़ा हो जाता है कि जीवात्मा और परमात्मा के बीच की दूरी अपरिमेय हो जाती है।

गोस्वामीजी ने लिखा है-

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।।
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

(मानस, ७/११६/२-४)

किन्तु किसी अन्तर्प्रेरक की कृपा से माया का यह मैल संयम के साबुन से धुल जाय, तब यह जीवात्मा ईश्वर में स्वरूप का विलय करती हुई उसी के साथ अखण्ड स्थिति प्राप्त कर लेती है।

***चौपाई* - प्रथमहिं संयम सँग कर बासा।**
तिमि तिमि दातव रूप प्रकासा।।२७।।

भावार्थ - उपर्युक्त उपलब्धि के लिए सर्वप्रथम सकलेन्द्रिय संयम अपरिहार्य है। संयम के साथ-साथ साधक में दातव प्रकाश निखर आता है।

शब्दार्थ- *अदृश्य सत्ता द्वारा प्रदत्त वास्तविक प्रकाश, अलौकिक प्रकाश-पुञ्ज को दातव की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।*

चौपाई **- स्वाँस सुरत संग देव प्रकासा।**
असुर अनी प्रथमहिं गहि स्वाँसा।।२८।।

भावार्थ - संयम का तात्पर्य मन और इन्द्रियों का श्वास और सुरत की प्रक्रिया से पूर्ण निरोधावस्था को प्राप्त करना है। श्वास और सुरत के संयोग से दैवी सम्पत्ति का मानस में प्रकाश होता है। यह भी ध्यानेय है कि आसुरी सम्पत्ति ने इस श्वास की क्रिया को पहले से ही अपने अधीन कर रखा है।

दोहा **- एक संग दोउ दल चले, खींच भाव अनुरूप।**
निज भावन में बिंध रहें, उर महँ कच्छ अनूप।।७।।

भावार्थ - श्वास-प्रश्वास के आरोह-अवरोह में दोनों दल अपनी-अपनी ओर खिंचाव डालते हैं। आसुरी सम्पत्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि अधोमुखी प्राकृतिक जड़ता की ओर खिंचती है, तो दैवी सम्पद् के शम, दम, नियम, संयम शाश्वत सत्ता की ओर आकृष्ट करते हैं। इन दोनों को कार्यक्षेत्र में प्रवृत्त करनेवाले आधार वही हरि हैं, जिनके आश्रय में संसार-सागर का मन्थन चलता रहता है।

चौपाई **- प्रथम सिन्धु महँ शंख[1] अनूपा।**
करत निनाद विजय अनुरूपा।।२६।।

भावार्थ - चिन्तन-क्रम में धारावाही गति प्राप्त होने पर मन्थन का प्रथम परिणाम दिव्य शंख का आविर्भाव है, जिसका उद्घोष है कि अब पथिक देश, काल और परिस्थिति से अजेय होकर चिरन्तन शान्ति के अन्वेषण में सफल हो जायेगा। इस उपलब्धि से साधक में नवोत्साह, विश्वास और दृढ़ता का आविर्भाव होता है।

चौपाई **- हय[2] असवार विवेकी बाना।**
मन हय रूप सो चढ़त सयाना।।३०।।

भावार्थ - विजय की घोषणा का सूत्रपात होते ही साधक विवेक को ही अपना बाना बना लेता है। निरन्तर भागनेवाले उसके अश्वरूपी मन पर आत्मज्ञान का स्थैर्य सवार हो जाता है।

कबीर ने भी अश्वासीन होने की क्रिया को एक विशेष उपलब्धि माना है-

एक बार हरि घोड़ा भये, ब्रह्मा भये लगाम।
चाँद सुरुज रबिका भये, चढ़ि गये चतुर सुजान।।

नोट- *शास्त्रों में गति को अश्वशक्ति और स्थायी बल को हस्तिबल से मापने की प्रथा है। सूर्य के स्यन्दन में भी घोड़ों की कल्पना की गई है। इस प्रकार 'अश्व' चञ्चलता एवं गतिशीलता का प्रतीक है। संसार-सागर-मन्थन की दूसरी उपलब्धि मन के अश्व पर ज्ञान का आसीन होना है।*

चौपाई **- अब जन मन सन चढ़ी खुमारी।**
चढ़ि डोलत सुख सागर भारी।।३१।।

भावार्थ - जब साधक मन पर नियन्त्रण पा लेता है तब चिन्तन की खुमारी तथा भजन की मस्ती से उसका अन्तर्देश परिपूर्ण हो जाता है। इस अलौकिक नशे में आरूढ़ पथिक सुख में हिलोरें लेता रहता है, यद्यपि संसार-सागर का विस्तार समाप्त नहीं हुआ है।

कबीरदासजी ने ब्रह्मानन्द के प्रेम-रस की खुमारी का चित्रण इस प्रकार किया है-

हरि रस पीया जाणिये, कबहुँ न जाइ खुमारि।
मैं मंता घूमत रहै, नाहीं तन की सारि।।
कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय।।

हरिरस पान की पहचान है कि उसका नशा स्थायी रहे। ऐसा मनुष्य मदमस्त हाथी के समान खानपान की परवाह किये बिना, शरीर से उदासीन होकर घूमता रहता है।

चौपाई **- धनुष[३] बाण कर साधत ध्याना।**
लखा न काहू असुर उताना।।३२।।

भावार्थ - ऐसी खुमारी से साधक को ध्यान की कसौटी तथा लक्ष्य में धारावाही लव लगाने की क्षमता प्राप्त होती है। ध्यान ही धनुष है। यह अन्तर्मन की स्थिति का प्रतीकात्मक स्वरूप है, जो बाह्य आँखों से नहीं देखा जा सकता। ध्यान की स्थिरता का प्रभाव इतना प्रबल है कि उसके विवेकमयी तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से आहत होकर आसुरी प्रवृत्तियाँ निष्प्राण हो जाती हैं।

चौपाई **- चिद् विलास संसृति सर पूरा।**
एहि भवनिधि कहँ मथहिं जे सूरा।।३३।।

भावार्थ - चिद्विलास जगत् ही आवागमन की लहरों से तरंगित परिपूर्ण सागर है। यौगिक प्रक्रिया से इसका मन्थन करके जो बिरले पथिक अन्तराल में पड़े हुए स्वात्मस्वरूप का अन्वेषण कर लेते हैं, वही सच्चे शूरवीर हैं।

टिप्पणी - *लौकिक चक्षुओं से दृष्टिगोचर न होनेवाले संसार-सागर में असहनीय पीड़ा की असंख्य लहरियाँ तरंगित हो रही हैं। फेनमयी मायिक आकर्षणों के विष में जीव तिनके के समान छटपटा रहा है; किन्तु सशक्त आत्माएँ अपने अंशी की ओर निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं। जहाँ साधक की सूक्ष्म पकड़ प्रारम्भ होती है, भवसिन्धु सूखने लगता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि और भगवान श्रीकृष्ण ने चित्त-निरोध पर ही विशेष बल दिया है। उस अवस्था का चित्रण कबीर की साखी में देखें-*

मैं मन्ता अबिगत रता, अकलप आसातीत।
राम अमिल माता रहै, जीवत मुकति अतीत।।

भक्त जीवनकाल में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। बौद्ध-दर्शन में भी ऐसी ही मान्यता है।

चौपाई **- चिद् विलास जिन सागर साधा।**
ते हरि रूप भये निरबाधा।।३४।।

भावार्थ - जिन्होंने चिद्विलास जगत् को साधकर, अनेक कामनाओं से तरंगित संसृति सागर का मन्थन कर लिया, वे ही व्यष्टि की सीमा से उपराम होकर हरिस्वरूप हो जाते हैं। अणु ही विभु हो जाता है। ऐसी स्थिति के लोग ही सदा-सदा के लिए मायिक बन्धनों से मुक्त हो पाते हैं। यदि रञ्चमात्र भी मन बहिर्मुख है, तो माया झकझोर डालती है।

चौपाई **- नारद मन महँ माया त्यागी।**
भये अवतार तो लाग अभागी।।३५।।

भावार्थ - देवर्षि नारद माया त्यागकर अवतार की कोटि में प्रवेश करने ही वाले थे कि एक ओर से अभागिनी माया की लहरें प्रवाहित हो गईं। तात्पर्य यह है कि इष्ट से रंचमात्र भी दूरी है तब तक खतरा है, माया सन्धि पाते ही आक्रमण कर बैठती है।

चौपाई **- पतञ्जली स्वर सिन्धु सँभाला।**
योग दरस समरथ सम शाला।।३६।।

भावार्थ - महर्षि पतञ्जलि ने स्वर में स्थिरता प्राप्त की और संसार-सागर का शोध कर योग प्रत्यक्षीकरण द्वारा परमात्मस्वरूप को प्रकट करने में समर्थ हुए। ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करके वे भविष्य में आनेवाली पीढ़ियों के लिए उदाहरण तथा समत्व ज्ञान की पाठशाला के गुरु हो गये।

चौपाई **- रामचरित मानस कर दाता।**
नर हरि रूप राम सुखदाता।।३७।।

भावार्थ - भगवान राम के चरित्र जो मन में प्रसारित हैं, वह भी एक प्रकार का सागर-मन्थन है। उसको चरितार्थ करनेवाले भगवान राम की भी यही देन है कि मानस के अन्तराल में चिन्तन करके नर से हरि एवं स्वयं राम का स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। वह जिस किसी को मिला है आभ्यन्तरिक चिन्तन की प्रक्रिया से ही प्राप्त हुआ है।

चौपाई **- जानत हरी हरी होइ जाई।**
मन जीते बिनु लखा न भाई।।३८।।

भावार्थ - चिन्तनशील पथिक आध्यात्मिक उपलब्धि की पराकाष्ठा पर पहुँचकर जैसे ही अन्तर्देश में अलौकिक विभूति को प्रत्यक्ष कर लेता है, तत्क्षण वह उन्हीं का रूप हो जाता है। परन्तु मन के निरोध के बिना हरि की विश्वव्यापी सत्ता में प्रवेश असम्भव है।

'गीता' में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। *(गीता, ६/३६)*

मन को वश में न करनेवालों के लिए योग दुष्प्राप्य है। इसे निरन्तर अभ्यास एवं उत्कट वैराग्य से ही साधा जा सकता है-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। *(गीता, ६/३५)*

दोहा - **सब सन्तन की जीत में, एक अनोखी बात।**
मन सागर हरि में मिले, एक अमिय रस मात।।८।।

भावार्थ - समस्त सन्त-महात्माओं की जीत अर्थात् उपलब्धिकाल में प्रकृति का अन्त हो जाने पर एक ही परिणाम मिला है कि मन में संचारित संसार-सागर के विलीन होते ही एकमात्र रस अमृत का आविर्भाव हुआ, जो चिन्तनशील भाविकों का माता की तरह पालन-पोषण करता है। इतना ही नहीं, वह पीयूषप्रेमी स्वयं अमृतमय हो उठता है।

कबीर भी कहते हैं कि आत्मा परमात्मा को खोजते-खोजते स्वतः ही खो गई। नमक का पुतला सागर की गहराई मापते-मापते स्वयं सागर में विलीन हो गया-

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराय।
बूँद समानी समुद्र में, सो कत हेरि जाय।।
लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल।।

चौपाई - **कृष्ण निजानन्द लखि बाढ़ा।**
जहँ सिन्धु तहँ हरि रस गाढ़ा।।३६।।

भावार्थ - योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जब आत्मानन्द में निमग्न होकर अपने स्वरूप का अवलोकन किया तो स्वयं समष्टि में समाहित हो सर्वव्यापक हो गये। परिणामस्वरूप जहाँ अपार भवसिन्धु था, वहाँ प्रगाढ़ ब्रह्मपीयूष का स्थान बन गया।

टिप्पणी- *ठीक ऐसी ही स्थिति पूज्य परमहंसजी महाराज की भी है। लेखक को प्रारम्भ में इस पर विश्वास न होने पर एक दिन सवेरे के स्वप्न-संकेत में एक सुयोग विप्र के दर्शन हुए। हमने आगे बढ़ते हुए पूछा कि हमारे गुरु महाराज कैसे हैं? तब उन्होंने*

कहा कि महापुरुषों में जो लक्षण होते आये हैं और जो होने चाहिए वे सभी आपमें विद्यमान हैं। आपके गुरु महाराज यही हैं। उस दिन से श्री महाराजजी के प्रति पूर्ण विश्वास हुआ और सहसा पथ-सञ्चालनरूपी प्रमाण भी मिलने लगा। मानस में उमा को भी स्वप्न में दो विप्रों द्वारा आशीर्वाद देने के प्रसंग को स्मरण कर साधना में नवोत्साह छा गया। दो एक अन्य अनुभवी सूत्रों के संकेत से उपर्युक्त प्रारम्भिक भ्रम निर्मूल हो गया।

परन्तु यह विधान रहा है कि सदैव अधिकारियों के समक्ष ही महापुरुष का वह स्वरूप आलोकित हुआ है। उदाहरणार्थ, अर्जुन इत्यादि ने ही उन्हें 'शिष्यस्तेऽहं' के रूप में देखा, शिशुपाल इत्यादि ने तो उन्हें गालियाँ ही दीं। इसी प्रकार पूज्य गुरुदेव को पहचाननेवालों की संख्या अधिक नहीं थी। जिसने भी उन्हें पहचाना, आन्तरिक अनुभवों से ही जाना था। द्रष्टव्य है अग्रलिखित चौपाई-

***चौपाई* - सोइ स्वरूप गुरुवर छबि राखी।**
आज अनेक सन्त सुर साखी।।४०।।

भावार्थ - जैसा स्वरूप योगेश्वर श्रीकृष्ण का था, वही आभा परमपूज्य श्रीगुरुदेव भगवान की छवि में भी थी। वे भी दिव्य अपार्थिव लक्षणों से आलोकित पुण्योज्ज्वल विभूति थे और आज भी उसी प्रकार भाविक को अलौकिक छवि का दिग्दर्शन करा रहे हैं। प्रत्यक्षदर्शी सन्त आज भी इस तथ्य के सुस्पष्ट प्रमाण हैं।

टिप्पणी- *गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि- ''अर्जुन! मुझे कर्म नहीं बाँधते; क्योंकि कर्म के परिणाम में मेरी स्पृहा नहीं है। मुझे जिसमें स्थिति पाना था, मैं पा चुका हूँ और मुझे इस स्वरूप से जो जानता है उसको भी कर्म नहीं बाँधते।' यही समझकर मुमुक्षु पुरुषों ने कर्म का आचरण प्रारम्भ किया कि उन्हें जानकर मैं भी वही हो जाऊँगा।'' महापुरुषों की इस महती उपलब्धि को देखकर भाविक भी प्रार्थना करता है। ''उस अवस्था को जानकर मैं भी उन्हीं का स्वरूप हो जाऊँगा''- यही प्रार्थना करने का मूल कारण है।*

***चौपाई* - हम बिलपत तेहिं बेरियाँ काली।**
संस्कार गति काल कुचाली।।४१।।

भावार्थ - उपलब्धि की भावभूमि पर रिक्तता का अनुभव होने से आज हम भी उसी उपलब्धि के लिए विकल हैं; किन्तु कल वही क्षण आयेगा जब हम भी आनन्दघन होंगे। साक्षात्कार की दूरी बढ़ने का एकमात्र कारण कुसंस्कारों का कुचक्र ही समझना चाहिए। (विरह मिलन की अनुभूति का सशक्त कारण है। अतः साधक भी इसी आशा से चिरन्तन चिन्तन में मग्न होकर सिसकियाँ भरता है।)

कबीर की विरह-विदग्धता देखें-

जीभणियाँ छाले पड़े, नाम पुकारि पुकारि।
आँखणियाँ जाले पड़े, पथ निहारि निहारि।।
नैना नीझर लाइया, रहट बहै निसि जाम।
पपिहा ज्यौं पिव पिव करौं, कबहि मिलहुगे राम।।

विरह की साक्षात् प्रतिमूर्ति मीरा की विकलता कितनी मार्मिक है-

तुम देखा बिनु कल न पड़त है, तलफि तलफि जिय जासी।

चौपाई **- आज मिले जग नाथ सराहा।**
मन टूटे हरि कृपण कराहा।।४२।।

भावार्थ - विरह के अन्तराल में डुबकी लगाते-लगाते जब किसी पथिक को आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, तो समग्र संसृति में प्रभु-कृपा का प्रसार दृष्टिगोचर होने लगता है; किन्तु विपर्यय में यदि किसी दीन का हृदय निराशा में टूट ही जाय, तो वह परमोदार प्रभु को कृपण स्वभाव का समझने लगता है।

गोस्वामीजी भी तो कह पड़ते हैं-

जद्यपि नाथ उचित न होत अस, प्रभु सों करौं ढिठाई।
तुलसिदास सीदत निसिदिन, देखत तुम्हारि निठुराई।। ***(विनय., पद ११२)***

चौपाई **- बालक की गति एक अनोखी।**
हरि तजि कतहुँ न मना मनोखी।।४३।।

भावार्थ - बालक की तरह साधक का समर्पण एकनिष्ठ होता है। वह अन्य किसी भी देवी-देवता से किसी प्रकार की कामना नहीं करता।

विशेष- एक ही इष्ट में निष्ठा भक्तवर सूरदासजी के शब्दों में देखें-

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पर आवै।।
कमल नयन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै।।
परम गंग को छाँड़ि पिआसो, दुरमति कूप खनावै।।
जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो, क्यों करील फल खावै।।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरि कौन दुहावै।।

'मानस' में भगवती उमा और सप्तर्षियों का सम्वाद इस प्रसंग पर अच्छा प्रकाश डालता है। अपर्णा की निष्ठा देखें-

महादेव अवगुन भवन, बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम।। ***(मानस, १/८०)***

स्वयं गोस्वामीजी की एक इष्ट के प्रति निष्ठा देखें-

जौ तुम तजहु, भजौं न आन प्रभु, यह प्रमान पन मोरे।
मन-बच-करम नरक-सुरपुर, जहँ तहँ रघुबीर निहोरे।।

(विनय., पद ११२)

मीरा की प्रतिज्ञा सुनें-

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।।'

भगवान श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका गोपिकाएँ उद्धव को उपालम्भ देती हैं-

ऊधौ! मन नाहीं दस बीस।।
रह्यो एक सो गयो स्याम संग, को आराधै ईस।।

लेखक भी ऐसा ही संकल्प सँजोकर भावनिधि गुरुदेव भगवान की गुरुता पर विश्वस्त है।

चौपाई **- जन पूरण हरि रूप बिलोकी।**
तो कत रोवत व्यर्थ बिसोकी।।४४।।

भावार्थ - लेखक के पास बहुत से भाविक ऐसे भी आते हैं, जो कहते हैं- आप तो पूर्ण हो गये। आप ब्रह्म की तरह प्रशान्त, आनन्दघन हैं। ऐसा मैंने अनुभव में देखा है। भाविक का यह कथन सुनकर लेखक की व्याकुलता और भी बढ़ जाती है कि यदि 'अड़गड़' ने हरि का रूप देख लिया, तो यह रोना-धोना, मानसिक अशान्ति क्यों बनी है?

गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानस में उपलब्धि के पश्चात् की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं-

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।।
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।।
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।।

(मानस, ७/११६/२-४)

ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।।

(मानस, ७/११६/८)

ऐसी स्थिति अभी कहाँ आई? अतः अभी लेखक उपर्युक्त उपाधियों से और भी विकल हो जाता है।

नोट- *जब कोई योगाभ्यासी साधक ब्रह्म की अनुभूति के बहुत समीप पहुँच जाता है, तो बहुत से पुण्यात्मा, श्रद्धासम्पन्न भाविकों को उनके स्वरूप में भगवान की अनुभूति होती है। यद्यपि उस साधक का चिन्मय ब्रह्म में प्रवेश कुछ काल बाद होगा; किन्तु ऐसी अवस्था के साधक में भी भक्तों, पथिकों के कल्याण-सृजन की पूर्ण क्षमता होती है।*

चौपाई **– अब तुम नाथ क्षमा कर राजा।**
पूर मिले हरि परम अकाजा।।४५।।

भावार्थ – हे प्रभो! मुझ दीन भाविक के जन्मान्तरों के पाप-रहस्यों (राजों) को क्षमा कर दीजिए। शाश्वत और परिपूर्ण स्थितिवाले होकर और साधक को मिलने पर भी यदि आप कृपावृष्टि न करेंगे तो इस विलम्ब से साधक की व्याकुलता और बढ़ जायेगी।

चौपाई **– एहि बिधि सोच रहा मन लाजा।**
कपट किए तन परम अकाजा।।४६।।

भावार्थ – इसी प्रकार मन में व्यथा बनी रहती है। वाणी द्वारा व्यक्त करने में लज्जा आती है और यदि अभी तक प्राप्ति न होने का दौर्बल्य लोगों से छिपाया जाता है, तो मन कपट की हीनता से संकुचित होने लगता है; क्योंकि दुःख की रंचमात्र भी उपस्थिति परमप्रभु को अभिमत नहीं है। मानस में भगवान के श्रीमुख की वाणी देखें–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(मानस, ५/४३/४)

कपट की भावना सँजोने में तो महान् अकाज की सम्भावना है कि कहीं लक्ष्य से दूर ही न रह जायँ। अतः जो कुछ भी है सब तुम्हारा है, तुमसे भिन्न कुछ भी नहीं। इस दीन जन का अन्तर्कोष परम प्रभु को ही समर्पित है–

मेरा मुझमें कछु नहीं, जो कछु है सब तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर।।

अन्तर्यामी श्री गुरुदेव भगवान से कुछ दुराव नहीं। विश्वास है कि भला-बुरा जो भी हूँ, उन्हीं का हूँ। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी यही निवेदन अपने इष्ट भगवान राम के प्रति किया था–

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की।। *(विनय., पद ६०)*

चौपाई **– जन सोचत हरि रूप बिसोका।**
हरि मिले जग को केहि रोका।।४७।।

भावार्थ – विरहव्यथित जन के अन्दर जब लेशमात्र भी प्रकृति की लहर है, तब तक वह सोचता और चिन्तित रहता है। वस्तुतः जन ही चिन्तक है। हरि का स्वरूप तो चिन्तारहित, अशोक है। न आगे कोई चिन्ता रह जाती है जिसको सोचे और न पीछे कोई चिन्ता रह जाती है जिसके लिए शोक करे। आगे कोई सत्ता है ही नहीं, तो कौन किसको रोकेगा? किन्तु वह अदृश्य सत्ता परमात्मा रोकथाम लगाये है, यही इस दीन जन की विकलता का कारण है। वास्तव में अनुभव काल और कर्म की ही परिभाषा देते हैं।

चौपाई **– तो कत अनुभव काल घिरा सा।**
जन बिचलित कत देख तमासा।।४८।।

भावार्थ – यदि वही मिल गये हैं और दीन जन शाश्वत स्वरूप में समाहित हो गया है, तो अनुभव काल-कर्म से घिरे हुए क्यों होते हैं? जब जन विरह-वारिधि में विकलता की तरंगों से विचलित-सा हो रहा है, तो आप उसकी उपलब्धियों का परिहास देखते हुए क्यों आनन्द ले रहे हैं? आपकी लीला रंगस्थली में अभिनय करते-करते पात्र विह्वल हो रहा है। हे लीलाधर! सुखान्त नाटक की यवनिका कब गिरेगी?

दोहा **– पत राखो पत रावरी, जो पत राखी हेत।**
अबकी ऐसन रूप दे, पुनि दाता ना लेत।।६।।

भावार्थ – हे प्रभो! प्रार्थना है कि अब इस दीन जन की मर्यादा रख लीजिये। इससे आपकी मर्यादा का विस्तार होगा। हे अखिलेश्वर! मर्यादा के आप ही एकमात्र कारण हैं। अबकी बार इस दास को वही रूप प्रदान करें, जिसके बाद आप दाता के रूप में मुझसे विलग न रह सकें और मैं लेता के रूप में शेष न बचूँ।

श्री गुरुदेव भगवान की वाणी में इस स्थिति का प्रस्फुटन इस प्रकार हुआ है-

जलत जलत ऐसी जली, जाको आर न पार।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँक दियो संसार।।
करूँ अब किसकी तल्लासी। लावनी सुन बारहमासी।।

ऐसी निर्विकल्प अभिन्नता के महापुरुष सहज समाधि में लीन रहते हैं-

संतो! सहज समाधि भली।
आँख न मूँदूँ कान न रुधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
उघरे नैना साहब देखूँ, सुन्दर बदन निहारूँ।। ***(सन्त कबीर)***

दोहा **– ऐसी दाता दात दे, मिट जावे तव मोर।**
ईस अंस ना ब्रह्म की, सक्ती साधन छोर।।१०।।

भावार्थ – हे सर्वशक्तिमान्! ऐसी शीर्षांक उपलब्धि करा दो, जिससे मेरे और आप के बीच का अन्तर समाप्त हो जाय। न ईश अंश जीवात्मा ही रह जाय, न अंशी ब्रह्म ही विलग रहे। न योग रहे, न बन्धन रहे और न बन्धन छुड़ानेवाला ही विलग रहे।

चौपाई **– अब लगि कहेउँ आपन कदराई।**
बिकल ब्यथित बिलपत सुरराई।।४६ क।।
पुनि सागर मन्थन कर लीला।
प्रगटउँ सत्य शान्ति सुख सीला।।४६ ख।।

भावार्थ - अब तक अपनी विकलता एवं प्रभु की परमोदारता का चित्रण किया, अब पुनः सागर-मन्थन की लीला को क्रमशील किया जाता है जिसका परिणाम शाश्वत शान्ति और सुख है।

चौपाई - **जिमि जिमि सागर मन्थन कीना।**
रतन प्रगट पर शूल नवीना।।४६ ग।।

भावार्थ - ज्यों-ज्यों सागर का चिन्तन करता गया, त्यों-त्यों रत्न तो प्रगट होते गये। किन्तु नूतन परिवेश में कष्टदायी शूल भी उभरकर सामने आने लगे; क्योंकि मूल रत्न 'अमृत-तत्त्व' अभी प्रगट नहीं हुआ।

मन्थन का क्रम अविराम चलता रहा। शूल-निवृत्ति के साधन भी सुलभ होने लगे। फिर तो शूलों के साथ-साथ निदान करनेवाले धन्वन्तरि नामक रत्न का प्रगटीकरण हुआ-

चौपाई - **प्रगट धन्वन्तरि[४] हर बहु सूला।**
करे करावत रोग अमूला।।५०।।

भावार्थ - आध्यात्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। धन्वन्तरि का तात्पर्य है कि धन और वन्तरि अर्थात् उस अलौकिक आध्यात्मिक सम्पत्ति के अन्तराल में प्रवेश मिलने लगा। इस रत्न के परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर रोगों का शमन होता गया। अब विचारणीय प्रकरण है कि रोग का स्वरूप कैसा है? देखें-

चौपाई - **जनम मरण भव रोग अपारा।**
तेहिं जड़ काटत देत सहारा।।५१।।

भावार्थ - जन्म-मृत्यु की अपार शृंखला ही भवरोग है। उसको समूल विनष्ट करते हुए उक्त रत्न पथिक को सहारा देता है।

चौपाई - **हरि प्रेरित संग निज बल नाहीं।**
प्रेरि चलावहिं संग न जाहीं।।५२।।

भावार्थ - 'धन्वन्तरि' आत्मिक सम्पत्ति में प्रवेश दिलाने मात्र के लिये सहायक है। इसके सहयोग से साधक के भवरोग एवं विषयात्मक विस्तार का निरोध होता है परन्तु इससे पूर्णतया निवृत्ति नहीं मिलती। उर-प्रेरक के बल से ही यह रत्न पथिकों को भव-व्याधियों से बचा पाता है। पार होते-होते वह (धन्वन्तरि) भी अलग हो जाता है। न रोग रहेगा न निदान।

चौपाई - **माया महँ गति रहनि अकासा।**
अमित रोग माया कर नासा।।५३।।

भावार्थ - इस धन्वन्तरि की गति माया में है अर्थात् इसके प्रवेश के उपरान्त भी योगी की गति माया के अन्तर्गत ही है। यद्यपि वह सुलझी हुई है, उसकी पकड़

आकाशवत् है। अगणित रोगमयी माया का विनाश इसका कार्य है, जिसकी जानकारियाँ प्रेरक के आधारवाली हैं।

चौपाई - **श्रुति शाखा अवतार अनूपा।**
माया बल नहिं मति अनुरूपा।।५४।।

भावार्थ - श्रुति में वर्णित शाखा-अवतार अनुपम प्रभु की पावन लीला का ही विस्तार है जो चित्त-सागर में मन्थन से प्रगट होता है। इसमें न माया का बल है और न बुद्धि का ही। मायापति की प्रेरणा का स्फुरण होते ही माया अशक्त हो जाती है-

'मायापति कहँ जे भजहिं माया चेरी होई।'
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी।।
तेहिं बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।।
(मानस, ६/११५/७-८)

चौपाई - **मानस रोग पीर जग रोगी।**
हरि करुणा पर जागत जोगी।।५५।।

भावार्थ - यह मानस-रोग है, जिससे पीड़ित सारा संसार ही रोगी है। प्रभु की अनुकम्पा से ही योगी जागृत होता है अर्थात् उन्हीं की द्रवित करुणा से योगी जाग जाता है। (जागने से तात्पर्य जागतिक प्रपंच से सतर्क होना है।)

गोस्वामी तुलसीदासजी के 'मानस' में उपर्युक्त भाव देखें-

मानस रोग कछुक मैं गाये। हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाये।।
(मानस, ७/१२१/२)

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा।।
(मानस, २/९२/२-४)

चौपाई - **पूरे सतगुरु पुर बसि राखें।**
ब्रह्म मिले ब्रह्महि गुण भाखें।।५६।।

भावार्थ - जो पूर्ण महापुरुष हैं, जो गुरुत्व की स्थितिवाले हैं, उन्हीं को हृदय में बसाकर पूर्णतया पकड़कर रखो। यही आन्तरिक पकड़ ब्रह्म की उपलब्धि का परिणाम बनती है। गुरु पर पूर्णावलम्बित शिष्य अपने भीतर धीरे-धीरे गुरु की गुरुता का विकास करते हुए ब्रह्म का ज्ञाता हो जाता है। ऐसे गुरुत्व की जानकारी करनेवाला पथिक ब्रह्म के गुणधर्मों को प्रत्यक्ष करता हुआ उसी स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

चौपाई – **सतगुरु खोज खबर नहिं पाहीं।**
ते भटकहिं आनहिं भटकाहीं।।५७।।

भावार्थ – जिन पुरुषों ने ऐसे सद्गुरुओं का अन्वेषण नहीं किया, वे चिन्तन-पथ में व्यर्थ ही श्रम करते हैं। ऐसे लोग स्वयं तो भटके हुए हैं ही, दूसरों को भी चिन्तन-पथ से भ्रमित करने के लिए गुरुता का बाना पहने संसार में दौड़ रहे हैं।

टिप्पणी– *कबीर साहब भी कहते हैं कि अन्धे को अन्धा क्या राह दिखायेगा–*

जाको गुरु है आन्हरा, चेला खरा निरन्ध।
अन्धहिं अन्धन्ह ठेलिया, दोऊ कूप परन्त।।
बिन देखे वा देस की, बात कहै सो कूर।
आपै खारी खात है, बेचत फिरै कपूर।।

स्पष्ट है कि गुरु ही उस शाश्वत सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति करानेवाले एकमात्र आधार हैं। अपनी साधनावस्था में गुरु के महत्त्व का निरूपण करते हुए कबीरदास जी भी कहते हैं–

मैं भी भागा जाइया, लोक बेद के साथ।
आगे से सतगुरु मिला, दीपक दीन्हा हाथ।।
दीपक दीन्हा तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बेसाहुणाँ, बहुरि न आवौं हट्ट।।

गुरु की महती अनुकम्पा से ही वे आवागमन से मुक्त हुए हैं।

चौपाई – **जप तप होम क्रिया कृत नाना।**
करि जे मानत स्वयं सयाना।।५८ क।।
ते अल्पज्ञ भ्रमहिं युग नाना।
गुरु बिनु नाशत ज्ञान व ध्याना।।५८ ख।।

भावार्थ – जप, तप, होम, यज्ञ और नाना प्रकार की यौगिक क्रियाओं का चमत्कारपूर्ण अभ्यास करके जो साधक अपने को सयाना मानने लगते हैं, वे अल्पज्ञ और दम्भी हैं। इस तरह की जड़ता अन्य की कौन कहे, अच्छे साधक में भी जड़ जमा लेती है। वास्तव में जिसको सद्गुरु की अन्तस्प्रेरणा प्राप्त नहीं है, ऐसे साधक द्वारा सम्पादित ध्यान, ज्ञान लक्ष्य पर नहीं पहुँचता और अर्थशून्य रह जाता है।

साधारण मनुष्यों की क्या गणना, शंकर और ब्रह्मा की स्थिति पर पहुँचे हुए पथिकों के आगे भी तुलसीदासजी ने प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है–

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।।

(मानस, ७/९२/५)

कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि हृदय की अज्ञानता को दूर कर दिव्य चक्षु प्रदान करनेवाले सद्गुरु ही हैं, जिनके आलोक में ब्रह्मदर्शन सम्भव है-

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावन हार।।

यह अकाट्य सत्य है कि सद्गुरु के बिना न किसी को आत्मानुभूति हुई है, न होगी।

दोहा **- सतगुरु पूरा सूरमा, तहँ मन जूझ अनेक।**
जनम कोटि की पोटली, पाप कटै हरि देख।।११।।

भावार्थ - वस्तुतः सद्गुरु ही प्रकृति के काल-कर्म का अन्त करनेवाले हैं, इसलिए वही पूरे शूरवीर हैं। सद्गुरु को मन से पकड़कर अनेक मानव जूझते रहते हैं। वे सबको सँभालते हुए उनके अन्तर्देश से जागृत होकर आत्मोत्कर्ष के अनुभवात्मक निर्देश देते रहते हैं। उन्हीं की कृपा से करोड़ों जन्म की पापभरी पोटली लुप्तप्राय हो जाती है। पापों की निर्विशेषता पर वे परमपावन प्रभु प्रकट हो जाते हैं, जिनकी अलौकिक कृपा से करोड़ों जन्मों के पापों का क्षय हो जाता है। उनकी वीर-वरेण्यता में सन्देह ही क्या है?

गोस्वामीजी भी उनकी कृपा का स्मरण करते हैं :-

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमन्द तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।। ***(मानस, ७/१२६ छन्द)***

चौपाई **- जिमि हरि साधि संयोग निवारा।**
तिमि करुणा निधि उर बिस्तारा।।५६।।

भावार्थ - जैसे-जैसे हरि साध्यवस्तु को परमात्मा के संयोग के लिए सुलझाते हैं (प्रकृति के द्वन्द्व से इष्ट की ओर क्रमशः प्रवाहित करते हैं), वैसे-वैसे क्रमशः करुणा सागर प्रभु साधक के उर के अन्दर विस्तार करते हैं। जैसे-जैसे वे हरि अपने स्वरूप का विस्तार करते हैं, उसी अनुपात में कल्पवृक्ष के ठीक नीचे साधक को स्थान मिलता है। अब विचारणीय है कि कौन-सा सुपरिणाम प्रगतिशील पथिक के मानस में प्रगट होता है-

चौपाई **- उर बिस्तारित जिमि जिमि काया।**
तिमि तिमि कल्पवृक्ष[५] तरु छाया।।६०।।

भावार्थ - इसी काया में ही कल्पवृक्ष का रहस्य है। साधन में ही साध्य और लगन में ही लक्ष्य का ऐश्वर्य निहित है। कल्पवृक्ष किसी पेड़ का नाम नहीं है, जिसके नीचे बैठने से काया का कल्प हो जाता हो।

टिप्पणी- 'मानस' में अंगद ने रावण की बुद्धि पर तरस खाते हुए पूछा था-

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा।।
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा।।

(मानस, ६/२५/५-६)

वस्तुतः साधक के हृदय में ज्यों-ज्यों प्रभु का संचार होता है, त्यों-त्यों उस साधक को कल्पवृक्ष की छाया प्राप्त होती जाती है। क्रमशः आसक्तियों का प्राबल्य समाप्त होने लगता है और इस प्रकार काया के कक्ष में ही कल्पतरु का प्रस्फुटन हो जाता है। इसी दिव्य वृक्ष की चर्चा सन्त कबीर भी करते हैं :-

तरुवर तासु बिलम्बिए, बारह मास फलन्त।
सीतल छाया गहर फल, पंछी केलि करन्त।।

दाता भी मिले तो ऐसा कि फिर किसी से माँगना न पड़े। कृपा भी मिले तो उस कृपानिधि की, जिसकी शीतल छाया के नीचे यह जीवात्मा चिर प्रशान्ति में निमग्न हो जाय।

***चौपाई* - कायाकल्प होत प्रति स्वाँसा।**
जग जोनी कर होत बिनासा।।६१।।

भावार्थ - नश्वर संसार में चराचर प्रकृति में उत्पन्न काल, कर्म, स्वभाव, गुण से ग्रसित होने के कारण निर्बल तथा रोगी है। प्रकृति का श्रेष्ठतम प्राणी मानव भी इन्हीं से आक्रान्त है। वह भी विवश होकर मरता-जीता है; किन्तु जो इससे निकलकर काया का कल्प कर ले, वह मरण के गुणधर्मों से उपराम होकर अविनाशी हो सकेगा। ज्यों-ज्यों सुरत का स्वाँस सें टिकना प्रारम्भ हो जायगा, त्यों-त्यों काया का प्रतिक्षण कल्प होता रहेगा।

***चौपाई* - सत्य कल्पतरु हरि की धारा।**
नित्य सुखद जीवन दातारा।।६२।।

भावार्थ - वस्तुतः कल्पवृक्ष हरि का प्रभाव ही है। उसकी कल्याणमयी शीतल छाया परम सुखद एवं मांगलिक फल प्रदान करनेवाली है। इसकी अनुभूति हो जाने पर व्याधियों का अन्त हो जाता है और चिरन्तन शान्ति का जीवन-स्रोत प्रवाहित होने लगता है। क्रमागत प्रगतिशीलता के अंक से साधक की कामनाओं को परिपूर्ण करनेवाली कामधेनु का आविर्भाव होता है।

***चौपाई* - कामधेनु[६] बस पूरन कामा।**
मन इच्छित फल प्रगटे ठामा।।६३।।

भावार्थ - उत्तरोत्तर विकासोन्मुख साधक के समक्ष एक ऐसी स्थिति आती है जब

उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ सहसा सम्भव हो जाती हैं। मनोवांछित फल प्रदान करनेवाली तात्कालिक क्षमता अन्तर्देश की ही एक विशिष्ट उपलब्धि है, कोई बहिर्कल्पना नहीं।

चौपाई **- योगक्षेम भजनानन्दकारी।**
गो गति संयम गो सुखकारी।।६४।।

भावार्थ - वह कामधेनु योग की रक्षा और भजन के आनन्द को प्रसारित करनेवाली है। इसकी उत्पत्ति गो-गति अर्थात् इन्द्रियों की गति के पूर्ण संयमित हो जाने पर होती है। पूर्ण निरोधावस्था पर पहुँचकर यही इन्द्रियाँ मनोवांछित फल प्रदान करनेवाली कामधेनु बन जाती हैं। कामधेनु कोई गाय नहीं है जिसके थनों से कामनाओं की पूर्ति करनेवाली अस्वाभाविक दुग्ध-धारा का स्राव होता हो।

चौपाई **- इन्द्रिय बिषय संग मिटि जाई।**
तब कामेच्छित गो सुखदाई।।६५।।

भावार्थ - इन्द्रिय और उनके विषयों का संयोग जब पूर्णतया मिट जाता है, विषय ग्रहण की भावना का विलय हो जाता है, तब इच्छित कामनाओं की पूर्ति करनेवाली सदा सुखद गो, कामधेनु प्रगट होती है।

टिप्पणी - *काकभुशुण्डिजी को भी ऐसा ही आशीर्वाद प्राप्त था, जिसका उल्लेख मानस में गोस्वामीजी ने भी किया है-*

जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।

(मानस, ७/११३/४)

जब इष्ट की कृपा हो ही गयी तो इच्छाओं की पूर्ति सहज ही होने लगती है। यह बात अलग है कि उस समय साधक की अपनी कोई इच्छा ही नहीं रह जाती है। वह तो प्रभु के हाथों में यन्त्रमात्र बन जाता है।

चौपाई **- तेहिं प्रभाव आसा जग नाहीं।**
हरि रँग पूर प्रगट मिल जाहीं।।६६।।

भावार्थ - उस कामधेनु का प्रभाव ही इतना विलक्षण है कि जगत् की जितनी भी कुत्सित कल्पनायें हैं, वे मानस-पटल में निर्दोष हो जाती हैं। केवल अभौतिक कामनाएँ ही प्रगट होकर पथिक को परमात्मा के स्वरूप की अनुभूति कराने लगती हैं और साधक का अन्तस्थल हरि के रंग में रंग जाता है।

चौपाई **- कामधेनु संगत सुखकारी।**
राम नाम मणि[७] प्रगट पसारी।।६७।।

भावार्थ - कामधेनु की संगत मिल जाने पर राम-नाम मणि का प्रगट प्रसार होने लगता है।

इसी राम-नाम मणि का परिचय सन्त तुलसीदासजी की वाणी से भी मुखरित हुआ है-

राम नाम मनिदीप धरु, जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजिआर।। ***(मानस, १/२१)***

मणि कहलानेवाले राम नाम का सम्बन्ध परावाणी के प्रवेशकाल में ही सम्भव है।

चौपाई **- परा वाणी परसत परतीती।**
मणि प्रगटे सत संसृति जीती।।६८।।

भावार्थ - चिन्तन के उत्कर्ष में, परावाणी के स्पर्शकाल में राम-नाम का प्रादुर्भाव होता है। उस विलक्षण ज्योतिर्मयी अपार्थिव मणि के प्रगट होते ही साधक को स्वरूप की अनुभूति होने लगती है। तदनन्तर आत्मोन्नति की इस चरम सीमा पर पहुँचनेवाले साधक के लिए यह एक बार नहीं; शतशः निश्चितता के साथ निर्विवादरूपेण कहा जा सकता है कि वह आवागमन के बन्धन से पार हो सकता है अर्थात् इस उपलब्धि के पश्चात् साधक का पार होना सुनिश्चित है, ऐसी कोई बाधा नहीं जो उसे पार होने से रोक सके। परावाणी के स्पर्शकाल में राम-नाम मणि का प्राकट्य निश्चय ही संसृति की सीमा का अवसान है। अब देखना है कि इस मणि की पकड़ कैसे हो?

दोहा **- बैखरि चिन्तन मध्यमा, मिले न मणिक उदोत।**
पश्यन्ती परसत कछुक, परावाणी मणि ज्योत।।१२।।

भावार्थ - बैखरी और मध्यमा के स्पर्शकाल तक उस मणि का प्रकाश परिलक्षित नहीं होता। पश्यन्ती के स्पर्श होते ही उसके प्रकाश का कुछ-कुछ आभास होने लगता है और परावाणी के प्रवेश के साथ ही वह मणि पूर्णतः प्रकाशित हो उठती है।

चौपाई **- शब्द अनादि ईश रुख पाई।**
प्रगट सुनत जग मति नसाई।।६९।।

शब्दार्थ - मति = त्रिगुणात्मिका माया।

भावार्थ - वह शब्द अनादि है और ईश्वर का संकेत पाकर ही प्रगट सुनने में आता है। उस शब्द से अन्तःकरण निनादित होते ही उसके जयघोष से वह त्रिगुणात्मिका माया विनष्ट हो जाती है, जो जगत् में जन्म देने का एकमात्र कारण है।

चौपाई **- सो मणि जदपि सुप्त सब पाहीं।**
बिनु प्रेरक उर प्रगटत नाहीं।।७०।।

भावार्थ - यद्यपि वह मणि प्रत्येक मानव के अन्तर्देश में प्रसुप्तावस्था में पड़ी है परन्तु उर-प्रेरक की कृपा के बिना उसका दृष्टिगोचर होना असम्भव है। सद्गुरु एवं परमात्मा एक दूसरे के पर्याय हैं।

गोस्वामीजी की वाणी से तुलना करें-

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।।

(मानस, ७/११६/११)

चौपाई **- प्रेरक हो परतीती बधावै।**

तेहि प्रतीति मध मणि सुख पावै।।७१।।

भावार्थ - जब इष्ट प्रेरक होकर समझायें और हृदय से विश्वास जागृत करें तभी उस प्रतीति के माध्यम से पथिक उस पावन मणि का सुख प्राप्त कर सकता है। वास्तव में इस मणि का उतार-चढ़ाव श्वास पर ही केन्द्रित है, जिसे चिन्तन की शीर्षांक सफलता पर ही जाना जा सकता है।

चौपाई **- अति सूक्ष्म जो मणि सुख पावै।**

श्रीꣳ विस्तारित असुर रिझावै।।७२।।

भावार्थ - मन अत्यन्त सूक्ष्म होकर श्वास में उठनेवाले शब्द को पकड़ लेता है, तभी इस मणि का सुख मिलता है। ऐसी अवस्था के प्रत्यक्ष होने पर 'श्री'- लक्ष्मी आदि उपलब्धियों का भी निरोध हो जाता है, जिसमें आसुरी सम्पदावाले विश्वास करते हैं। साधक तो मौलिक रूप से इसका स्पर्श करके निर्लिप्त एवं अनासक्त रहते हैं। जिनके भीतर आसुरी तत्त्वों का रंचमात्र भी आवेग रहता है, वे इन चमत्कारिक उपलब्धियों से रीझ जाते हैं।

चौपाई **- तत् सागर सुख समृद्धि ज्योती।**

हरि प्रतिबिम्ब प्रभा सुख श्रोती।।७३।।

भावार्थ- वह लक्ष्मी चिन्तन-धारा के बीच उसी सागर के अन्तराल से सुख-समृद्धि सरसानेवाली प्रभा के रूप में प्रगट होती है। यह ईश्वर की प्रतिछाया ही है। यह चमत्कारिक छटा के रूप में आविर्भूत होकर सुखदायिनी स्रोत बनकर प्रवाहित होने लगती है।

चौपाई **- तेहि लखि भक्तन मिटी निरासा।**

अमृत बिन जग कौन निवासा।।७४।।

भावार्थ - लक्ष्मी का सूत्रपात ही भक्त के हृदय से निराशा को मिटा देता है। वह इस उपलब्धि के साथ ही विश्वस्त हो जाता है कि मृत्यु से परे सत्ता अमृत यदि अनुभूति के धरातल में अवतरित नहीं है, तो जग में ऐसा कौन निवास है जहाँ सुख प्राप्त हो सके? अतः लक्ष्मी की उपलब्धि से साधक में नूतन उत्साह का संचार हो जाता है।

चौपाई **- श्री प्रभा आभा हरि केरी।**

भक्त हृदय प्रभु राशि बिखेरी।।७५।।

भावार्थ – वह लक्ष्मी उन्हीं प्रभु की प्रभा, आभा एवं विभूति है। परमप्रभु के भीतर जो विशेष गुण पाये जाते हैं, यह आभा उन्हीं का प्रसार प्रगट करती है। यह भक्त के हृदय में प्रभु की चिरन्तन धनराशि बिखेरती रहती है।

चौपाई – **प्रभु महिमा जो अजर अबाधी।**
जन उर दर्शन पर सुख साधी।।७६।।

भावार्थ – उस परात्पर ब्रह्म की विशेष विभूतियों- अजरत्व, अमरत्व, सर्वशक्तिमता, सर्वज्ञता, चिन्मयता इत्यादि का प्रसार यह प्रभा भक्त के हृदयाकाश में करती रहती है। यह उनके परमकल्याणमयी पथ को सँभालती हुई प्रशस्त करती है।

चौपाई – **आसुर सम्पत्ति सकल विभाजन।**
क्षण प्रगटी रम्भा[६] सुख छाजन।।७७।।

भावार्थ – उपर्युक्त साधन के प्रभावस्वरूप क्रमशील विकासोन्मुखी चिन्तन-पटल से नाशवान् आसुरी सम्पत्ति का पूर्ण विभाजन हो जाता है। आसुरी सम्पदा का विभाजन होते ही क्षणिक सुख प्रदायिनी रम्भा का प्रगट प्रभाव चकाचौंध करने लगता है। इस प्रखर ज्योति की स्नेहिल स्पन्दनशीलता का भाविक हृदय में स्फुरण व्यतिरेक उत्पन्न करनेवाला एक आवरण है। दुनिया में पर्दे सामने लगते हैं परन्तु ऊर्ध्वरेता साधक के लिए अन्दर ही पर्दा होता है। जिसकी चित्तवृत्ति में उस चमत्कारिक विक्षेप का आवरण पड़ जाता है, उसके भावी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

चौपाई – **विषय वासना करत कामना।**
ते जन पावत विषय वामना।।७८।।

भावार्थ – ऐसे भक्त जो भजन तो करते हैं परन्तु जिनके मन में सांसारिक विषयों की कामनायें छिपी रहती हैं, वे लोग रम्भा आदि बाह्य विषयों को पाकर उन्हीं से प्रभावित हो जाते हैं।

विचारणीय है कि भजन में भी सकामता पिण्ड नहीं छोड़ती। जो इससे बच जाता है वही पूर्णत्व को प्राप्त करता है।

दोहा – **रत्न प्रगट दुइ सिन्धु में, छोड़ बन्ध अलगाव।**
एक उबारे जगत सों, दूसर बन्धन ताव।।१३।।

भावार्थ – यथार्थतः दो पृथक्-पृथक् गुणधर्मवाले रत्न, अन्वेषिणी चिन्तन-धारा में, भव-सिन्धु के अन्तराल से प्रगट होकर साधक के सामने आते हैं, जिनमें से कुछ तो मायिक प्रवृत्तियों में बाँधनेवाले हैं और कुछ माया के बन्धनों को तोड़ते हुए ईश्वर में प्रवेश दिलानेवाले हैं। (एक प्रकार के रत्न जगत् से उबारनेवाले हैं, जिनमें कामधेनु, कल्पवृक्ष, चन्द्रमा, अमृत आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और दूसरे वे हैं जिनमें

सांसारिक प्रवृत्तियों में आबद्ध करने की तत्परता बनी रहती है, उदाहरणार्थ- गज, वारुणी, रम्भा, विष इत्यादि विचारणीय हैं। इनके आवरण से रहित साधक ही लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।)

चौपाई **- विषय आस रत भजन सकामा।**
ता उर रत्न बाम बिधि जामा।।७६।।

भावार्थ - ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ, मान-सम्मान इत्यादि की श्लाघापूर्ण भावनाएँ भी विषयात्मक आसक्ति की परिभाषा के अन्तर्गत निहित हैं। जो भक्त विषय-कामनाओं में आसक्त हैं, ऐसे पथिक के हृदय में विपरीत गुणधर्मवाले ये बाह्य रत्न उत्पन्न होते हैं तथा प्रसार पाते हैं, जो बाह्य प्रवृत्तियों के प्रति सम्मान जागृत करते हैं। यद्यपि उपर्युक्त भाव सबके हृदय में उत्पन्न होते हैं; परन्तु जो निष्काम हैं उनके अन्तर्देश में वे निष्क्रिय हो जाते हैं।

चौपाई **- रम्भा सबल शत्रु गति बामा।**
विषय आस धुत रत्न ललामा।।८०।।

भावार्थ - उक्ताभिव्यक्त सांसारिक प्रसार करनेवाली प्रवृत्तियों में रम्भा का आविर्भाव सशक्त शत्रु के रूप में होता है, जिसकी गति लक्ष्य के विपरीत सदैव बहिर्मुखी ही है। संसार में जो लोग विषय के नशे में होशहवास खो बैठते हैं, उनके लिए यह एक विस्मयकारी मनोहर रत्न है।

चौपाई **- रम्भा उरबसि अतुल मैनका।**
जन उर अँकुरे सुजस लैनका।।८१।।

भावार्थ - रम्भा समय-समय पर अनेक नामों से साधकों के जीवन में आयी है। उर्वशी, अतुला, मेनका सब इसी के विशेषण हैं, जो जन के अन्दर अंकुर उत्पन्न करनेवाली तथा सुयश का लोप करानेवाली हैं।

जिन पथिकों को इष्ट सँभाल लेते हैं वही इनसे बच पाते हैं, शेष माया के बाजार में लुट जाते हैं। गोस्वामीजी ने सच ही कहा है-

धरी न काहू धीर सब के मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ।। *(मानस, १/८५)*

चौपाई **- लोक दृष्टि महँ सुन्दर साजा।**
भक्त फँसावन परम अकाजा।।८२।।

भावार्थ - लोकदृष्टि के अन्तर्गत यह सुन्दर साज-बाज है; किन्तु भक्ति-पथ में जो प्रवेश चाहते हैं उन साधकों के लिए यह सर्वथा पथ्यावरोध हैं। भोले भक्तों को फँसानेवाले ये जाल परमतत्त्व से विलग करानेवाले हैं। इनकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप

पथिकों को अनिष्टकारी असम्भावनाओं का शिकार होना पड़ता है। उदाहरण के लिए शृंगी इत्यादि महर्षियों का कथानक द्रष्टव्य है-

चौपाई **– शृंगी पराशर कर गहि मारा।**
विश्वामित्र बिलखि विस्तारा।।८३।।

भावार्थ – शृंगि ऋषि, महर्षि पराशर इत्यादि को बरबस पकड़कर इस मायाविनी ने पथ से वञ्चित कर दिया। विश्वामित्र बड़े साहसी थे, जो कदाचित् बाधाओं की परवाह नहीं करते थे; परन्तु वे भी अन्ततोगत्वा मेनका से प्रभावित होकर ही रहे। बिलखते हुए उन्होंने इसके विस्तार की प्रबलता को स्वीकार किया। यद्यपि वे पुनः अथक परिश्रम करके इससे बचकर अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिये; परन्तु एक बार तो इस सबला ने उनकी चित्तवृत्तियों को झकझोरकर उन्हें बरबस पथ से वञ्चित कर ही डाला।

चौपाई **– भजन प्रवेश करत विस्तारा।**
धैर्यवन्त प्रभु केर सहारा।।८४।।

भावार्थ – मूलतः भजन-प्रवेश के साथ ही मायाविनी शक्तियों- रम्भा, मेनका इत्यादि का विस्तार होता है। यौगिक उपलब्धि में निश्चयात्मक पथ एक ही है, उसी एकता में अनेकता का सर्वथा लय कर देने के उपरान्त ही शाश्वत शान्ति और सुख का स्रोत खुल सकता है। जो स्वाभाविक धैर्यवान हैं, जो प्रभु के सहारे पर ही चलनेवाले हैं, वे सब प्रकार से बच जाते हैं।

चौपाई **– जेहिं जन लगन लगी इक ओरा।**
तेहिं चिन्तत मति कबहुँ न भोरा।।८५।।

भावार्थ – जिस जन की विश्वान्तर्यामी प्रभु पर एकनिष्ठ दृष्टि है, वह उन प्रभु के अतिरिक्त रम्भादि दूसरी वस्तुओं पर स्वप्न में भी दृष्टि नहीं डालता। ऐसे जन सर्वथा उसी सर्वेश्वर पर अवलम्बित रहते हुए भूलकर भी मायाविनी प्रलोभनों से प्रभावित नहीं होते।

चौपाई **– तेहि संगत मन काम कुरूपा।**
गज[१०] प्रगटा सोइ काम स्वरूपा।।८६।।

भावार्थ – रम्भा इत्यादि की संगति से मन में कामेच्छा का सञ्चार होने लगता है। उससे संयुक्त होने पर साधक के सूक्ष्म शरीर में कुरूपता आ जाती है। हाथी काम का प्रतीक है।

समुद्र-मन्थन के पौराणिक कथानक में इसी हाथी को ऐरावत के नाम से संज्ञापित किया गया है।

चौपाई **– गज प्रतीक कामातुर मनसा।**
मन मदमत्त फिरइ गज तनसा।।८७।।

भावार्थ – वास्तव में गज का प्रगटीकरण मन का कामोन्मुखी प्रवाह है। मन जब काम के नशे में मदमत्त हो जाता है, तब वह भजन-चिन्तन के अंकुश को भी नहीं मानता। भगवत् अनुराग के बन्धन को भी मतवाला होकर तोड़ डालता है, सत्कर्मों के स्तम्भ को उखाड़ फेंकता है। सांसारिक वासनाओं में विचलित होनेवाले विलासी मन की स्थिति विकराल गजेन्द्र की ही भाँति होती है। इस वृत्ति के निष्ठुर प्रहार से साधक विकल होकर छटपटा जाता है। परन्तु ऐसे समय में भी इष्टदेव कृपामयी अवलम्ब प्रदान कर भोले पथिकों को कुकर्म काम-कीचड़ में कूदने से बचा लेते हैं।

परमप्रभु विष्णु ने अपने प्रिय भक्त नारद के लिये यही तो किया-

जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार।। *(मानस, १/१३२)*

नारद की रक्षा तो हो गयी; किन्तु इसका पश्चाताप उन्हें बहुत दिनों तक रहा। जब प्रभु से पुनः भेंट हुई तो पूछ ही बैठे कि आपने मुझे विवाह करने से क्यों रोका? प्रभु ने समझाया-

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।
(मानस, ३/४२/४-५)

दोहा – **काम कला मन विह्वला, युक्ति न लागत एक।**
क्षण सुख चित चंचल करे, बचे जे विमल विवेक।।१४।।

भावार्थ – कामप्रेरित मन विषयों से विकल हो जाता है। उसका पागलपन इतना बढ़ जाता है कि शम, दम, नियम, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि एक भी युक्ति काम नहीं करती। चित्त इतना चञ्चल हो जाता है कि सुरति की डोरी भी डगमगा जाती है। ऐसी स्थिति में विशुद्ध विवेक के साथ ब्रह्म के आश्रित रहनेवाले पुरुष ही बच पाते हैं।

कबीर साहब ने उन्हीं को सुरक्षित घोषित किया, जो सर्वत्र रमण करनेवाले राम से स्नेहाभिषिक्त हैं-

नारी काली नागिनी, तीनों लोक मझार।
राम सनेही बचि गये, खाये सब संसार।।

चौपाई – **विषयासक्त मन्द मति पापी।**
अन्ध आयु सुख वारुणि[११] व्यापी।।८८।।

भावार्थ – विषयों में आसक्त होकर जो मन्दमति मदान्ध हो जाते हैं, वे क्षणिक आयुपर्यन्त सुख-लिप्सा की वारुणी से आक्रान्त हो जाते हैं। इस वारुणी का नशा संयमपूर्ण पथ को अवरुद्ध कर लेता है।

सन्तप्रवर तुलसीदासजी भी इस तथ्य का प्रकाशन करते हैं-

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही।।

(मानस, ७/६६/७)

***चौपाई* - शुभ अरु अशुभ पुण्य दिन राती।**
पाप कहे जे जग जनमाती।।८६।।

भावार्थ - शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य, दिन और रात के द्वन्द्वात्मक चक्र पापों का प्रसार करते तथा जीव को संसार में ले आते हैं। इन्हीं में फँसा हुआ जीव संसार में अनेक योनियों में भटकता हुआ विकल रहता है।

***चौपाई* - सकल विश्व समृद्धि दुख भारा।**
हेतु जनम जिय काल पसारा।।९०।।

भावार्थ - विश्व की सम्पूर्ण समृद्धियाँ दुःख के भार को ही बढ़ानेवाली हैं। इनमें प्रगति करने से भौतिकता के भार में रंचमात्र भी कमी आने की सम्भावना नहीं है। सांसारिक कामनाएँ ही जन्म-मरण का कारण हैं, जिनके प्रभाव से सर्वत्र सभी जीवों के लिए काल की विकरालता का व्यापक प्रसार हो रहा है।

***चौपाई* - सकल सृष्टि सुख दुख संसारा।**
जहँ लगि जन्म विलय व्यवहारा।।९१।।

भावार्थ - जहाँ तक जन्म और मृत्यु की सीमा है, चराचर जीव इसी कालचक्र में पिसते हुए चीख रहे हैं। जन्म के उपरान्त जब तक कोई निरन्तर आत्म-चिन्तन करते हुए अपने को परमप्रभु में स्थित नहीं कर लेता, तब तक 'जनमत मरत दुसह दुख होई' की अनिवार्यता से मुक्त नहीं हो सकता। निखिल सृष्टि में सुख-दुःख का विस्तार करनेवाली समस्त सम्भावनाओं का केन्द्र यह संसार ही है।

***चौपाई* - यह विष[१२] संसृति दैव चलाया।**
विष काया शंकर गहि खाया।।९२।।

भावार्थ - यह संसृति ही विष है। दैव के आश्रित चलनेवाली समग्र संसृति ही विष का विस्तार है। इस काया में ही विषयरूपी विष प्रवाहित है, जिसको शंकरजी ने बरबस नियन्त्रित करके खा लिया।

***चौपाई* - शंक मिटे तब शंकर रूपा।**
जहँ लगि संसृति शंक स्वरूपा।।९३।।

भावार्थ - समस्त शंकाओं का शमन होने पर शंकर-स्थिति की उपलब्धि होती है। जहाँ तक संसृति का विस्तार है वहाँ तक संदिग्ध तर्कनाओं का विस्तार ही समझना चाहिए।

अतः मन के पूर्ण संयमित, स्थिर और तर्कनाशून्य हो जाने पर ही 'शिव' स्वरूप की अनुभूति सम्भव है।

***चौपाई* - सो स्वरूप भजनानन्द आसा।**
परसि परम सुख रूप उदासा।।६४।।

भावार्थ - भजनानन्द के माध्यम से ही उस शिव स्वरूप की आशा की जा सकती है। परमतत्त्व परमात्मा के दर्शन एवं स्पर्श के साथ ही उस सदा सुख परम उदासीन शंकर स्वरूप की उपलब्धि होती है।

***चौपाई* - तेहिं स्वरूप प्रगटे विष खोया।**
विष पियूष मय सहजहि सोया।।६५।।

भावार्थ - उस शिव स्वरूप के प्रगट होते ही विष विलीन होकर अमृत में परिवर्तित हो जाता है और साधक सहज स्वाभाविक परात्पर सुख में निमग्न हो जाता है। अर्थात् इस स्थिति के उपरान्त आवागमन का क्रम सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाता है और आत्मा चिरन्तन सहजावस्था में लय हो जाती है। अब प्रश्न है कि उस अमृत की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से है?

***चौपाई* - शशि[१३] पियूष संगत सुखकारी।**
जन जानत पद परस भिखारी।।६६।।

भावार्थ - चन्द्रमा और अमृत की संगति सदा सुखदायी है। जिसके हृदय-प्रदेश से इस दशा का प्रकट संचार होता है वही भक्त जानता है और इस पद का स्पर्श करते ही तत्क्षण भिखारी अर्थात् शंकर हो जाता है।

शब्दार्थ- भिखारी = जिन महापुरुषों के सामने परमतत्त्व की माँग नहीं रह गयी, वे परम भिखारी हैं। यही स्वरूप शंकरजी का भी था और सद्गुरुदेव परमहंसजी का भी।

***चौपाई* - मन ही शशि थिर परसि अकाशा।**
ब्रह्म पियूष[१४] गहत भव नाशा।।६७।।

भावार्थ - आकाश का स्पर्श करके जब मन वही स्थिर हो जाता है, तो ऐसा शून्यानुगत मन ही चन्द्रमा है। श्रुति में भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' से यही तथ्य पुष्ट होता है। गोस्वामीजी भी **'मन ससि चित्त महान'** ***(मानस, ६/१५ क)*** प्रमाणित करते हैं। ऐसा मन ही उस ब्रह्म स्वरूप अमृत का पान करनेवाला है। वह निरन्तर इस आन्तरिक भाव का रसास्वादन करता जाता है, जिसके परिणामस्वरूप मायिक व्याधियों का जन्म-जन्मान्तरों से चला आ रहा बन्धन टूटने लगता है। इस प्रकार क्रमशः कूटस्थ अमृतमय मन, काल और कर्म की सीमा से उपराम हो जाता है।

चौपाई - **जे काया नश्वर गति त्यागी।**
चरत अकास स्वाँस सँग लागी।।६८।।

भावार्थ - **'कोइ अवकास कि नभ बिनु पावइ'** *(मानस, ७/८६/३)*- आकाश कहते हैं पोल को, शून्य को। तात्पर्य यह है कि उस शून्य का स्पर्श करके चञ्चल मन अवकाश पा जाता है। जब यह शरीर का सम्बन्ध छोड़कर आकाश में स्थायित्व ले लेता है और ईश्वराभिमुख होकर श्वास-प्रश्वास के माध्यम से उस शून्य में प्रवाहित रहता है।

दोहा - **ईश संग जग भास ना, शून्य सुरा दरसात।**
ते चित चंदा अमर संग, निसि दिन पिय बरसात।।१५।।

भावार्थ - तब ईश्वर की ऐसी संगति हो जाती है जहाँ जगत् का आभास नहीं होता, सुरा की गति आकाश में प्रवाहित होने लगती है। ऐसा आकाशवत् चित्त ही चन्द्रमा कहलाता है। ऐसा मन देवत्व प्रदायिनी अमर प्रवाह से संयुक्त रहता है, जिसका परिणाम अहर्निशि धारावाही रूप में परम प्रियतम परमात्मा को दरसाता एवं बरसाता रहता है अर्थात् परमात्म-सम्बन्धी शोध देता रहता है।

इसी तथ्य का निरूपण संत कबीरदास की वाणी में इस प्रकार हुआ है -

रस गगन गुफा से अजर झरै।।
बिनु बाजा झंकार उठे तहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै।।
बिना ताल तहाँ कमल फुलाने, तेहिं चढ़ि हंसा केलि करै।।
बिना चाँद उजिआरि छिटकी, जहँ जहँ हंसा नजर परै।।

चौपाई - **अजर अमर प्रभु पिय पहिचाना।**
दैवी संग बिनु काहु न जाना।।६६।।

भावार्थ - जो प्रभु अजर-अमर और शाश्वत हैं, वही मेरे जीवनाधार प्रियतम हैं, यह दृढ़ विश्वास चेतन चित्त में प्रविष्ट हो जाता है; किन्तु इस पहचान के लिए दैवी सम्पत्ति का संग्रह अपेक्षित है। यदि उसका साहचर्य न मिला, तो वह शाश्वत प्रत्यक्ष दर्शन में नहीं आता। अतः इस दैवी सम्पत्ति के लिए प्रयास करें।

चौपाई - **मथा सिन्धु जग हरि की छाया।**
शुभाशुभम् जग रतन निकाया।।१००।।

भावार्थ - जब कोई पथिक प्रभु का कृपापात्र बन जाता है, तो उन्हीं की छत्रछाया में समुद्र का मन्थन करता है। इस भवसिन्धु का मन्थन करने और उसके अन्तराल से अमिय उपलब्धि की कोई दूसरी पद्धति नहीं है। इस मन्थन-क्रिया के प्रारम्भ हो जाने पर क्रमशः शुभाशुभ रत्नों की उत्पत्ति होने लगती है, जिनमें कुछ ऐसे विलक्षण हैं जिन्हें

सामान्य चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता और न बुद्धि से परखा ही जा सकता है। उन अलौकिक उपलब्धियों की सीमा काया की पकड़ के बाहर है। वह तो केवल ईश्वरीय आदेशों और ईश्वरीय आवाजों की पकड़ से ही सम्भव है।

***चौपाई* - सब संयोग देखि मन छोभा।**
अमिय परस रत्नाकर सोभा।।१०१।।

भावार्थ - इस प्रकार बहुत से रत्नों के संयोग पर भी मन में क्षोभ और चिन्ता की वृद्धि ही होती रही; क्योंकि अमृत की उपलब्धि का अभाव है। अमृत का स्पर्श प्राप्त होते ही रत्नाकर की शोभा बढ़ जाती है। चित्त निरन्तर शान्ति में समाहित हो जाता है। वस्तुतः अमृत के बिना रत्नाकर की शोभा कहाँ? अतः अन्यान्य उपलब्धियों के उपरान्त भी हलचल बनी ही रहती है। इस पर द्रष्टव्य है अगली चौपाई-

***चौपाई* - पुनि सागर महँ हलचल रारी।**
अमृत बिन भव दुःखद सुरारी।।१०२।।

भावार्थ - अमृत के अभाव में पुनः सागर में हलचल तथावत् रहा, क्योंकि बिना अमिय उपलब्धि के स्थैर्य कहाँ? इसके अभाव में अन्य उपलब्धियों में भी आवागमन में डालने एवं देवत्व-प्रदायिनी दैवी सम्पत्ति का ह्रास करनेवाली आसुरी सम्पदा की विद्यमानता है। प्रश्न उठता है कि अमृत है क्या?

***चौपाई* - अमृतमय प्रभु परम आतमा।**
चिदाकाश परतीति आतमा।।१०३।।

भावार्थ - अमृत में स्वयं व्याप्त परम प्रभु ही अमृत हैं। चित्त जब आकाशवत् हो जाता है तभी उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव होता है। चित्त का निरोध करनेवाली यह अंतस् साधना-पद्धति ही उसके प्राप्ति का माध्यम है।

***चौपाई* - सो अमृत रस दूसर नाहीं।**
परस प्रभात सिन्धु भरि जाहीं।।१०४।।

भावार्थ - वही अमृतरस आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। आत्मतत्त्व का स्पर्श करते ही वह जीवात्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप हो जाता है। जब पथिक के अन्तर्देश में वह आत्मतत्व प्रकाशित हो जाता है तब भवसिंधु का विस्तार सूख जाता है। त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' का प्रभाव भी समस्त मायिक अनर्थों के साथ 'पुरुष' में विलीन हो जाता है।

***चौपाई* - जन हरि परसत हरि के रूपा।**
अमृत मय जन परसि स्वरूपा।।१०५।।

भावार्थ - उस अमृतमय परमात्मा का स्पर्श पाते ही भक्त हरिस्वरूप हो जाते हैं। अतः जीवात्मा स्वतः परमात्मा में बदल जाती है। उस स्वरूप में विलीन होने की

क्रमशील क्षमता प्राप्त करनेवाली आत्मा, दूसरों को अमरता प्रदान करनेवाली हो जाती है। अमिय और आत्मा का संयोग ही पुण्यात्मा पथिकों को परमात्मा के परमस्वरूप में लीन कर देता है। संत कबीर इस स्थिति का भान कराते हुए कहते हैं-

अवधू बेगम देश हमारा।
जहाँ पहुँच फिर हंस न आवै, भवसागर की धारा।।

चौपाई **- तेहिं क्षण अन्तर ध्यान हरीशा।**
को बिलगाव जीव अरु ईशा।।१०६।।

भावार्थ - इस विलय के साथ ही वह आत्म-प्रेरक जो साधक के साथ पूर्तिपर्यन्त चलता रहता है, अन्तर्धान हो जाता है। साधक को सहज स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में जीव और ईश्वर का बिलगाव कौन करे। अंश अंशी में लीन होकर पूर्ण हो गया। अब उसका पृथक्करण सम्भव नहीं है। यह स्थिति अनिर्वचनीय है। यही अवतार की देन और पराकाष्ठा है। पुनः क्रिया के मूल की ओर संकेत किया गया है-

चौपाई **- गुरुवर रूप धरा उर माहीं।**
दीर्घकाल नित जतन कराहीं।।१०७।।

भावार्थ - जो सत्य स्वरूपस्थ सर्वत्र व्यापक सद्गुरु हैं, उन्हीं के स्वरूप को सुरति से पकड़कर हृदय में धारण करना उसकी प्राप्ति का मूल साधन है। वह स्वरूप सरलता से पकड़ में नहीं आता, इसलिए इस दिशा में निरन्तर यत्न करते रहना चाहिए।

चौपाई **- परसत पद उर प्रेरक जागा।**
तब सागर सिधि सब दुख भागा।।१०८।।

भावार्थ - हृदय में सुप्त प्रभु प्रेरक होकर जब जागृत हो जाते हैं और साधक की बागडोर को अपने हाथों में ले लेते हैं, तभी भवसिन्धु मन्थन-क्रिया की जागृति एवं पूर्ण सफलता मिलती है। चतुर्दिक सफलता की अनुभूति होने पर संसार-सिन्धु से समस्त रत्नों का आविर्भाव होता है, साथ ही सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है। ईश्वर की प्रेम-वृष्टि से आत्मा भींग जाती है।

दोहा **- सागर मन्थन जोग जन, जन जीवन आभास।**
गुरुवर की सुधि ना मिली, पुनि जग नरक निवास।।१६।।

भावार्थ - उपर्युक्त सद्गुरु को मन से पकड़ने से ही भक्तजन सागर-मन्थन की योग्यता प्राप्त करते हैं। तत्क्षण भक्त और भगवान की अनन्यता का आभास प्रदर्शित होने लगता है। यदि ऐसे साधक को किसी सद्गुरु की कृपा प्राप्त नहीं है, तो पुनः इसी नारकीय जगत् के बन्धन में निवास करना पड़ता है।

गुरु की इसी पावन महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कबीर ने गोविन्द से भी आगे गुरु-कृपा को निरूपित किया है-

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।

चौपाई **- योग प्रभाव ईश अवतारा।**
विषय प्रभावित तन विस्तारा।।१०६।।

भावार्थ - योग के प्रभाव से ही उस ईश्वर एवं अन्तर्प्रेरक कच्छप का अवतार होता है। विषयासक्त पुरुष भी श्रद्धातिरेक एवं हृदयपरक भावों से उन्हें देख सकता है। हाँ, यह प्रसंग अलग है कि उस अवतरण के आद्योपान्त मूल माध्यम सद्गुरु ही हैं। योग की सूक्ष्म जागृति के एकमात्र माध्यम सद्गुरु ही हैं, यह सदैव से ही अकाट्य सिद्धान्त के रूप में अवस्थित है।

इसके उद्गम के लिए सद्गुरु की कृपा अपेक्षित है। उदाहरणार्थ 'मानस' में धनुष-भंग का प्रकरण उल्लेखनीय है। यज्ञशाला में उपस्थित देश-देशान्तर के प्रबल पराक्रमी राजा अपने-अपने इष्टदेवों का स्मरण करके धनुष उठाने में अपनी क्षमता का प्रदर्शन करते हैं; परन्तु उठाना-तोड़ना तो दूर रहा, वे धनुष को तिलमात्र भी हिला-डुला नहीं पाते-

परिकर बाँधि उठे अकुलाई।
चले इष्टदेवन्ह सिर नाई।। *(मानस, १/२४६/६)*
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई।
तिलु भरि भूमि न सके छोड़ाई।। *(मानस, १/२५१/२)*

वे छुड़ाते भी तो कैसे? उनका प्रयास तो कामनाओं से भरा हुआ था-

डगइ न संभु सरासनु कैसें। कामी बचन सती मनु जैसें।।
सब नृप भये जोगु उपहासी। जैसें बिनु बिराग संन्यासी।।
(मानस, १/२५०/२-३)

परन्तु सद्गुरु की पावन आज्ञा के अधीन रहनेवाले भगवान राम ने सहज ही भवचाप का खण्डन कर दिया-

गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा।
अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा।। *(मानस, १/२६०/५)*
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।
भरे भुवन धुनि घोर कठोरा।। *(मानस, १/२६०/८)*

चित्त के टूटते ही चेतना का स्वरूप निखरकर व्यष्टि को समष्टि में लय कर देता है।

सम्बन्ध – विषयी लोग भी भावों की उच्चता से उस ऊँचाई को पार कर सकते हैं; किन्तु पराभक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष स्थिति के रूप में एक ज्ञानी भक्त ही परख पाता है। पराभक्ति की पराकाष्ठा पर उस ज्ञान-गरिमा प्रदायक, चरमोत्कृष्ट स्थिति का विधान है। इसके लिए देखें-

चौपाई – **कच्छप हरि अवतार कहानी।**
भक्ति प्रभाव लखत विज्ञानी।।११०।।

भावार्थ – कच्छपावतार समस्त सृष्टि में चेतना का सञ्चार करनेवाले उन हरि की ही अपनी कहानी है। पराभक्ति की अवस्था में ज्ञानीजन उस स्वरूप का आभास पाते हैं। ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। जो भक्तिमयी विमल बुद्धि से प्रेरित हैं, वही उस ज्ञान की कसौटी में खरे उतरते हैं।

जब तक पूर्वजन्म के पुण्य और पुरुषार्थ जागृत नहीं होते, हृदय-देश में सद्गुरु का सम्बल प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक परम पावन कच्छपावतार सम्भव नहीं है। गोस्वामीजी की अर्द्धाली देखें-

पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सत संगति संसृति कर अन्ता।। *(मानस, ७/४४/६)*

चौपाई – **सब दिन सबहिं काल विधि पूरी।**
योग युक्ति अनुराग न दूरी।।१११।।

भावार्थ – हर देश, काल और परिस्थिति में इस अवतार की विधि सदैव एकरस एवं पूर्ण है; क्योंकि एकमात्र इष्ट के अनुरूप राग ही अनुराग कहलाता है। युगधर्म का कोई भी प्रभाव इसके समक्ष क्रियाशील नहीं है। योगयुक्ति और अनुराग की त्रिवेणी यदि अन्तःकरण में प्रवाहित है तो उन परमप्रभु के प्रत्यक्षीकरण का विधान है; किन्तु युक्ति तभी काम करती है जब अनुरागपूर्ण हृदय में किसी अनुभवी गुरु से निर्देश प्राप्त होता रहे।

चौपाई – **समरथ सम करि जग हरि राखा।**
ईस अनीस न जीवन भाखा।।११२।।

भावार्थ – यह सफलता स्वरूपस्थ महापुरुष की कृपा पर ही केन्द्रित है, जब उनका चरण-रज ध्यान की पकड़ में आ जाय तभी यह उपलब्धि सुकर है। हरि के नामों में समत्व स्थापित करानेवाले यही सद्गुरु हैं जिनकी ज्ञान-रश्मि से द्वैत का अन्धकार मिट जाता है। सद्गुरु के आलोक-दर्शन पर ही ईश्वर, अनीश्वर, माया, ब्रह्मादि का द्वन्द्व दूर हो जाता है और साधक को वही अनिर्वचनीय स्थिति प्राप्त हो जाती है।

चौपाई **- तिन प्रगटा भव हरण सहारा।**

अनायास गहि बाँह उबारा।।११३।।

भावार्थ - ब्रह्मवेत्ता समर्थ सद्गुरु ही भव-भय को दूर करनेवाले हैं। परम कृपालु, उर-प्रेरक ही अधिकारी की बाँह पकड़ लेते हैं। उनके इसी सहारे पर अवलम्बित पथिक इस अथाह भवसागर से शनैः-शनैः पार हो जाते हैं।

चौपाई **- जन उर सम्भव विमल कहानी।**

दरस परस जे आज्ञा मानी।।११४।।

भावार्थ - जो हरि को समर्पित होकर केवल उन्हीं की प्राप्ति के लिए आर्त हैं, ऐसे भक्तजनों के हृदय में ही अवतार का सूत्रपात होता है। यह अन्तर्देश में होनेवाली विवेकमयी विमल कथा है। उस स्वरूप का दर्शन एवं आदेश उन्हीं पुरुषों के लिए है, जो आज्ञाकारी हैं और सतत प्रयत्नशील हैं।

चौपाई **- आज्ञा की विधि दूसर नाहीं।**

उर अन्दर हरि सर्व सुनाहीं।।११५।।

भावार्थ - पथिक की आत्मा में प्रभु जागृत होकर वहीं से शब्द-सञ्चार करते हुए, उसे समझाते-बुझाते चलते हैं। इसी प्रकार क्रमशः स्थितियों से अवगत कराते हुए पथिक को वे अपने स्वरूप में खड़ा कर देते हैं। जब वे आत्मा से अभिन्न हो जाते हैं तब प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के माध्यम से बोलने लगते हैं।

इन्हीं चर्चाओं को सुनकर मैंने पूज्य गुरुदेव भगवान से पूछा कि क्या भगवान बातें करते हैं? श्री गुरुदेवजी ने बताया कि "हाँ हो, भगवान तो घण्टों बतियावत हैं। ध्यान धरे रह, तोहूँ से बोलिहैं।"

वास्तव में इसके अतिरिक्त आज्ञापालन का कोई दूसरा विधान नहीं है। केवल अन्तर्देश में हरि की जागृति के उपरान्त यह आदेश साधक को मिलने लगता है।

चौपाई **- ऐसे हरि जो बोलत नाहीं।**

साधन श्रम सुख उर महँ नाहीं।।११६।।

भावार्थ - यदि ऐसे गुरुत्व वाले प्रभु अन्तराल में प्रगट होकर मार्गदर्शन नहीं करते, तो भोले पथिकों का मन हताश होने लगता है। जब तक साधना का मूल्यांकन परमेश्वर के दिग्दर्शन के रूप में नहीं हो जाता, तब तक साधक को वह साधना भार मात्र प्रतीत होती है और उसके दिन सुख-संयुत नहीं बीतते।

चौपाई **- सतगुरु छबि राखहु उर अन्तर।**

अनुभव गम्य ज्ञान गुण मन्तर।।११७।।

भावार्थ – परम कृपालु सद्गुरु के तत्त्वदर्शी स्वरूप को हृदय-देश में आसीन कर लो; अनुभव में उनके द्वारा प्रदत्त निर्देशों को आधार मानकर चलो। कुछ दिनों की आन्तरिक शुद्धि का सुपरिणाम यह होगा कि स्वयं पथिक की सत्यान्वेषणी बुद्धि ज्ञान और गुणों का मन्त्र देनेवाले समर्थ पुरुषों की अनुभवगम्य श्रेणी में उसे लाकर खड़ा कर देगी।

चौपाई – **प्रथम प्रवेश मिलहिं गुरु माहीं।**
जे अनुभव पर राह धराहीं।।११८।।

भावार्थ – इस परम प्राप्तिवाले चिन्तन-पथ में सर्वप्रथम सद्गुरु का ही सम्बल प्राप्त होता है, जो प्रारम्भ से पूर्तिपर्यन्त पथिक के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर पथ-संचालन करते हैं। वे अनुभव के द्वारा साधक के मन में ही प्रेरणा का उपदेश देकर उसे परम पथ पर चलाते हैं। परमार्थ-पथ को प्रशस्त करनेवाले एकमात्र गुरु ही मूल आधार हैं।

गुरु की कृपा का प्रभाव ही इतना विलक्षण है कि शिष्य कृपापात्र बनते ही आत्मोन्नति के शिखर पर जा पहुँचता है। इन्हीं चरणों की पावन रज विवेक-चक्षुओं को विमल करने के लिए अपरिहार्य है। संत तुलसीदास के शब्दों में देखें-

गुर पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन।।
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन।
बरनऊँ राम चरित भव मोचन।। *(मानस, १/१/१-२)*
गुर के बचन प्रतीति न जेही।
सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।। *(मानस, १/७६/८)*

दोहा – **गुरु रूठे पर हरि नहीं, गुरु नहीं रूठन योग।**
गहि राखे उर बीच में, उर अवतरिया भोग।।१७।।

भावार्थ – यदि ऐसे सद्गुरु मन की जड़ता के कारण पथिक से सँभालते न बने, रूठ गये तो हरि भी इस दशावाले असतर्क साधकों को सहारा नहीं देते और यदि कदाचित् गुरु सम्बल देना ही समाप्त कर दें तो ऐसी अवस्था में हरि रहते ही नहीं; किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि गुरु कभी रूठते ही नहीं। वे प्रायः दीनों की त्रुटियों को समाहित करते रहते हैं। वे पथिक के मानसिक प्रवाह को हृदय में रोककर रखते हैं। इतना ही नहीं, उसके हृदय-देश में उस अवतार के कार्य-कलापों का विस्तार करते हुए प्रेम-प्रसाद वितरित करते हैं।

दोहा – **विमल विवेक विरति मति, जे सतगुरु आधीन।**
जे जन पावन आतमा, परमानन्द प्रवीन।।१८ क।।

वहाँ न जनमे ना मरे, ना वहिं कलि विस्तार।
व्यापक ब्रह्म स्वरूप सोइ, स्वात्म सृष्टि निस्तार।।१८ ख।।

भावार्थ - जो पवित्र बुद्धिवाले विरक्त साधक अपने सुरति की डोरी को सद्गुरु के चरणों में बाँधे रहते हैं वही प्रवीणजन स्वात्म को परमात्मा में लीन परमानन्द में सदा-सदा के लिए निमग्न हो जाते हैं। वहाँ न जन्म है न मृत्यु, न सुख है न दुःख। उस देश में न यमराज की पहुँच है और न कलियुग का विस्तार है। ऐसी अवस्था में पहुँचा हुआ साधक स्वात्म-सृष्टि को परमात्मा के रंग में रँगकर व्यापक ब्रह्म के शाश्वत रूप में स्वयं स्थिर हो जाता है।

सोरठा - **विमल भोग अवतार, तहँ यम कलि कर गम नहीं।**
सपदि उतारे पार, विपद पुकारे नर हरी।।१।।

भावार्थ - वे अवतार के भोग सर्वदा निर्दोष एवं निर्मल हैं। वहाँ पर कलियुग और यमराज की गति मिट जाती है। उपर्युक्त जागृति यदि है तो वह अवतरित सत्ता (भगवान) शीघ्र एवं निश्चित पार उतारते हैं। सांसारिक विषयों में जिन्हें विपत्ति का ज्ञान हो जाय और जो असह्य विपदाओं से संत्रस्त होकर उन प्रभु को पुकारते हैं, ऐसे भाग्यशाली नरों के लिए उन हरि के प्राकट्य का विधान है।

सोरठा - **संस्कार दे साथ, तब गुरु की महिमा बनी।**
सबके समरथ राम, तेहि बल सब जीवन धनी।।२।।

भावार्थ - बहुत से जन्मों के शुभ संस्कार जब प्रगट में साथ देते हैं तभी हम उन परम दयालु गुरु के हो जाते हैं। वास्तव में सबकी आत्मा में उन परम समर्थ राम का स्वरूप छिपा है। उन्हीं राम का आभ्यन्तरिक प्रश्रय प्राप्त करनेवाली आत्माएँ इस जगत् में होते हुए भी धनवान हैं। प्रत्येक मानव उसे प्रत्यक्ष करने के लिए प्राधिकृत है। यदि गुरु का रंचमात्र भी सम्बल उसे प्राप्त हो जाता है तो कतिपय जन्मों के हेरफेर से निर्बल पथिक भी साधन-क्रम में संयुक्त होकर स्व-स्वरूप में प्रवेश पा जाते हैं।

नोट - *सागर-मन्थन की उपलब्धि चौदह रत्न- १. शंख, २. हय, ३. धनुष, ४. धन्वन्तरि, ५. कल्पवृक्ष, ६. कामधेनु, ७. मणि, ८. श्री, ९. रम्भा, १०. गज, ११. वारुणि, १२. विष, १३. शशि, १४. पीयूष।*

।। ॐ।।

मत्स्यावतार

कथा-कहानी के माध्यम से जीव-जगत् के नाना सत्यों, रहस्यों एवं सिद्धान्तों को उद्घाटित करने की अति प्राचीन परम्परा है। सामान्य से लेकर बड़ी-बड़ी बातों तक को कथानकों का आधार बनाया गया है। कारण स्पष्ट है- कथा-कहानी का प्रभाव मानव-मस्तिष्क पर अधिक पड़ता है। सृष्टि-विकास के साथ-साथ मानव का कथा-साहित्य से सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। कहानी कहना-सुनना उसकी प्रवृत्ति रही है। अतः उसकी चेतना को प्रभावित करने का यह सशक्त साधन बनी हुई है और कहानी के स्वरूप में परिवर्तन होते रहने पर भी उसका प्रभाव अक्षुण्ण है।

आत्मतत्त्वदर्शी तपोधन महात्माओं ने भी गूढ़ातिगूढ़ तत्त्वों, सृष्टि के रहस्यों एवं ब्रह्म की सत्ता को स्वानुभूतियों के प्रकाश में इसी माध्यम से व्यक्त किया है। उन्होंने परमार्थ पथ को प्रशस्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के कथानक गढ़े और घटनाओं का मौलिक सृजन किया। रूपकों और प्रतीकों के सहारे अध्यात्म-तत्त्व को हमारे सामने रखा। गूढ़ बातों का विवेचन कथानक के माध्यम से होने पर सरल, सरस एवं हृदयग्राही हो जाता है, इसलिए महात्माओं ने अध्यात्म-क्षेत्र में इसे अपनाया।

जिन तपःपूत मनीषियों ने इन कथाओं का निर्माण किया, उनका लक्ष्य परमार्थ पथ को प्रशस्त करना था। उन्होंने अध्यात्म को सामने रखा था। कालान्तर में इन कथाओं का उपयोग लौकिक उपलब्धियों के लिए होने लगा और उनके भीतर का महानतम उद्देश्य दब गया अर्थात् उनके भीतर के रहस्यों की ओर ध्यान न गया।

मत्स्यावतार के रहस्य को समझने के पूर्व एक प्राचीन कथानक को उदाहरणरूप में ग्रहण कर उपर्युक्त बातों की जाँच तथा विषय-क्रम को स्थिर कर लेना उचित होगा। महाराज परीक्षित एक महात्मा के शाप से प्रपीड़ित हुए। व्यासपुत्र अवधूत शुकदेव का कृपा-प्रसाद 'भागवत' उन्हें सुनने को मिला। राजा का कल्याण हुआ। कालान्तर में भागवत-कथन पण्डितों का पेशा (पण्डिताई) बन गया और कथा का रहस्य गौण होकर रह गया। कुछ समय बाद एक अन्य राजा ने कल्याण की इच्छा की। सैकड़ों विद्वानों ने राजा के कल्याण-साधन के लिए कथा की व्यवस्था आरम्भ की। राजा ने कथा की सामग्री, द्रव्य आदि जुटाया और कथा सुनने लगा। कथा समाप्त हुई; किन्तु उसका कल्याण न हुआ- हर्ष, शोक, भय आदि बना ही रहा। आशा, तृष्णा का वेग यथावत् रहा। राजा को बड़ा क्रोध हुआ। उसे लगा कि पण्डितों ने उसके साथ षड्यन्त्र रचा।

उसने पण्डितों को जेल में डाल दिया ताकि वे पुनः ऐसा षड्यन्त्र न करें और उसका प्रसार न हो। राजा ने बार-बार कथा सुनी; किन्तु कल्याण न हुआ। यह अवश्य हुआ कि जेल में विद्वान् पण्डितों की संख्या बढ़ने लगी। अन्त में अनिच्छा होते हुए भी राजा ने कुलगुरु (पुरोहित) से कथा सुनी। पुरोहित द्वारा कथा समाप्त किये जाने पर वह भी जेल के द्वार पर पहुँचाया गया। पुरोहित के पुत्र ने पिता का समाचार सुना। वह राजा के पास जा पहुँचा और बोला- ''राजन्! मैं आपके कल्याण के लिये यत्न करूँगा। आप एक घण्टे के लिए अपना राज्य मुझे दे दीजिए।'' राजा ने बालक की बात मान ली, अपनी राजपोशाक उतार दी तथा वह सिंहासन के नीचे अलग जा बैठा। अब सिंहासन पर पुरोहित-पुत्र विराजमान था। उसने मन्त्री से कहा- ''इस भूतपूर्व राजा को स्तम्भ में बाँध दो।'' मन्त्री ने आज्ञा का पालन किया। सिंहासनारूढ़ बालक ने दूसरा आदेश दिया- ''अमुक नामवाले पण्डित (अपने पिता का नाम) को जेल से बाहर करो और राजा के बगलवाले स्तम्भ में बाँध दो।'' वैसा ही किया गया। पुरोहित को बड़ा क्रोध आया कि राजा के पागलपन ने हम ब्राह्मणों को जेल में बन्द कराया, उसके पुत्र ने भी सनक में उसे बँधवा दिया। वह कुछ समय तक बड़बड़ाता रहा। जब शान्त हुआ, तब बालक बोला- ''पुरोहितजी! राजा साहब की रस्सी खोल दीजिए।'' ''तू पागल हुआ है। देखता नहीं मैं बँधा हूँ, हाथ-पाँव भी हिला नहीं सकता, राजा की रस्सी कैसे खोल दूँ।''- पण्डित झल्लाया।

बालक पुनः बोला- ''अच्छा राजन्! आप ही पुरोहितजी को खोल दीजिए। आप राजा रह चुके हैं, कोई युक्ति लगाइये।''

''विप्र बालक! मैं भी तो बँधा हूँ, भला मैं कैसे खोल दूँ?'' -राजा ने उत्तर दिया।

अन्त में बालक ने मन्त्रियों को दोनों की रस्सी खोल देने की आज्ञा दी। समय से कार्य हो गया। राजा पुनः अपने सिंहासन पर जा बैठा। तदुपरान्त ब्राह्मण बालक ने कहा- ''राजन्! जब पण्डित स्वयं मोह के बन्धन में बँधे हैं, रात-दिन भले-बुरे कर्म घर-परिवार के लिए करते हैं, माया के फन्दे में जकड़े हुए हैं, तब भला तुम्हें कैसे बन्धन-मुक्त कर सकते हैं। जिन शुकदेव से कथा सुनकर राजा का कल्याण हुआ था, वे परम विरक्त महापुरुष थे। आप भी किसी विरक्त महापुरुष से कथा सुनें और कल्याण के पात्र बनें।'' उसी समय राजा विरक्त महापुरुष की खोज में लग गया।

इस कहानी से 'पूर्ण प्राप्तिवाले महापुरुष' के खोज की प्रेरणा मिलती है और इसी बात का इसमें निर्देश है; किन्तु विरले ही इस पक्ष पर विचार करते हैं। यह एक कथा मात्र बनकर रह गई है। इसी प्रकार अवतार-सम्बन्धी कथानक भी हैं। उस परमप्रभु

को किस प्रकार प्राप्त किया जाय, व्यापक ब्रह्म का अवतार कैसे अपने भीतर हो?- इनसे सम्बन्धित उपायों तथा साधनों को मनीषियों ने कथानकों में बाँधा है।

मत्स्यावतार भी एक शुद्ध रूपक है। समुद्र से एक छोटा-सा मत्स्य निकलकर स्वायंभुव मनु से बोला- ''हमारे कुल की मर्यादा है कि बड़े और सबल मत्स्य छोटे और निर्बल मत्स्य को खा जाया करते हैं। आप मेरी रक्षा करें।'' चराचर के राजा मनु ने उसको घट में रखा। थोड़े ही समय में वह स्थान तंग हो गया। तत्पश्चात् मनु ने उसे विस्तृत तालाब में व्यवस्था के साथ डलवाया और पालन किया। वहाँ भी मत्स्य की सतत बाढ़ से स्थान की कमी स्पष्टतः दृष्टिगोचर हुई, तब मनु ने मत्स्य को गंगाजी की विस्तृत धारा में प्रवाहित किया। गंगा-स्थान भी तंग पड़ते ही महाराज मनु ने उसे समुद्र में जा छोड़ा और व्यवस्था में संलग्न रहे।

समुद्र-प्रवेश के बाद मत्स्य बोला- ''राजन्! अब मैं निर्विघ्न रहूँगा। महाप्रलय का समय आ गया, आप एक नाव में सृष्टि के कल्याणकारी बीज तथा सप्तर्षियों को लेकर सब प्रकार की चिन्ता छोड़ बैठ जायँ। आप नाव की मजबूत रस्सी मेरे मस्तिष्क के शृंग में बाँध दें। चराचरसहित त्रैलोक का नाश करनेवाले उस महाकाल के प्रकट होने पर मैं आपको निर्दोष, अजर, अमर, शाश्वत स्थिति प्रदान कर पूर्णता में स्थित कर दूँगा।''

मनु ने ऐसा ही किया। तब वह मत्स्य हजार वर्षों तक मनु को परमार्थ का उपदेश देता हुआ निरन्तर चलता रहा। कथानक में निर्दिष्ट है कि उस मत्स्य की गति प्रकृति के तीव्रतम गतिवाले प्राणियों या माध्यमों से भी अधिक थी अर्थात् वायु, प्रकाश इत्यादि की गति से भी उसकी चाल अधिक थी। उस गति से चलकर मत्स्य ने नाव को हिमालय तक पहुँचाया और मनु ने उस नाव को हिमालय के उत्तुंग शृंग में बाँध दिया। मत्स्य ने राजा को पुनः आश्वस्त किया और अदृश्य हो गया। थोड़े समय में महाप्रलय का वह दृश्य शाश्वत शान्ति में बदल गया। मनु ने पुनः परम कल्याणकारी उन बीजों को जहाँ-तहाँ फेंका और वे अंकुरित हो गये।

मनु - मन ही मनु है, जो स्वयं सृष्टि का रचयिता है। जिन महापुरुषों ने इस मन को वश में कर लिया, उन्होंने संसार के क्रम को रोक लिया।

'मन ही आके जगत बना के, ऊँच नीच तन पाया रे।'

यह संसार समुद्र है, जिसमें अनन्त योनियों का सिलसिला है। मन और इन्द्रियों की अधोमुखी अनन्त प्रवृत्तियाँ हैं। ये ही अथाह खंदक तथा खाड़ियाँ हैं। मन एवं इन्द्रियों की ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तियों से निर्मलता, निवृत्ति सम्भव है। अधिकांश प्रवृत्तियाँ संसार-सागर में ही फँसाव लेनेवाली हैं, किन्तु किसी काल में **'राम भगति जल मम मन मीना।'**वाली

इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति का प्राकट्य होता है, जो भक्तिरस में सुख माननेवाली है। यही मानसिक प्रवृत्ति मत्स्य है। भजन की अल्प प्रवृत्ति को मायिक प्रवृत्तियाँ खा लिया करती हैं, मिटा दिया करती हैं। तभी तो दुर्बल मत्स्य ने मनु से अपनी रक्षा का निवेदन किया। ठीक इसी प्रकार की स्थिति भक्त के हृदय की होती है। इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति के जागृत होते ही भावविभोर भक्त निज मन से ही अपने बचाव के लिए निवेदन करता है- ''हे मन! अनन्त मायिक मनोवृत्तियों (बहुमत्स्यों) से बचकर यह थोड़ी-सी यथार्थ लगन जागृत हुई है। इस मन्तव्य (मत्स्य) की रक्षा-व्यवस्था करो।''

रक्षण कार्य के प्रथम चरण में मनु इस इष्टमयी प्रवृत्ति को घड़े में रखता है। घट कहते हैं हृदय को! अर्थात् वह इस प्रवृत्ति को हृदय में ही व्यवस्थित ढंग से प्रवाहित कर देता है। हृदय में दीर्घकाल तक सफल प्रयोग से यह मत्स्य (मनोवृत्ति) पुष्ट हो जाती है और तब त्यागरूपी तालाब में पड़कर त्याग की पूर्णता प्राप्त करा देती है और पुरुष को त्याग-प्रधान बना देती है। त्याग-पालन की प्रक्रिया ठोस हो चुकी, उसमें अब कोई अपूर्णता नहीं है। जिसका संकेत- 'मत्स्य ठसाठस तालाब के कोने-कोने में भर गया।' से मिलता है।

प्रयोगात्मक प्रवेश से मनस्थल में ज्ञान का प्रस्फुटन हो जाता है। 'ज्ञान गंगा नहा ले प्यारे मना!' मनु के सहयोग से अर्थात् मन के पूरे सहयोग से, बिना 'लीकेज' यह मत्स्यरूपी मनोवृत्ति ज्ञान में प्रवाहित हो जाती है और ज्ञान की व्यापकता के साथ क्षीरसागर में प्रविष्ट हो उसी का रूप ले लेती है। यह क्षीरसागर ईश्वर का विहार, निवास-स्थान है। याद रखें, इधर संसार-सागर है, उधर क्षीरसागर ईश्वर का स्वरूप ही है। संसार-सागर का तो पैमाना है; किन्तु ईश्वरमय सागर का नहीं, वह तो अनन्त है। ईश्वर के निवास की व्यापक उपलब्धि में मनोवृत्ति भी पूर्णता को प्राप्त कर अचल हो जाती है। इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति उस सागर के संयोग से ईश्वरमयता की लहरों में परिवर्तित हो जाती है, जिसमें तीनों लोकों का सामान्य आधार एवं प्रसारण केन्द्र पृथ्वी डूब जाती है। अर्थात् संस्कारों के अंकुरण की हृदयस्थली डूब जाती है।

मत्स्य के कृपा-प्रसाद प्रेरणा से उपलब्ध नाव में सप्तर्षियों को बैठाकर मनु स्वयं बैठ गये। क्रमशः सातों भूमिकाओं में ऋषित्व की उपलब्धि ही सप्तर्षि है। योग-चिन्तन की सातों भूमिकाओं में ऋषित्व प्राप्त करनेवाला पुरुष ही नियम की कसौटी पर चढ़ता है। नियम ही नौका है। शुभाशुभ का अन्त करनेवाले इस नियम पर चलना तथा योग की सातों अतिसूक्ष्म भूमिकाओं में ऋषित्व प्राप्त करना 'उर प्रेरक' उन प्रभु की देन है। मन की इष्ट चिन्तनमयी प्रवृत्ति में प्रेरक के स्थान में स्वयं भगवान ही अवतरित होकर

खड़े हैं। भजन कोई लाख करे; किन्तु जब तक परमात्मा इष्टमयी प्रवृत्ति का संचालन नहीं करता तथा अपनी स्थितियों में ढालने नहीं लगता तब तक उस ब्रह्म को समझा नहीं जा सकता। अर्थात् मानसिक प्रवृत्तियों में सर्वत्र प्रेरक के रूप में इष्ट का अवतरित होना अनिवार्य है तथा वही मत्स्य है। मानसिक प्रवृत्ति का प्रतीक वह मत्स्य परमात्मस्वरूप में संचालित है, इसलिए अवतार कहलाता है।

प्रेरक के रूप में अवतरित वह प्रभु किसी अनुरागी को लेकर चलता है, तो हजारों मानसिक प्रवृत्तियों में जो रस-सञ्चार है, जब तक उसका अंत नहीं हो जाता तब तक वह चलता है। यात्राकाल में वह इष्ट मत्स्य निरन्तर ब्रह्म का उपदेश देता गया अर्थात् वह इष्ट ही अनुरागी को बराबर उपदेश देते जाते हैं, तभी समझ में आता है- वही यथार्थ उपदेश है। प्रायः श्री महाराजजी इसी पर बल दिया करते- ''हो! भगवान पढ़ाया करत हैं, मोके भगवान पढ़ावत हैं, तोहूँ के पढ़इहैं।'' अर्थात् अपनी स्थिति समझाया करते हैं। मानसिक हजारों प्रवृत्तियों का अंत करके उस आराध्य ने उस नाव को हिमालय की चोटी पर बँधवा दिया अर्थात् मानसिक शुभाशुभ में संचारित सम्पूर्ण प्रवृत्तियों की यात्रा पार कर लेने पर जो अचल, शाश्वत ब्रह्म है उसी के अंक में आकर बँध जाते हैं। हिमालय ब्रह्म का द्योतक है। इस हिमालय को अचल देखकर ब्रह्म को वास्तविक अचलता की ओर इंगित किया गया है। हिमालय शान्त और शीतल ब्रह्म का प्रतीक है। सर्वत्र ब्रह्ममयता तो आयी थी, दिखाई देती थी; किन्तु देखनेवाला वह साधक अलग खड़ा है, इसलिए विलीनता की अन्तिम स्थिति हिमालय का अन्तिम स्पर्श और उसमें बँध जाना है। हिमालय अचल, शान्त, शीतल एवं स्थिर कोई सत्ता है जिसे ब्रह्म कहकर सम्बोधित किया गया है- उसमें पूर्ण विलय होना है। वास्तव में उस अचल ब्रह्म में पूर्ण स्थिति बन जाने पर अर्थात् उसमें समाहित हो जाने पर वह प्रेरक भी अदृश्य हो जाता है, कारण कि अब कोई भिन्न सत्ता है ही नहीं, इसलिए किसे प्रेरणा दे?

सुरसरि मिलें सो पावन जैसें। ईस अनीसहि अन्तरु तैसें।।

(मानस, १/६९/२)

इस एकत्व में द्रष्टा भी विलग नहीं रह गया, इसलिए वह प्रलयकालीन दृश्य भी समाप्त हो गया। याद रखें, ब्रह्ममयता ही जड़-चेतन सहित सम्पूर्ण सृष्टि को नष्ट करनेवाला महाप्रलय है। ब्रह्म में स्थित होने के बाद सृष्टि और ब्रह्म दोनों नहीं रहते। वह कैवल्यस्वरूप महापुरुष ही मात्र शेष है, जिसमें -

'ईश्वर ब्रह्म जीव अरू माया, फूँक दिए संसार।'
'बिना ईंधन के परकासी।....' *(बारहमासी)*

जिसमें वह स्वयं प्रकाश स्वरूप और प्रकाशक है। ऐसे महापुरुष के पास सृष्टि के कल्याणकारी बीज रहते हैं, जो परमकल्याण करनेवाले हैं- पतन के बीज उनके पास नहीं रहते। कल्याण का विधान सदैव इस परम की स्थितिवाले पूर्ण सद्गुरुओं से सम्भव होता आया है, जिसका प्रतिपादन इस कथानक में है। हिमालय में बँध जाने के बाद अर्थात् अन्तिम स्थिति में मनु महाराज ने कल्याणकारी निर्दोष बीजों को फैलाया- ऐसी ही मान्यता है। जो स्वयं ही कल्याण स्वरूप में स्थित है अपना कल्याण कर लिया है, वही अन्य पुरुषों का कल्याण-सम्पादन कर सकता है।

***नोट** - १. इस कार्य के प्रवृत्तिकाल में मनु का नाम सत्यव्रत हो गया था। कारण कि मन की असत्य एवं सत्य दोनों प्रवृत्तियाँ मन के अन्तराल में हैं; किन्तु साधक जब इष्ट की ओर बढ़ने लगता है तब उसकी असत्य प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं और सत्यव्रत की प्रवृत्तियाँ सबल हो जाती हैं।*

२. नियम ही नौका है, जो सुरति की रस्सी तथा श्वासों के तारों से इष्टमयी मनोवृत्ति (मत्स्य) में बँधी है। ऐसी प्रवृत्ति के अन्तराल में इष्ट स्वयं अवतरित होकर गतिमान प्रवाह प्रदान करता है, इसलिए अवतार है। यह अवतार का निम्नतम स्वरूप है - आरम्भ का बिन्दु- जिसमें संचालित होकर अवतार को पूर्णत्व मिलेगा। जब कभी किसी ने पाया तो इसी रूप में पाया।

***३. अवतार** - वास्तव में परमकल्याणकारी मनोवृत्ति तब समझी जाती है जब ईश्वर का अवतार हो जाये।*

'तुलसिदास (मन) बस होइ तबहि, जब प्रेरक प्रभु बरजै।'

(विनय०, पद ८९)

भजन कोई लाख करे, वह कल्याणकारी भजन होता नहीं; जब तक कि उस प्रभु का आविर्भाव नहीं हो जाता। उस प्रेरक से संचालित होने के साथ-साथ अनुरागी पथिक की गति सबसे तेज और सबसे पहले पहुँचनेवाली, सीधे लक्ष्य पर पहुँचनेवाली हो जाती है जिसकी मान्यता सदैव रही है। हम सब के लिए आज भी विद्यमान है।

।। ॐ ।।

वराह अवतार

हिरण्याक्ष – प्राचीन वैदिक भाषा में हिरण्य कहते हैं सूक्ष्म शरीर को। ब्रह्मा से लेकर यावन्मात्र जगत् हिरण्यगर्भ कहलाता है। इसमें जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की 'रील' है, जो कि मन के अन्तराल में स्थित संसार है। **'तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै।'** *(विनय०, पद १२४)*– तुलसीदासजी कहते हैं कि चित्त का विलास ही जगत् है। अक्ष कहते हैं दृष्टि को; इस प्रकार संसारमयी दृष्टि ही हिरण्याक्ष है। यही समस्त माया का मूल, आसुरी प्रवृत्तियों का उद्गम है इसीलिए हिरण्याक्ष राक्षस है, जिसने इस शरीररूपी पृथ्वी को मल-मूत्र, रक्त-मवाद से संयुक्त चराचर में स्थित इन गर्भवास की योनियों में फेंक रखा है। इस जीवात्मा का दुर्गन्धपूरित पतन-कुण्ड से तब तक उद्धार नहीं होता, जब तक उस ब्रह्म का पथ प्रशस्त नहीं होता। इसलिए पूर्व महापुरुषों द्वारा समझाये गये कई तरीकों में से एक तरीका प्रस्तुत है- वराह अवतार।

वराह – 'व' का अर्थ है वह परमात्मा और 'राह' का अर्थ होता है रास्ता। ब्रह्म की राह ही वराह है। वह भगवान जब तक हमारी साधना में नहीं उतर आते, तब तक उस ब्रह्म में स्थितिवाले पथ एवं भजन आरम्भ नहीं होता। पूज्य परमहंस महाराजजी का उपदेश है- ''जहाँ साधक खड़ा है, वहीं पर जब तक वह प्रभु द्रवित होकर उतर नहीं आता, मन को पकड़कर नियन्त्रित नहीं करता, तब तक भजन (ब्रह्म-पथ) का आरम्भ ही नहीं होता। भजन भगवान कराते हैं।'' क्रमशः चलकर अपने अनुरूप खड़ा कर देते हैं, जहाँ पर मल-मूत्र आवरण नहीं होता। मल-मूत्रवेष्ठित यह शरीर तथा अनन्त योनि-खानि प्रकृति पुरुषत्व में विलीन हो जाती है- जिसे स्पष्ट किया गया है कि वराह ने उस मल-मूत्र, रक्तपूरित योनियों में विस्तृत प्रकृति को उदरस्थ कर लिया और केवल निर्मल प्रकाश के विकसित होते ही अन्तर्धान हो गया। वह परमात्मा साधना में ढलकर सर्वरूपेण 'लगने' और आज्ञापालन में तत्पर भाविक को बराबर अपने में ही समाहित करते रहते हैं। जिस क्षण भाविक पूर्णतया समाहित हो जाता है, ठीक उसी क्षण उस निरुद्ध चित्त में परमात्मा- सनातन कहलानेवाला परंब्रह्म विकसित हो जाता है। यह जीवात्मा परमात्मा ही हो जाता है। प्राप्त होने योग्य कोई परमात्मा लेशमात्र शेष नहीं रहता, न स्वयं में लेशमात्र की कमी है। उसे सनातन, शाश्वत, सर्वत्र व्यापक, अजर, अमर, अपरिवर्तनशील सत्ता ही प्राप्त होती है, इस प्रकार वह शाश्वत सत्ता पूर्ण प्रत्यक्ष हो जाती है, इसलिये यह अवतार और अवतार का उपाय है। श्रद्धालु, विरह-वैराग्य से युक्त और सद्गुरु कृपाश्रयी प्रत्येक मानव के लिए अवतार का विधान है।

नोट *– प्राप्ति के बाद वह भिन्न नहीं है- स्वयं में प्रविष्ट है।* **'कै जाने जिउ आपना कै रे जानै पीव'-** *या तो वह जानता है जिसमें यह जागृति आयी और दूसरा भगवान। वह जानता अवश्य है किन्तु दिखा नहीं सकता। यह स्थिति अनुभवगम्य है। वह अनिर्वचनीय और अलख है। जिसे अपनाता है उसे अपनाकर अन्तर्धान हो जाता है।* **'सो केवल भगतन हित लागी।'** ***(मानस, १/१२/५)*** *होता है।*

प्रयत्न जारी रहे। सफलता सदैव सम्भव है। इसमें यह सुविधा भी है कि थोड़ा-सा भी साधन अनेक जन्म चलकर परमकल्याण में स्थित करता है। जो चलता रहता है वही अवश्य पहुँचता है।

।। ॐ ।।

नरसिंह अवतार

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। *(गीता, ४/९)*

अर्जुन! मेरा जन्म, कर्म अलौकिक है। लौकिक का मतलब पिण्डरूप में आना- जो चर्मचक्षुओं से देखा जा सके, बुद्धि से समझा जा सके। अलौकिक का मतलब जो इन मन-बुद्धि से न देखा और न जाना जा सके। तत्त्वदर्शी महात्मा ही उसे देख पाता है। जो वास्तव में देख लेता है वह शरीर को त्यागकर पुनः आवागमन में नहीं आता है। वह मुझे (भगवान को) प्राप्त हो जाता है। तब तो जो लोग दृष्टि गड़ाए खड़े हैं कि अवतार होगा तो देखेंगे, वे बड़ी भूल में हैं। कारण कि करोड़ों में एक के तत्त्वदर्शी होने का विधान है।

नरसिंह अवतार- 'नर'- यह मरणधर्मा मानव किस तरह स्वयं की उपलब्धि अर्थात् परब्रह्म के साथ ही हिरण्यगर्भ एवं काल को काटकर अदृश्य सत्स्वरूप सिंह हो जाता है, जो प्रकृति के जंगलों में सर्वत्र अभय है और शरणागत, दैवी सम्पद् से संचालित पुरुषों का अभयदाता है। प्रेम के द्वारा ऐसा होता है। इसी का रूपक यह प्राचीन कथानक है। यह अलख पुरुष के उपलब्धि का माध्यम है, इसलिए मनीषियों के द्वारा इसे अवतार कहा गया है। इसमें कहीं-कहीं नर का नारायण से वास्तविक सम्बन्ध होता है, अतः नर-नारायण संज्ञा भी दी गयी है। उसी कथानक की यहाँ पर नर से सिंह की सत्ता धारण से संज्ञा दी गई है।

प्रेम ही प्रह्लाद है। हिरण्याकुश - हिरण्य अंकुश। हिरण्यगर्भ कहते हैं ब्रह्मा की समूची सृष्टि अर्थात् चराचर जगत् को, अंकुश कहते हैं उस सृष्टि-क्रम के शूल को, जिसमें जन्म-मरण की असहनीय यातनाएँ हैं। इसी को दूसरे शब्दों में हम काल-क्रम कहते हैं। यह हिरण्यगर्भ का अंकुश (शूल) सदैव प्रकृति में ही विश्वास दिलाता है। यही भगवत् तत्त्वों से विमुख किया करता है। हिरण्यगर्भा अर्थात् ब्रह्मा के प्रपंच के साथ उत्पन्न अविद्या होलिका है, जो निरन्तर विषयाग्नि में गोता लगाती है। स्वयं तो अपने रूप को विषय-स्पर्श के साथ-साथ पुष्ट करती है और प्रभु पर विश्वास करनेवाले जीवों को जलाया करती है। इसी विधि-प्रपंच हिरण्यगर्भ में दैवी प्रवृत्ति भी है। देवर्षि नारद (कल्याण-पथ प्रशस्त करनेवाले सद्गुरु) के उपदेश से हिरण्याकुश द्वारा शासित दैवी प्रवृत्ति में प्रेम का प्रस्फुटन हुआ। प्रेम ही प्रह्लाद है। प्रेम के जागृत होते ही यह हिरण्य अंकुश काल-क्रम का बाधक बन खण्ड-खण्ड हो जाता है। **'गृह कारज नाना जंजाला।**

ते अति दुर्गम सैल बिसाला।।' *(मानस, १/३७/८)*- मोहयुक्त स्वजनों का जो जाल होता है, वही द्वैत का विशाल आवरण पैदा करता है। यही दुर्गम शैल है। हिरण्याकुश (काल-क्रम का बन्धन) इसी पर्वत से गिराता है। आज आप भजन शुरू करें, तो कल विघ्न ही विघ्न। उस चपेट में पड़कर प्रेम की डोरी टूट जाती है। सागर में फेंकता है- संसार ही सागर है, अतः संसृति के अथाह सागर में फेंकता है। अपनी बहन द्वारा बरबस पकड़वाकर अग्नि में रख छोड़ता है। होलिका अविद्या का प्रतीक है। एक ही अन्तःकरण में अविद्या व प्रेम का प्रसार है, इससे यह सदैव प्रेमी को पथ से अलग कर जलाया करती है। अविद्या बहुत पुरानी और प्रेम सत्पुरुषों के संसर्ग से नवीन प्रस्फुटन है।

यह अविद्या विषयाग्नि में प्रेम को समेट लेती है; किन्तु इष्ट के संरक्षण में प्रेम का सूत्रपात है तो अविद्या स्वतः जल जाती है; क्योंकि वास्तविक प्रेम जहाँ रहता है वहाँ अविद्याजन्य कृत्यों में आसक्ति नहीं। हाथियों से कुचलवाया जाता है- 'मन मतंग माने नहीं।' मन जब काम वासनाओं से युक्त होता है तो मदान्ध हाथी की तरह दुर्जय हो जाता है, असमंजस में डाल देता है जिसके मूल में वही हिरण्याकुश, हिरण्य अंकुरण है। मन में प्रस्फुटित होकर दुर्जय काम की चपेट में डालता है; किन्तु प्रेम के इष्ट का वरदहस्त भी है तो वह पार हो जाता है। अन्त में माया स्वयं खड़ी हो जाती है। जब ग्रन्थि छूटने का समय आता है तब माया विकराल रूप धारण करके खड़ी हो जाया करती है।

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।।

(मानस, ७/११७/६)

स्तम्भ प्रज्वलित है और बिल्कुल बारीक बाल-चींटी स्तम्भारूढ़ है। मार डालने की इच्छा से निशाचर अब भी खड़ा है। स्थिर श्वास ही स्तम्भ है। प्रेम से संचालित स्वर इष्ट के रूप में स्थायित्व प्राप्त कर लेता है, तब यही स्थायित्व स्तम्भ कहलाता है और चित्त नादान चींटी की तरह पूर्णतया विलीन की स्थितिकाल में सर्वदा सूक्ष्म हो जाता है। उस समय वही श्वासारूढ़ कहलाता है। स्तम्भारूढ़ अग्नि दो प्रकार की होती है- विषयाग्नि और ज्ञानाग्नि। **'ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणम्'** *(गीता)*- ज्ञानाग्नि ईश्वर में प्रवेश दिलाती है, कल्याण करती है और विषयाग्नि जलाती तथा ईश्वर से विमुख माया में उलझाती है। जिस समय यह चित्तरूपी चींटी स्थिर श्वास की स्थिति प्राप्त कर लेती है और स्वर योगाग्नि से प्रज्वलित हो जाता है, तत्क्षण वह परमात्मा जैसा है, जिन अलौकिक विभूतियों से युक्त है, प्रकट हो जाता है। उस परमात्म-स्वरूप के प्रकट होते ही आसुरी प्रवृत्तियों का मूल उद्गम हिरण्य अंकुशकाल की फाँस का क्रम ही टूट जाता है।

हिरण्याकुश का मारा जाना इसी ओर संकेत करता है। इसी उपलब्धि को अवतार कहते हैं। श्वास के स्थितिकाल में जीवात्मा स्व-स्वरूप पाकर सिंह हो जाता है। कालक्रम व आसुरी प्रवृत्तियों में पीसनेवाला दुर्बल जीव प्रेम के द्वारा पूर्णत्व की मंजिल पाकर पूर्णतया हिरण्यगर्भ काल के क्रम को काटकर शाश्वत स्वरूप- जो सबको संरक्षण देनेवाला है उससे पूरित हो जाता है। यह अदृश्य सत्ता को प्रकट करने की युक्ति है; जिसमें हिरण्याकुश- ब्रह्मा की महद् योनियों में नियोजित शूल अर्थात् काल का क्रम अवतार हेतु, उत्प्रेरक है। प्रेम द्वारा अवतार की स्थिति उत्पन्न होती है। भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने विभिन्न समयों में वातावरण, स्थिति एवं परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपक प्रस्तुत किया है।

'नाद रंध्रः सः नारदः'- नारद एक सद्गुरु हैं। नादरंध्र की स्थितिवाले किसी महापुरुष की प्राप्ति करें और अपने हृदय में स्थित दैवी प्रवृत्ति (दैवी सम्पत्ति) को बलवती करें जिससे निर्दोष प्रेम उत्पन्न हो जाय। विरह-वैराग्य के उत्पत्तिकाल में आप उस सिंह-स्वरूप का पथ पकड़ सकते हैं। स्वर का प्रवाह ज्ञानाग्नि से ओतप्रोत, स्थिर हो जाय, चित्त के ऐसे पूर्ण निरोधकाल में दर्शन निश्चित है। यह स्थिति सदैव रहनेवाली है। योग्यता से सभी कालों में सम्भव है। बाह्य पिण्डों में अवतार न तो कभी हुआ था, न आज है। ऐसा कोई उल्लेख शास्त्रों में भी नहीं मिलता।

।। ॐ।।

अजामिल उद्धार

यह आत्मा का उद्धार है, जिसे महापुरुषों ने प्रत्येक मानव के लिए उपयोगी एक कथानक का रूप दिया है। कालान्तर में भाषा, रहन-सहन एवं प्रवृत्तियों के परिवर्तित हो जाने से पूर्व कथानक धुँधले, विवाद के विषय बन जाते हैं। इन विषम परिस्थितियों में महापुरुषों को नवीन रूप देकर समझाना पड़ता है, जबकि उद्देश्य एक ही है। अब आपके सामने आत्मकल्याण की युक्ति समझने योग्य एक प्राचीन कथानक है- अजामिल उद्धार। अज-अमल अर्थात् अजर-अमर निर्दोष आत्मा ही अजामिल है। 'गो' नाम इन्द्रिय-समुदाय का है, जो सम्पूर्ण वासनाओं का भार वहन करती हैं। 'खाद्य अखाद्यहि खाई'- जो करने योग्य और न करने योग्य सब करती हैं और अपना-अपना विषय ढूँढ़ती हैं। ये इन्द्रियाँ ही गणिका हैं। ये इन्द्रियाँ दस-ग्यारह भागों में विभक्त हैं लेकिन सब मिलाकर विषय वासना के संग्रह में एक से संचालित हैं। मन ही सबका मूल है और यही भोग करता है। यह अजर-अमर निर्दोष आत्मा इस गणिका (गो) के अधीन है। लवरूपी लड़का हुआ। एक महापुरुष नारद, नाद रंध्र की स्थितिवाले महापुरुष ने उपदेश दिया और उस परम कल्याणमय नारायण के प्रति लगन जागृत हो गयी।

यह इन्द्रिय-समुदाय (गणिका) माया मानव का भार वहन करनेवाली भी विषयों से सिमटकर मन में जो सुरत है इस सुरतिरूपी सुग्गे को 'नारायण' पढ़ाने लगती हैं। ये इन्द्रियाँ भी भजन में सहयोग देने लगती हैं। फिर भी इष्ट-प्राप्ति में यदि एक सूत की भी दूरी है, तो गणिका साथ रहकर भी भुलावे में डालती रहती है। दीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप मन का मृत्युकाल आ गया और सुरति एवं नारायण शब्द तद्रूप हो गये। इस मन के विलीनीकरण का समय ही मानव की वास्तविक मृत्यु है। **'मन आपै ही जगत बना के ऊँच नीच तन पाया'**- वास्तव में मन ही जगत् का निर्माता है। मन पर विजय प्राप्त किये बिना जगत् से किसी ने छुटकारा नहीं पाया। जब समस्त वासनाओं को भुलाकर मन से सुरत की डोरी नारायण से लग जाती है तब तुरन्त यमराज का बन्धन कट जाता है और जो विश्व का भरण-पोषण करनेवाला परमात्मा है उसके कल्याणकारी सूत्रों में बँधकर कल्याणस्वरूप हो जाता है। विष्णु के दूत का आना और ले जाना यही इंगित करता है। प्रत्येक मानव की यही दशा है जो पल-पल त्राण चाहता है। उसके लिए यह साधन-क्रम में बदलकर सहायक हो जाता है और कल्याण के लिए समयानुकूल, अवस्था के अनुसार उपयोगी एवं पर्याप्त पथ है।

।। ॐ।।

गजराज का उद्धार

मन मतंग मानै नहीं, जब लगि खता न खाय।
जैसे विधवा नारि कोउ, गर्भ रहे पछताय।।

महापुरुषों ने मन को कामनाओं में लिप्त, पशुवत् आचरण में प्रवृत्त, महान् उन्मादी एवं कठिनता से वश में होनेवाला देखकर एक मदमत्त हाथी की संज्ञा दी है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है-

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई।।

(मानस, १/३४/८)

मनरूपी हाथी निरन्तर विषयानल में जलता रहता है, यदि ब्रह्मरस से पूरित भक्ति के सर में पड़ जाय तो सुखी हो जाय। यह मदान्ध मन ही पुरुष के अन्तराल में हाथी है जो भवाटवी में पड़ा हुआ है, संसार-सागर में पड़ा हुआ है, प्रार्थना कर रहा है। असहनीय पीड़ा का रूप प्रत्यक्ष हो गया है, अब गज छुटकारा चाहता है। वह नाम-जप जानता है अतः नाम में रत है। यदि मान लिया जाय कि वह पशु था, तब तो योगेश्वर श्रीकृष्ण और गोस्वामी तुलसीदास इत्यादि सम्पूर्ण महात्माओं की वाणी ही गलत हो जायेगी। **'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'** *(गीता, ५/२)*- योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार मनुष्य योनि में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली अहंता और ममतारूपी जड़ें नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हैं। शेष सब योनियाँ केवल भोग भोगने की हैं। पशु इत्यादि योनियाँ पूर्ण निवृत्ति का भाजन नहीं होतीं। गोस्वामीजी ने कहा है -

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।

(मानस, ७/४३/७)

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।

(मानस, ७/४२/७-८)

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ।। *(मानस, ७/४३)*

इस प्रकार मानव-तन ही साधन के लिए उपयुक्त है।

मनुज देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह सिय पी के। *(विनय०, पद १७५)*

मनुष्य देह की सुर-साधु सराहना करते हैं; क्योंकि कल्याणकारी प्रभु के चरणों में प्रेम इसी तन में सम्भव है। गिद्धराज, काकभुशुण्डि, वानर हनुमान, भालू जामवन्त यह सभी सन्तों के नाम हैं। इन अनन्य भक्तों ने भजन की पूर्ति या रक्षा के लिए कुवेष बना रखा था-

किएहुँ कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवन्त हनुमानू।।

(मानस, १/६/७)

ये सन्त भक्ति की रक्षा के लिए ही वेश बनाकर रहते थे, पशु नहीं थे।

मगरमच्छ काल का प्रतीक है। संसार का स्वरूप दर्शाते हुए गोस्वामीजी कहते हैं-

रबिकर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं।।

(विनय०, पद १११)

संसार मृगतृष्णा का सागर है, जिसमें एक मगर रहता है। उस मगर का शरीर नहीं है फिर भी चराचर को ग्रसे हुए है। काल ही मगर है, जिसने चराचर को परोसी थाली बनाकर अनवरत ग्रसने का कार्य प्रारम्भ किया है। संसार-सागर के तल में फँसा एवं मगर से स्वाभाविक ग्रसा हुआ मन जब तक अपनी शक्ति से लड़ता है तब तक काल का बन्धन कटता नहीं; किन्तु जब वह मन-वचन-कर्म से अपने बल का भरोसा खोकर एक ईश्वर पर निर्भर हो जाता है और चिन्तन की पकड़, स्थिति का एक नाम मात्र शेष रह जाती है, मन नाम में समाहित हो जाता है, इस निरोध के साथ ही परमात्मा स्वयं उतर आते हैं और सर्वत्र प्रसारित उस मगर, काल का अन्त कर ऐसे भक्त का उद्धार कर देते हैं। इस भव-सरिता में बहते हुए मानव का वास्तव में यही इलाज है जो सृष्टि से उद्धार की सदैव प्रयोगात्मक विधि-विशेष एवं मानव के लिए सदैव कल्याण का प्रशस्त पथ है। सृष्टि में उत्पन्न पुरुष की मनःस्थिति उपर्युक्त परिवेश में गज की तरह होती है तथा त्राण पाने के लिए छटपटाहटें भी इसी तरह ही होंगी। मोक्ष भी प्रभु-दर्शन के साथ सम्भव है।

इस संघर्ष में एक विशेषता यह भी थी कि सहस्र वर्षपर्यन्त मन (गज) स्वयं लड़ा और अन्त में उसने प्रभु को पुकारा। वह जीवित कैसे था? पानी में चारा कहाँ से मिला?

वास्तव में यह मन के निरोध की एक युक्ति है। चित्त सहस्रों प्रवृत्तियों में प्रवाहित है, कोई न कोई ऊधम करता रहता है। ज्योंही हजारों प्रवृत्तियों का निरोध हुआ, चित्त एक चिन्तन में समाहित एवं तद्रूप होकर मिट गया, त्योंही विष्णु- विश्व में अणु सत्ता परमात्मा प्रकट होकर बन्धन काटकर समाहित कर लेता है, यही उद्धार है। प्रभु सर्वस्व का हरण कर अपने स्वरूप की स्थिति प्रदान कर देते हैं इसलिए उन अवतारों में से एक यह भी 'हरि' अवतार है।

।। ॐ।।

ॐ

अवतार का विशद् दर्शन

१– महापुरुष

योगी अवतार का प्रवेश है एवं मात्र योगी ही अवतार-विशेष का प्राकट्य तथा प्रशस्ति का मूल माध्यम होता है। अधिकारी के लिए परमात्मा से निःसृत अलौकिक अवतरण का आरम्भ इन्हीं महापुरुषों से होता आया है। परम के दिग्दर्शनवाले उन तपोधन सद्गुरुओं से संचालित होता हुआ, साधन-क्रम से सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ जब तक सबके मूलभूत परमात्म-स्वरूप में समाहित नहीं हो जाता, तब तक योगी माध्यम रहता है। वस्तुतः एकमात्र योगी अवतार का प्रवेश एवं विशद् परमात्मा की रश्मियों का संचार है। यदि महापुरुष का अन्तःसंयोग न हो, तो भगवान तथा अवतार नाम की किसी वस्तु का सृजन एवं स्रष्टा असम्भव है।

भगवान कभी नष्ट नहीं होते। वे तो सबकी जीवनधारा में व्यवस्थित एवं अपरिवर्तनशील सत्ता हैं जो कभी नष्ट नहीं होते। उनकी विद्यमानता तो सदैव एवं सर्वत्र है; किन्तु मनुष्य के उपभोग के लिये नहीं। परमात्मा एवं उनसे निःसृत वाणी के प्रसारण के एकमात्र माध्यम तत्त्वस्थित महापुरुष हैं। ब्रह्ममय ऐसे महापुरुष यद्यपि अवतार के कार्यक्षेत्र की पकड़ से सर्वथा निष्काम एवं परे होते हैं, तथापि अन्य (नर) पुरुषों के अन्तःकरण में अवतार का अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण कल्याण-सृजन करने के लिए पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं।

इस सन्दर्भ में कबीर के जीवन-वृत्त से एक उदाहरण प्रस्तुत है - एक समय कबीर की भक्ति-भावना एवं हृदय-वेदना से उत्प्रेरित होकर गुरु और गोविन्द दोनों उनके समक्ष प्रकट हो गये (यह योग की पराकाष्ठा है)। कुछ समय के लिए कबीर विचाराधीन हुए कि नमन किसे करूँ?

बलिहारी गुरुदेव की, जिन गोविन्द दियो लखाय।

ऐसा विचार कर पहले उन्होंने स्वयं को गुरुदेव पर अर्पित किया; क्योंकि उन्हीं के प्रसाद से परब्रह्म का दिग्दर्शन सम्भव हुआ और कबीर तत्क्षण उसी रूप में प्रवेश पा गये।

तहाँ न ईश्वर जीव न माया, पूजक पूज्य न चेरो।

वहाँ न ईश्वर है, न जीव है और न माया ही है। वहाँ न कोई पूजने योग्य है और न छुट-पुट टहल करनेवाला चेला ही है। तब बचा क्या? **'अवधू बेगम देश है मेरा।'**– वह अगम्य और अथाह है। वही तो मेरा स्वरूप तथा देश है।

ऐसे निर्लेप उपलब्धिवाले महापुरुष उस परम चेतनात्मा की उपलब्धि का सूत्रपात करते हैं, जो अवतार के परिवेश में आता है। उनके द्वारा उत्पन्न होनेवाली परमात्मा की पावन संचालिका शक्ति का नाम अवतार है। वे महापुरुष साधक के अन्तर्जगत् में परमात्मा की पावन शक्तियों का संचार उत्तरोत्तर विकसित करते हुए, सर्वत्र ब्रह्ममयता प्रदान करते हुए, उसका अस्तित्व मिटाकर अन्तर्धान हो जाते हैं, फिर तो वह योगी साधक नहीं रह जाता, अपितु मानवमात्र में उसे एक स्वरूप, शाश्वत सत्ता, प्रभु का ही प्रतिरूप दृष्टिगोचर होता है। इसी स्थिति-विशेष के सन्त कबीर हुए हैं।

(ऐसे महापुरुष शरीर को इच्छानुरूप चलानेवाले होते हैं, जैसा कि काकभुशुण्डि, कबीर, श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि महात्माओं के जीवन से प्रमाणित है। योग-विशेष की पराकाष्ठावाले प्रत्येक महापुरुष का यही स्वरूप है।)

महाप्रलय में भी जिनका नाश नहीं होता, उन काकभुशुण्डिजी ने गरुड़ का सन्देह निवारण करते हुए कहा कि 'शरीर का त्याग अथवा बनाये रखना मेरी इच्छा पर निर्भर करता है।'- **'तजउँ न तन निज इच्छा मरना। तन बिनु बेद भजन नहिं बरना।।'** *(मानस, ७/६५/५)*

अनुसुइया आश्रम स्थित परमपूज्य श्री परमहंसजी महाराज सत्संग में इस प्रसंग के आ जाने पर प्रायः कहा करें- ''हो ! अब मोके मरै का नहीं है। यमराज एवं माया के बन्धन टूट गये, काल की फाँसी कट गई। भगवान मोके निवृत्ति दिए हैं। हाँ, कोई गोली मार देई तो सरीरिया त्याग करि देइहौं।'' वाणी की चोट सबसे बड़ी चोट है। साधकों के मुख से वाणी निकल जाने पर मैं समझ लूँगा कि अब इन्हें मेरी आवश्यकता नहीं है, तब शरीर त्याग दूँगा।

अन्त में मेरे ही द्वारा लापरवाही से निकले शब्दों को माध्यम बनाकर दो-चार बार उन्होंने दुहराया कि ''बोलिया का है, गोली के समान लागत है। मैं कैसे बताऊँ, छेदत चली जात है।''- ऐसा कहकर हँसने लगे और मौन हो गये तथा उपदेश करने लगे। चार दिवसीय अनवरत सत्संग में सम्पूर्ण साधनपरायण पथिकों को सम्बोधित कर इस साधनीय उक्ति पर बल दिया कि-

राम राम राम जीह जौलौं तू न जपिहै।
तौलौं, तूँ कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै।। *(विनय०, पद ६८)*

जब तक राम का नाम जीह यानि जिह्वा से तुम लोग नहीं जपोगे, तब तक कहीं भी चले जाओगे तो भी ये ताप पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। भान होगा कि यह इन्द्र हैं ऊपर बैठे हैं, मैं नीचे बैठा हूँ। इस प्रकार मन में ताप बना रहेगा। इसलिये सतत् जाप करो और श्वास पर दृष्टि रखो, और ठीक पाँचवें दिन समाधि की मुद्रा में पंचतत्त्व से निर्मित इस पार्थिव शरीर का परित्याग कर दिया। ।। ॐ।।

२- श्रीकृष्ण-परिचय

महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भी इसी स्थिति से संयुक्त एक महापुरुष हैं। उन्होंने स्वयं अपना परिचय योगामृत प्रसारिणी वाणी 'गीता'शास्त्र में दिया है, जिसका तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण एक योगप्रदाता महापुरुष हैं। महर्षि व्यास ने भी इसका समर्थन मुक्तकण्ठ से यथार्थतः परम पुरुष के परिवेश में किया है; किन्तु सूर, चैतन्य, जयदेव इत्यादि बहुत से रसिक भक्तों एवं कवियों ने विभिन्न भाषा तथा भावों में योगेश्वर श्रीकृष्ण के पावन चरित्र को उद्धृत करते हुए भगवत्ता की पुष्टि की है। योगक्रिया की जागृति से प्रत्येक साधक ने उन महान् ऐश्वर्यसम्पन्न पुरुषों को इसी परिवेश में पाया है। उन्हें परात्पर ब्रह्म, परमात्मा का किंवा अवतार कहा है। वैसे यथार्थतः सत्य वही है, जो योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी से निःसृत है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के पावन मुख से प्रसारित एवं निःसृत वाणी गीता से विदित होता है कि वे आत्मस्थित महापुरुष हैं। भक्त अर्जुन का कल्याण-सम्पादन करते हुए उन्होंने अपनी शाश्वत वाणी से अनेक भ्रान्तियों का निवारण किया, जैसे- सनातन, शाश्वत, अजर, अमर, आत्मा तथा परमात्मा का भेद और स्थिति, वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णसंकर का स्वरूप, कर्म तथा अकर्म, ज्ञानमार्ग तथा योगमार्ग के कर्म का विश्लेषण, मानव के दो रूप, यज्ञ तथा कर्म की अभिन्न प्रणाली इत्यादि। इसके साथ ही उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप से भी अवगत कराया कि हे अर्जुन! मैं भी एक महापुरुष के समान अवस्था-विशेषवाला हूँ। परमात्म-तत्त्वमयी स्थितिवाले महापुरुष की विशेषताओं (जैसे आत्मा में ही तृप्त अभिन्न तथा परिपूर्ण पावनता) से तुलना करते हुए स्पष्ट शैली में बताया कि मैं एक महापुरुष हूँ- जैसा कि गीता के अध्याय ३ में श्लोक १६ से २३ तक (क्रियात्मक तथा बोधगम्य शैली में हृदयंगम करें) द्रष्टव्य है-

''जो पुरुष मेरे द्वारा निर्धारित किए हुए यज्ञ-कर्म को नहीं करता, वह पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है; किन्तु जो पुरुष आत्मा से परिपूर्ण, सन्तुष्ट तथा तृप्त है और आत्मरत है, उसके लिए कभी कर्मों की आवश्यकता नहीं है। उस पुरुष द्वारा इस कर्म-विशेष के किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है। किन्तु इस आत्मवत् स्थिति-विशेष को बिना कर्म किये कोई नहीं पाता। जनक इत्यादि महर्षिगण भी इसी कर्म-विशेष को करके ही परमसिद्धि (नैष्कर्म्य) को प्राप्त हुए। ऐसे महापुरुष लोक-शिक्षा एवं पीछे चलनेवालों के हित की शुभेच्छा से कर्म में ही बरतते हैं। कौन्तेय! मुझे प्राप्त होने योग्य किंचिन्मात्र वस्तु भी अब अप्राप्त नहीं है, फिर भी पीछेवालों के हित की इच्छा से मैं भी भली प्रकार कर्म में बरतता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म में न

बरतूँ, तो यह समस्त प्रजा (समाज) ही वर्णसंकर तथा नष्ट-भ्रष्ट हो जाय और मैं इस प्रजा को नष्ट करनेवाला दोषी बनूँ।''

टिप्पणी *– प्रत्येक जीवात्मा का शुद्ध वर्ण एवं उसकी आकृति परब्रह्म परमात्मा ही है जो आत्मा एवं परमात्मा का संयोग होने पर सम्भव है। अतः उस यज्ञ-कर्म के विस्मृत हो जाने पर पुरुष वर्णसंकरता के गर्त में पहुँच जाता है। उस कर्म-विशेष एवं यज्ञ-कर्म की जागृति पूर्ण महापुरुष से सम्बन्ध रखती हुई प्रवाह रूप लेती है।*

वस्तुतः मानव-मस्तिष्क एक नियम-विशेष से आबद्ध है। सम्मानित महापुरुष जो आचरण कार्यरूप से प्रमाणित कर जाता है उसी का वह अनुसरण करता है। इसलिए महापुरुषों को चाहिए कि स्वयं के लिए किंचिन्मात्र आवश्यकता न होने पर भी पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए भलीभाँति यज्ञ-कर्म करें और उनसे करावें। उन अज्ञानियों की क्रिया में भ्रम उत्पन्न न करें।

स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण ने आत्मस्थित महापुरुषों से तुलना करते हुए अपना परिचय दिया कि मैं एक महापुरुष हूँ। वे कहते हैं कि, ''मेरे लिए कोई कर्म लागू नहीं है।'' इसी प्रकार, ''स्वरूप में स्थित, आत्मा ही में सन्तुष्ट पुरुष के लिए भी कर्म आवश्यक नहीं है। मैं भी पीछेवालों के हित की इच्छा से कर्म में भली प्रकार बरतता हूँ और वे महापुरुष भी पीछेवालों के कल्याणार्थ कर्म करते एवं पीछेवालों के हित की इच्छा से ही आराधना में बरतते हैं।'' कर्म का अर्थ आराधना है।

अध्याय ६ में ११ से १५वें श्लोक तक तथा अध्याय ७ में ब्रह्मविद्या का विज्ञान सहित परिचय देते हुए; स्वयं सबसे अलग स्थित होने पर भी यौगिक प्रभाव से सबके सम्पर्क में रहने का परिचय देते हुए कहा कि, ''दोष-दृष्टिवाले मेरे को ऐसा न समझकर अपनी उलटी ही कल्पना करते हैं। सर्वभूतों के महान् ईश्वर, मेरे ऐसे स्थित अथवा परमभाव को न जाननेवाले मूढ़लोग मुझे तुच्छ कहकर पुकारते हैं। मनुष्य-शरीर का आधारवाला होने से मुझ महान् आत्मा को साधारण मनुष्य मानते हैं- ऐसा कहनेवाले वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले तथा भ्रमित चित्तवाले पुरुष मोहित करनेवाली आसुरी तथा राक्षसी वृत्ति धारण किये रहते हैं; परन्तु हे अर्जुन! दैविक प्रकृति और यथार्थ दृष्टिवाले जो महात्माजन हैं वे सनातन, अविनाशी समझकर अनन्य भाव से मुझे भजते हैं। देखिये यहाँ पर स्वयं भगवान ने मनुष्य-शरीर के अन्दर रहनेवाली अपनी मानसिक गति को महान् ईशत्व में तथा परमतत्त्व में स्थित बताते हुए स्पष्ट कर दिया कि मैं एक योगी हूँ। योगी भी शरीर के आश्रित स्थित रहता है और मैं भी शरीर के ही आधारवाला हूँ।

गीता की समाप्ति पर एकाग्रचित्त संजय ने भगवत्तत्त्व को अक्षरशः समझा और उसी के प्रभाव से अपने आपको कृतार्थ तथा परलोकवासी भी बनाया। उसी संजय ने भगवान श्रीकृष्ण का पूरा-पूरा परिचय 'योगेश्वर श्रीकृष्ण' एवं योगैश्वर्य से अलंकृत करते हुए दिया। जो स्वयं योगी हो और योग प्रदान करने की जिसमें क्षमता हो, उसे योगेश्वर कहते हैं। महाभारत की समाप्ति पर पुनः गीता के विषय में चर्चा चलने पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि, 'हम तो भूल गए।' अर्जुन को भी अब उसका स्मरण नहीं रह गया था; क्योंकि पूर्णता के बाद वस्तु-स्थिति के साथ साधनीय जानकारियाँ भी उस पूर्णत्व के परम आनन्द में तद्रूप तत्त्वस्वरूप ही हो जाती हैं, लेकिन अन्य के लिए विधान है। संजय नहीं भूला था। उसने साफ-साफ भगवान का परिचय देते हुए कहा-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। *(गीता, १८/७८)*

योगेश्वर अर्थात् योग के ईश्वर, जिन्हें योग पर स्वामित्व प्राप्त हो। यही पूर्णता तथा पूर्ण योगी के लक्षण हैं। इसलिए भगवान ने कहा कि महात्माओं की शरण जाओ। उन्हें भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम कर उन्हीं के नियम का अनुकरण करो, जिससे वे प्रसन्न हो जायँ। उनके पीछे अपने आप को हवन कर दो। वे तत्त्व को जाननेवाले तेरे को उसी तत्त्व का उपदेश करेंगे और तुमको अपने तत्त्व की ओर खींचेंगे। अनुरागी ही अर्जुन है और वह महापुरुष जानते हैं कि आज यह अनुरागी तो मेरी शरण में है, लेकिन दो सौ साल बाद (भविष्य में) जो अनुरागी होंगे, वे किसकी शरण लेंगे? अतः किसी योगेश्वर की शरण में जाओ; क्योंकि श्रीकृष्ण योगेश्वर थे।

श्रीकृष्ण ने भविष्य में आनेवाली पीढ़ी, योग-परम्परा का एवं होनेवाले साधकों का पूरा ख्याल अपने शास्त्र में रखा है, जैसा कि वे पहले बता आये हैं कि मेरे लिए कोई कर्म शेष नहीं है, फिर भी पीछेवालों की हित की इच्छा से कर्म करता हूँ। इसी प्रकार तत्त्वदर्शी योगी के लिए भी कोई कर्म शेष नहीं रहता, फिर भी पीछेवालों को चलाने के लिए वह कर्म में बरतता है ।

नोट- *योगेश्वर श्रीकृष्ण आराधना को ही कर्म मानते हैं।*

महापुरुष स्वयं में पूर्ण, अवतार के ज्ञाता तथा पूर्ण ब्रह्ममयी स्थितिवाले होते हैं। वे शरीर कदापि नहीं हैं। हाँ, जब शरीर का जीवनकाल शेष रहे और योगी का योग-साधन मूल का स्पर्श कर ले, तभी ऐसी ब्रह्ममयी स्थिति सम्भव है। ऐसा पुरुष परमात्ममयता में सदा समाहित, सदैव परम का दिग्दर्शन कर परम भाव में स्थित परमात्मा का स्वरूप है; किन्तु इस शाश्वत सत्ता का पावन विधान एवं विशेषता सदैव से रही है कि उस परमात्मा के परम भाव का प्राकट्य नर-तन के आधारवाला है।

नोट *– मानवों में नर एक स्थिति-विशेष है, स्त्री-पुरुष कोई भी नर हो सकता है। नर-शरीर में आत्मा से जागृत होकर अवतार की भूमिका में परमात्मा का प्रसारित होना ऐसे महापुरुषों से ही सम्भव है।*

ऐसी स्थितिवाले महापुरुषों का संरक्षण ही समर्पित मानवमात्र के अन्तःकरण में क्रमशः विभिन्न आश्चर्यों को प्रगट करते हुए, अवतरण के मध्य स्थितियों से अवगत कराते हुए, अजर-अमर-शाश्वत ब्रह्म के प्रत्यक्ष दिग्दर्शन के साथ ही अवतार के परम पावन स्थिति से अलंकृत करता है। यह क्रम सदैव चलता ही रहेगा, अतः अवतार अनन्त काल तक अनन्त नर-तन में होते रहेंगे- यही महापुरुषों के पावन जीवन से सुबोध मिलता है।

आत्मा से परिपूर्ण, परमात्म-स्वरूप, महान् तपोधन सद्गुरुओं से उस परमात्मा के अवतार का विधान है। महापुरुष शाश्वत स्वरूप, अजर-अमर स्थिति से परिपूर्ण तथा उससे भी परे बेगम, अनिर्वचनीय रूप-राशि से अलंकृत होते हुए भी भाविक भक्तों के परम बोध के लिये ही अवतार का सृजन करते हैं। मानव उनसे अलग हो जाता है, तो अवतारजनित तृप्ति का स्रोत नहीं मिलता, इसलिए उन परमहंसस्वरूप महानतम पुरुषों की सतत आवश्यकता की पुष्टिहेतु महापुरुषों के अन्तःस्थल में अवतार की अभिव्यक्ति हुई है। वह परमात्मा से कार्यरूप दिलानेवाले परमस्रोत का कारण है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्वरूप में स्थित महापुरुषों की रहनी से अपनी समानता करते हुए अपना परिचय दिया कि, ''मैं एक महापुरुष हूँ तथा काल से परे परमभाव में स्थित हूँ।'' अतः श्रीकृष्ण शाश्वत सत्ता में स्थित महापुरुष हैं; किन्तु शास्त्र की वाणी में अवतार से सम्बोधित हुए। ठीक इसी प्रकार आत्मा में परमात्मा का दिग्दर्शन पानेवाले प्रत्येक महापुरुष श्रीकृष्ण के अनुरूप ही स्थितिवाले होते हैं। यद्यपि आदि शंकराचार्य के बाद कतिपय रूढ़िगत परिपाटियों ने अवतारों को चौबीस की संख्या देकर वास्तविकता प्रदर्शित करने की भावना पर विराम लगा दिया, तथापि वास्तविक स्थितिवाले मनीषियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा कि कबीर, नानक, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस इत्यादि के जीवन-वृत्त में पाया जाता है। उन पूर्वापर चौबीस अवतारों में भी मत्स्य, वाराह, कच्छप, नृसिंह, गजेन्द्र उद्धार इत्यादि पाँच-छः अवतारों के अतिरिक्त प्रायः महात्माओं को ही अवतरित विभूतियों का श्रेय प्राप्त है। उदाहरणार्थ महर्षि कपिल, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा नारद सभी अवतार हैं। प्रह्लाद के लिए अवतार का प्रसारण पूर्णतः नारद की ही देन थी।

नोट– *जिन्होंने प्रकृति के समस्त दग्ध वातावरण से रक्षा करते हुए भक्त प्रल्हाद को अपने अंक में उठा लिया।*

अवधूत महर्षि दत्तात्रेय तथा अवधूत ऋषभदेव उन चौबीस अवतारों में अवतार-विशेष थे। उन महापुरुषों में क्षमता थी कि किसी भी वर्ण-व्यवस्था का प्राणी क्यों न हो, अधिकार की स्थिति पाते ही भाविक भक्तों के अन्तःकरण में स्वयं को जागृत कर देते थे।

नोट- १. *स्वयं का तात्पर्य योगेश्वर श्रीकृष्ण इत्यादि महापुरुषों के अनुसार वह महापुरुष और परमात्मा एक दूसरे के पर्याय हैं।*

२. *ऋषभदेव में श्रद्धा रखनेवाला प्राणी मात्र शुद्ध सनातनधर्मी है। ऋषभदेव सनातन-धर्म के अवतार-विशेष हैं, अन्य नहीं। यह जैन है, बौद्ध है, सनातनी हैं- इत्यादि मत-मतान्तर के अन्तर माया डालती है (मायिक देन है)। जब तक जीव है, झगड़ना स्वभाव है।*

परशुराम, वामन तथा बुद्ध भी अवतार-विशेष हैं। अधिकांश विश्व में चर्चित बुद्ध, साधन की विभिन्न भूमिकाओं पर चलकर मन की निर्बीज अवस्था में निज स्वरूप का दर्शन तथा व्यापक अहं का साक्षात् कर बोध हो जाने पर बुद्ध कहलाए। ठीक यही उपलब्धि महामानवेतर महापुरुष भगवान वामन तथा परशुरामजी की है।

नोट – १. *सिद्धार्थ (बुद्ध) का जन्म राजपरिवार में हुआ। जन्म के साथ ही ज्योतिषियों ने बताया कि इनमें तो योगी के लक्षण हैं। इस घोषणा के साथ ही माता-पिता ने बालक को सत्पुरुषों से बचाने की चेष्टा की। प्रायः भजन की सम्भावना पाकर प्रत्येक माता-पिता मोहवश ऐसी ही व्यवस्था करते हैं। रोग, वृद्धावस्था के कम्पन, मृत्यु का ताण्डव देखकर सिद्धार्थ बाल-बच्चों को छोड़कर अर्द्धरात्रि में सत्य की खोज में निकल पड़े। प्रायः भगवान के प्रत्येक तीव्र अनुरागी अथवा योग-संस्कारयुक्त, योगभ्रष्ट मानव के सामने यही स्थिति पैदा हुआ करती है। सिद्धार्थ साधना में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने 'संन्यास', 'त्याग' पथ का अनुकरण किया और परम विवेकी कहलाए; किन्तु परम शान्ति केवल कहानी बनकर रह गई। सिद्धार्थ ने अपनी साधना में हठ को स्थान दिया एवं विरह-पूरित हृदय से अनवरत साधना करने लगे। परम की पिपासावाली यह साधना सफलता का कारण बनी। बुद्ध ने अपने अन्तःकरण में परम चेतन का प्रतिबिम्ब पा लिया। पूज्य गुरुदेव भगवान कहा करते थे, 'विरह-वैराग्य के बिना वह सत्य (शाश्वत प्रभु) नहीं मिलता।' अधिकांश महापुरुषों ने विषम परिस्थितियों में ही परम पथ पर चलकर उस शाश्वत सत्य को पाया है।*

२. *गौतम बुद्ध भी चौबीस अवतारों में से एक हैं। उनकी सेवा करनेवाला सनातन-धर्म से विलग नहीं है। प्रत्येक सनातनधर्मी की पराकाष्ठा, शाश्वत दिग्दर्शन का परिणाम, स्वरूप का बोध बुद्ध है। केवल भाषा-भेद है, अन्यथा बौद्ध सनातन महासत्य की पिपासा रखता है।*

प्रश्नोत्तरी में आचार्य शंकर भी कहते हैं- **'बौद्धाद्धिको यस्तु विमुक्तिहेतुः।'**

यह शाश्वत परब्रह्म ही सर्वोपरि सत्ता-विशेष है। साधना के परिणामस्वरूप इन शुभाशुभ से परे की स्थितिवाले अनन्यतम महापुरुष आत्मतत्त्व की विकलतावालों के लिए परात्पर ब्रह्म की अवतार प्रसारिणी अलौकिक कला के रूप में सभी युगों में प्रमाणित हुए हैं। जिनकी प्रामाणिकता निरापद तथा शाश्वत सत्य है। उन्हीं विशिष्ट परमात्म-तत्त्ववेत्ता पुरुषों में महात्मा ईसा, महर्षि व्यास, आदि राजा पृथु (राजयोग के आदि प्रणेता), यज्ञ (परमात्मा प्रेरक के रूप में आत्मा से प्रसारित होकर जैसे चराचर जगत् के अस्तित्व को दग्ध कर शाश्वत रूप में परिलक्षित हो जाता है वह ब्रह्म यज्ञजनित उपक्रम) भी अवतार की प्रतिष्ठा है, जो शाश्वत सत्य का उत्प्रेरक है।

यही अवतार मत्स्य, कच्छपादि की क्रियात्मक शृंखला में पाया जाता है। हयग्रीव तथा नर-नारायण भी उन्हीं (श्रीकृष्ण, ऋषभ आदि) अवतरित विभूतियों की पावन परम्परा में हैं। प्राचीन लेखन-शैली के इन अवतारों एवं तत्पश्चात् पूर्णत्व प्राप्तिवाले सत्पुरुषों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है; किन्तु अन्तर्दृष्टिहीन (आत्मा के बोल न समझनेवाले), कोरी वाग्विलासिता एवं काल्पनिक विचारों ने ही मात्र चौबीस अवतारों को रूढ़िगत भ्रान्तियों में बाँधा है। वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। चिरन्तन विधान यह है कि आत्मतृप्त, आत्मस्थ, विदितात्मा पुरुष में सदैव वह क्षमता विद्यमान है, जिससे भाविकों में परमात्मा की पिपासा तथा विशुद्ध लगन के जागृत होते ही वे महापुरुष अवतार का प्रत्यक्ष प्रकाश तथा प्रभु की अनवरत पीयूष-धारा का कृपा-प्रसाद दे दिया करते हैं।

प्रकारान्तर से अवतार दो हैं- एक व्यापक ब्रह्म को शून्यावस्था से जागृत करके अवतार की प्रक्रिया-श्रेणी से गुजारते हुए, परम में निरोध कर स्थायी आलोक से आलोकित करनेवाले अवतार-प्रेरक हैं। दूसरे, अवतार से प्राप्त होनेवाली स्थितियों का अवलोकन है। दूसरे शब्दों में, इन अवतारों में एक तो ब्रह्मस्वरूप महापुरुष हैं, जो शरीर के आश्रित रहकर भी परम शान्त एवं सम हैं, ऐसे महापुरुष जागृति प्रदान करनेवाले अवतारों के प्रेरक और जन्मदाता हैं।

दूसरे प्रकार के अवतार वे हैं, जो कथा-प्रसंग के रूप में पाये जाते हैं, जिनका वैयक्तिक स्वरूप नहीं है, यथा- मत्स्य, वाराह, कच्छप, यज्ञ, गजेन्द्र उद्धारक हरि एवं नरसिंह इत्यादि। इनका कोई बाह्य स्थायी पिण्ड नहीं है। विचारकाल में भी ये चित्रित नहीं होते। इनका क्रियात्मक विश्लेषण है। ये सब बाह्य भूतों के विषय न होकर हृदय-देश में उभड़नेवाले परमात्मा के वास्तविक प्रतिबिम्ब हैं, जिनका प्रभाव, प्रसार साधक सीधे स्वयं पाता है। इनका कार्यक्षेत्र विशद है तथा योग के माध्यम से अनुशासित पुरुष के लिए

ही सर्वथा सम्भव है। भाविकों को स्वयं (कैवल्यपद) की अनुभूति कराने के लिए यह सार्वभौम स्थित आत्मा का साक्षात् कराता है तथा जब तक साधक को शाश्वत सत्ता में खड़ा नहीं कर देता, तब तक उत्तरोत्तर स्थितियों को उठाता, शुभ वचन बोलता, उत्तरोत्तर अलौकिक शक्तियों से साधक का मन बहलाता, मन के अन्तराल को गति देता हुआ सुहृद् का भार वहन करता है।

मानस शीर्षस्थ अविनाशी ('स्वरूप') श्रीराम भी इसी परिधि में हैं, जो अलौकिक मर्यादा के स्रष्टा, अनिर्वचनीय सत्ता के प्रसार-विशेष हैं।

महापुरुष के परिवेश में उपर्युक्त तथ्य सत्य का प्रेरक, सर्जक तथा महापुरुष का बोधक है। योग की पराकाष्ठा के परिणामस्वरूप ज्ञानामृत के भोक्ता (जिन पुरुषों के लिए प्राप्त होने योग्य परमात्मा अप्राप्त नहीं है) सहज प्राप्त परात्पर ब्रह्म से अभिन्न हैं। ऐसी साकार अवस्थावाले कैवल्य धाम, चिन्मय पुरुष, शाश्वत के सादृश्य से अवतार का प्रकाशन करते हैं। इसी विशेष अवस्थावाले पुरुष में सद्गुरु का विशेषण पाया जाता है। इन आत्मस्थित ब्रह्मवेत्ताओं में शाश्वत, अनिवर्चनीय, अलख के अवतरण का प्रवाह संयोग मात्र से होता है। हृदय से उनका स्पर्श करते ही उनका संरक्षण मिलने लगता है। वे महापुरुष प्रयास न करें तब भी शाश्वत के अवतरण का यह प्रवाह भाववश्यता से स्वतः होता रहता है; क्योंकि वे अभिन्न हैं। महापुरुष अपनी पहचान स्वयं देता है। यह बात दूसरी है कि इसे वह जन्मान्तरों से देता आया है या अब देगा अथवा स्वयं से प्रेरित करेगा। पुण्य की वृद्धि करके अधिकारी की स्थिति प्राप्त करना आपका उत्तरदायित्व एवं कार्य है।

यह बौद्धिक विषय नहीं है, अतः कल्पनाओं की हलचल से उन्हें समझा नहीं जा सकता। वह आनन्दानुभूति तो इष्ट के जागृत होने से तथा हृदय-देश में इष्ट के द्रवित होने से ही सम्भव होती है। प्रारम्भ में पूज्य गुरुदेव भगवान के मुखारविन्द से निःसृत उपदेशों को सुनकर मैं उलझन में पड़ जाया करता था। आज से पूर्व मस्तिष्क में यह बात आती ही नहीं थी कि भगवान भी अदृश्य रूप से बोलते या सँभाल करते हैं।

एक बार श्री गुरुदेव भगवान कह रहे थे- ''मोके भगवान पढ़ावा करत हैं। हो! ई शरीरिया पढ़ी-लिखी नाहीं है। आत्मा अंग्रेजियो बोलत है और मैं सुनत समझत जात हूँ। मोरे में कहीं शंका हुई कि भगवान उत्तर देत हैं। (अर्थात् संकल्पों के साथ रहा करते हैं। संकल्प पीछे होता है, वे पहले ही चला करते हैं।) यदि मैं पतित होना चाहूँ तबौ न होइ पइहौं, भगवान मोके होखे ना देइहैं।'' (अर्थात् यदि मैं पतित होना चाहूँ तो भी नहीं हो सकूँगा, क्योंकि भगवान रोक लेंगे।)

इस पर मैंने निवेदन के स्वर में पूछा कि प्रभु! क्या भगवान भी बोलते हैं? तो बोले- ''हाँ हो! तोहूँ से बोलिहैं, काहे घबड़ात हौ, दिनै टरत है।'' इसके पश्चात् गुरुदेव भगवान ने बताया कि भगवान भक्त का सञ्चालन जब तक नहीं करने लगते, तब तक भगवत्-पथ का आरम्भ ही नहीं होता। साधक जो पार हो जाता है, वह उन आराध्य की देन है। अतः वे सदैव साथ रहकर संचालन किया करते हैं। इस प्रकार पूज्य गुरुदेव भगवान श्री परमहंसजी सक्रिय शैली में क्रमशः अवतार के आलोक में प्रवेश दिलाने तथा उसमें व्यापक स्थिति के साथ ही अवतार का शान्त हो जाना, समत्व में विलय-सा हो जाना, भक्त की स्थिति में मिल जाना स्वीकार किया करते थे- अर्थात् भक्त के विलीनीकरण के पश्चात् परम के स्पर्श के साथ ही अवतार की स्थिति में बदलकर वह अवतरित सत्ता भी भिन्न नहीं रह जाती, बल्कि ऐसे पुरुष में भीतर-बाहर तथा सर्वत्र सहज परमात्मा ही परिपूर्ण रहता है।

नोट *– यह अवतार अधिकार की योग्यतावाले किसी विरले योगी के हृदय में होता है। अतः प्रथम चरण में अत्यन्त सूक्ष्म परिवेश में साधना को सद्गुरु प्रस्फुटित करता तथा क्रमशः कण-कण (सर्वत्र) में स्थित सर्वभूतों में समाहित आत्मस्वरूप का दर्शन कराता हुआ, सब में अनादि मूल अनिर्वचनीय ब्रह्म 'अहम्' की स्थिति में नियुक्त कर अपने तद्रूप ही आत्ममयी स्थिति प्रदान कर देता है। वही सम्पूर्ण भूमिकाओं का दिग्दर्शन कराता हुआ विश्ववास, परमचेतन भगवान के अलौकिक क्षेत्र में द्रष्टा जीवात्मा को सहज स्वरूप की स्थिति दिलाते हुए, उस स्थिति में स्वयं भी प्रतिष्ठित रहता है। अतः अवतार किसी योगी के हृदय की वस्तु है। वे सद्गुरु भी विरले ही हैं जो जीव को जागृत करते हैं। अतः नर-तन अर्थात् शुद्ध हृदय के अधिकारी की स्थिति प्राप्त करें। तीव्र अनुरागी के लिए अवतार की मान्यता सभी युगों में समान रूप से है-*

सो केवल भगतन हित लागी। ***(मानस, १/१२/५)***
राम भगत हित नर तनु धारी। ***(मानस, १/२३/१)***

भक्त का तन ही नर-तन है। भक्त के हित के लिए भगवान भक्त के उस तन को ग्रहण कर लेते हैं, जिसके मनःस्थल में मायारूपी नारी का प्रभाव नहीं होता। योगेश्वर श्रीकृष्ण की ही वाणी गीता (अध्याय ४) में दृष्टिपात करने से स्वभावतः स्पष्ट हो जाता है कि अवतार किसी यौगिक प्रक्रिया में होनेवाला परमतत्त्व परमात्मा का आलोक प्रसारण है, अतः उस कृपा (आराधना) की जागृति के साथ ही सर्वसुलभ है। योग में निश्चित क्रिया एक है। इस सन्दर्भ में अनेक टीकाओं एवं मतान्तरों में न जाकर अक्षरशः अब उन (योगैश्वर्यसम्पन्न) श्रीकृष्ण की वाणी 'यथार्थ गीता' के आलोक में देखें।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

३. श्रीकृष्ण के शब्दों में 'अवतार'

अर्जुन द्वारा इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर कि **'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।'** *(गीता, ४/४)* अर्थात् हे श्रीकृष्ण! आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य का जन्म सुदूरकाल में कभी हुआ था। अतः आपने कल्प के आदि में इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था- इस विषम काल पर कैसे विश्वास करूँ? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने अवतार पर प्रकाश डालते हुए कहा कि -

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। *(गीता, ४/५)*

अर्थात् तेरे और मेरे बहुत से जन्म सुदूर पूर्वकाल से होते आए हैं; किन्तु हे परंतप! (जो किए हुए प्रण से च्युत नहीं होता) उन सबको तू नहीं जानता (अर्थात् अवतार तथा अवतार-प्रकरण को नहीं जानता) और मैं उन समस्त अवतारों को जानता हूँ।

सम्बन्ध- भगवान श्रीकृष्ण के कथनानुसार उनके बहुत से जन्म या अवतार हो चुके हैं, अर्थात् ठीक इसी स्थिति के अनेक महापुरुष हो चुके हैं। यहाँ अवतार के लिए बहुवचन इसी अभिप्राय से है। श्रीकृष्ण के शब्दों में अवतार बहुत से हैं अर्थात् असंख्य, अनन्त अवतारों का विधान है। 'मानस' के **'प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा।'** *(मानस, ७/८०/८)* से भी सीधा प्रकाश पड़ता है। अतः कतिपय पुराणों में 'अवतार चौबीस ही होंगे'- ऐसी मान्यता स्वतन्त्र सत्ता को भी संख्याबद्ध कर देता है। वस्तुतः किसी काल में सत्य के नाम पर कल्पना के प्रसार से असत्य पूजित हो चुका था, यह उसी भ्रामक विचार का परिणाम है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के वे अवतार अलौकिक हैं-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।। *(गीता, ४/६)*

अर्थात् मैं अव्ययात्मा (अविनाशीस्वरूप), अजन्मा होने पर भी तथा सब प्राणियों का ईश्वर एवं मूल प्राणों में प्रवाहित होने पर भी आत्ममयी स्थिति दिलानेवाली यौगिक प्रक्रिया द्वारा अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति के कार्यों को स्वाधीन करके प्रकट होता हूँ। 'आत्ममाया' आत्मा का साक्षात् करानेवाली संतत गोपनीय ब्रह्मविद्या का नाम है। यह आत्मा में पूर्ण प्रवेश दिलाने में सक्षम है। आत्मा की ओर ले चलनेवाली आत्ममाया का ही दूसरा नाम योगमाया है।

नोट *– गीता के सातवें अध्याय (२५वें श्लोक) में श्रीकृष्ण बताते हैं कि, "मैं अपनी योगमाया से छिपा हुआ होने से सबको प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। अतः आसुरी सम्पत्तिवाले अज्ञानी मुझ अविनाशी को न जानकर तुच्छ तथा साधारण मनुष्य मानते हैं। जब तक योग पराकाष्ठा पर नहीं पहुँच जाता, तब तक भगवान पूर्णरूपेण विदित नहीं होते। पहले माया का पर्दा था, अब योग का भी एक आवरण है, जिसने उस शाश्वत स्वरूप को ढाँक रखा है। अतः इस गोपनीय आत्ममयी प्रक्रिया-विशेष के द्वारा प्रकृति का पूर्ण नियन्त्रणकाल आ जाने पर उन चिरन्तन के दर्शन का विधान है। पूर्णता एवं पराकाष्ठा की स्थिति के लिए ही यह विधान है।*

सम्बन्ध– आत्मिक प्रक्रिया की पूर्तिकाल में महापुरुष पूर्णरूपेण प्रकट होते हुए भक्त की आत्मा में प्रवाहित होकर शाश्वत स्वरूप प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार अवतार के सृजन का माध्यम महापुरुष हैं; किन्तु कौन से कारण-विशेष हैं, जिनसे वह प्रभु अवतरित होता है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। ***(गीता, ४/७)***

अर्थात् हे अर्जुन! जब-जब धर्म (परमात्मा) को लेकर ग्लानि होती है, हृदय भयंकर ग्लानि से अभिभूत हो जाता है (जैसा कि 'मानस' में महाराज 'मनु' को होता है- **'हृदयँ बहुत दुख लाग'** ***(मानस, १/१४२)*** और अधर्म अर्थात् काम, क्रोध, तृष्णा इत्यादि की साधक के हृदय में वृद्धि होने लगती है, साधक प्रयत्न करने पर भी उन विकारों का पार नहीं पाता, परमात्म-धर्म के लिए ग्लानि का बहुमत हो जाता है, प्राप्ति के लिए अन्तःकरण ग्लानि से पूर्ण एवं अधीर हो जाता है, तभी मैं अपने स्वरूप को रचने लगता हूँ।

नोट *– यह यौगिक हृदय की वस्तु है।*

सम्बन्ध– उपरोक्त सूत्र में इंगित अधर्म की ग्रन्थियों का पार न पाने पर एवं धर्म (परमात्मा) के लिए अधीर हो जाने पर अन्तरंग पुकार के साथ ही आपके प्रगट होने का विधान है। यह अव्यक्त के अवतरण का कारण-विशेष है; किन्तु यह अवतार किस कार्य की पूर्ति के लिए है?

इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी में देखें-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। ***(गीता, ४/८)***

साध्य पदार्थ, उस विभूति को सम्भव करनेवाले विवेक, वैराग्य, इन्द्रियों का दमन, शम-दम, ध्यान-चिन्तन एवं भजन की प्रवृत्ति 'साधूनाम्' कहलाती है। इनके पालन में

श्रम तो बहुत करना पड़ता है लेकिन सफलता मिलती नहीं है। अविद्याजनित जघन्य विकारों से दूषित कर्म 'दुष्कृताम्' कहलाता है।

नोट– *काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इत्यादि मानव को बाह्य प्रवृत्ति प्रदान करते हैं। यह मानव के अन्तःकरण में प्रसुप्तावस्था में रहते हैं और संग-दोष को पाकर जागृत हो जाया करते हैं। ये जब भी जागृत होते हैं, दूषित को क्रियान्वित करते हैं। यही दुष्कृत के मूल उद्‌गम हैं, 'दुष्कृताम्' हैं।*

इन दुष्कृताम् का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना अर्थात् स्थायित्व देने के लिए मैं युग-युग में प्रगट होता हूँ। भगवान की प्राप्ति या अवतार के विषय में कोई भी युग अनुकूल अथवा बाधक नहीं होता है।

सम्बन्ध– जैसा कि उपर्युक्त श्लोकों में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पुष्ट किया है कि उनका अवतार 'धर्म संस्थापनार्थाय' होता है। अतः धर्म क्या है? **'धारयति इति धर्मः'** अर्थात् जो सबको धारण किए हुए है, वह धर्म कहलाता है। सबको धारण करनेवाला वह ब्रह्म सनातन है- **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'। *(गीता, ४/३१)*** अतः धर्म कहलानेवाला वह ब्रह्म एकमात्र सनातन-धर्म है। फिर सनातन क्या है?

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। *(गीता, २/२४)*

अर्थात् यह आत्मा ही अपरिवर्तनशील, नित्यस्वरूप, न सूखने, न जलने, न गलने, न छेदा जानेवाला, नित्य, सर्वव्यापक अचल और सनातन है। इस स्थान पर श्रीकृष्ण के शब्दों में एकमात्र आत्मा ही शाश्वत तथा सनातन है। अतः इसी आत्मा को साक्षात् जानना हमारा तथा मानवमात्र के लिए धर्म है; किन्तु अजर, अमर, शाश्वत तथा सर्वव्यापक गुणधर्मोंवाली आत्मा यदि सबमें है, तो फिर खोजा किसको जाय?

इसके उत्तर में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। साधारण लोगों को आत्मा के ये गुण दिखाई नहीं पड़ते। आये दिन शोक, सन्ताप और मृत्यु का कारण माया ही दिखलाई पड़ती है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। *(गीता, ४/९)*

अर्थात् मेरा वह जन्म, कर्म दिव्य एवं अलौकिक है। उपरोक्त अलौकिक विभूतियों से युक्त जो मुझे जानता है, वह तत्त्वदर्शी है (अर्थात् तत्त्वदर्शी के लिए जानकारी का विधान है)। मेरी जानकारी के पश्चात् शरीर का परित्याग करनेवाला पुनर्जन्म में नहीं गिरता, मुझमें ही स्थित रहता है।

नोट – *अवतार तो होता है, लेकिन लाखों मनुष्यों में से कतिपय तत्त्वदर्शी पुरुषों ने उसे देखा है। केवल तत्त्वदर्शी के लिये अवतार-दर्शन के आदर्श की मान्यता है। वैसे तो उस तत्त्व का स्पन्दन सम्पूर्ण जगत् के मानवमात्र में समान ही है तथा अविभाजित रूप एवं प्रसुप्तावस्था में अनवरत लहराता है, फिर भी किसी तत्त्वस्थित महापुरुष से उसकी जागृति तथा अवतरण का शाश्वत विधान है।*

अब उन लोगों में से वे लोग सर्वथा भ्रान्ति में हैं, जिनकी धारणा है कि इस बार कुँआरी कन्या से अथवा अमुक प्रकार से अवतार होगा। इस तरह की अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं और होती रहेंगी; किन्तु सनातन-धर्म एवं उसके प्रकटीकरण का विधान-विशेष पूर्वकाल से जिन महानतम् पुरुष, स्वरूपस्थ महापुरुषों की देन है, उसमें इन भ्रान्तिमूलक विचारों का कोई स्थान नहीं है। परम की प्राप्ति के लिए आप परमतत्त्वस्थित एवं स्वरूपस्थ महापुरुष की तलाश करें, जो पुण्य-पुरुषार्थ से होगा। तभी आप अवतार-दर्शन की महान् गरिमा के सुपात्र बन सकते हैं।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

उपसंहार

ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी और अन्तर्यामी है। इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि का प्रसार उसी की लीलामयी दृष्टि का विस्तार है। संसार एक रंगमंचीय कला है, जहाँ चराचर जीव द्वन्द्वात्मक भूमिका में लीलाधर के निर्देशन में अभिनय कर रहे हैं। **'सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।'** *(मानस, ७/४०/५)* वह एक है, लेकिन अनेक रूपों में बरतता हुआ अपनी माया का विस्तार करके सबको नचा रहा है। सब विकल हैं- सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय और जीवन-मृत्यु की चपेट से। इस भवसिन्धु की लहरें इतनी विकराल हैं कि उनके आघातों से जीवात्माएँ छटपटा रही हैं, ढूँढ़ती हैं किनारा, अन्धकार में कहाँ मिले? यही अथाह संसार-सागर-मन्थन की यौगिक प्रक्रिया साधक के मानसिक धरातल पर घटित होती है। जब मन और इन्द्रियों को समेटकर कोई पथिक पूर्णतः सद्गुरु के अधीन हो जाता है, तो संयमित मन और इन्द्रियों के परिणामस्वरूप उसके अन्तःकरण में ही कच्छपावतार हो जाता है। क्रमागत साधनात्मक उपलब्धियों की विशिष्टियों में प्रवेश करता हुआ, प्रगतिशील साधक भवसिन्धु-मन्थन के अन्तराल में उस अमृत-तत्त्व को प्रत्यक्ष पा लेता है, जिसकी अनुभूति तत्क्षण शाश्वत सत्ता में लीन कर उसे सदा-सदा के लिये आवागमन से मुक्त कर देती है, लीलाधर की लीला सिमट जाती है और स्वरूप निखरकर सामने आ जाता है। साधक के रोम-रोम से ध्वनि उठने लगती है-

हम न मरब मरिहैं संसारा। हमका मिल्यों जिआवन हारा।।

ठीक इसी प्रकार देश-काल के परिवर्तनों के साथ विभिन्न कथानकों के रूप में ब्रह्मविद् पुरुषों की वेदमयी वाणी द्वारा सत्य एवं परम के अवतरण का शाश्वत, अक्षुण्ण विधान है। कथानक अनेक हैं किन्तु मूल वस्तु एक है। संसार परिवर्तनशील है। सहस्राब्दियों का अतीत, उसका मध्यकाल तथा यह वर्तमान भी अतीत के गर्भ में विलीन हो जायेगा। प्रायः प्रत्येक सौ-दो सौ वर्षों के अन्तर से भाषा एवं उसके अभिप्राय की सूक्ष्म ग्रन्थियों में बड़ा परिवर्तन आ जाता है। अतः भविष्य का मानव किस बोलचाल में होगा, यह कल्पनातीत है। युग-युगान्तरों से बदली हुई परिस्थिति एवं घटना-क्रम से मानव-मस्तिष्क आहत-सा हो जाता है। यही कारण है कि वह महापुरुषों के वचनामृत में निहित मूल भावों से शनैः-शनैः दूर होता जाता है।

उपर्युक्त विषम परिस्थितियों में प्राक्कथित अवतारों की जागृति एवं उनकी कार्य-प्रणाली का रूपक ब्रह्मविद् मनीषियों द्वारा प्रस्तुत होता आया है। भाषा-शैली एवं

प्रसंग की भिन्नता होते हुए भी मानव-अन्तस्थल में उनकी मौलिक उपलब्धि समान है। उपनिषद् का कथन है कि साधन-परायण हजारों पुरुषों में से वही उस आत्मतत्त्व की स्थिति प्राप्त कर पाता है जिसका चयन परमात्मा स्वयं कर लेता है। यह आत्मा न तो प्रवचन से, न विशिष्ट बुद्धि से और न बहुश्रुत होने से ही प्राप्त हो सकती है। अतः मानवमात्र में परम अधिकारी को अन्तःकरण से सहयोग प्रदान करना, सखा की तरह उसका हाथ पकड़कर प्रकृति से परे पुरुष, परमतत्त्व तक का पथ प्रशस्त करना, उसे शाश्वत के सर्वव्यापी स्वरूप में स्थित कर देना- यही अवतार की अवधारणा का केन्द्र-बिन्दु है।

यद्यपि मानवमात्र के अन्तःकरण में वह परमतत्त्व सदैव विद्यमान है, तथापि उसे वही जानता है जिसमें वह वस्तुतः जागृत है। जागरण की यौगिक प्रक्रिया-हेतु साधक मनसहित इन्द्रियों को समेटकर परमात्मा की प्राप्ति की अभिलाषा को बलवती बनाये एवं तत्त्वदर्शी महापुरुष की प्राप्ति के लिए पुण्यार्जन करते हुए सतत संलग्न रहे। प्रयत्नशील भाविकों के लिए वह अलौकिक इष्ट-वचनामृत, इष्ट-योगक्षेम सर्वथा सम्भव है।

यह कोई कल्पना नहीं, अपितु परम चेतन का विधान, अनादि सत्य एवं शाश्वत अनुकरणीय है। इसी तात्त्विक परिवेश में चौबीस अथवा यथासंख्य अवतारों का क्रियात्मक प्रसार महापुरुषों की कृपा से प्राप्त करें। महापुरुष की प्राप्ति पर मैं यहाँ पुनः बल देता हूँ। उनकी यथासम्भव सेवा, सान्निध्य तथा वचनामृत को हृदयपूरित मन से पकड़ें; कालान्तर में वह परम तृप्ति सम्भव हो सकेगी। साधन-पथ पर यदि न चला जा सके, तब **'गुरोर्वाक्यं सततं गेयम्'** के अनुसार श्री गुरुदेव भगवान के वचनामृत का अवलोकन, अनुशीलन करते रहना चाहिए।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति पूजामूलं गुरोर्पदम्।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

एक भाविक का प्रश्न

प्रश्न- महाराजजी! इस पुस्तक में आपने बताया है कि अवतार पिण्डों में नहीं हो सकता, बल्कि किसी शरीर को ग्रहण कर लेता है इसलिए पिण्डवाला है। चौबीस अवतारों में से अधिकांश महापुरुष हैं, जिन्होंने साधना के माध्यम से अवतार की स्थिति प्राप्त की; किन्तु भगवान राम एवं श्रीकृष्ण के जीवन में तो बाल्यकाल से ही अलौकिक लीलाओं का समावेश मिलता है, जिसमें साधन माध्यम नहीं है। क्या राम एवं श्रीकृष्ण अन्य अवतारों की अपेक्षा विशेष थे?

उत्तर- देखिये, महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ में युधिष्ठिर जय-पराजय की चिन्ता में युद्ध से कतराने लगे। तब अर्जुन ने उन्हें समझाया- राजन्! यह श्रीकृष्ण जिधर रहते हैं, उधर ही विजय है- ऐसा नारदजी ने कहा है। श्रीकृष्ण गत छः जन्मों से महापुरुष रहे हैं। एक जन्म में इन्होंने प्रभास क्षेत्र की स्थानीय जनता को उपदेश किया। एक कल्प में वे 'यत्र सायं-गृह' मुनि के वेश में विचरण करते रहे, अर्थात् दिन भर चलते-चलते जहाँ भी शाम हो जाती थी, रात्रि वहीं निवास करते थे। कल्प का आशय यहाँ जन्म से है। एक कल्प में आप पुष्कर तीर्थ में बारह वर्षों तक एक पैर पर खड़े रहकर यज्ञ कराते रहे। एक पग का तात्पर्य एक टेक, एक लक्ष्य पर दृढ़ रहना है। एक कल्प में आप बद्रिकाश्रम में घोर तपस्या में संलग्न रहे और इस कल्प में आप साक्षात् परमात्मा के रूप में हैं। राजन्! श्रीकृष्ण आपके पक्ष में हैं अतः आपकी विजय अवश्यंभावी है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण पिछले छः जन्मों से साधना कर रहे थे। वस्तुतः **'अनेकजन्मसंसिद्धः ततो याति परां गतिम्।'-** योगी लगातार प्रयत्न करता हुआ अनेक जन्मों की सिद्धि के अनन्तर परमगति को पा जाता है *(गीता, ६/४५)*। बहुत से महात्मा भजन करते-करते महाविदेहावस्था में पहुँच जाते हैं; किन्तु अपने अन्तःकरण में उस परम चेतन की अनुभूति प्राप्त करने के पूर्व ही शरीर का समय समाप्त हो जाता है तो वे मुक्त नहीं हो जाते, उन्हें जन्म लेना पड़ता है। उनकी उपलब्धि में साधन माध्यम नहीं होता बल्कि जन्म लेना ही माध्यम होता है। ऐसे योगी 'भव प्रत्यय योगी' कहलाते हैं- **'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।'** ***(पातञ्जल योगदर्शन, समाधिपाद, १९)*** विदेह और प्रकृतिलयों को जन्म से ही उपलब्धि होती है। श्रीकृष्ण ठीक इसी स्तर के महापुरुष थे। राम का भी यही स्वरूप है।

न केवल भारत अपितु विश्व में जिन्हें अवतार माना गया, सब-के-सब मनुष्य ही थे। साधारण मनुष्य की तरह उन्होंने जन्म लिया, उसी तरह उनका भी पालन-पोषण

हुआ; किन्तु भजन के क्रियात्मक पथ पर चलकर उन्होंने लक्ष्य प्राप्त कर लिया तो समाज ने उन्हें अवतार के रूप में पहचाना। गौतम बुद्ध राजा के लड़के थे, ईसा एक गड़ेरिया के लड़के थे, तो हजरत मुहम्मद साधारण व्यापारी थे। राम-कृष्ण से वे किन अर्थों में न्यून थे? आज अकेले बौद्धों की संख्या राम-कृष्ण के अनुयायियों से डेढ़ गुनी है। गौतम को वे उतना ही सम्मान देते हैं जितनी मान्यता राम या श्रीकृष्ण को कुछ हिन्दू देते हैं; किन्तु सुविज्ञ हिन्दू एक ही दृष्टि से देखता है। वैसे बुद्ध भी चौबीस अवतारों में से एक तथा हिन्दूधर्म की ही शुद्ध विभूति हैं।

साधना के सही दौर में पड़कर यह जीवात्मा क्रमशः उत्थान करते-करते उस परम का स्पर्श पा जाता है जिसका यह अंश है। वस्तुतः भगवान जब अपनाते हैं, तो अपने में विलय दे देते हैं। प्रत्येक अवतार इसी तरह होते हैं। तत्त्वस्थित जितने महापुरुष अवतार कहलाये, सभी को साधन-पथ से गुजरना पड़ा है। श्रीकृष्ण इत्यादि ने इस जन्म में श्रम नहीं किया किन्तु साधन-क्रम उनके पूर्वजन्मों में पाया जाता है। उपलब्धि और क्षमता की दृष्टि से सभी अवतार और तत्त्वदर्शी महात्मा एक ही स्तर के होते हैं; क्योंकि वह परमात्मा एक ही है, इसीलिए प्राप्तिकाल में सभी महापुरुषों को एक-जैसी अनुभूति हुई और सभी उस सत्ता से समान अलंकृत हुए। तुम्हें महापुरुष का सतत सान्निध्य मिलना चाहिए जिससे क्रियात्मक पद्धति को हृदयंगम कर सको, फिर सन्देह नहीं होगा।

।। ॐ।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।

हे अर्जुन! **'सुकृतिनः'**– उत्तम अर्थात् नियत कर्म (जिसके परिणाम में श्रेय की प्राप्ति हो, उसको) करनेवाले, 'अर्थार्थी' अर्थात् सकाम, **'आर्तः'** अर्थात् दुःख से छूटने की इच्छावाले, **'जिज्ञासुः'** अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से जानने की इच्छावाले और **'ज्ञानी'** अर्थात् जो प्रवेश की स्थिति में हैं– ये चारों प्रकार के भक्तजन मुझे भजते हैं।

– 'यथार्थ गीता : श्रीमद्भगवद्गीता'
(अध्याय ७, श्लोक १६)

आस्तिकता के नाम पर.....

जो नश्वरों के पीछे भटक रहा है,
नश्वरों की पूजा करता है, वही नास्तिक है।
जो अस्तित्व का उपासक है,
जो एकमात्र परमात्मा के प्रति श्रद्धावान् है, वही आस्तिक है।

श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द द्वारा प्रकाशित पुस्तिकाओं पर (विशेषकर 'वर्ण व्यवस्था', 'पशु गाय धर्म नहीं' और 'सनातन-धर्म' पर) आक्षेप करते हुए वाराणसी के श्री मस्तरामजी ने एक विरोध-पुस्तिका 'नास्तिकों से सावधान' नामक शीर्षक से प्रकाशित की है। पुस्तिका में आपका कहना है कि जाति-पाँति ही सनातन-धर्म है- यह वेद में लिखा है। जिसने संस्कृत और वेद का अध्ययन नहीं किया, वह धर्म नहीं जान सकता। वेद के रक्षक ब्राह्मण हैं, इसलिए ब्राह्मणों की रक्षा के लिए भगवान अवतार लेते हैं। वेद में यज्ञ की आवश्यकता पर बल दिया गया है, यज्ञ में पञ्चगव्य के लिये गाय जरूरी है, इसीलिये गाय धर्म है।..... इत्यादि।

इन कथनों को विचार-बिन्दु बनाने से पूर्व लेखक महोदय की भाषा-शैली पर दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। परम्परागत दुरूह भाषा और लम्बी भूमिका बाँधने के पश्चात् उन्होंने जो प्रश्न उठाये हैं, उन्हें प्रश्न की संज्ञा देना भी असंगत होगा; क्योंकि उनके लेखन में सिद्धान्तगत आपत्तियाँ अत्यल्प, व्यक्तिगत कटूक्तियाँ ही अधिक हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में काफी श्रम किया है कि पूज्य परमहंसजी और उनके शिष्य कैसे हैं और लेखक के गुरु कैसे थे।

लेखक महोदय ने जगह-जगह याद दिलाया है कि परमहंसजी गाँजा पीते थे। मैं आपको बताना चाहूँगा कि गाँजा उनके लिए दवा के रूप में थी। अपने किसी शिष्य को उन्होंने गाँजा पीना नहीं सिखाया। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण हो जाते हैं। गीता में है-

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

(गीता, २/७०)

अर्थात् भयंकर वेग से बहनेवाली हजारों नदियाँ हरहराते हुए बड़े वेग से समुद्र में गिरती हैं, किन्तु समुद्र को न एक इञ्च ऊपर उठा पाती हैं और न गिरा पाती हैं

बल्कि उसी में समाहित हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ महापुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग उतने ही वेग से आते हैं किन्तु उनमें समाहित हो जाते हैं। ऐसे समुद्रवत् स्थितप्रज्ञ महापुरुष परमहंसजी का नाम उछालना अपने को ही कलंकित करना है। ठीक इसी प्रकार करपात्रीजी को हम पूर्ण आदर देते हैं। प्रयाग से काशी तक डेढ़ वर्ष निराधार विचरण के दौरान मात्र हथेली पर आनेवाले स्वल्प भोजन पर निर्वाह करके 'करपात्री' की ख्याति अर्जित की। वे त्यागी, विरक्त, निस्पृह और सरल महात्मा थे। कर्मकाण्ड और गद्दियों की पैरवी तो उनसे करवायी गई थी, उनका कोई दोष नहीं था। लेखक महोदय ने ऐसे महापुरुष का नाम विवाद के घेरे में क्यों घसीट लिया? जिस समय परमहंसजी ने करपात्रीजी को चित्रकूट में रामराज्य परिषदीय दलगत राजनीति में आने के लिए मना किया था, उस समय करपात्रीजी आयु में परमहंसजी के बच्चे के समान थे। महाराजजी को उन्हें कहने-सुनने-समझाने का पूरा हक था। महान् लोगों की बात है, उसे आपने अपने लिये अपमानजनक कैसे मान लिया? इतनी मात्र घटना से पूर्वाग्रहग्रस्त नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार कृति की समीक्षा में लेखक के नाम को तोड़-मरोड़कर सम्बोधित करना समीक्षा की किस मान्य विधा के अन्तर्गत है? ऐसा करके विद्वान् लेखक ने (सुना है कि वे वेदान्ताचार्य भी हैं) सामान्य शिष्टाचार के स्थान पर वैचारिक बौनेपन का ही परिचय दिया है। 'जो रहे करवा वहीं बहे टोंटी'। उन मान्यवर ने जिन विशेषणों या भाषा का प्रयोग किया है, वह सन्तों या विद्वानों की भाषा प्रतीत नहीं होती। आदि शंकराचार्य ने कहा था- 'जयति परमहंसो मुक्तिभावं समेति' और इन सज्जन के वाक्य हैं- 'वाह रे परमहंसी पोपलीला!' मजे की बात तो यह है कि वे अपने को काशी विद्वत्परिषद् का अध्यक्ष भी मान बैठे हैं। अस्तु व्यक्तिपरक मूल्यांकन को यही विराम देकर हम प्रकरण पर आते हैं।

आश्रम से प्रकाशित पुस्तिकाओं में धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों का खण्डन किया गया है; किन्तु इन लेखक महोदय ने ***'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह...'*** ***(गीता, २/४१)*** श्लोक में विपक्षियों के अर्थ को भी हमारा मत मान लेने की भूल की है। हमारा दुर्भाग्य है कि इतनी स्पष्ट बात भी वे समझ नहीं पाये। उन्होंने पुस्तिकाओं पर जितनी आपत्तियाँ उठायी हैं, उन सबका उत्तर पर्याप्त विस्तार से उन्हीं पुस्तिकाओं में है। लगता है कि उन्होंने उन पुस्तिकाओं को आद्योपान्त पढ़ा नहीं- यदि पढ़ा है तो सम्पूर्ण पुस्तिका में जितने प्रमाण दिये गये हैं, ससन्दर्भ उन सबका खण्डन करना चाहिये था। उन्हें बताना चाहिये था कि हमारा कौन-सा कथन वेद की किस ऋचा के विरुद्ध है और हमने जिन ऋचाओं को दिया है क्या वे वेद में नहीं हैं?

आरम्भ में ही एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। लेखक को यह भ्रम है कि जिस धर्म की चर्चा हमने की है वह हम अथवा हमारे गुरुदेव से पहले नहीं था, जैसे हम कोई नया धर्म चलाने जा रहे हों! जबकि ऐसी कोई बात नहीं है। हम तो कहते हैं कि संसार भर के लोगों का धर्म एक ही है- सनातन-धर्म! कैसा हमारा? कैसा आपका? कैसा सम्प्रदाय? कैसा नया? कैसा पुराना? हम ठीक वही चाहते हैं जो वैदिक ऋषियों ने बताया है, जो उपनिषदों में है, भगवान शिव, भगवान राम और भगवान श्रीकृष्ण ने जिसे दृढ़ाया है। गीता में उन्होंने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा है। अध्याय तेरह में वे कहते हैं, **ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।** *(१३/४)*- जो ऋषियों द्वारा कहा गया, जो वेद में है, जो ब्रह्मसूत्र के पदों में है, वही सब अकेले गीता में है। महात्मा बुद्ध, महावीर, मूसा, ईसा, मुहम्मद, कबीर और नानक - इन सबकी मूल शिक्षा, सबका धर्म एक ही है, कहीं कोई अन्तर नहीं है। धर्म को इसी शुद्ध रूप में जन-जन को बताना हमारा उद्देश्य है।

धर्म हमेशा से एक ही है। उसमें कुरीतियों के समावेश से जब सामाजिक विषमता बढ़ जाती है, तो कोई महापुरुष उसे समता के धरातल पर ला देता है। समानता देता है इसलिये सम्प्रदाय कहलाता है। सम्प्रदाय कोई नया धर्म नहीं बल्कि विकृतियों के परिमार्जन का एक संगठित प्रयास मात्र है। मानव का दुर्भाग्य है कि जब किसी ने सच बताना चाहा, तो परोपजीवियों ने उन्हें नया कहकर समाज को सत्य से परिचित नहीं होने दिया। उन्हें भय था कि लोग सच जान जायेंगे, तो उनकी रोजी-रोटी चली जायेगी। उनका भय सुरेन्द्र के भय की तरह अकारण है, जिसके लिये गोस्वामीजी ने कहा है-

सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जान जड़, तिमि सुरपतिहि न लाज।। *(मानस, १/१२५)*

* सर्वप्रथम तो उनका शीर्षक ही आपत्तिजनक है, जिसमें उन्होंने हम सब पर नास्तिक होने का फतवा जारी कर दिया है। आस्तिकता और नास्तिकता के सम्बन्ध में उनका मापदण्ड चाहे जो हो, भगवान श्रीकृष्णोक्त गीता में है कि- अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का तीनों कालों में अभाव नहीं है। आत्मा ही सत् है और भूतादिकों के शरीर नाशवान् हैं, वे हैं ही नहीं। इस परिभाषा के अनुसार जो अस्तित्व का उपासक है, जो सत् का उपासक है, जो एकमात्र परमात्मा के प्रति श्रद्धावान् है वही आस्तिक है और जो नश्वर के पीछे भटक रहा है, नास्तिक है। **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** *(गीता ८/१६)*- ब्रह्मा और ब्रह्मा से उत्पन्न सृष्टि सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, पहाड़, जल, अग्नि, आकाश, पेड़-पौधे इत्यादि नश्वरों की जो पूजा करता है, नास्तिक है। इन नश्वर कलेवरों के पीछे जो भटक रहा है, जो इनमें समय दे रहा है,

इनको सन्तुष्ट करने में लगा है, वह नास्तिक है। लेखक महोदय पुनर्विचार करें कि आश्रमीय साहित्य में एक परमात्मा की ही उपासना पर बल दिया गया है अथवा नहीं?

* लेखक ने सनातन-धर्म के महान् प्रचारकों में कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य और उदयनाचार्य का नाम लिया है और अपने को उनका उत्तराधिकारी मान लिया है। इनमें से उदयनाचार्य को कितने लोग जानते हैं? जनसमाज इस नाम के किसी व्यक्ति, उसके जीवन-कृतित्व अथवा किसी देन से परिचित नहीं है।

अब रही बात कुमारिल भट्ट की! कहते हैं, बहुत दिनों तक वे बौद्धों के बीच रहे; किन्तु लोग उन्हें इसलिये जानते हैं कि आचार्य शंकर कर्मकाण्ड के विरोध में उनसे शास्त्रार्थ करने गये थे। उन्हीं आचार्य शंकर की गद्दी से आप कुमारिल की, शंकर के विरोधियों की पैरवी कर रहे हैं! उस समय कुमारिल भट्ट प्रयाग में तुषानल में अपना शरीर हठ करके जला रहे थे। उन्होंने आचार्य शंकर को अपने शिष्य मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने को कहा और स्वयं जल गये। कुमारिल से शंकर का शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं, तो वे आचार्य शंकर के समर्थक या सनातन के प्रचारकों में कब से गिन लिये गये?

आचार्य शंकर जिस सिद्धान्त के प्रचार के लिए विख्यात हैं, वह है- **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।'** उनका श्लोक है-

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वं मायामयं जगत्।
सत्यं सत्यं पुनर्सत्यं हरेर्नामैव केवलम्।।

अर्थात् ब्रह्मा से लेकर कीटपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् नश्वर है। इसमें सत्य है केवल हरि और हरि का नाम। इसलिये **'करतल भिक्षा तरुतल वासं'** करना पड़े तब भी **'भज गोविन्दम्'**- एक परमात्मा के भजन पर बल दिया। उन्हीं की गद्दी से आप सब करोड़ों देवी-देवता की पूजा बता रहे हैं। आचार्य शंकर ने कहा कि **'न मे जातिभेदः'**, तो लेखक महोदय जाति-पाँति को ही धर्म बता रहे हैं। न राम ने अपने नाम के साथ सिंह लगाया, न श्रीकृष्ण ने यादव। क्या आचार्य शंकर ने अपने को तिवारी कहा या शुक्ला?

कर्मकाण्डों के विषय में आदि शंकराचार्यजी ने कहा-

कुरुते गंगासागर गमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीनं सर्वमतेन मुक्तिर्नभवति जन्मशतेन।।

अर्थात् गंगा ही नहीं, गंगासागर तक की तीर्थयात्राओं से, व्रत अथवा दान से भी कुछ होनेवाला नहीं है। हर तरह से यह निर्विवाद है कि आत्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। यह आचार्यश्री का मत है और उन्हीं की पीठ पर बैठकर आप सब कर्मकाण्ड की पैरवी कर रहे हैं।

अनुश्रुति है कि बत्तीस वर्ष की अल्पायु में आचार्य शंकर की हत्या कर दी गयी थी। उन्होंने जिन पाँच हजार उद्भट कर्मकाण्डियों को परास्त किया था, उस समय की परम्परा के अनुसार उन सबको आचार्य शंकर का शिष्यत्व स्वीकारना पड़ा था। वे निरुत्तर भले हो गये थे लेकिन उनका दिल-दिमाग उस कर्मकाण्ड से मुक्त नहीं हो पाया था जिन्हें वे आजीवन करते आ रहे थे। दिग्विजयरत आचार्य शंकर के सान्निध्य में रहने अथवा उनसे प्रशिक्षण प्राप्त करने का सौभाग्य उन्हें नहीं मिल पाया था। लगता है कि उन्होंने शिष्यत्व का अभिनय मात्र किया था। यही कारण है कि आचार्य शंकर के तिरोहित होते ही उनकी गद्दियों से कर्मकाण्ड समर्थक श्लोक और आचार्य शंकर के नाम से गीता और उपनिषदों के भाष्य लिखे जाने लगे।

कितना अन्तर्विरोध है कि जो महापुरुष 'एको ब्रह्म' का उद्घोष कर रहा हो, उसी के नाम से विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियाँ प्रचलित हैं। जिन महापुरुष ने कहा- **'कः पूजनीयः शिवतत्त्वनिष्ठः।'** पूज्यनीय कौन है? आचार्य कहते हैं कि शिवतत्त्व में स्थित कोई महापुरुष! लेकिन आज अपने को उन्हीं महापुरुष का शिष्य बताकर कोई गाय-बैल की पूजा बता रहा है, तो कोई संध्या-गायत्री की। जिन आचार्य ने 'किं कर्म यत्प्रीतिकरे मुरारे।' कहकर एक ही प्रशस्त कर्म बताया, तो उन्हीं के गीताभाष्य में कर्म को पाँच प्रकार का बताया गया है। दोनों में से किसे पूज्य आचार्य का मानें, किसे न मानें?

स्पष्ट है कि विरक्त महापुरुषों का स्थान जब उनके साधनरहित, अधकुचले शिष्य ग्रहण करने लगते हैं, तो साधन उनसे पार होता नहीं, अपने पूर्व गृहस्थ जीवन के आग्रहों से मुक्त नहीं हो पाते, इसीलिये वास्तविक क्रिया के स्थान पर वे अनन्त क्रियाओं का प्रचार करने लग जाते हैं। यह उन्हीं की देन है कि एक धर्म अनेक विपरीत धर्मों के रूप में दिखाई देने लगता है, जो कालान्तर में कलह का कारण बनता है। आचार्यजनों से अनुरोध है कि पूज्य गुरुजनों को गलत ढंग से प्रस्तुत कर उनमें अश्रद्धा की भावना न पैदा करें।

* लेखक को यह गलतफहमी हो गयी है कि वेद को मानने और उसके बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कहने का ठेका उन्हीं को मिल गया है। वेद अकेले उन्हीं का नहीं, मानवमात्र की निधि है। परमात्मा की शोध का पहला विवरण वैदिक ऋषियों द्वारा मिला है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक परमात्मा का ही तो अस्तित्व है। अतः परमात्मा के शोध-ग्रन्थ वेद को कौन इनकार कर सकता है। वेद का महत्त्व इसलिए है कि वह शाश्वत सत्य परमात्मा को दृढ़ाता है; किन्तु जो बात वेद में नहीं है, उसको भी 'वेद में है..वेद में है' ऐसा कहकर सीधी, श्रद्धालु जनता का भयादोहन न करें। अब हर बात को धर्म कहकर मनवाने का औचित्य नहीं रह गया; क्योंकि भारत अब साक्षर है।

लेखक का दावा है कि वेद सनातन इसलिए है कि उसमें तारीख नहीं दी गई है या किसी आदमी ने उसे नहीं बनाया है। सनातन का यह कौन-सा लक्षण है? तारीख लिखना भूल गये, तो कृति सनातन बन गई? अंग्रेज इतिहासकार इसीलिये कहते हैं कि भारत के लोग इतिहास लिखना नहीं जानते थे। प्राचीन भारतीय वस्तुओं का तिथि-निर्धारण अन्य देशों की वैसी वस्तुओं की तुलना द्वारा करने का प्रयास चल रहा है। तिथि न लिखी होने से कोई वस्तु न तो प्राचीन हो जाती है और न इससे वस्तु का गौरव ही बढ़ता है।

जब वेद ही लेखक का मुख्य ग्रन्थ है तो अधिक अच्छा होगा कि अपने प्रवचनों में जनता को वेद की ऋचाएँ और संस्कृत में ही उनका अर्थ बताया करें। वेद जानने की बात तो दूर, अधिकांश जनता ने इन पुस्तकों को देखा तक नहीं और देख भी नहीं सकते; क्योंकि लेखक के अनुसार वेद सबको देखने और पढ़ने का अधिकार ही नहीं है। हम उनसे पूछना चाहते हैं कि जिस पुस्तक पर वे लोग कुण्डली मारकर बैठे हैं, उनके अनुसार जिस पुस्तक को रटे बिना कोई मोक्ष नहीं पा सकता, उन्हीं द्वारा अनुमोदित पाराशरादि स्मृतियों में है कि उसी पुस्तक का एक वाक्य पढ़ लेने पर शूद्र नरक में चला जायेगा। यह पुस्तक है या नरक का दरवाजा? अपवर्ग की साधिका है या नरक का आरक्षण? वे तो शंकराचार्यजी के भी बहुत पहले से हैं, इस पर शंकराचार्यजी का एकाधिकार या आपलोगों का कब्जा कब से हो गया? शंकराचार्यजी का ही मत सनातन है, जो वि.सं. ८४५-८७७ में हुए थे?

लेखक का दावा है कि वेद मोक्ष का दरवाजा है; किन्तु भगवान श्रीकृष्ण यह नहीं मानते। गीता में है कि **'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।'** *(गीता, २/४५)* अर्थात् वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं, इसके आगे का हाल वे नहीं जानते। अर्जुन! तू तीनों गुणों से ऊपर उठ। नित्यवस्तु आत्मा है, उसमें स्थिति प्राप्त करो। जो तीनों गुणों तक सीमित है वह मोक्ष का दरवाजा कैसे ?

तो क्या वेद का कोई महत्त्व नहीं है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि महत्त्व है; किन्तु एक सीमा तक ही। कितना है? इस पर बताते हैं -

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। *(गीता, २/४६)*

अर्थात् चारों ओर लबालब भरे हुए स्वच्छ जलाशय के प्राप्त होने पर गड़ही इत्यादि छोटे-मोटे जलाशयों का जितना उपयोग रह जाता है, उतना ही ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से रह जाता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने 'वेद-वेद' कहकर चिल्लानेवालों की 'वेदवादरताः' कहकर भर्त्सना की है। *(देखें, गीता, २/४१-४४)*

भगवत्पथ में वेद कहाँ तक सहायक हैं? पोथियों का कितना उपयोग है? योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि कोई उपयोग नहीं है। ये सहायक नहीं प्रत्युत् बाधक हैं-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। *(गीता, २/५३)*

अर्थात् वेदवाक्यों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब स्थिर हो जायेगी, तब तू योग को प्राप्त होगा। यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि वेदवाक्यों को सुनने से बुद्धि विचलित हो जाती है।

मान लें, वेदों में वर्णित धर्म का पालन यदि किसी ने कर ही लिया तो मिलेगा क्या? योगेश्वर श्रीकृष्ण बताते हैं- **'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।'** *(गीता, ६/२०)* कहते हैं कि वेदों में बताये धर्म का पालन करनेवाले **'गतागतं लभन्ते'**- आते-जाते रहते हैं, आवागमन में पड़े रहते हैं, इसी को आदि शंकराचार्य ने 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी-जठरे शयनम्' कहकर सतर्क किया है।

क्या वेद के अध्ययन या वेदान्त वाक्यों के श्रवण से ईश्वर को देखा जा सकता है? योगेश्वर श्रीकृष्ण का निर्णय सुनें- अर्जुन! मैं न तो वेद से, न यज्ञ से, न अध्ययन से, न दान से, न अनेक क्रियाओं से और न उग्र तप से ही देखा जा सकता हूँ। परन्तु हे परंतप! अनन्य भक्ति के द्वारा मैं न केवल देखने बल्कि तत्त्व से जानने और प्रवेश करने के लिए सुलभ हूँ। *(गीता, ११/४८, ५४)*

इन उद्धरणों से लगता है कि भगवान श्रीकृष्ण वेद को नहीं मानते; किन्तु ऐसी बात नहीं है। वे जिस वेद को मानते हैं, वह इन चारों वेदों से अलग ही कोई वेद है-

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। *(गीता, १५/१)*

ऊपर उत्कृष्ट परमात्मा ही जिसका मूल और नीचे प्रकृतिपर्यन्त जिसकी शाखा-प्रशाखायें हैं- यह संसार ऐसा अविनाशी वृक्ष कहा गया है। वेद इसके पत्ते हैं। जो इस संसार-वृक्ष को जानता है अर्थात् जो प्रकृतिसहित परमात्मा को जान लेता है, वह वेदवित् है। आगे कहते हैं- ऊपर-नीचे सर्वत्र इसकी जड़ें और शाखायें हैं अर्थात् परमात्मा और प्रकृति सर्वत्र हैं। हर व्यक्ति में परमात्मा का निवास है। अतः जिस क्षण से वह अनन्य भाव से परमात्मा में श्रद्धावान् होता है तत्क्षण वह परमात्मा उसमें जागृत हो जाता है, उसे जानकारी प्रदान करने लगता है; यही वेद है, न कि पोथी। इसे भगवान ही पढ़ाते हैं। आज भी ऐसा ही है और सदैव ऐसा ही रहेगा। इसी अर्थ में वेद अपौरुषेय हैं। इसी अर्थ में वेद परमात्मा का निःश्वास है, न कि परमात्मा किसी पत्ते पर लेटा आराम कर रहा है और उसकी श्वसन-क्रिया से वेद लिख उठा।

वेद जिसके पत्ते हैं ऐसे सुविरूढ़मूल अश्वत्थ की पूजा नहीं करनी है, बल्कि **'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'** *(गीता, १५/३)*- असंगरूपी शस्त्र से इस वृक्ष को काट डालना है। आप असंग हो जायेंगे, तो कौन-सा वैदिक अनुष्ठान, कौन-सा कर्मकाण्ड करेंगे? कोई कर्मकाण्ड नहीं, केवल **'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं'** *(गीता, १५/४)* उस परमपद की खोज करनी चाहिये। गीता में ही भगवान कहते हैं कि-

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। *(गीता, १५/१५)*

अर्जुन! मैं सबके हृदय में स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान, तर्कशक्ति है। जानने की सभी वस्तुओं में मैं ही जानने योग्य हूँ और जब जानकारी हो गई तो मैं ही वेदान्त का कर्त्ता और मैं ही वेदवित् अर्थात् वेद को जाननेवाला हूँ। अभी पहले श्लोक में कहा था कि जो जानता है वह वेदवित् है, यहाँ कहते हैं कि मैं भी वेदवित् हूँ। जैसे वह जाननेवाला, वैसे ही श्रीकृष्ण वेदवित् हैं। परमात्मा का ज्ञान हो जाना ही वेद का अन्त या वेदान्त है न कि उपनिषद् या महर्षि बादरायण के नाम से प्रचलित उत्तर-मीमांसा वेदान्त है। एकमात्र परमात्मा के स्मरण को ही योगेश्वर स्मृति मानते हैं न कि मनु या कपिल की स्मृति को। अतः इस प्रलाप का कोई औचित्य नहीं रह जाता कि हम वेद नहीं मानते। हम भी वेद को उतना ही और उसी रूप में मानते हैं जैसा और जितना योगेश्वर श्रीकृष्ण की गीता एवं अन्य उपनिषदों में है।

* लेखक ने अच्छा याद दिलाया कि हम श्रौत और स्मार्त का अन्तर नहीं जानते। वे कहते हैं कि स्मार्त लोग वेद भी मानते हैं। तब तो श्रौत लोग स्मृति भी मानते होंगे! फिर दोनों में अन्तर ही क्या रहा? जिन धर्मसूत्रों, स्मृतियों, पुराणों को आप मानते हैं, हम उन्हीं से उद्धरण देना चाहेंगे कि पहले श्रौत और स्मार्त किसे कहते थे?

दाराग्निसम्बन्धमिज्या श्रौतस्य लक्षणम्।
स्मार्तो वर्णमाश्रमाचारो यमैश्च नियमैर्युतः।।

श्रौत के अन्तर्गत वे कृत्य आते हैं जिनके नाम वेद में हैं और विधि-विधान संहिता-ग्रन्थों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में हैं; जैसे- अग्नियों की स्थापना, दर्श पौर्णमासादि यज्ञ, सोमकृत्य इत्यादि। स्मार्त में वे कृत्य आते हैं जो स्मृतियों में हैं तथा वर्णाश्रम आचार-विचार से सम्बन्धित हैं- **'अग्न्याधान पूर्वकोऽधीत प्रत्यक्षवेदमूलो दर्शपौर्णमासादि श्रौतः। अनुमित परोक्ष शाखामूलः शौचाचमनादिः स्मार्तः।।'** मजे की बात तो यह है कि सभी स्मृतियों का भी मूल वेद में खोजने का प्रयास किया जाता है और जिस आचरण के सम्बन्ध में वेद में कहीं नहीं मिलता उसके लिए पट्टी पढ़ा देते हैं कि इस सम्बन्ध में कोई श्रुति रही होगी जो अब लुप्त हो गई है।

यहाँ हम यह भी रहस्योद्घाटन करना चाहेंगे कि लेखक ने ऐसा क्यों लिखा है कि स्मार्तानाम वेद को मानते हैं? ऐसा इसलिये कहते हैं कि स्मार्तानाम सम्प्रदाय आदि शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित बताया जाता है। शंकराचार्यजी के पहले इस नाम का कोई संगठित सम्प्रदाय नहीं था। स्मार्तानाम में पंचदेवोपासना (विष्णु, शिव, गणेश, शक्ति और सूर्य की पूजा) अनिवार्य है। कितनी विडम्बना है कि जिस महापुरुष ने कहा था- **'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'** (श्रुति है 'एकं सत्', वेदान्त है 'एको देवो') तो उन्हीं शंकराचार्य के सुयोग्य शिष्य पंचदेवः का प्रचार कर रहे हैं, जबकि पंचदेव होते ही नहीं, पंच तो महाभूत होते हैं। क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर इनको या ग्रहों-उपग्रहों को जल चढ़ाना, पर्वत और वृक्षों की पूजा कोई विधा नहीं है। कदाचित् फल मिल भी जाय तो श्रीकृष्ण कहते हैं वह फल नष्ट हो जाता है और पूजनेवाला भी नष्ट हो जाता है। तो जब करना ही है तो उस विधि से पूजन क्यों न करें, जिसका न तो फल नष्ट होता है और न पूजनेवाला- **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** ***(गीता, ६/३१)***। शैव, वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों का आचार्य शंकर ने खण्डन किया था, आज के स्मार्त उन्हीं की पूजा कर रहे हैं। श्रौत-स्मार्त विशेषज्ञ लेखक महोदय कृपया बतायें कि श्रुतिसम्मत एक परमात्मा की पूजा गलत है या स्मार्तों की पंचदेवोपासना गलत है?

* इसी तरह महाराज मनु या मनुस्मृति की निन्दा करना हमारा मंतव्य नहीं है; क्योंकि उनका धर्मशास्त्र जिस रूप में उपलब्ध है उसमें बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया और बदल दिया गया है। नारदस्मृति में है कि मनु के धर्मशास्त्र का संक्षेपण और परिवर्द्धन नारद, मार्कण्डेय और सुमति भार्गव ने किया। कई स्मृतियों में मनु ने जो श्लोक कहे हैं आज की मनुस्मृति में दिखायी नहीं देते। हेमाद्रि ने बताया कि मनु के शास्त्र को भृगु, नारद, बृहस्पति और अंगिरा ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया। अनुश्रुति है कि वर्तमान सभी स्मृतियाँ पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल में लिखी गईं- इसकी पुष्टि स्वयं मनुस्मृति से भी होती है; जैसे इसमें यवन, कम्बोज, शक, पहलव और चीनों के नाम हैं (१०/४४) जिनका उल्लेख मौर्य सम्राट अशोक के शिलालेखों में है, पहले नहीं। अतः ये स्मृतियाँ मौर्य-शासन के बाद की हैं।

यहाँ हमें एक स्पष्टीकरण देना है। इस प्रकरण में अथवा अन्यत्र की अनेक आधुनिक कृतियों से उद्धरण दिये गये हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम समग्र ग्रन्थ से सहमत हैं। इसका आशय भी नहीं निकाला जाना चाहिये कि हमने अपने काम की पंक्ति को तो ले लिया और शेष विचारों से बच निकले। उद्धरण तो हम लेखक की विरोध-पुस्तिका का भी देते हैं, तो क्या हम उन्हें मान लेते हैं? आपके उचित को ही मानते हैं। जहाँ आवश्यक है, समीक्षा करनी पड़ती है। उनके या उन-जैसों के विचारों का खोखलापन

दिखाने के लिये या उन्हीं के तर्कों में अन्तर्विरोध बताने के लिये भी उद्धरण दिया जाता है और कहीं-कहीं उद्धरण देना मात्र भाव-साम्य के लिये होता है। इसका यह भी आशय नहीं कि हम किसी पुस्तक को प्रमाण नहीं मानते। सर्वांग रूप से हम श्रीमद्भगवद्गीता को प्रमाण मानते हैं। हम यह भी मानते हैं कि गुरु का एक वाक्य मिल जाय, तो वह करोड़ों शास्त्रों से बढ़कर है और साधन आरम्भ होने पर प्रभु जो आन्तरिक निर्देश देते हैं, जिसे मनीषियों ने स्वानुभव की संज्ञा दी है, वह सभी बाह्य प्रमाणों से बढ़कर है, इसके पश्चात् पुस्तक का कोई सहयोग नहीं रह जाता। क्रिया में उतरने पर गीता, सद्गुरु और आन्तरिक निर्देशों में कहीं कोई टकराव नहीं है। परमात्मा अपरिवर्तनशील है। करोड़ों वर्ष पश्चात् भी जब वह निर्णय देगा तो एक-जैसा ही देगा।

केवल पोथी ही प्रमाण नहीं है। सन्त कबीर कहते हैं- **'तूँ कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी, मेरा तेरा मनवा कैसे एक होय।'** पूज्य गुरुदेव कहते थे- साधन लिखने में आता ही नहीं। लिखा ही नहीं जा सकता। भजन भगवान करा लेते हैं, हृदय से रथी बन जाते हैं। मार्गदर्शन करने लग जाते हैं। उनकी आज्ञा का पालन ही भजन है। वह सब शास्त्रों से बढ़कर है, विधि-निषेधों से ऊपर है; किन्तु लेखक महोदय की विवशता है कि वह जिस सम्प्रदाय से चिपक गये हैं, वहाँ वेद के अतिरिक्त स्वानुभव के लिये कोई स्थान ही नहीं है। वेद का भी वे वही अर्थ मान सकते हैं जो उनकी साम्प्रदायिक व्याख्या है। श्री रामानुजाचार्य की व्याख्या उन्हें स्वीकार्य नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर, कीथ, मैकडानल, रास, जॉली इत्यादि के भाष्य तथा स्वामी दयानन्द या सातवलेकर इत्यादि भारतीय विद्वानों ने वेद का जो अर्थ लगाया है वह इन्हें मान्य नहीं है।

ये ईश्वरीय संकेत, अन्तर्प्रेरणा, अनुभव या ईश्वरीय आदेश जैसी भी कोई बात स्वीकार नहीं सकते अन्यथा इनकी आधारशिला ही खिसक जायेगी। **'निज निज मुखन कही निज होनी।'** ***(मानस, १/२/३)***, **'कबि उर अजिर नचावहिं बानी।'** ***(मानस, १/१०४/६)***, **'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।'** ***(मानस, ७/११२/१)***, **'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।'** ***(मानस, ३/३८/५)***, **'उभय घरी महँ सब देखा।'** ***(मानस, ७/८१/८)***, **'निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।'** ***(मानस, ७/८८/५)*** इत्यादि स्वानुभव प्रमाण की कोई व्याख्या इनके पास नहीं है। जितना वेद में लिखा है उतना ही सच है, जितना बाइबिल में है उतना ही सच है या जितना कुरान में या ग्रन्थसाहिब में है उतना ही सच है। संकीर्णता, कट्टरता, साम्प्रदायिकता और क्या होती है? कहा जाता है कि किसी सेनापति ने सिकन्दरिया का विशाल पुस्तकालय यह कहकर जला दिया कि यदि ये पुस्तकें कुरान के ख़िलाफ हैं तो कुफ्र हैं और यदि इनमें वही सब है जो कुरान

में है, तो इतना पढ़ने की जरूरत क्या है? कुरान तो है ही। ऐसी भावुकता न तो प्रशंसनीय है और न अनुकरणीय। पुस्तक कोई भी हो, पूजा की वस्तु नहीं, माइल स्टोन (मील के पत्थर) की तरह है, देखा और रास्ते पर बढ़ गये। अस्तु, अब हम पुनः मनुस्मृति पर आते हैं।

यह स्मृति किसी सत्ययुग की रचना नहीं है। उन मनु ने भी इसे नहीं लिखा है, जिनके लिये 'मानस' में है कि **'स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा।।'** ***(मानस, १/१४१/१)*** वे आदिपुरुष माने जाते हैं और जब भगवान ने वर दिया तो कहा **'कस्यप अदिति महातप कीन्हा।'** ***(मानस, १/१८६/३)*** सारी सृष्टि कश्यप और अदिति से मानी जाती है। इस प्रकार मनु-शतरूपा, कश्यप-अदिति आदिपुरुष हैं, एक हैं। इनकी सन्तानों में हैं देवता और दानव, सुर और असुर, आर्य और दस्यु, जिनका वर्णन वेद में है। आरम्भ में इन दो जातियों का उल्लेख मिलता है। इसके पश्चात् यक्ष और रक्ष जातियों का वर्णन मिलता है, गन्धर्व और किन्नरों की चर्चा है और वाल्मीकीय रामायण तक मंडूर, हैहय, गज, वानर, ऋक्ष, गृद्ध इत्यादि मानव-जातियों का वर्णन मिलता है। जामवन्त अच्छे ज्योतिषी थे, हनुमान सुसंस्कृत परिमार्जित भाषा बोलते थे। उस समय तक यही जातियाँ थीं; किन्तु मनुस्मृति में जिन कहार, केवट, सुनार, तेली, लुहार, झल्ल, मल्ल, लिच्छिवि जातियों का विवरण है, सब-की-सब आधुनिक हैं। अधिक से अधिक यह स्मृति महाभारतकाल के बाद की है; क्योंकि इसमें से कुछ नाम तथा शक-यवन-कम्बोज-द्रविड़-दरद-खस-किरात जातियों का वर्णन महाभारत के पहले से किसी ग्रन्थ में नहीं है। ऐसा लगता है कि वर्तमान मनुस्मृति और वर्तमान महाभारत दोनों में परिवर्तन हुआ है।

महाभारतकाल तक भैंस और भैंसा जंगली जानवर थे। उनसे दूध भी निकाला जा सकता है, इसकी कल्पना भी नहीं थी। महाभारत में भेड़, बकरी, गाय, गधी और उँटनी तक के दूध की चर्चा है किन्तु भैंस के दूध की खोज नहीं थी; परन्तु मनुस्मृति में है कि जंगली पशुओं में भैंस का दूध लिया जा सकता है। लगता है कि उस समय भैंस की धर-पकड़ शुरू हो गई थी- जैसे आजकल अफ्रीका में मृगी का दूध निकाला जा रहा है, मृगी डेरी फार्म बने हैं; भारत में अभी ऐसा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मनु के नाम पर जो स्मृति उपलब्ध है वह किसी सत्ययुग में नहीं लिखी गई है। इस किताब का मनु कथानक के काल्पनिक पात्र की तरह है, जैसे- कालिदास का मेघदूत।

इस प्रदूषित मनुस्मृति में महाराज मनु के वास्तविक विचारों की झलक भी यत्र-तत्र है, जो गीता के अनुरूप है, जैसे- अध्याय दो में है कि वेद में वर्णित हवन, यज्ञादि क्रियाओं के फल नष्ट हो जाते हैं; किन्तु ओंकार का कभी नाश नहीं होता। दर्श

पौर्णमासादि विधि यज्ञों से, चार पाक यज्ञों (पितृकर्म, हवन, बलि, वैश्वदेव) इन सबसे जप-यज्ञ सोलह गुना बड़ा है (१/८४-८६), जिसे लेखक ने दोना चाटने की संज्ञा दी है।

अध्याय चार में मनु का प्रशस्त विचार है- जो गीता की अनुकृति है, वही शैली, वही शब्द कि यज्ञशास्त्र के जानकार लोग ऋषियज्ञ (वेदाध्ययन), देवयज्ञ (होम), भूतयज्ञ (बलि), नृयज्ञ (अतिथि सेवा) और पितृयज्ञ (तर्पण) जैसे महायज्ञों को न करके सदैव ज्ञानेन्द्रियों में विषयों का हवन करके इन यज्ञों का सम्पादन करते हैं। गीता के भी चौथे अध्याय में 'जुहति' वाले कई श्लोक हैं।

लेखक ने मनु की इस उक्ति का दुरुपयोग किया है कि सम्पूर्ण क्रियाओं का अन्तर्भाव ईश्वर की उपासना में है (१२/८७) और गढ़ने लगे हैं अपने मन से क्रियाएँ। लिखते हैं कि सनातन-धर्म में क्रिया की उतनी महिमा नहीं है जितनी भावना की है। साधारण क्रिया भी अच्छे भाव से की जाय तो धर्म है और भावना के अनुसार फल देती है, जैसे- गाय भले पशु-योनि में है यदि उसकी पूजा की जाय तो वह आपको तार देगी; किन्तु इन निष्कर्षों का मनु से कोई सम्बन्ध नहीं है। नितान्त अच्छी भावना से साँप पकड़िये, वह काट लेगा। भावना के लिये आधार भी प्रशस्त होना चाहिये।

जिन क्रियाओं का अन्तर्भाव ईश्वर की उपासना में होता है, मनु ने उन छः क्रियाओं को गिनाया है कि वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और गुरुसेवा; किन्तु आत्मज्ञान इन सबसे श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि वह सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है और उसी से अमृतत्व की प्राप्ति होती है *(१२/८३-८५)*। मनु ने गिनाया छः तो गढ़ लेते हैं साढ़े छः सौ। और मनु के विपरीत एक मजेदार तर्क देते हैं कि इन पंक्तियों में कर्मकाण्ड की निन्दा नहीं बल्कि आत्मज्ञान की प्रशंसा है। अर्थात् किसी की प्रशंसा करनी हो तो दूसरों की निन्दा की जा सकती है- इसी तर्क का सहारा लेकर लेखक महोदय और उनका पूरा ग्रुप कहता है कि जिन प्रसंगों में वेदादि की तुच्छता बतायी गयी है वह वेद की निन्दा नहीं है बल्कि भक्ति की महिमा में या आत्मज्ञान की महत्ता सूचित करने के लिये है। तब तो लेखक को यह भी मान लेना चाहिए कि वेद में भक्ति या आत्मज्ञान है ही नहीं। यह तो ऐसा ही हुआ कि दवा की महिमा बताने के लिये कुपथ्य को प्रोत्साहन दिया जाय।

समस्या की जड़ में स्वयं वेद हैं, जिनके ६६ हजार कर्मकाण्ड और अन्तिम चार हजार मन्त्र ज्ञानपरक बताये जाते हैं, जिनमें कर्मकाण्डों का खोखलापन दिखाया गया है, अतएव दोनों भाग परस्पर विरुद्ध हैं। आदि शंकराचार्य इसके लिये यह समाधान देते हैं कि कर्मकाण्ड उसके लिये है जो अविद्या के पाश में बँधा है और ज्ञानपरक उद्‌बोधन उसके लिये है जो इन कर्मों का खोखलापन जान चुका है और इनसे ऊपर उठने के

लिये प्रयत्नशील है। मीमांसावाले वेद के ब्राह्मण भाग (कर्मकाण्ड) को प्रधान मानते हैं और उपनिषद्वाले हिस्से को महत्व नहीं देते। उनका कहना है कि इन कर्मकाण्डों के करने के बाद वह योग्यता स्वतः आ जाती है। रामानुज कहते हैं कि दोनों भाग सबके लिये है। हर प्रकार का कर्मकाण्ड भी किया जाय लेकिन गीता की निष्काम-भावना से। कोई अनुष्ठान फल की कामना से न किया जाय। इस प्रकार वेद को लेकर अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्त प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी विचार दिया है- **'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।'** *(मानस, ७/११६/६)* ये तो उपाय हैं ही नहीं। तो करें क्या? गोस्वामीजी तो कहते हैं-

गुरु कह्यो राम भजन नीको लगत मोहिं राज-डगरो सो। *(विनय०, १७३)*

मनुस्मृति में ही है कि जो स्मृतियाँ वेद से बाहर हैं, जो कुतर्कयुक्त हैं वे सब परलोक के लिये निष्फल होती हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि बहुत-सी स्मृतियाँ वेद के विपरीत भी हैं। जनसाधारण को बताना चाहिए कि वे कौन-कौन सी हैं? अतः किसी कथन को इसलिये नहीं माना जा सकता कि स्मृति में है। वेद से बाहर यह लोग घोषित करते हैं कपिल की स्मृति को, जिनके लिये गीता में भगवान कहते हैं कि सिद्धों में मैं कपिल हूँ, वह मेरी विभूति हैं। यम-नियम को लेखक महोदय भी स्वीकार करते हैं; किन्तु सांख्य और योगदर्शन को वेदमूलक नहीं मानते।

* लेखक का दावा है कि जो वेद नहीं पढ़ा है वह धर्म नहीं जान सकता, उसे धर्म के बारे में कुछ भी कहने का क्या अधिकार? ब्रह्म वेदान्तैकवेद्य है अर्थात् केवल वेदान्त द्वारा जानने में आता है। लेखक महोदय तो वेदान्ताचार्य हैं, जान लिया ब्रह्म को? दूसरी ओर उन्होंने यह भी लिखा है कि शबरी, रैदास सभी सन्त ब्रह्म को जाननेवाले हुए। बिना वेद पढ़े ये कैसे हो गये? शबरी ने कौन-सा वेद पढ़ा था? रामकृष्ण परमहंसजी ने कब वेद पढ़ा? रैदास को भगवान ने सन्त बनाया था, सनातन-धर्म के ठेकेदारों ने तो कदम-कदम पर उनका विरोध ही किया था। आज ही कितने धर्माचार्य अपने यहाँ रविदास जयन्ती मनाते हैं? बहुत हुआ तो बेचारे कुछेक हरिजन खजड़ी-मजीरा बजाकर उनकी याद कर लेते हैं या सरकारी प्रसारणों में उनका नाम सुनाई पड़ जाता है।

सन्त रविदास की तो बात ही छोड़िये, काशीवालों ने तो गोस्वामी तुलसीदासजी तक को चैन से रहने नहीं दिया, जिसका अन्तर्साक्ष्य उनकी दोहावली में है-

बासर ढासनि के ढका, रजनीं चहुँ दिसि चोर।
संकर निज पुर राखिऐ, चितै सुलोचन कोर।। *(दोहावली, २३९)*

अर्थात् दिन में काशी के ठगों के धक्के और रात में चोरों के उपद्रव, हे शंकरजी! कृपा करके अपनी नगरी में इनसे मेरी रक्षा कीजिए। उनका दोष क्या था? केवल इतना

ही कि उन्होंने देववाणी संस्कृत के स्थान पर जनभाषा हिन्दी को अपनाया था। उनका विचार था कि भगवान के लिये महत्त्व भाषा का नहीं, प्रेम का होता है-

का भाषा का संसकृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जु आवै कामरी, का लै करिअ कुमाच।। *(दोहावली, ५७२)*

इसके विपरीत लेखक ने अंग्रेजी का उद्धरण देकर कहना चाहा है कि 'संस्कृत इज द सिम्बल आफ इन्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन'। उन्हें पछतावा है कि हम इतनी संस्कृत नहीं जानते कि श्लोक गढ़ सकें। वैसे, हम किसी भाषा के समर्थक या विरोधी नहीं हैं। भाषा तो विचार-प्रकाशन का माध्यम मात्र है; किन्तु कोई भाषा पवित्र है, कोई अपवित्र, यह वर्गीकरण असंगत है। यह भी ईमानदारी नहीं है कि हम बात करें हिन्दी में, जियें-खायें हिन्दी से, किन्तु गौरव गायें संस्कृत का।

धर्म की तरह संस्कृत भाषा भी एक वर्ग द्वारा अपने कबीले तक सीमित कर दी गई। आज दशमी है तो कल एकादशी होगी ही- आप ऐसा नहीं कह सकते, पण्डित के पास जाना ही होगा। यही कारण है कि लोग अंग्रेजी डेट से काम चलाने लगे। इसी तरह कचहरी में उर्दू प्रचलन में आयी, हिन्दी है, लोग दूसरी-दूसरी भाषाओं से काम चलाने लगे। ये भाषाएँ राजभाषा बनने का गौरव पा गईं और सभी भाषाओं की जननी संस्कृत, आपकी देववाणी, लेखक के अनुसार परमात्मा जिस भाषा में बोलता है वह वाणी भारतीय संविधान में संरक्षण पाने के बावजूद पुरानी और मातृभाषा के रूप में अन्तिम साँस गिन रही है। बच्चे अधिक शुल्क देकर भी कान्वेंट में पढ़ते हैं, हिन्दी-अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ते हैं; किन्तु कोई भी अभिभावक छात्रवृत्ति, भोजन-वस्त्रादि की सुविधा पाने पर भी अपने बच्चे को संस्कृत पाठशाला में पढ़ाना पसन्द नहीं करता।

वैज्ञानिक आविष्कारों का वर्णन इस भाषा में है- ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु यह नियम संस्कृत में अवश्य है कि कौन मन्दिर में जा सकता है, कौन नहीं जा सकता? कौन घर बना सकता है, कौन नहीं बना सकता? कौन सम्पत्ति रख सकता है कौन नहीं रख सकता? ऐतरेय ब्राह्मण (जिसे भगवती श्रुति माना जाता है) में है कि-

शूद्रो अन्यस्य प्रेष्यः कामोत्थाप्यः यथाकाम वध्यः। *(३५-३)*

अर्थात् शूद्र दूसरों से अनुशासित होता है। वह किसी की आज्ञा से ही उठता-बैठता है, उसे कभी भी पीटा जा सकता है- ऐसे नियम संस्कृत में अवश्य हैं। आदमी-आदमी में घृणा का बीज बोनेवाली, कर्मकाण्डों में समाज को जकड़नेवाली भाषा भी तो संस्कृत ही है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने इन कर्मकाण्डों का समर्थन न करके एक भगवान राम की भक्ति पर बल दिया था। वे जिस काशी में रहते थे, वहाँ मुक्ति पाने के लिये कुछ

लोग अपने को करवत (आरे) से चीरते थे। वैसे भी काशी में देहान्त का बड़ा माहात्म्य बताया जाता है; किन्तु इसे न तो सन्त कबीर ने स्वीकार किया और न गोस्वामी तुलसीदासजी ने ही। गोस्वामीजी के अनुसार-

कासीं बिधि बसि तनु तजें, हठि तनु तजें प्रयाग।
तुलसी जो फल सो सुलभ, राम नाम अनुराग।। *(दोहावली, १४)*

कर्मकाण्डी लोग तुलसीदासजी को केवल काठ की माला धारण करनेवाला कहते थे, ज्ञानमार्गी उन्हें ज्ञानविहीन कहते थे, तो उपासनामार्गी भी उन्हें अपनाने को तैयार न थे-

करमठ कठमलिया कहैं, ग्यानी ग्यान बिहीन।
तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो, राम दुआरें दीन।। *(दोहावली, ९९)*

भजन के नाम पर कई मार्ग प्रचलित हैं, जैसे- कर्मकाण्ड, ज्ञान-मार्ग, उपासना-मार्ग इत्यादि; जबकि भजन में कोई दस-बीस मार्ग नहीं होता। भजन स्वयं एक मार्ग है, केवल एक आचरण है- दीनतापूर्वक एक परमात्मा के स्मरण में लग जाना। यही योगेश्वर श्रीकृष्ण का भी निर्णय है कि योग में निर्धारित क्रिया एक ही है और जो भजन के नाम पर अनेक क्रियाएँ करते हैं वे अविवेकी हैं। *(गीता, २/४१)*

* लेखक ने अन्तःकरण की शुद्धि तथा आत्मदर्शन के लिये यज्ञ, यज्ञोपवीत, ब्रह्मस्वरूपा संध्या-गायत्री, सूर्यार्घ, दान, प्राणायाम, यम-नियमादि और सत्यनारायण की कथा तक का उपयोग बताया है। इनमें से अहिंसा, सत्य इत्यादि यम तथा शौच, स्वाध्यायादि नियम तो अन्तःकरण को शुद्ध कर सकते हैं; क्योंकि ये क्रियाएँ मानसिक हैं, स्मृति के साथ इन क्रियाओं को करने से मन का निरोध होता है अन्यथा माला तो अभ्यासवश भी घूमती रह सकती है-

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।
मनवा तो चहुँ दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं।। *(कबीर)*

अस्तु, इन मानसिक क्रियाओं में भी परमात्मा की सतत स्मृति जरूरी है तभी आत्मशुद्धि सम्भव है; किन्तु बाहर वेदी बनाकर, यहाँ की वस्तु उठाकर वहाँ रखने से या अग्नि में कुछ जलाने से मन का निरोध क्यों होगा? प्रवृत्तिमूलक क्रियाओं से मन का निरोध आज तक किसी का न हुआ और न होगा। मन के संयम के लिये एकान्त-देश का सेवन, हर ओर से सिमटकर परमात्मा के ध्यान में लगना अपरिहार्य है। यह आत्मदर्शन की विधि है। सूर्य को जल देना आत्मदर्शन की विधि नहीं है। सूर्य को उस युग-जमाने में जल देते थे, जब सात घोड़ों की बग्गी पर सवार होकर उदयाचल से अस्ताचल की सीमित यात्रा करते-करते पसीने से लथपथ हो जाते थे और जब उनकी

पत्नी उनका तेज नहीं सह पाती है, जिसके उदय के समय राक्षस चारों ओर से घेर लेते थे- अब इन पौराणिक रूपकों में निहित सत्य को कोई बताता नहीं, लोगों की रूचि इनमें नहीं रही। अब सूर्य को जल पिलाकर या जलाशयों को दीप दिखाकर आत्मदर्शन की आशा न करें। सनातन के नाम पर विश्व के लोगों को क्या आप यही सिखाना चाहेंगे?

सत्यनारायण व्रत में दो-चार ऊटपटांग कहानियों के माध्यम से श्रोता के मन में कदाचित् यह बात बैठ भी जाय कि 'सत्य एव नारायणः'- एक परमात्मा ही सत्य है, तब तक कथा समाप्त हो जाती है। यह तो बताया नहीं जाता कि उस परमात्मा की प्राप्ति का आचरण कहाँ से आरम्भ करें? जिसमें क्रिया बतायी ही नहीं गई उस कथा का क्या उपयोग? रही बात यज्ञोपवीत और गायत्री से शुद्ध होने की। इस सम्बन्ध में आश्रम की एक पुस्तिका में विस्तार से द्रष्टव्य है। यहाँ केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि आत्मशुद्धि का यह तरीका क्या केवल हिन्दुओं तक सीमित है; क्योंकि विश्व के अन्य लोगों को आप हिन्दू बनायेंगे नहीं, वह तो आपके अनुसार भगवान ही बना सकते हैं और हिन्दुओं में भी केवल तीस प्रतिशत लोगों को यज्ञोपवीत और गायत्री से शुद्ध होने का अधिकार है, शेष सत्तर प्रतिशत शूद्रों तथा विश्व के सभी लोगों को आत्मशुद्धि का दूसरा रास्ता ढूँढ़ना होगा।

विश्व के मानवमात्र को बिना किसी भेदभाव के वेद के ऋषि आह्वान करते हैं- **'शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्राः।'** ***(श्वेताश्वतरोपनिषद्, २/५)।*** बिना किसी भेदभाव के योगेश्वर श्रीकृष्ण सबके लिये आत्मदर्शन की एक ही विधि बताते हैं, तो आप अलग से क्यों गढ़ रहे हैं? क्या भगवान राम, कृष्ण, शिव इन विधियों से परिचित नहीं थे जो आप बता रहे हैं? गीता में कदम-कदम पर वर्णित इस विधि को आप मान क्यों नहीं लेते कि -

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। ***(गीता, ८/१२-१३)***

अर्थात् इन्द्रियों को सब ओर से समेटकर, मन को हृदय-देश में स्थिर करके प्राण अर्थात् अन्तःकरण के व्यापार को मस्तिष्क में निरोध कर 'ओम्' जो ब्रह्म का परिचायक है उसका उच्चारण करें- जप करें और ध्यान मेरा करें- किसी महापुरुष का करें। अध्याय छः में कहते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि के लिये मेरा ध्यान करें (६/१२-१४)। अध्याय अठारह में बताते हैं आत्मदर्शन की विधि कि, शुद्ध बुद्धि से एकान्त-देश का सेवन, युक्ताहार-विहार, शब्दादिक विषयों का त्याग तथा ध्यानयोग के परायण हो वैराग्य

का आश्रय लें (१८/५२)। जब महापुरुष ने स्वयं विधि बतायी है, तो उसके अतिरिक्त नई-नई विधियों को गढ़ना जनता को गुमराह करके उनसे दक्षिणा लेने का उपक्रम मात्र है।

* गोस्वामीजी का बड़ा स्पष्ट विचार है कि-

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ।।

(मानस, १/२/५-६)

अर्थात् सद्बुद्धि, कीर्ति, परमगति, ऐश्वर्य और कल्याण- इतनी वस्तुओं को जिसने जब भी पाया, उसे सत्संग का परिणाम जानना चाहिये। इनकी प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय न वेद में है, न लोक में। जब कल्याण का दूसरा कोई उपाय वेद में नहीं है तो आप गऊ और ब्राह्मण की पूजा से परमगति किस वेद से सिद्ध कर रहे हैं? जो बातें वेद में आपको दिखाई दे रही हैं, क्या वे गोस्वामीजी को दिखाई नहीं पड़ी थीं? वेद विरोधी आप हैं या गोस्वामीजी, जिन्होंने लिखा कि- **'श्रुति पुरान बहु कहे उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।'** *(मानस, ७/११६/६)* तब तो आप उन्हें भी कह देंगे- **'चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े।'** *(मानस, १/११/२)*

'अतुलित महिमा बेद की तुलसी किएँ बिचार।' *(दोहावली, ४६४)* गोस्वामीजी वेद हमसे या आपसे भी अधिक मानते थे, जानते थे। लिखी हो वेद में कोई बात; किन्तु गोस्वामीजी का विचार है कि-

श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी।
राम भजिअ सब काज बिसारी।। *(मानस, ७/१२२/२)*

वेद ही नहीं, सभी पुराणों, किंवा सभी ग्रन्थों का निचोड़ केवल इतना है-

श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं।
रघुपति भगति बिनु सुख नाहीं।। *(मानस, ७/१२१/१४)*

सब ओर से सिमटकर एक परमात्मा में श्रद्धा का स्थिरीकरण यही वैदिक अवधारणा है-

सब कर मत खगनायक एहा।
करिअ राम पद पंकज नेहा।। *(मानस, ७/१२१/१३)*

तो आप भागेंगे कभी देवी की पूजा की ओर, तो कभी लक्ष-चण्डी यज्ञ की ओर!

कृपया स्पष्ट उत्तर दें कि वेद के आशय को उज्जैन के उन विप्र ने जाना था, जो वेद की ही विधि से शिव-पूजा करते थे, जिन्होंने शूद्र को शिवमन्त्र दिया था-

एक बार हर मन्दिर, जपत रहेउँ सिव नाम। *(मानस, ७/१०६ क)*

वह शूद्र शिव-मन्दिर में घुसकर बैठा था। या आज के लोग वेद के आशय को जानते हैं, जिन्होंने शूद्र के प्रवेश पर काशी में शंकरजी का दूसरा मन्दिर बना लिया, जो कहते हैं- 'धर्म की जय हो।'- लेकिन मन्दिर में जाना मत! जायेंगे ही नहीं तो धर्म सीखेंगे कहाँ से? 'प्राणियों में सद्भावना हो'- किन्तु हमें छूना मत! यह कैसी सद्भावना है? साँप न छूते, बिच्छू न छूते, किन्तु आदमी आदमी को न स्पर्श करे? 'विश्व का कल्याण हो'- किन्तु समुद्र पार करना मत।

धर्म के नाम पर लोक और वेद में वर्णित क्रियाओं का मूल्यांकन भी गोस्वामीजी ने किया है-

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई।।
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना।।
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई।।
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।

(मानस, ७/१२५/४-७)

वेदवर्णित इन सभी साधनों का फल है हरि भगति और **'सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई।'** *(मानस, ७/१२५/८)*- श्रुति में एक परमात्मा की भक्ति का गायन हुआ है किन्तु भक्ति मिलेगी कहाँ? इन साधनों में? पुस्तक में? कहते हैं, नहीं -

भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो सन्त होइँ अनुकूला।।

(मानस, ३/१५/४)

'धर्म तें बिरति' *(मानस, ३/१५/१)*- धर्म वैराग्य-प्रधान है। **'निज निज कर्म निरत श्रुति रीति।'** *(मानस, ३/१५/६)* श्रुति की रीति पर अपने-अपने धर्म के अनुसार चलने का परिणाम बताते हैं- **'एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।'** *(मानस, ३/१५/७)*- मुख्य ध्येय इन कर्मकाण्डों को करना नहीं, मन में विषयों के प्रति वैराग्य लाना है, इसके पश्चात् भगवान के चरणों में समर्पण- पूर्ण विरक्ति!

सम्पूर्ण रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने एक ही कर्म पर बल दिया है; किन्तु आप घूम-फिरकर अनेक क्रियाओं की पैरवी अवश्य करेंगे। कभी कहेंगे कि यह तो सत्संगति की महिमा में कहा गया है कर्मकाण्ड की निन्दा नहीं, तो कभी भक्ति की महिमा का वर्णन मानकर पुनः अनेक क्रियाओं की ओर भागेंगे। गोस्वामीजी का स्पष्ट आदेश देखें -

नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू।।

(मानस, ३/३५ छन्द)

लेखक का आक्षेप है कि हम गीता का मनमाना अर्थ करते हैं; किन्तु गोस्वामीजी की भाषा तो सरल हिन्दी है। इसे तो सब समझते हैं। यहाँ गोस्वामीजी कहते हैं कि अनेकों कर्म, अनेकों मत- यही सब अधर्म हैं और 'अधर्म का नाश हो'- यह तो लेखक भी कहते हैं। ये शोकप्रद हैं, इनका त्याग करो। फिर करें क्या? केवल एक कर्म- श्रीरामजी के चरणों में प्रेम!

लेखक की पुस्तिका का उप-शीर्षक है- 'चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े।' किन्तु उन्होंने स्पष्ट नहीं किया कि गोस्वामीजी वेद-मग किसे मानते हैं और कुपंथ क्या है? आइये गोस्वामीजी के ही शब्दों में देखें-

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक।।

(मानस, ७/१०० ख)

श्रुति-सम्मत पथ क्या है?- क्या लेखक की गऊ-भक्ति? ब्राह्मण-भक्ति? संध्या-गायत्री-भक्ति? सत्यनारायण-भक्ति? सूर्य-भक्ति या कौन-सी भक्ति श्रुतिसम्मत है? गोस्वामीजी कहते हैं कि केवल हरि भक्ति! एकमात्र परमात्मा की भक्ति! यही वेद-मग है और केवल एक मग है। **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** *(श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३/८)*- कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं। इस एक के अतिरिक्त जो अनेक पथ, अनेक साधन, अनेक रास्तों की कल्पना करते हैं, गोस्वामीजी के अनुसार वही कुपंथी हैं। विचार करें कि 'चलत कुपंथ' की अर्द्धाली कहाँ लगेगी? गोस्वामीजी इसका प्रयोग अपनी दीनता निवेदन के सन्दर्भ में किया है, वे अपने में दोष ढूँढ़ते थे; किन्तु उनके मानस की कथा बाँचनेवाले कतिपय विद्वान् इसे दूसरों पर ही मढ़ने का उद्योग कर रहे हैं।

* लेखक ने इस बात को बहुत उछाला है कि 'जन्मना जायते शूद्रः....'वाला श्लोक अत्रिस्मृति का नहीं है, हमने कैसे कह दिया? अतः उनकी जानकारी के लिए हम इतना और बताना चाहेंगे कि अत्रिस्मृति अभी तक मौखिक तथा यत्र-तत्र हस्तलिखित रूप में है और उसकी श्लोक-संख्या पर मतैक्य नहीं है। अत्रि के नाम से यह श्लोक किसी महात्मा ने ही बताया था। यह स्मृति मुद्रित रूप में देखने में नहीं आयी है अतः इस श्लोक को समीक्षा से पृथक् किया जा सकता है; किन्तु इतनी-सी बात से जन्मना जाति-व्यवस्था प्रमाणित हो गई क्या ? इसी क्रम में उन्होंने ध्यान दिलाया है कि ब्रह्म शब्द से ब्रह्मज्ञ बनता है ब्राह्मण नहीं बन सकता, आपने कैसे लिख दिया? हम पुनः कहना चाहेंगे कि अथर्ववेद में 'ब्रह्म' शब्द ब्राह्मण के अर्थ में आया है, यथा- **'ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो नरिष्यतः।'** *(२/१५/४)*। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी है कि- **'ब्रह्म वै ब्रह्मणः क्षत्रं राजन्यः।'** *(३/६/१४)*।

आश्चर्य है कि इतनी बाल की खाल निकालनेवाले लेखक महोदय ने स्वयं भी एक दोहा गढ़ा है, वह भी गोस्वामी तुलसीदासजी के नाम पर- **'ब्रह्म ज्ञान जाना नहीं, कर्म दिया छिटकाय। सो नर पाँवर मूढ़ हैं, पुनि पुनि नरकहि जाय।।'**

अत्रि तो अत्यन्त प्राचीन ऋषि थे, उनकी रचनाओं को लेकर मतभेद हो सकता है; किन्तु गोस्वामीजी की कृति तो जन-जन की जुबान पर है। उनके नाम पर इतना बड़ा झूठ देववाणी कल्पद्रुम कही जानेवाली संस्कृत की इस सूक्ति को चरितार्थ कर देता है कि-

खलः सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यति।
आत्मानस्तु बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति।।

लेखक इसलिये भी हताश हैं कि जिसने व्याकरण नहीं पढ़ा, वह धर्म को क्या समझेगा। यहाँ हम लेखक से सहमत नहीं हैं; क्योंकि ईश्वरानुभूतिवाले अधिकांश महापुरुष पार्थिव शिक्षा में शून्य थे। व्याकरण जिन सूत्रों पर आधारित है, कहा जाता है कि वे सूत्र भगवान शंकर के डमरू से निकले हैं। उस डमरू ने कौन-सा व्याकरण पढ़ा था? मुण्डकोपनिषद् के इस मन्त्र की संगति कैसे लगायेंगे कि-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।। *(३/२/३)*

ब्रह्मविद्या के लिये शिक्षा और व्याकरण का कितना उपयोग है, इस पर मुण्डक उपनिषद् में विचार किया गया है। इस उपनिषद् के आरम्भ में ही एक कथानक है कि शौनक नाम के प्रसिद्ध मुनि थे। वे एक बहुत बड़े विश्वविद्यालय के कुलपति थे। पुराणों में है कि उनके निर्देशन में अट्ठासी हजार ऋषि पढ़ते थे। ब्रह्मविद्या जानने के लिए वे महर्षि अंगिरा की शरण में गये। (विचार करें, यदि यह विद्या किताबों में रही होती, तो वे क्यों जाते?) महर्षि अंगिरा ने उन्हें बताया कि विद्या दो प्रकार की होती है- एक परा और दूसरी अपरा। इनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष- ये सब तो अपरा विद्या हैं; किन्तु जिससे वह परमात्मा जानने में आता है, वह परा विद्या है।

लेखक महोदय अपनी पुस्तिका के पृष्ठ ८ से मिलान करें, जहाँ उन्होंने लिखा है कि व्याकरण, ज्योतिष, शिक्षा, निरुक्त और कल्पसहित वेद का अध्ययन करना चाहिए! जहाँ मुण्डक उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म को जानने के लिए न तो व्याकरण जरूरी है, न शिक्षा। गम्भीर बात तो यह है कि जिस वेद को आप मीमांसकों की तरह स्वतःप्रमाण तो कोई इसे परतःप्रमाण सिद्ध करने की माथापच्ची में लगे हैं, इन महर्षि ने तो चारों वेदों को भी काट दिया। क्या लेखक महोदय इन्हें भी नास्तिक कहने की धृष्टता करेंगे? यह मुण्डक उन एकादश उपनिषदों में है जिन्हें आदि शंकराचार्यजी ने सैकड़ों उपनिषदों के बीच से चुना था। ठीक इसी तरह की कथा छांदोग्य उपनिषद् (७/१/१-३) में है। सनत्कुमार के पास नारदजी आये। प्रार्थना किया कि भगवन्! उपदेश

कीजिये। *अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः स्त्ँ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति।।१।। स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं साम-वेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।।२।। सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छुत्ँ त्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति....।।३।।* यहाँ नारदजी ने वेद-व्याकरणादि को आत्मज्ञान के लिये अनुपयुक्त बताया। सनत्कुमारजी ने उन्हें बताया कि यह सब वाणी के विषय हैं। इससे भी आगे मन है, बुद्धि है। भगवान इससे भी परे हैं। ध्यान द्वारा उन्हें पाया जा सकता है। वे पंचमहाभूतों के ऊपर प्राण के भी प्राण हैं, भूमा हैं, अमृत हैं, सर्वत्र हैं, आत्मा हैं। सातवें अध्याय में वर्णित इस स्पष्ट प्रकरण से बच निकलने के लिए लेखक महोदय तर्क देंगे कि यह कथन वेदादि शास्त्रों की तुच्छता बताने के लिए नहीं, आत्मज्ञान की महत्ता सूचित करने के लिये है। अतः व्याकरण रटनेवालों के लिये आदि शंकर के विचार देखें-

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे न हि न हि रक्षति डुकृञ्करणे।।

इतनी स्पष्ट चेतावनी को भी क्या लेखक महोदय कह सकते हैं कि यह व्याकरण की तुच्छता बताने के लिए नहीं, मृत्यु की महिमा बताने के लिये कहा गया है। व्याकरण रटनेवालों को शंकराचार्यजी ने 'मूढमते' कहा है, कितना फटकारा है कि मौत आने पर व्याकरण के सूत्रों को रटना काम नहीं आयेगा, फिर भी आप व्याकरण की पैरवी कर रहे हैं, व्याकरण रटाकर आत्मज्ञान दे रहे हैं। आदि शंकराचार्यजी ने जिन-जिन बातों को मना किया था, लगता है उनके स्वयंभू पीठाधीश्वर लेखक महोदय वह सब करने पर तुल गये हैं। यदि सन्त कबीर की बात कहें कि 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ' केवल मृत्यु हाथ लगती है, तो आप कहेंगे कि वे तो 'कलम गह्यो नहिं हाथ' वालों में से थे। अतः आप गोस्वामी तुलसीदासजी की सलाह पर विचार करें-

बाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृहमध्य दीप की बातन्ह, तम निबृत्त नहिं होई।।
जबलगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु विषय-आस मनमाहीं।
तुलसिदास तबलगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं।।

(विनयपत्रिका, १२३)

इसलिये बन्धुओ! मानव-तन की सार्थकता तो तब है जब आप ऐसा कुछ यत्न करें कि हृदय में प्रकाश उत्पन्न हो जाय। बच निकलने के लिये यह तर्क मत दीजियेगा

कि यह तो हृदय-प्रकाश की प्रशंसा में कहा गया है, वाक्य-ज्ञान की तुच्छता बताने के लिए नहीं। कोई मना कर रहा है कि इस नाव में छिद्र है, नई दृढ़ नाव में बैठिये। यह कहकर जीर्ण-शीर्ण नौका में मत बैठियेगा कि यह तो नई नाव की प्रशंसा में कहा जा रहा है।

संस्कृत और व्याकरण जानने का दावा करनेवाले इन लेखक महाशय ने अपनी पुस्तिका के पृष्ठ १२ पर **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्यकार्य व्यवस्थितौ।'** *(गीता, १६/२४)* का अर्थ लिखा है कि- धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कार्य-अकार्य सबके निर्णय में वेद ही प्रमाण है। इस श्लोकांश का क्या यही अर्थ होता है? इसमें वेद शब्द किस शब्द का अर्थ है? शास्त्र माने वेद होता है क्या?

अध्याय पन्द्रह के अन्त में योगेश्वर ने स्वयं बताया है कि शास्त्र से उनका आशय क्या है? गीता शास्त्र है- **'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।'** *(गीता, १५/२०)* और अध्याय सोलह के इस श्लोकांश में कहते हैं कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है, तो आप शास्त्र के नाम पर वेद की ओर ही क्यों भागते हैं? विशेषतः उस दशा में जबकि वक्ता स्वयं अपना शास्त्र बता रहा हो।

जिन महापुरुष ने वेद का संकलन किया, उन व्यासजी ने वेद को शास्त्र नहीं कहा, उनके नाम से प्रचारित उत्तर-मीमांसा या वेदान्त को शास्त्र नहीं कहा, जिसे छः शास्त्रों में गिना जाता है, तो शास्त्र के नाम पर आप इधर-उधर क्यों भागते हैं? महाभारत, भीष्मपर्व के तैंतालीसवें अध्याय में व्यासजी ने लिखा है- 'गीता सुगीता कर्तव्या' कहीं आप इसे गीता की स्तुति न मान लें। अन्य शास्त्रों के संचय को अनावश्यक बताया- 'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'। होते हों अनेक शास्त्र; किन्तु 'सर्वशास्त्रमयी गीता' कहकर व्यासजी ने अपना निर्णायक मत दे दिया, तो आप गीता को अपना शास्त्र मान क्यों नहीं लेते? वेद का नाम लेकर उस वेदान्त दर्शन की ओर क्यों भागते हैं जिसके पहले अध्याय में ही धर्म बताया गया है कि शूद्र को ब्रह्मविद्या या वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है और प्रमाण दिया गया है स्मृतियों का- **'श्रवणाध्ययनादि प्रतिषेधात् स्मृतेश्च।'** *(१/३/३८)*

आदि शंकराचार्यजी ने भी अनेक धर्मग्रन्थों के बीच गीता का ही नाम लिया है **'गेयं गीता नाम सहस्रं'**- गायन योग्य है तो गीता। सहस्रनाम का अर्थ विष्णु सहस्रनाम की पुस्तक नहीं बल्कि उस परमात्मा के हजारों, असंख्य नाम हैं उनमें से किसी नाम का गायन (जप)। **'भगवद्गीता किंचितधीता'** जिसने गीता को थोड़ा भी पढ़ लिया, आगे कहते हैं कि यम उसका क्या कर लेगा? पढ़ने के लिये यदि किसी ग्रन्थ की उन्होंने सिफारिश की तो वह थी गीता। आप भी उनके निर्देशों को मानें और गीता को ही धर्मशास्त्र घोषित कर एकता के सूत्रधार बनें।

* विद्वन्प्रवर का तर्क है कि वेद में यज्ञों का वर्णन है जिसे करना धर्म है। यहाँ हम लेखक के शब्दों को उद्धृत करना चाहेंगे, जिससे यज्ञ-सम्बन्धी उनकी अवधारणा स्पष्ट हो सके। वे लिखते हैं कि यज्ञ विहित और अविहित दो प्रकार का होता है। अविहित यज्ञ तो हम सब करते रहते हैं, जैसे- मुख में ग्रास डालना, आटे में पानी डालना इत्यादि; किन्तु विहित यज्ञ वह है जिसमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में आहुति डाली जाती है। वह आहुति सूर्यमण्डल में जाती है। सूर्यमण्डल से वर्षा द्वारा वनस्पतियों में, अन्न में और प्राणियों के वीर्य में आती है, उसी से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह सृष्टि-चक्र चलता है।.....अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास लक्षाहुति यज्ञों में गाय के दूध-दही-घी-गोबर तथा मूत्र तक की जरूरत है। यदि वेदशास्त्रानुमोदित धार्मिक यज्ञों में गोजनित पंचगव्य का अपरिहार्य महत्त्व है, तो गाय को धर्म मानने में क्या आपत्ति है?

आपत्ति तो कुछ भी नहीं है, हम मान भी लेते; किन्तु यज्ञ में पंचगव्य लगने से गाय धर्म हो गई, तो यज्ञ में तो बहुत-सी वस्तुओं का प्रयोग होता है। यज्ञ में समिधा लगती है, तो पेड़ को धर्म मान लें? जौ-तिल-दसांग भी लगता है, उन्हें धर्म क्यों नहीं मान लेते? यज्ञ में शहद लगता है, तो मधुमक्खी को धर्म मानने में क्या आपत्ति है? गाय से पाँच नहीं, कई वस्तुएँ मिलती हैं- गोबर, मूत्र और दूध। दूध का रूपान्तरण दही और घी है, छेना भी बना सकते हैं। यह तो उसके प्रयोग हैं। उसके चमड़े और हड्डी तक का उपयोग है; किन्तु पंचगव्य जैसे विशिष्ट आविष्कार की चर्चा गीता में तो कहीं है नहीं। गाय का दूध निःसन्देह पौष्टिक है, आधा किलो तक भी दूध देनेवाली गाय संरक्षणीय है। शिशुओं के रूप में कल का भारत इन्हीं पर निर्भर है। इसे राष्ट्रीय पशु घोषित किया जाना चाहिए; किन्तु उसे धर्मस्वरूपा न बनायें- क्योंकि आपके पाराशर स्मृति में है कि शूद्र यदि कपिला गाय का दूध पीता है तो नरक जायेगा। सत्तर प्रतिशत बच्चों के लिये तो गाय नरकदात्री बन गई, जिसके लिये धर्मस्वरूपा होती हो वह जाने! आश्रम की पुस्तिका में हमने गाय की उपयोगिता से इनकार नहीं किया है। हमने तो अस्वीकार किया है उसकी धार्मिकता को, गाय की पूँछ पकड़ाकर वैतरणी पार कराने की कुप्रथा को। आश्रम की उस पुस्तिका में यह भी नहीं लिखा है कि 'गो' शब्द का अर्थ सर्वत्र इन्द्रिय ही होता है। उस पुस्तिका में है कि मानस में ७० बार गाय और उसके पर्यायों का प्रयोग है, जिसमें १७ बार पशुरूप में उदाहरण मात्र है, तेरह बार मूल्यवान् सम्पत्ति के रूप में है और चालीस बार 'गो' शब्द इन्द्रिय-अर्थ में है। भगवान अवतार लेते हैं लेकिन किसी पशु के लिये नहीं बल्कि अमलात्मा भक्तों के सकलेन्द्रिय-संयम के लिये।

आटे में पानी मिलाना, मुख में ग्रास डालना या अग्नि में कोई वस्तु जलाना- यह कौन-सा यज्ञ है? गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने एक ही यज्ञ की तेरह-चौदह क्रियाओं

को अध्याय चार में बताया; किन्तु इन यज्ञों की चर्चा तक नहीं है। लगता है योगेश्वर श्रीकृष्ण अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमासादि यज्ञ नहीं जानते थे अन्यथा वे गीता में इसकी चर्चा अवश्य करते। योगेश्वर ने जिस यज्ञ को बताया है उसके अतिरिक्त नाममात्र के यज्ञों को, जो यज्ञ नहीं हैं; किन्तु लोगों ने यज्ञ का नाम दे रखा है, ऐसा यज्ञ करनेवालों को क्रूरकर्मी, नराधम और पापाचारी कहा है। अध्याय सोलह में है कि ऐसे दम्भियों को वे बार-बार आसुरी और अधम योनियों में गिराते हैं- *(१६/१७-१९)*।

इस वैज्ञानिक युग में शहरों का कचरा अग्नि में ही तो जलाया जाता है। तब तो हो गया यज्ञ? अग्नि में स्वाहा बोलने से बादल नहीं, कार्बन-डाई-आक्साईड बनती है। इससे वायु शुद्ध होने को कौन कहे, प्रदूषण फैलता है। यह धुआँ न तो सूर्य तक पहुँच पाता है और न इससे पानी बरसने में ही कोई सहयोग मिलता है। लेखक द्वारा दी गई व्याख्याओं से ऐसा लगता है कि वेद परमात्मा का निःश्वास या परमात्मा की कृति भी नहीं है; क्योंकि सृष्टि के रचयिता को इतना तो ज्ञान होना चाहिये था कि बादल कैसे बनता है? यदि यज्ञ के धुएँ से ही सृष्टि-क्रम चलता है तो जिन देशों में यज्ञ नहीं हुए वहाँ किस धुएँ से सृष्टि चल रही है? यहाँ की सृष्टि तो आप चला रहे हैं (धुआँ करके), वहाँ कौन सृष्टि चला रहा है? और मन्त्र भी क्या है? उस युग-जमाने की प्रचलित भाषा में की गई गद्यात्मक अथवा पद्यात्मक प्रार्थनाएँ! अस्तु गीता का प्रमाण देकर जिन यज्ञों को लेखक ने पृष्ठ तेरह पर गिनाया, वे गीता में हैं ही नहीं। उन्होंने लिखा है- 'गीता में मात्र श्रौत-स्मार्त यज्ञों को ही यज्ञ नहीं कहा गया अपितु चौदह प्रकार के यज्ञों को समझना चाहिये।' गीता में जिन चौदह यज्ञों का वर्णन है यदि लेखक उन्हें लिख देते तो सबको स्पष्ट हो जाता कि इन सब यज्ञों में बाहर की कोई वस्तु नहीं लगती, सभी यज्ञ मानसिक हैं। लेखक ने लेबल (शीर्षक) तो लगाया गीता का; किन्तु भीतर वस्तु अपने कुतर्क से भर दिया।

जिन श्रौत-स्मार्त यज्ञों पर लेखक जोर देते हैं उनमें से वैदिक इष्टियों को आज का समाज जानता भी नहीं। वेद के कुछ शब्दों को यज्ञार्थक मानकर उसके विधि-विधान के लिये कई संहिताएँ, कई आरण्यक, कल्पग्रन्थ (श्रौत-सूत्रादि) और ब्राह्मण-ग्रन्थ (शतपथ, ऐतरेय, ताड्य, गोपथ इत्यादि) लिखे गये हैं और इनको भी चारों वेदों के बराबर मान लिया गया है। इनमें वर्णित सभी यज्ञों में प्रमुख हैं सात प्रकार के सोमयज्ञ- अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। इन सबमें सोलह-सोलह पुरोहित लगते हैं, जिनकी दक्षिणा सहस्रों गायें हैं। राजसूय यज्ञ की दक्षिणा दो लाख चालीस हजार गाय है। सौत्रामणी यज्ञ में सुरा की आहुति और पशुओं की बलि दी जाती है। अश्वमेध यज्ञ में पटरानी मृत अश्व के पार्श्व में लेटती है और सभी

पुरोहितों का रानियों और उनकी नवयुवती दासियों से अश्लील भाषा में गालियों का दौर चलता है।

इन यज्ञों के अतिरिक्त प्रत्येक ऋतु की सन्धि पर तीन-चार चातुर्मास्य जैसे- वैश्वदेव, वरुण प्रघास, साकमेघ और शुनासीरीय; प्रत्येक नये फसल को खाने से पहले आग्रयण यज्ञ, निरूढ़ पशुबन्ध अर्थात् आँत निकाले हुए पशु की आहुति, वर्षा कराने के लिये बादलों की तरह काला कपड़ा पहनकर 'कारीरिष्ट', सुरक्षापूर्ण यात्रा के लिये 'सज्ञानी', पुत्र के लिये 'पुत्रकामेष्टि'; सात प्रकार के हविर्यज्ञ जिसमें अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श अर्थात् अमावस्या के दिन किया जानेवाला यज्ञ, पौर्णमास इत्यादि यज्ञ आजीवन करते रहने का आदेश दिया गया है। प्रत्येक यज्ञ में जरूरी है कि पुरोहितों द्वारा यजमान की पत्नी का सन्नहन। वह भी उस विधि से, जिसे न लिखना ही उचित है, उस तरह से मेखला पहन लेने के बाद ही यजमान की पत्नी यज्ञ में सम्मिलित हो सकती है।

बहुत से यज्ञ एकाह अर्थात् एक दिन में होते हैं, जैसे- विश्वजित्, जिसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान करना होता है। गोसव यज्ञ में यजमान को एक वर्ष तक पशु की तरह जल पीना, पशु की तरह भोजन करना, माँ-बहन-बेटी-स्त्री सबके साथ पशुवत् समान पारिवारिक व्यवहार करना होता है। 'शुनः कर्णोग्निष्टोम' यज्ञ में यजमान अपना सब कुछ पुरोहितों को सौंपकर स्वर्ग के लिये अग्नि में प्रवेश कर जाता है। कोई यज्ञ तीन दिन, कोई दस दिन, कोई बारह दिन, एक वर्ष, सौ-सौ वर्ष और कई हजार-हजार वर्षों तक चलनेवाले हैं जिनमें समापन की पूर्व संध्या पर सभी स्त्री-पुरुष प्रजापति की प्रसन्नता के लिये सामूहिक रूप से मैथुन कर्म में प्रवृत्त होते हैं जिसे महाव्रत कहा गया है।

ये हैं अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमासादि, श्रौत-स्मार्त यज्ञ, जिसे लेखक महोदय वेद के नाम पर श्रद्धालु जनता के गले मढ़ना चाहते हैं; किन्तु विज्ञजनों से हमारा निवेदन है कि वेद में यज्ञ का यह स्वरूप नहीं है। पुरुष-सूक्त में जिस मानसिक यज्ञ की कल्पना है, वही और उतना ही गीता में है। वेद में नाम पर नाना प्रकार के यज्ञों का सृजन बादवालों की देन है। हजारों वर्षों में समाज में इनमें से कोई यज्ञ देखने में नहीं आया। कोई इन्हें करता नहीं, करना चाहेगा भी नहीं। यदि ये प्रचलन में ही रहे होते तो आज यह अटकल लगाने की जरूरत न पड़ती कि सोम कौन-सी जड़ी-बूटी है? कहाँ मिलती है। विद्वान् लेखक विधि-विधान लिखकर प्रकाशित कर देते तो वेद-वेद चिल्लानेवालों के उत्साह की परीक्षा हो जाती। जनता भी जानती कि कौन इन विधानों का कितना पालन कर सकता है और स्वयं लेखक महोदय इन विधियों से कौन-सा यज्ञ कर चुके हैं या करते हैं?

जिन यज्ञों को कोई करता नहीं, इतनी जटिलतायें हैं कि कोई कर भी नहीं सकता, अनेक शब्दों के अर्थ विस्मृत हो गये, ऐसे यज्ञों की उपयोगिता को मूल्यांकन करते हुए मुण्डक उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि स्वर्ग की प्राप्ति के लोभ में लोग इनको करते हैं; किन्तु इनकी क्रियाओं में तनिक भी भूल होने पर ये यज्ञ उस अग्निहोत्री के सातों पुण्य-लोकों का नाश कर देते हैं। यह है इन यज्ञों का परिणाम।

इसी उपनिषद् में इन यज्ञों की व्यर्थता बताते हैं कि निश्चय ही ये अठारहों प्रकार की यज्ञ-नौकाएँ दृढ़ नहीं हैं। इनमें जो कर्म बताया गया है, वह निम्नकोटि का है। जो इन्हीं को कल्याण का मार्ग बताते हैं, जो इनकी प्रशंसा करते हैं, वे मूढ़ हैं और वे बारम्बार जरा और मृत्यु को ही प्राप्त होते रहते हैं (१/२/७)।

कहीं कोई गुंजाइश न निकाल लें इसलिये ऐसे मूढ़लोगों को दसवें मन्त्र में पुनः सचेत करते हैं कि इष्ट और पूर्त कर्मों को श्रेष्ठ माननेवाले लोग 'प्रमूढा' अर्थात् विशेष रूप से मूढ़ हैं। ये लोग श्रेय जानते ही नहीं। वे कल्पित स्वर्ग में इनका फल भोग कर इस मनुष्य शरीर या इससे भी अत्यन्त हीन-योनियों में प्रवेश पाते हैं (१/२/१०)। आश्चर्य है कि अद्वैत को लक्ष्य माननेवाले स्वर्ग का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और उसी की प्राप्ति के लिये कर्मकाण्डों की पैरवी करते हैं। अच्छा तो यह होता कि वास्तविक यज्ञ बताया जाय जैसा कि गीता में है। उसमें हवन भी है- श्वास का प्रश्वास में हवन, संकल्पों का हवन। उस यज्ञ का परिणाम मोक्ष है जिसे शरीर रहते ही प्राप्त करना है। उस यज्ञ को करने का अधिकार मानवमात्र को है। भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ को योगेश्वर ने अत्यल्प बताया, तुच्छ बताया, तो आप वह यज्ञ क्यों नहीं करते जिसका परिणाम अनन्त है?

* लेखक ने जाति-व्यवस्था को गीता से सिद्ध करने का हास्यास्पद प्रयास किया है क्योंकि वेद और गीता का वर्ण आज की जाति-व्यवस्था नहीं है। वर्ण का अर्थ है रंग या आकृति, जैसा कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में है। वेद में दैवी वर्ण, असुर वर्ण, 'कृष्ण च वर्णं अरुणं च' 'उभौ वर्णौ'- दो वर्ण माने गये। वर्ण शब्द गुणवाचक है, भजन की क्षमता मापने की ईकाई है जबकि जाति शब्द में है- जन्म से निर्धारण, विवाह और खानपान में छुआछूत का विचार, जीविका के निर्धारित व्यवसाय, व्यवसाय-भेद से बहुत-सी उपजातियाँ, ऊँच-नीच की भावना और बिरादरी पंचायतें। वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग कहीं भी इन अर्थों में नहीं है और जिस पुरुष-सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की चर्चा है, मजे की बात तो यह है कि वहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग ही नहीं है।

गीता के 'अन्तवन्त इमे देहा' के विरुद्ध लेखक ने बताया है कि शरीर नाशवान् होते हुए भी समष्टि में नाशवान् नहीं है। उन्हें यह भी बताना चाहिए था कि समष्टि में ब्राह्मण और शूद्र का बँटवारा भी होता है क्या?

समान प्रसवात्मिका जातिः। समान नस्ल के समान सन्तान उत्पन्न करनेवालों की एक जाति मानी जा सकती है, जैसे- कुत्ता कुतिया के साथ ही अपने समान प्रजनन कर सकता है। बकरी से कुत्ता पैदा नहीं होता। इस प्रकार कुत्ता अलग जाति है, बकरी पृथक् जाति है। न्यायदर्शन के इस सूत्र-जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं- **'बड़े भाग मानुष तनु पावा।'** *(मानस, ७/४२/७)* मानव तन एक जाति है। ब्राह्मण तन और क्षत्रिय तन नहीं, केवल मानुष तन पर्याप्त है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तो आन्तरिक योग्यता की डिग्रियाँ थीं, जिनका प्रयोग व्यवस्थाकारों ने सामाजिक स्तरीकरण के लिए भी करके एक भ्रम पैदा कर दिया। बाहर वर्ण होता ही नहीं।

लेखक महोदय अपनी पुस्तिका के पृष्ठ दो-तीन का पुनरावलोकन करने की कृपा करें, जहाँ उन्होंने लिखा है कि शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं उपार्जित नहीं तथा परिचर्या शूद्र का स्वाभाविक कर्म है उपार्जित नहीं। विचार और कार्य गुणों के अधीन होते हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर तत्तद् वर्णों में जन्म होता है। जो जिस शरीर से पैदा हो गया वही उसकी जाति हो गई। परिष्कार मन का होता है तन का नहीं। अर्थात् लाख अच्छे या बुरे कर्म किये जायँ जाति नहीं बदलेगी। वह तो शरीर बदलने के समय गुण-संस्कार देखकर भगवान पुनः वैसी जाति में जन्म देंगे।

यहाँ गीता के अठारहवें अध्याय के जिन श्लोकों को लिया गया है उनका वह अर्थ नहीं है जो लेखक ने दिया है। श्लोक में **'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्', 'क्षात्रं कर्म स्वभावजम्', 'वैश्यकर्म स्वभावजम्'** और **'शूद्रस्यापि स्वभावजम्।'** क्या स्वभावजम् का अर्थ स्वाभाविक होता है? 'उपार्जित नहीं'- यह वाक्यांश श्लोक में किस शब्द का अर्थ है? स्वभावजम् का अर्थ है स्वभाव से उत्पन्न। समासान्त ज का अर्थ होता है जायमान, पैदा हुआ या उद्भुद, जैसे- जलज, अण्डज इत्यादि। फिर आप जैसे संस्कृत के धुआँधार विद्वान् से ऐसी गलती कैसे हो गई?

हम इस पर विचार करना चाहेंगे कि लेखक ने स्वभाव से उत्पन्न के स्थान पर जान-बूझकर 'स्वाभाविक' क्यों लिखा और 'उपार्जित नहीं' क्यों जोड़ा? वह कहना चाहते हैं कि स्वाभाविक अर्थात् जन्मजात, जन्म के साथ-साथ जिसका निर्धारण हो गया, जिसे बदला नहीं जा सकता, जैसे- प्रकाश सूर्य का सहज गुण है, अर्जित नहीं। जलना अग्नि का सहज गुण है, अर्जित नहीं।

इस प्रकरण में लेखक ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का कर्म तो बताया; किन्तु इन श्लोकों से पहले का एक श्लोक छोड़ दिया जिसमें बताया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का कर्म कैसे निर्धारित होता है? कोई प्रकरण जहाँ से आरम्भ होता

है वहाँ से लेना चाहिये। प्रमाण से पलायन कब तक करेंगे? वह श्लोक इस प्रकार है-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। *(गीता, १८/४१)*

'स्वभावप्रभवैः' का क्या अर्थ होता है? वही जो 'स्वभावजम्' का होता है। **'प्रभवैः'** का अर्थ है- उत्पन्न होनेवाला। जन्म से नहीं, स्वभाव से उत्पन्न। स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा इन चारों के कर्म बाँटे गये। बाँटने का पैमाना है गुण, और बँटनेवाली वस्तु है कर्म। **'कर्माणि प्रविभक्तानि'**- कर्म बाँटे गये हैं, न कि मनुष्य।

स्वभाव बदलता रहता है। यदि स्वभाव कभी बदला ही न जा सकता, तो मानव-तन की सार्थकता ही क्या है? यदि यह जन्म लेने से ही निर्धारित होता तो उस जाति में पैदा होनेवाले सभी लोगों में एक समान गुण पाया जाता, जैसे- सभी ब्राह्मण ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न होते; किन्तु ऐसा नहीं पाया जाता। मनुस्मृति में है कि केवल जाति के नाम पर जीनेवाला और केवल नाम से ब्राह्मण कहलानेवाला ब्राह्मण भी राजा की ओर से धर्म का प्रवक्ता हो सकता है; किन्तु शूद्र कभी नहीं हो सकता। (८/२०) क्यों? जाति में जन्म यदि स्वभाव से बने गुणों के आधार पर भगवान ने दिया, तो निर्धारित कर्म उससे क्यों नहीं हुए? क्या भगवान से भी भूल होती है?

वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है। स्वभाव और गुणों में परिवर्तन करना हर मनुष्य के वश में है। महर्षि बनने में वाल्मीकि का स्वभाव ही तो बदला था। तुलसीदास स्वभाव बदलने से ही गोस्वामी बन गये। योगेश्वर श्रीकृष्ण भी स्वभाव और गुण को परिवर्तनशील मानते हैं। गीता के अध्याय चौदह में है-

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।। *(गीता, १४/१०)*

अर्थात् रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है। सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण तथा सत् और तमोगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है। अर्थात् तीनों गुणों में से किसी को भी घटाया-बढ़ाया जा सकता है। गुणों में परिवर्तन होता है।

बीसवें श्लोक में बताते हैं कि पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप इन तीनों गुणों को लाँघकर जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर अमृततत्त्व को प्राप्त होता है।

स्पष्ट है कि गुणों को बदला जा सकता है, इनसे ऊपर उठा भी जा सकता है। गुणों से पार जाने के लिए ही मानव-तन मिला है। गुणों से पार होने का तरीका भगवान स्वयं बताते हैं-

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।। *(गीता, १४/२६)*

अर्जुन! जो कोई भी अव्यभिचारिणी अर्थात् अनन्य भाव से भक्तिपूर्वक मेरा स्मरण करता है, वह इन तीनों गुणों को भली प्रकार लाँघ जाता है और ब्रह्म को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है।

जब इसी शरीर में, इसी जीवन में तीनों गुण बदल सकते हैं, तो वर्ण क्यों नहीं बदलेगा? गुण पर ही तो वर्ण आधारित था। अतः एक ही जन्म में हर व्यक्ति क्रमशः शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय, क्षत्रिय से ब्राह्मण बन सकता है और अव्यभिचारिणी भक्ति द्वारा गुणों को पार कर लेने पर आदि शंकराचार्य की तरह उद्घोष कर सकता है कि **'न ब्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रश्चिदानन्द रूपो शिवो केवलोऽहम्।'** वह तीनों गुणों और तज्जन्य चारों वर्णों से ऊपर उठकर स्वरूप की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि भी स्वभाव को परिवर्तनशील मानते हैं। **'वृत्ति सारूप्यमितरत्र।'**- जैसी वृत्ति जैसा स्वभाव, वैसा पुरुष! मनुष्य जो करता है वही उसका स्वभाव बन जाता है। अंग्रेजी में है कि 'स्टाइल इज द मैन हिमसेल्फ।' पूज्य महाराजजी कहा करते थे- **'गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानन्द।'** ***(विनयपत्रिका, पद २०३)*** सिद्ध है कि गुण और स्वभाव बदले जा सकते हैं, त्यागे भी जा सकते हैं। अस्तु, वर्ण में परिवर्तन स्वतः सिद्ध है।

लेखक के अनुसार पूर्वजन्मों के कर्मजन्य संस्कारों, तज्जन्य गुणों को देखकर भगवान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के शरीर में जन्म देते हैं। विचारणीय है कि इस प्रकार न तो ईसाई जन्मता है, न मुसलमान जन्मता है। न पारसी, जैन, बौद्ध या सिख ही इस प्रकार से पैदा होता है। क्या सृष्टि भर में केवल भारत और भारत में भी मुट्ठी भर हिन्दुओं को इन चार जातियों में जन्माने के लिए भगवान की कोई अलग से व्यवस्था है?

अपनी पुस्तिका के पृष्ठ दो पर लेखक ने लिखा है कि तमोगुण की प्रधानता से शूद्र की रचना की- जो गीता के विरुद्ध है; क्योंकि तमोगुण की अधिकता होने पर मूढ़योनियों में, कीट-पतंगादि तिर्यक् योनियों में जन्म मिलता है (१४/१५-१८)। यदि तमोगुण की अधिकता में मरनेवाले भारत के शूद्र ही बनने लगें, तो कीट-पतंग कौन बनेगा? फिर तो सृष्टि का एक अंग अधूरा ही रह जायेगा।

गीता के अध्याय ४/३१ में है कि यज्ञ न करनेवालों को मानव-शरीर मिलता ही नहीं, यह लोक मिलता ही नहीं और लेखक महोदय शूद्र को यज्ञ का अधिकार मानते ही नहीं, तो शूद्र पैदा कैसे हो गये और आगे इन बेचारों को मनुष्य-तन भी कैसे मिलेगा? जैमिनि की पूर्वमीमांसा में है कि अग्निहोत्र और वैदिक यज्ञों के लिये शूद्र को अधिकार नहीं है। तैत्तिरीय संहिता में है- **'शूद्रो मनुष्याणां अश्वं पशुनां..... तस्माच्छूद्रो**

यज्ञेनऽवक्लृप्तः। *(७/१/१-६)*- जैसे पशुओं में घोड़ा वैसे मनुष्यों में शूद्र है। शूद्र यज्ञ के योग्य नहीं है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में लिखा है-

तस्माच्छूद्र बहुपशुरयज्ञियो विदेवो न हि तं काचन देवतान्व सृज्यन्त तस्मात्पादावनेज्यं नाति वर्धते पत्तो हि सृष्टः। *(६-१-११)*

अर्थात् शूद्र, भले ही उसके पास बहुत से पशु हों, यज्ञ करने के योग्य नहीं है। वह देवविहीन है, उसके लिये किसी देवता की रचना नहीं की गई है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति पैरों से हुई है।

यह है आपका वैदिक साहित्य! क्या यही भगवती श्रुति है? क्या यही अपौरुषेय व्यवस्था है? नहीं, श्रुति यह नहीं है। श्रुति का यह आशय भगवान श्रीकृष्ण ने जाना था। गीता के अध्याय ९/३२ से तुलना करें, जहाँ भगवान कहते हैं कि स्त्री, पुरुष, शूद्रादि तथा कोई पापयोनि क्यों न हो, मेरी शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होता है। यहाँ शूद्र को शरण देनेवाला देवता भी है, भजन का एक-जैसा अधिकार सबको है और परिणाम में एक-जैसी परमगति का विधान सबके लिये है। भगवान ने कोई भेदभाव नहीं बनाया।

लेखक का दावा है कि स्मृतियों में या प्राचीन ग्रन्थों में किसी जाति के साथ पक्षपात नहीं किया गया है। आइये देखें कि इस पंक्ति में कितनी सचाई है। वैश्यों के लिये तैत्तिरीय संहिता में है- **'वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मात्त आघाअन्नधानादध्य सृज्यन्त तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यः।'** *(७/१/१/५)* अर्थात् मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गाय अन्य लोगों के उपभोग की वस्तुएँ हैं। वे भोजन के उद्देश्य से उत्पन्न किये गये हैं, इसी से संख्या में अधिक हैं।

क्षत्रियों के लिये है कि कोई कार्य आरम्भ करने से पूर्व उन्हें किसी ब्राह्मण से आज्ञा लेनी चाहिए। एक ब्राह्मण बिना राजा के रह सकता है; किन्तु ब्राह्मण के बिना एक राजा का भी काम नहीं चल सकता। मनुस्मृति में है कि दस वर्ष के ब्राह्मण और सौ वर्ष के क्षत्रिय को पिता-पुत्र समझना चाहिए। दोनों में ब्राह्मण पिता है, पूज्य है (२/१३५)।

अब उन सुविधाओं का भी अवलोकन करें, लेखक के अनुसार, जिनके लिये मनुस्मृति में लिखा बताया है कि **'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः'** अर्थात् ब्राह्मण जन्म से होता है; क्योंकि लोग प्रश्न कर सकते हैं कि आपका आचरण? तब एक ही उपाय है कि हम जन्म से होते आये हैं। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है कि देवता दो प्रकार के होते हैं। देवता तो देवता हैं ही, ब्राह्मण भी जो पवित्र ज्ञान का अर्जन करते और पढ़ाते हैं, मानव देवता हैं (४/१/४/६)। मनुस्मृति में है कि यदि ब्राह्मण चोरी भी करता है तो धार्मिक राजा

उसे दण्ड न दे; क्योंकि राजा की मूर्खता से ही वह ब्राह्मण भूख से कष्ट पा रहा है। दण्ड के स्थान पर राजा को चाहिये कि उसके परिवार के भरण-पोषण के लिये राज्य की ओर से वित्तीय व्यवस्था कर दे (११/२१-२२)। अन्य अध्यायों में है कि ब्राह्मण किसी भी जाति की स्त्री को रख सकता है; किन्तु कोई दूसरी जाति ब्राह्मण-कन्या से विवाह करे तो दोष है। मन्त्रों से शुद्ध करके ब्राह्मण मांस तक खा-पी सकता है, वह देव-भोजन है, सनातन विधि है (५/३६)।

मनुस्मृति में है कि सम्पूर्ण संसार का स्वामी ब्राह्मण होता है (१/९४)। संसार का अर्थ क्या केवल भारत होता है? संसार के कितने देश ब्राह्मण को अपना स्वामी मानते हैं? लिखा है कि चोरों से वसूल किये धन और धरती में गड़े धन का आधा ब्राह्मणों का होता है (८/३७/३८)। यज्ञ के लिए ब्राह्मण किसी का भी धन लूट सकता है (११/२६)। किन्तु जो पापात्मा ब्राह्मण का धन हरता है, उसे मरने पर गीधों का छोड़ा घृणित पदार्थ खाने को मिलता है। यह किसी वर्ग-विशेष की सुरक्षा व्यवस्था नहीं है तो और क्या है? यह धर्म है क्या?

लेखक ने आपत्ति किया है कि स्मृतियों को आपने कानून या व्यवस्था कैसे कह दिया? यह तो सनातन-धर्म है। आप ही विचार करें कि जिन नियमों से मनुष्य का खान-पान, शादी-विवाह, रहन-सहन, पढ़ाई-लिखाई, गोद लेना, व्यवसायों का निर्धारण, समझौता, सम्पत्ति के मुकदमे, कम दण्ड राज्य द्वारा दिये जाते हों, वह कानून नहीं, व्यवस्था नहीं तो और क्या है? जिनसे मनुष्य के बाह्य क्रिया-कलापों का नियमन होता है, जिन्हें राज्य लागू करता है, वह काननू नहीं तो और क्या है? धर्म आन्तरिक अनुशासन के नियम हैं।

लेखक ने सफाई दी है कि दण्ड देने के प्रश्न पर मुनस्मृति में शूद्रों की तुलना में ब्राह्मणों के प्रति कम कठोर नहीं हैं; क्योंकि उसमें है कि ब्राह्मण यदि मदिरा पीता है तो उसे खौलती हुई मदिरा तब तक पिलायी जाय जब तक वह मर न जाय (११/९०)। किन्तु आप विचार करें तो पायेंगे कि यह कोई दण्ड है ही नहीं। इस प्रकार के एक भी व्यक्ति के दण्डित होने का प्रमाण सम्पूर्ण इतिहास में नहीं है। आपने विचार किया कि क्यों? क्योंकि यह ऐसा दण्ड है जिसे कभी दिया ही नहीं जा सकता। मदिरा, स्पिरिट तथा पेट्रोल ऐसी वस्तुयें हैं जिन्हें कभी खौलाया ही नहीं जा सकता। ये उड़ जायेंगी, जल जायेंगी, इनमें आग लग जायेगी। आज भी बहुत से ब्राह्मण मदिरा का सेवन करते हैं, शराब के सरकारी ठेके लेते हैं; किन्तु उन्हें यह दण्ड देकर सनातन-धर्म के पालन की कोई सोच भी नहीं सकता। फिर ऐसी धमकी क्यों? इसके पीछे भी एक कारण है। सुविधाओं से सम्पन्न ब्राह्मणों में से कोई शराब के नशे में कहीं इस तिकड़म का भण्डाफोड़

न कर दे कि पूरी जाति का अहित हो जाय, इसलिये उस एक ब्राह्मण को मार डालने तक की सतर्कता बरती गयी है। अतः यह भी सुरक्षा का प्रबन्ध मात्र है, न कि स्मृतिकारों की सदाशयता अथवा निष्पक्षता। इसीलिये इन स्मृतियों को सबको दिखाने का निषेध है। पाराशर-स्मृति में है कि यह स्मृति विशेषकर ब्राह्मणों के हित के लिये लिखी गयी है। मनुस्मृति में है कि इसे उसी ब्राह्मण को दिखावें जिसका गर्भाधान से लेकर सभी संस्कार हुआ हो और जो चिता तक के संस्कारों का मन्त्र जानता हो; क्योंकि जिसने इतना रट लिया होगा उसे प्रमाणों की जरूरत है, सपोर्ट और बैकिंग की जरूरत है, केवल उसे दिखाया जाय।

विचारणीय है कि एक मुसलमान अपने लड़के को दस-बारह वर्ष की उम्र तक कुरान रटाकर हाफिज बना देता है, विवाह में कुरान और रेहल दहेज में देता है, ईसाई दैनिक प्रार्थनाओं में पृष्ठ-पृष्ठ पढ़ाकर बाइबिल कण्ठस्थ करा देता है। (धर्मनिरपेक्ष कहे जानेवाले अमेरिका के होटलों में, प्रत्येक कमरे में पत्र-पत्रिकाओं के नाम पर केवल एक किताब रखी रहती है- वह है बाइबिल!) और भारतीय धर्माचार्यों की दूरदर्शिता देखें कि अपने ग्रन्थों को किसी को दिखाना मत! शास्त्र हमारा और हम देख नहीं सकते।

आइये शूद्रों की स्थिति भी देखें। लेखक महोदय कहते हैं कि सनातन-धर्म शूद्रों के लिये वरदान है; किन्तु कोई शूद्र आपका यह वरदान लेने के लिये तैयार नहीं है। वरदान में है क्या? यह कि शूद्र का नाम घृणासूचक रखना चाहिये (२/३१)। वे पेड़ों के नीचे रहें, मिट्टी के बर्तनों में खायें। शूद्र का अपना कुछ भी नहीं होता। धन पाकर ब्राह्मण को ही सताता है इसलिये शूद्र का धन ब्राह्मण बेरोक-टोक ले सकता है (मनु. ८/४१७)। मनुस्मृति में है कि **'एषः धर्मविधिः'**- यह धर्मविधि है। यही धर्म है, तो कौन शूद्र इसे मानता है?

मनुस्मृति के दसवें अध्याय में है कि जीवन-निर्वाह के लिये शूद्र अन्य जातियों की सेवा कर सकता है; किन्तु स्वर्ग के लिये, लोक और परलोक दोनों के लिये वह ब्राह्मण की ही सेवा करे। ब्राह्मण को चाहिये कि उस शूद्र को जूठा अन्न, सारहीन अन्न खाने को दे। पुराना वस्त्र, फटा ओढ़ना और बिछौना दे। ऐसी व्यवस्था में रहते हुए जब शूद्र यह ख्याति अर्जित कर ले कि बड़ा अच्छा सेवक है, तो वह स्वर्ग जाता है।

लिखा है कि ब्रह्मा ने ब्राह्मण की सेवा के लिये ही शूद्र की सृष्टि की है- **'दास्यायैव हि सृष्टौऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयं भुवा।'** आज वे सेवा ले रहे हैं। ब्रह्मा की आज्ञा के विपरीत आज शूद्र अच्छा पहनते, खाते और रहते हैं। उन्हें फिर से पेड़ों के नीचे रहने और फटा पुराना पहनने को बाध्य नहीं किया जा सकता।

लेखक महोदय का तर्क था कि अध्ययन से कोई लाभ मिलनेवाला नहीं है, तो वे निरर्थक क्यों पढेंगे? आज उन्होंने हर किताब को पढ़कर रख दिया। आपका संविधान तक बना दिया। स्मृतियों के अनुसार शूद्र को कभी न्यायकर्त्ता नहीं होना चाहिए था, आज वे जज हैं। शासन में भाग लेने के लिये चुनाव लड़ा तो पासवान इत्यादि रिकार्ड मतों से विजयी हुए। रूढ़िवादी, दकियानूसी, अन्ध-परम्पराएँ धराशायी हो गईं; किन्तु कुछ लोग अभी भी प्रतिगामी अवशेषों से चिपककर बैठे हैं। कहते हैं- जाति धर्म है। इसी व्यवस्था की सहचरी आश्रम व्यवस्था भी थी, उसे पुनर्जीवित करने की इन्हें कोई चिन्ता नहीं है। यदि जाति-व्यवस्था ही सनातन थी, तो घर क्यों छोड़ा? संन्यासी क्यों हो गये?

आज शूद्र आन्दोलन कर रहे हैं कि सवर्ण जातियाँ आर्य हैं, भारत के बाहर से आयी हैं, उन्हें भारत से बाहर चले जाना चाहिये। मौर्य, कुर्मी-जैसी कई वैश्य जातियों ने ब्राह्मणों की पूज्यता को तिलांजलि दे दी। अधिकांश ब्राह्मण भी जन्मना पूज्यता के पक्ष में नहीं हैं। क्षत्रिय सोचने में लगे हैं कि क्या करें? फिर कितने हिन्दू जाति-व्यवस्था को धर्म कहने के लिए आपके साथ हैं? कदाचित् उनसे भी कम लोग आपके साथ बचे, जिन्हें आप मुट्ठी भर मुसलमान कहते हैं।

घृणासूचक व्यवस्थाओं को पढ़कर शूद्र इतना बौखलाये हैं कि वे बौद्ध, ईसाई, मुसलमान या कुछ भी बनते जा रहे हैं- जहाँ उन्हें समानता का प्रलोभन दिया जा रहा है। पहले इन जा रहे लोगों को आश्वस्त कर लें, इन्हें सन्तोष दे लें फिर अपनी पूज्यता मनवाते रहियेगा, क्योंकि जब हिन्दू ही नहीं बचेगा तो कौन आपको पण्डित कहेगा? **'अरध तजहिं बुध सरबस जाता।'** *(मानस, २/२५५/२)*- युगद्रष्टा गोस्वामीजी की इस सलाह पर विचार करें-

जलचर-बृन्द जाल-अन्तरगत, होत सिमिटि इक पासा।
एकहि एक खात लालच-बस, नहिं देखत निज नासा।।

(विनयपत्रिका, ६२)

कहा जाता है कि लंका के समरांगण में जब लक्ष्मण को शक्ति लगी और सुषेण वैद्य की विश्वसनीयता पर किसी ने सन्देह व्यक्त किया, तो राम ने कहा था कि सुषेण वैद्य हैं और वैद्य धर्म से विमुख नहीं हो सकते। इसी प्रकार धर्माचार्यों से हमारा निवेदन है कि भारत की यह भोलीभाली निरक्षर जनता उनसे आशावान है। उसे गलत न बताया जाय, गुमराह न किया जाय। इसी प्रकार ब्राह्मण बन्धुओं को भी सोचना चाहिये कि वे उन ऋषियों के वंशज हैं, जिन्होंने समाज का नेतृत्व किया था। उसी गौरवशाली विरासत के साथ उन्हें सामाजिक विघटन को बचाने के लिये भी प्रस्तुत हो जाना चाहिये।

लेखक महोदय ने कतिपय प्रश्न उठाकर धार्मिक भ्रान्तियों के निराकरण का एक अवसर प्रदान किया, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। कदाचित् किसी बिन्दु को हम समझा न पाये हों, तो कभी आश्रम पधारें। इतने समीप रहते हुए भी स्वयं न पधार कर, डाक द्वारा विरोध-पुस्तिका भेजने के द्राविणी प्राणायाम की क्या आवश्यकता थी?

रही बात आप द्वारा शास्त्रार्थ आह्वान की, तो घर में बैठकर शास्त्रार्थ की बात करना आपको शोभा नहीं देता। शास्त्रार्थपरायण जिन आदि शंकराचार्यजी की आप नकल करना चाहते हैं वे भारत भर में स्वयं पैदल घूमकर शास्त्रार्थ करते थे। फिर, आजकल मौखिक वाद-विवाद की अपेक्षा लिखित प्रश्नोत्तर अधिक प्रामाणिक माना जाता है और मौखिक शास्त्रार्थ के स्थान पर यह रास्ता स्वयं आपने चुना है फिर शास्त्रार्थ की धौंस क्यों? यदि आमने-सामने प्रश्न-परिप्रश्न ही करना है तो अपनी गली से थोड़ा बाहर निकलें। दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कश्मीर जैसे स्थलों में यह आयोजन रख लें। निर्णायकों के पैनल में हर जाति के विद्वान्, प्रोफेसर, कुलपति, राजनेताओं को रख लें जिन्हें इस धर्म में रहना है, जिन्हें इस धर्म में जीना है, उनकी उपस्थिति में ही शास्त्रार्थ होना उचित है। उसकी एक सुनिश्चित रूपरेखा प्रकाशित करें। यदि केवल शंका-समाधान ही करना है तो आश्रम में कभी पधारें, सदैव स्वागत है।

।। बोलिये श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय।।

वेदों के नाम पर.....

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते।।
– *ऋग्वेद (१/१६४/३९)*

सभी ऋचाएँ परम अविनाशी अक्षर में स्थित हैं, जिसमें सम्पूर्ण देवता भी स्थित हैं। जो उस अविनाशी को नहीं जानता, उसके लिए ऋचा क्या करेगी? जो उसे जानता है, उसी अविनाशी में प्रवेश पा जाता है।

श्री परमहंस आश्रम द्वारा प्रकाशित कतिपय पुस्तिकाओं पर आक्षेप करते हुए वाराणसी के श्री मस्तराम बाबा ने 'नास्तिकों से सावधान' नामक पुस्तिका प्रेषित की थी, जिसके समाधान का प्रयास 'आस्तिकता के नाम पर.....' पुस्तिका के द्वारा किया गया था; किन्तु 'नहले पर दहला (भाग-१)' नामक उनकी एक पुस्तिका पुनः देखने को मिली है। सत्परामर्श-हेतु उनकी इस पुस्तिका पर भी सम्यक् विचार अपेक्षित है।

उनकी पुस्तिका का उप-शीर्षक है- 'गड़बड़ सम्प्रदाय का छीछालेदर'। ऐसा वीभत्स नामकरण करने में उन्हें काफी विद्वता खर्च करनी पड़ी होगी। प्रथम पृष्ठ पर ही एक श्लोक है, जिसमें उन्होंने अपने वेदान्त को सिंहवत् तथा अन्यान्य शास्त्रों को जम्बूकवत् होने का प्रमाण-पत्र दिया है। आश्चर्य है कि जाति-पाँति, छुआछूत, कर्मकाण्ड और पंचदेव की पैरवी करनेवाले महानुभाव को अद्वैत वेदान्त से क्या लेना देना?

वेदान्त स्वयं में एक सम्प्रदाय बनकर रह गया है। इसके दसियों उप-सम्प्रदाय हैं। बादरायण के ब्रह्मसूत्र का माध्वाचार्यजी ने जो अर्थ लगाया- उसे द्वैत, निम्बार्क ने जो अर्थ समझा- वह द्वैताद्वैत, बल्लभाचार्यजी ने उन्हीं सूत्रों का अर्थ लगाया- शुद्धाद्वैत, रामानुजाचार्यजी ने उन्हीं सूत्रों में पढ़ा- विशिष्टाद्वैत, पण्डित श्रीकण्ठ ने उन्हीं सूत्रों में से निकाला- शैव विशिष्टाद्वैत, पण्डित श्रीपति का अर्थ- वीरशैव विशिष्टाद्वैत, विज्ञानभिक्षु ने देखा- अविभागाद्वैत, शंकराचार्यजी ने व्याख्या किया- निर्विशेषाद्वैत, उन्हीं सूत्रों में भाष्कराचार्यजी ने पढ़ा- भेदाभेद, तो बलदेवजी का अर्थ अचिन्त्य-भेदाभेद कहा जाता है। आचार्यजी अपनी पहचान बतायें कि इनमें से वे कौन हैं? वेदान्तवादी होने से ये दसों सिंहवत् हैं या अकेले वे? इनमें से कोई एक सत्य है या सभी?

सुधीजन विचार करें तो पायेंगे कि वेद में द्वैत-अद्वैत का झगड़ा ही नहीं है। वेद में है- **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।'** ***(ईशावास्योपनिषद्, ५)*** अर्थात् वह

परमात्मा सबके भीतर भी है और बाहर भी है, तो उसके अतिरिक्त अन्य वस्तु, और अन्य वस्तु उसके अस्तित्व के अतिरिक्त कहाँ रह सकती है? उसी तरह अनिर्वचनीय माया और माया विशिष्ट चेतन के बिना उस व्यापक का अस्तित्व ही कहाँ रह सकता है और वह बिना व्याप्य के किसका व्यापक हो सकता है? अतः ऐसा कोई अद्वैतवादी नहीं है जो अनिवर्चनीय जैसी कोई वस्तु और माया मोहित जीव-जैसा एक पदार्थ अनादि न मानता हो और ऐसा कोई द्वैतवादी नहीं है जो तीनों पदार्थों को व्याप्य व्यापक भाव से एक न मानता हो। इस प्रकार अनिर्वचनीय माया और माया विशिष्ट चेतन को अनादि मान लेने पर तथा दोनों में परमात्मा को ओतप्रोत, व्यापक मान लेने पर द्वैत-अद्वैत में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। वैदिकों में द्वैत-अद्वैत सम्प्रदायों की सृष्टि ही अवैदिक है। अतः विद्वान् लेखक का यह तर्क कि **'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'** बाधानुबाधित वृत्ति से शंकराचार्य-जैसे किसी विरले प्रपंचदर्शी तक ही सीमित है, सामान्यजनों के लिये तो द्वैत ही है- अद्वैत की यह व्याख्या ग्राह्य प्रतीत नहीं होती।

आदि शंकराचार्यजी के नाम पर प्रचलित भाष्यों को आधार मानकर कतिपय विद्वानों ने उसकी आलोचना की है; जबकि ये विचार उनके हैं या उनकी गद्दी पर बैठनेवाले परवर्ती आचार्यों की देन है- यह गवेषणा का विषय है। हमारा तो यह भी विचार है कि दशनामी संन्यासियों का संगठन आदि शंकराचार्यजी ने नहीं किया था; क्योंकि मान्यता है कि आदि शंकराचार्यजी के शिष्य पद्मपाद से तीर्थ और आश्रम शाखा चली। इसी प्रकार हस्तामलकजी के शिष्य वन और अरण्य कहलाये। त्रोटकाचार्यजी के शिष्य गिरि, पर्वत और सागर कहलाये तथा सुरेश्वराचार्यजी के शिष्य सरस्वती, भारती और पुरी हुए। सशस्त्र मुसलमान फकीरों के कारण इन दशनामियों की समाप्तप्राय संख्या को पूरा करने के लिए स्वामी मधुसूदन सरस्वतीजी ने क्षत्रियों तथा वैश्यों से सतनामी संन्यासियों को दीक्षित किया, जिनके उपद्रवों के वर्णन से इतिहास भरा पड़ा है। जिस एक अद्वैत में इतना द्वैत है, वहाँ एकतामूलक सरल विचारधारा को भी साम्प्रदायिक कहा जाय तो आश्चर्य क्या?

शंकराचार्यजी के भाष्यसहित एकादश उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र आधुनिक वेदान्त दर्शन के आधार हैं। इन तीनों को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है और यह नाम बौद्धों के त्रिपिटक की नकल है। वेदान्त या ब्रह्मसूत्र अथवा उत्तर-मीमांसा वेदव्यास का रचा बताया जाता है, जिन्होंने गीता को भी लिपिबद्ध किया है। इस दर्शन में उपनिषदों को श्रुति और गीता को स्मृति बनाने में बड़ा जोर लगाया गया है।

गीता (१३/४) में है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाजन ब्रह्मसूत्र के पदों में भी है। ब्रह्मसूत्रों की पुष्टि गीता से की जाती है और यहाँ गीता की पुष्टि में ब्रह्मसूत्र का नाम

लिया गया है। अतः विचारणीय है कि गीता के पूर्व ब्रह्मसूत्र थे या ब्रह्मसूत्र के पूर्व गीता या दोनों ही अनादि हैं? शांकर भाष्यकार के अनुसार जिन वाक्यों से ब्रह्म पाया जाता है, वे सब ब्रह्मसूत्र हैं (यद्यपि यह कथन ही असंगत है फिर भी यदि ऐसा हो भी) तो केवल उत्तर-मीमांसा के सूत्रों को ही ब्रह्मसूत्र मानने का व्यामोह क्यों?

वेदान्त दर्शन में विश्वविख्यात सांख्ययोगादि शास्त्रों को स्मृति कहा गया है, शास्त्र नहीं और उनका खण्डन किया गया है। योगदर्शन पर महर्षि व्यास का भाष्य प्रसिद्ध है। यदि योगदर्शन खण्डन योग्य ही रहा होता तो व्यासजी उसका भाष्य ही क्यों करते? क्या इससे यह नहीं लगता कि योग का खण्डन करनेवाला वेदान्त-दर्शन उन महर्षि व्यास की रचना नहीं है।

इसी प्रकार आदि शंकराचार्य के नाम से प्रचलित शारीरिक भाष्य में है- **'या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कपिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम् कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेव नाम्नः स्मरणात्।'** *(२/१/१/१)* अर्थात् श्रुति में जिस अत्यन्त ज्ञानी कपिल का वर्णन है उससे श्रुतिविरुद्ध कपिल मत पर श्रद्धा नहीं की जा सकती; क्योंकि उपनिषद् में वर्णित कपिल और सांख्यस्मृति प्रणेता कपिल दोनों में केवल शब्द सादृश्य है। यज्ञीय अश्व की रक्षा के लिए नियुक्त सगर-पुत्रों को शाप से जलानेवाले एक दूसरे कपिल भी स्मृतियों में प्रसिद्ध हैं; किन्तु उनका असली नाम वासुदेव था।

उक्त उद्धरण से भाष्यकार का आशय है कि कपिल कई थे। जिन कपिल की सांख्यस्मृति (? शास्त्र) है वे मानने लायक नहीं हैं। मानने लायक वे वैदिक कपिल हैं जिनका कोई साहित्य नहीं मिलता। गीता के भाष्य में भाष्यकार महोदय 'सिद्धों में कपिलमुनि मैं हूँ। (१०/२६)' पता नहीं किस कपिल को भगवान की विभूति मानते हैं? मस्तरामजी के अनुसार वेदान्त के अतिरिक्त अन्य शास्त्र (सांख्य, योग, वैशेषिक इत्यादि) जम्बूकवत् हैं। कपिल जम्बूकवत् हैं और व्यासजी सिंहवत्। धन्य है आपकी अतुलनीय बुद्धि, जिसने इन महानुभावों को भी तौल दिया।

ब्रह्मसूत्र व्यासजी का लिखा होता तो बौद्धों के सिद्धान्त का खण्डन उसमें न होता; किन्तु वेदान्त-दर्शन (२/२/६८) में बौद्ध सम्प्रदायों का खण्डन है। महाभारतकालीन वेदव्यास के डेढ़ हजार वर्ष बाद भगवान बुद्ध का जन्म हुआ और उनके भी चार सौ वर्ष पश्चात् बौद्धों में सम्प्रदाय-विभाजन हुआ, जिसका काल-निर्धारण बौद्ध संगतियों तथा देश-विदेश के बौद्ध विवरणों से प्रमाणित है। ऐसी दशा में ये सूत्र महर्षि व्यासकृत नहीं माने जा सकते। हाँ, कृत्रिम व्यासों की रचना हो तो कोई आपत्ति नहीं है। अब इस हास्यापद तर्क में भी कोई दम नहीं रह गया है कि बौद्धधर्म बहुत पुराना है- इतना कि

लंका के राजा रावण को त्रेतायुग में बुद्ध ने उपदेश दिया था। आज का बच्चा-बच्चा भी जानता है कि लंका में बौद्धधर्म का प्रचार सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा की देन है।

मस्तराम की पुस्तिका के मुख-पृष्ठ पर ही मनुस्मृति का सूत्रवाक्य 'नास्तिको वेद निन्दकः' लिखा है; किन्तु नास्तिकता की यह परिभाषा सर्वमान्य नहीं है। विश्व की अनेक पुस्तकें अपने को ईश्वरप्रणीत घोषित करती हैं, वेद या किसी अन्य पुस्तक के समर्थन की अपेक्षा नहीं करती; फिर तो सभी एक दूसरे को नास्तिक, काफिर या कुछ भी कहते रहेंगे। पाणिनि ने नास्तिक शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति बतायी है- **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः** *(४/४/६०)* अर्थात् 'परलोक नहीं है'- ऐसी जिसकी मान्यता है, वह नास्तिक है। नास्तिक शब्द गाली-गलौज के रूप में भी प्रयुक्त होता है। अपने को वैदिक कहनेवाले सम्प्रदाय एक दूसरे को नास्तिक तथा अवैदिक कहते रहे हैं। शांकर भाष्यकारों ने वैष्णव मत को अवैदिक कहा (२/२/४२-४५), तो बहुतों ने उनके मायावाद को ही अवैदिक कहा है, प्रच्छन्न बौद्ध की उपाधि जैसा अलंकरण भी तो उन्हें ही प्राप्त है।

आश्रम की पुस्तिका 'आस्तिकता के नाम पर.....' में आस्तिकता-नास्तिकता की विशद् चर्चा है; किन्तु उसे अनदेखा कर मस्तराम ने मनुस्मृति के उक्त सूत्रवाक्य से जताना चाहा है कि आश्रमीय प्रकाशन में वेद का अनादर है, जबकि उसी प्रकाशन को पढ़कर सभी अच्छी तरह जानते हैं कि हम वेदविरोधी कभी नहीं थे, न हैं। वेद के नाम पर शोषण, अन्धश्रद्धा या गलत व्याख्याओं के विरोधी अवश्य हैं।

इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथानक है। एक बार देवराज इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन आत्मा को जानने की इच्छा से प्रजापति के पास पहुँचे। गुरु ने जो कहा, इन्द्र ने उस पर मनन-चिन्तन किया। समाधान न होने पर प्रश्न-परिप्रश्न एवं तपस्या द्वारा वह सत्य तक पहुँच गया, जबकि विरोचन की समझ में पहली ही बार जो कुछ उल्टा-सीधा आया, उसी को सिद्धान्त मानकर असुरों में प्रचारित करने लगा। यहीं से आसुर उपनिषदों का आरम्भ हुआ। इस कथानक से दो-तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि भगवत्पथ में अन्ध-विश्वास का कोई मूल्य नहीं है। दूसरी- साधन, भजन-क्रिया में उतरे बिना केवल पढ़-सुनकर सत्य तक पहुँचा नहीं जा सकता और तीसरी यह कि सभी उपनिषद् कल्याणकारी नहीं हैं। उपनिषदों के रूप में आसुरी विद्या भी है, प्रक्षिप्त अंश भी है।

वेदान्तियों के जगन्मिथ्या का आदर्श गीता के आसुरी स्वभाववालों से मिल जाता है कि **'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।'** *(१६/८)* इसी प्रकार **'अहं ब्रह्मास्मि'** रटनेवाले तथा गीता के **'ईश्वरोऽहमहं भोगी'** *(१६/१४)* का साम्य देखकर बहुत से लोग वेदान्त को आसुर उपनिषद् का परिमार्जित संस्करण कहते हैं।

व्यासजी ने भी वेद के नाम पर प्रचलित कुरीतियों से सावधान किया है-

सुरा मत्स्यान्मधुमांसमासवं कृसरौदनम्।

धूर्तै प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।। *(महाभारत, शान्तिपर्व, २६५/६)*

अर्थात् यज्ञों में मांस-मदिरादि का प्रचलन धूर्तों की देन है। वेदों में इनकी कल्पना तक नहीं है।

मस्तराम का प्रश्न है कि चार वेद के अलावा भी कोई वेद होता है क्या? कितना अच्छा होता कि यदि वे भी वेद को चार ही मान सकते। वे तो गोपथ ब्राह्मण को भी वेद कहते हैं, शतपथ और ऐतरेय को भी वेद मानते हैं, ग्यारह उपनिषदों को भी वेद मानते हैं। शेष उपनिषदों को भी कहने का नैतिक साहस उनमें नहीं है।

'आस्तिकता के नाम पर.....' पुस्तिका में वेद के आशय और उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, उन सबकी पुनरावृत्ति न कर कहना चाहेंगे कि वेद पुस्तक नहीं है। प्राचीनकाल में 'वेद' शब्द बड़े महत्व का था, इसलिये अनेकों पुस्तकें वेद के नाम से कही गईं। इसलिये **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'**- मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद नाम से कहे जाते थे। मन्त्र में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद आते हैं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ ऐतरेय या आश्वलायन कौशीतकी या सांख्यायन, शतपथ, पञ्चविंश, षडविंश, गोपथ इत्यादि दसियों हैं।

महर्षि जैमिनी, सायण इत्यादि ने स्थान-स्थान पर लिखा है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ मन्त्रों की अर्थात् उक्त चारों वेदों की व्याख्या हैं, मूल तो संहिता या मन्त्र हैं, जिन्हें व्यासजी ने चार वेद के रूप में संकलित किया फिर भी दो-एक सम्प्रदायवाले इन बीसीयों पुस्तकों को वेद कहते हैं। गोपथ ब्राह्मण में इन चार के अतिरिक्त पाँच अन्य वेदों का वर्णन है- 'सर्पवेदं पिशाचवेदं असुरवेदं इतिहासवेदं पुराणवेदमिति' (१/१०) और तो और, इतिहास भी वेद, पुराण भी वेद है। छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय के प्रथम खण्ड में इतिहास-पुराण को पाँचवाँ वेद और वेदों का भी वेद व्याकरण को बताया गया है। इनके अतिरिक्त नाट्यवेद, आयुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा महाभारत को पाँचवाँ वेद कहा जाता है। इन समस्त प्रकरणों में वेद का अर्थ मौलिक शिक्षा है। वेद का सही आशय भगवान श्रीकृष्ण की गीता के पन्द्रहवें अध्याय में है कि- जो संसार-वृक्ष को उसके मूल परमात्मासहित जानता है, दूसरे शब्दों में प्रकृति को परमात्मासहित जान लेता है वह वेदवित् है। वेद नाम से प्रचलित पोथी को रटनेवाले को श्रीकृष्ण ने वेदवित् नहीं कहा। यही विचार 'आस्तिकता के नाम पर...' पुस्तिका में है। माननीय उसे अन्यथा न लें। वेद शब्द ज्ञानवाचक है और श्रीकृष्ण के शब्दों में, **'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।'** *(गीता, ४/३८)*- वह ज्ञान योग की पूर्णावस्था में अपनी अन्तरात्मा में ही विदित होता है। योग की क्रिया सम्पादित किये बिना बाहर ज्ञान अथवा वेद जैसी कोई वस्तु नहीं है।

भगवान जो कुछ बताते हैं, साधक के लिये वह करोड़ों शास्त्रों से बढ़कर है। ईश्वर-प्रदत्त उस ज्ञान के आलोक में वह पोथियों में लिखे हुए की जाँच करता है और देखता है कि जो अनुभूति उसे हो रही है, उससे पूर्व के ऋषियों को भी हुई थी। इस पुष्टि के लिये ही प्रवचनों, पुस्तकों का उपयोग है। इसीलिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तत्त्वदर्शीजन तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे। ज्ञान के लिये तत्त्वदर्शी के पास जाने का विधान है। पोथी या वाद-विवाद कोई विधान नहीं है, बल्कि पोथी के पास जाना ही भ्रान्ति है। भगवान बुद्ध पोथी को प्रमाण न मानते हुए भी अपने को इसी अर्थ में वेदगू (वेदज्ञ) कहते थे।

* 'ज्ञान' शब्द की चर्चा हुई तो बाबाजी के इस आक्षेप पर भी विचार कर लेते हैं कि वेद माने ज्ञान, वेदान्त माने ज्ञान का अन्त तो क्या ज्ञान का भी अन्त होता है? सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ज्ञान या आत्मा का अन्त मानते हो और ज्ञानी भी बनते हो? अन्त देह का होता है, ज्ञान तो अनन्त है।'.... 'नास्तिकों से सावधान' पृष्ठ १४।

यहाँ मस्तराम जी ने तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में वर्णित **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'** का उद्धरण दिया है। यदि वह इस पर अपने सम्प्रदाय की व्याख्या शांकरभाष्य भी पढ़े होते तो ऐसे आक्षेप की भूल कदापि न करते। शांकर भाष्यकार ने लिखा है- **'सत्यादि शब्दा न परस्परं सम्बन्ध्यते परार्थत्वात्। विशेष्यार्था हि ते। अथ एकैको विशेषण शब्द परस्परं निरपेक्षो ब्रह्म शब्देन सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्मानन्तं ब्रह्मेति।'** अर्थात् सत्यादि शब्द परार्थ होने के कारण परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। ये तो विशेष्य के लिये ही हैं। अतः उनमें से प्रत्येक विशेषण शब्द एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर 'ब्रह्म सत्य है, ब्रह्म ज्ञान है, ब्रह्म अनन्त है'- इस प्रकार ब्रह्म शब्द से सम्बन्धित है। इसी तरह सत् शब्द का प्रयोग गीता में भी है। ज्ञान अनन्त ही होता है- ऐसा निर्णय देते समय विद्वत्प्रवर अन्वयव्यतिरेक भूल गये क्या? क्या रामचरितमानस में उन्हें यह नहीं दिखायी पड़ा कि **'बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।'** ***(मानस, ४/१५ ख)***- ज्ञान पैदा होता है और नष्ट भी होता है।

वास्तव में प्रत्येक गुण की दो सीमाएँ होती हैं- एक आरम्भिक अवस्था और दूसरी पराकाष्ठा। गीता में स्थान-स्थान पर है कि- 'ज्ञानों में भी उत्तम ज्ञान मैं तेरे लिए कहूँगा।', 'ज्ञानीजन (तत्त्वदर्शी) तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे।' यहाँ साधक के लिये ज्ञान की प्रवेशिका है, बीजारोपण है और जहाँ ज्ञानाग्नि में सभी कर्म जल जाते हैं वहाँ ज्ञान का अन्त है। जिसे जानना था जान लिया, आगे कोई श्रेष्ठ सत्ता नहीं है, तो किसे ढूँढ़े? किसके लिये कर्म करे? जिसे जानना था, वह भी अब भिन्न नहीं रहा- यहाँ ज्ञान की पराकाष्ठा है और उसके भी आगे की अवस्था में ब्रह्म अनिर्वचनीय है। गीता के

सत्-असत् सम्बन्धी वर्णनों में मस्तराम को जो विरोधाभास दिखायी पड़ा, वह द्वन्द्वात्मक जगत् के कारण है और जहाँ वह ब्रह्म न सत् है, न असत् है; वह अनिर्वचनीय स्थिति है, अनुभवगम्य है। किसी भी पोथी में उसके वर्णन का कोई तरीका ही नहीं है। पोथी तो केवल वहाँ तक का अंगुल्या निर्देश कर 'नेति नेति' कहकर उसकी अगाधता को ही व्यक्त कर पाती है।

जब तक वह प्रभु साधक के हृदय से रथी होकर मार्गदर्शन नहीं करने लगते, तब तक निवृत्ति दिलानेवाला भजन आरम्भ ही नहीं होता। उस विद्या को भगवान ही पढ़ाते हैं। मस्तराम ने इसका यह अर्थ लगा लिया कि महाराजजी भगवान की अनुमति से ही बोलते हैं। ऐसा दावा तो हमने कहीं किया नहीं। हमारे कहने का सीधा अर्थ है कि भगवान साधक से बोलते हैं। बहुतों से बोलते रहे हैं, किसी से भी बोल सकते हैं, उन्हें बोलने से पहले किसी से आदेश लेने की बाध्यता क्या है? ऐसा भी तो नहीं है कि वह किसी युग में बोलते रहे हों और अब उन्होंने बोलना बन्द कर दिया हो।

साधक और उन परम प्रभु का वार्त्तालाप ही तो साधना का आकर्षण है, साधक की पूँजी है। यही साधक का वेद है। नश्वर संसार में उसके लिये उतना ही ध्रुवसत्य है; किन्तु यह नितान्त व्यक्तिगत और गोपनीय हुआ करता है। अनुरागी-विरही साधकों का उत्साहवर्धन करने के लिए पूज्य गुरुदेव महाराज इस पक्ष की ओर संकेत कर दिया करते थे। दूसरे शब्दों में इस अवस्था के अन्वेषण के स्थान पर अपने में प्रभुकृपा प्राकट्य की प्रार्थना अधिक उपादेय होगी।

* आश्रम की पुस्तिकाओं में वेद के लिये है कि परमात्मा की शोध का पहला विवरण वैदिक ऋषियों द्वारा मिला है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक परमात्मा का ही अस्तित्व है। अतः परमात्मा के शोध-ग्रन्थ वेद को कौन इनकार कर सकता है? वेद का महत्त्व इसलिये है कि वह शाश्वत सत्य परमात्मा को दृढ़ाता है।" इस कथन में आपत्ति लायक कुछ भी नहीं था; किन्तु मान्यवर ने बाल की खाल-सी निकालते हुए ऊपर की पंक्तियों को अनदेखा कर अन्तिम पंक्ति का अभिधात्मक अर्थ करते हुए पूछा है कि- "क्या परमात्मा कमजोर हो गया जो वेद उसे दृढ़ बनाते हैं? क्या वेद सीमेंट है और परमात्मा खम्भा कि सीमेंट दृढ़ायेगा!"- पृष्ठ १०

मस्तराम स्वयं न्यायतः समीक्षा करें कि उपर्युक्त पंक्तियों का क्या यही आशय निकलता है? अन्तिम वाक्य को यदि स्वतन्त्र रूप से लें तब भी शाश्वत शब्द को आपने छोड़ क्यों दिया? क्या शाश्वत को सीमेंट लगता है? अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा और व्यंजना भी होती है। कहावत है कि अक्ल पर पत्थर पड़ गया, तो क्या कोई सचमुच का पत्थर ढूँढ़ने लगता है? उद्धृत पंक्ति का आशय केवल इतना ही है कि शाश्वत सत्य

केवल परमात्मा है और वेद उस एक के प्रति हमारी श्रद्धा का स्थिरीकरण करते हैं, हमारी-आपकी श्रद्धा को दृढ़ करते हैं। अतः मस्तराम का यह आक्षेप भी अकारण है।

मस्तराम ही विद्वान् हैं- इसमें दो राय नहीं; क्योंकि वे समझते हैं कि गीता का अर्थ या तो वे जानते हैं या उनके यहाँ प्रथमा कक्षा का विद्यार्थी! शांकरभाष्य में है- **'तद् इदं गीताशास्त्रं समस्त वेदार्थ सारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्'**- अर्थात् यह गीताशास्त्र सम्पूर्ण वेदार्थ (उपनिषदों) का सार-संग्रहरूप और इसका अर्थ समझने में अत्यन्त कठिन है। शांकर भाष्यकार के लिये गीता कठिन थी; किन्तु उनके स्वयंभू पीठाधीश्वरों के लिये हस्तामलकवत् है- यह प्रसन्नता की बात है।

मस्तराम ने एक अच्छा-सा तर्क दिया है कि शंकरजी के डमरू ने व्याकरण नहीं पढ़ा था; किन्तु शंकरजी तो ज्ञान-निधान हैं। महत्त्व हारमोनियम का नहीं, उसे बजानेवाले का होता है (पृष्ठ १०)- ऐसा कहकर मस्तराम ने हमारे कथन को ही पुष्ट किया है। हम भी तो यही कहना चाहते हैं कि महिमा वेद की नहीं अपितु बोलनेवाले परमात्मा की है। जो परमात्मा पहले बोला था, क्या आज नहीं बोल सकता?

कोई एक महापुरुष या अकेली पोथी ही ज्ञान का केन्द्र होती, ईश्वर के यहाँ से उतरती तो विभिन्न महापुरुषों को समय-समय पर आने और अलग से ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता ही न होती- एक उसी से विश्वभर का काम चल जाता; किन्तु पोथी कोई माध्यम नहीं है। माध्यम जीवन्त होना चाहिए, चेतन होना चाहिए, साधक का समकालीन होना चाहिए, इसीलिए विश्व के सभी धर्म 'गुरु की अनिवार्यता' स्वीकार करते हैं। पोथी के बिना काम चल सकता है। जड़भरत, गौतम बुद्ध, मीरा, सन्त कबीर, रामकृष्ण परमहंसजी इत्यादि अनेकों का पोथी के बिना भी काम चल गया, संस्कृत ज्ञान के बिना भी चल गया, व्याकरण ज्ञान के बिना भी चल गया; किन्तु गुरु के बिना नहीं चलेगा।

इसी अर्थ में सन्त कबीर कहते हैं- **'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।'** यही योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि **'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।'** ***(गीता, ६/२१)*** अर्थात् तीनों वेदों की अनेकानेक धार्मिक क्रियाओं में अनुरक्त पुरुष आवागमन में पड़े रहते हैं, तो मस्तराम इस अर्थ पर रुष्ट हो गये। लिखा है कि महाराजजी ने 'कामकामा' छोड़ दिया। यहाँ वेद की निन्दा नहीं, सकामी पुरुषों की निन्दा है, इत्यादि।

हम 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' मान लेते, वेद शब्द से हमें कोई एलर्जी नहीं है। हमने तो वेद के प्रति गीतोक्त धारणा का स्पष्टीकरण किया था। वेद शब्द तक सीमित है जबकि परमात्मा अनिर्वचनीय है, शब्दों में आ ही नहीं सकता। इस प्रसंग में मस्तराम ने 'श्रुतिविप्रतिपन्ना' वाला गीता का श्लोक जान-बूझकर छोड़ दिया, जिसमें भगवान श्रीकृष्ण

ने कहा है कि वेद-वाक्यों के सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब अचल-स्थिर ठहर जायेगी, तब तू योग को प्राप्त होगा। भगवान श्रीकृष्ण की ही तरह के विचार वेद के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद्कार के भी हैं-

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशँस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि। ते नु वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् *(१/४/२-३)*

अर्थात् मृत्यु से डरे देवताओं ने ऋक्, यजुः और सामरूप तीनों वेदों में प्रवेश किया। उन्होंने गायत्री इत्यादि छन्दों को अपना कवच बनाया; किन्तु जिस प्रकार मछली पकड़नेवाला धीवर जल के भीतर भी मछली को देख लेता है, उसी प्रकार देवताओं को मृत्यु ने उन ऋक्, साम एवं यजुर्वेद के मन्त्रों की ओट में भी देख लिया। वहाँ भी उसने इनका पिण्ड नहीं छोड़ा। देवता भी इसे जान गये इसलिये ऋक्, साम और यजुर्वेद के मन्त्रों से ऊपर उठकर स्वर में अर्थात् ओंकार में प्रवेश कर गये। उस ॐ का आश्रय लेकर देवता लोग अमर और निर्भय हो गये।

स्पष्ट है कि वेदों के आश्रित रहनेवालों को मृत्यु कभी नहीं छोड़ता, आवागमन लगा रहता है और यही गीता में दिखलाया गया तो मस्तराम ने आसमान सिर पर उठा लिया। जो बात छान्दोग्यकार ने कही, वही श्री गुरु नानकजी भी कहते हैं- एक ओंकार, सतगुरु प्रसादि! एक ओंकार ही सत्य है लेकिन वह भी सद्गुरु का कृपा-प्रसाद ही है। सद्गुरु की देन है।

वेद की घोषणा है-

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते।।

(ऋग्वेद, १/१६४/३६)

अर्थात् सभी ऋचाएँ परम अविनाशी अक्षर में स्थित हैं, जिसमें सम्पूर्ण देवता भी स्थित हैं। जो उस अविनाशी को नहीं जानता, उसके लिए ऋचा क्या करेगी? जो इसे जानता है, उसी अविनाशी में प्रवेश पा जाता है।

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' के सन्दर्भ में मस्तराम ने पूछा है कि यदि प्रवचन से आत्मा प्राप्त नहीं होती, तो शिष्यों को प्रवचन उपदेश क्यों करते हैं? क्या अपनी दुकान चलाने के लिये प्रवचन-उपदेश करते हैं? मस्तराम धन्य हैं जो प्रवचन का ऐसा उपयोग भी जानते हैं। हम तो अथर्ववेद की बात कहते हैं-

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म जेष्ठमुपासते
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्। *(१०/७/२४)*

अर्थात् जहाँ ब्रह्मविद् ब्रह्म की उपासना करते हैं वहाँ जाकर जो मुमुक्षु उनको जानता है वह ब्रह्मा हो जाता है, ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। इस मन्त्र में ब्रह्मविदों का सत्संग आवश्यक बतलाया गया है। **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'** *(कठो., १/३/१४)* इस उपनिषद् वाक्य का भी यही आशय है। तैत्तिरीयोपनिषद् में है- **'अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः'** *(१/११/३-४)* अर्थात् यदि तुमको कर्म के बारे में अथवा सदाचार के बारे में कोई शंका हो तो वहाँ जो उत्तम विचारवाले, परामर्श देने में कुशल तथा योग में दक्ष ब्रह्मनिष्ठ हों, वे जिस प्रकार वहाँ बर्ताव करते हों वैसे ही तुमको भी बर्ताव करना चाहिए। आगे लिखते हैं, यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदों का रहस्य है, यही अनुशासन है। इसी प्रकार तुमको अनुष्ठान करना चाहिए। तैत्तिरीय उपनिषद् के इस वर्णन से आचार्यश्री को स्पष्ट हो गया होगा कि उपदेश की परम्परा रही है, उसका उपयोग शंका-समाधान में है; किन्तु इससे आत्मा विदित नहीं हो जाता। किं बहुना कठ एवं मुण्डकोपनिषद् के 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो' और उपदेश में कोई विरोधाभास नहीं है।

*** 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन चेज्यया।'** *(गीता, ११/५३)*- भगवान ने कहा कि मैं वेद, तप, दान तथा यज्ञ से नहीं देखा जा सकता, तो मस्तराम ने अर्थ बताया है कि भगवान का आशय है कि भक्ति के साथ वेदाध्ययन, भक्ति के साथ यज्ञ, भक्ति के साथ तप और भक्ति के साथ दानादि द्वारा मैं देखा जा सकता हूँ। प्रश्न उठता है कि भक्ति मिला देने से क्या सभी क्रियायें प्रशंसनीय बन जाती हैं?

इस महत्वपूर्ण प्रश्न को गीताशास्त्र में तीन बार उठाया गया है। अध्याय दो में है कि इस योग में निर्धारित क्रिया एक ही है। अविवेकियों की बुद्धि अनेक शाखाओंवाली होती हैं इसलिये वे अनन्त क्रियाओं को गढ़ लेते हैं। ऐसे लोग स्वयं तो गुमराह हैं ही दूसरों को भी गुमराह करते हैं।

सोलहवें अध्याय में है कि आसुरी स्वभाववाले **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधि-पूर्वकम्।'** *(गीता, १६/१७)* शास्त्रविधि से रहित केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा, यज्ञ हैं नहीं किन्तु यज्ञ का नाम दे रखा है- ऐसे यज्ञों द्वारा दम्भपूर्वक यजन करते हैं, यज्ञ के नाम पर कुछ न कुछ करते ही रहते हैं, योगश्वर कहते हैं- वे मनुष्यों में अधम हैं, पापयोनि हैं।

अध्याय सत्रह के आरम्भ में अर्जुन पूछता है कि जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर किन्तु श्रद्धा-भक्तिसहित यजन करते हैं, उन्हें कौन-सी गति मिलती है? भगवान बताते हैं कि शास्त्रविधि को त्यागकर भजनेवाले सात्त्विक पुरुष देवताओं को, राजसी पुरुष

यक्ष-राक्षसों को और तामसी लोग भूत-प्रेतों को पूजते हैं, यहाँ तक कि घोर तप करते हैं; किन्तु वे सब मुझ परमात्मा से दूरी ही पैदा करते हैं न कि भजते हैं। इन सबको तू असुर जान! स्पष्ट है कि शास्त्र-अविहित भक्ति का भी कोई मूल्य नहीं है।

भगवान ने गीता में शास्त्र भी बताया और विधि भी, इसलिये इन दोनों के नाम पर भी भागने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है। कदाचित् शास्त्र माने हो वेदान्त शास्त्र, मीमांसा शास्त्र, न्यायशास्त्र या शास्त्र के नाम पर भगवान का आशय रहा हो- गरुड़ पुराण या पाराशर स्मृति! ऐसा कुछ भी नहीं है। भगवान ने स्वयं बताया है कि शास्त्र कौन है-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।। *(गीता, १५/२०)*

हे अनघ! यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। कौन? यही गीता! योगेश्वर की इतनी ही वाणी स्वयं में पूर्ण शास्त्र है। वेद, शास्त्र, पुराणों के संकलनकर्ता की यही सम्मति है कि **'किमन्यै शास्त्रविस्तरैः'।** अतः शास्त्र के नाम पर केवल गीता लें। यह विश्वभर के मनुष्यमात्र का अतर्क्य शास्त्र है। अब विधि भी योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में सुन लें-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। *(गीता, १८/४६)*

जिस परमात्मा से सब भूतों की (हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, ईसाई सबकी) उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस एक परमात्मा को अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म के द्वारा अर्चन कर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है। अतः मात्र एक परमात्मा का पूजन ही विधि है- एकदेशीय, एकवर्गीय देवी-देवताओं का पूजन कोई विधि नहीं है।

आचार्यप्रवर ने लिखा है कि तत्त्वदर्शी के लिये वैदिक कर्मकाण्ड का उपयोग भले न हो; किन्तु क्या भारत के सभी लोग पूरे ज्ञानी हैं? उनके लिये विधि-निषेध या आचार-संहिता कुछ मानेंगे या नहीं? ग्रन्थ सर्वजनहिताय लिखा जाता है फिर कर्म की निन्दा क्यों? पृष्ठ २ पर लिखते हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड से जीवन में उपासना आती है, उपासना से अमृत (ज्ञान) और ज्ञान से मोक्ष होता है। केवल कर्म नहीं, बल्कि दोनों साथ-साथ करना चाहिए। निष्काम भाव से किया जानेवाला साधारण कर्म भी दिव्य बन जाता है। निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का साधन है।..... इत्यादि।

आचार्यश्री के इन वाक्यों के अवलोकन से कर्म के प्रति उनकी अत्यन्त धूमिल धारणा परिलक्षित होती है। वे उपासना को कर्म नहीं मानते बल्कि उपासना और कर्म को अलग-अलग बताते हैं। वे विधि-निषेध या आचार-संहिता को कर्म मानते हैं,

कर्मकाण्ड को कर्म मानते हैं और जीने-खाने की हर क्रिया में सकाम और निष्काम की भूमिका भी गढ़ चुके हैं, उसे अन्तःकरण की शुद्धि का साधन मान बैठे हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कर्म न बताया होता तो हम-आप कुछ भी करते। कुछ भी कर गुजरने को गीता कर्म नहीं कहती। न तो अमृत माने ज्ञान होता है और न कर्मकाण्ड कोई उपासना है; क्योंकि वेद का वह विभाग जो यज्ञीय कृत्यों तथा उसके फल से सम्बन्ध रखता हो, कर्मकाण्ड कहलाता है। वैदिक यज्ञों को आपने पृष्ठ १३ पर नकार दिया फिर कौन-सा कर्मकाण्ड आप कराना चाहते हैं?

आइए, गीता के आलोक में कर्म को समझने का प्रयास करें। सर्वप्रथम तथ्य तो यही है कि गीता में निष्काम कर्म शब्द नहीं है। मनोवैज्ञानिकों का दावा है कि कोई कर्म निष्काम नहीं होता। योगी भी ईश्वर की कामना लेकर भजन में प्रवृत्त होता है। इस शब्द का सही प्रयोग केवल भजन-क्षेत्र में है कि भजन करना चाहिए, इस विश्वास के साथ कि इसका परिणाम निश्चित शुभ मिलेगा, इसलिए फल प्रभु पर छोड़ देना चाहिए। मन भगवान को दे दिया तो फल की कामना करेगा कौन?

कर्म की विशेषता बतलाते हुए श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि-

(१) **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।'** *(२/४१)*- इस कर्म में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है इसलिये वे कर्म के नाम पर अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं।

(२) **'नियतं कुरु कर्म त्वं'** *(३/८)*- अर्जुन! तू नियत किये हुए कर्म को कर। अर्थात् क्रियायें बहुत-सी हैं, वे कर्म नहीं हैं। गीता में नियत कर्म करने की बात कही गई है।

(३) **'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।'** (३/८) कर्म कोई ऐसी विधि है जो जन्म-जन्म से चले आ रहे आत्मा की शरीर-यात्रा का अन्त कर देती है? कई विद्वान् शरीर-यात्रा का अर्थ जीवन-निर्वाह करते हैं; किन्तु श्रीकृष्ण ने गीता में ही ऐसे विचार का खण्डन किया है। जो शरीर के लिए पचते हैं, परिश्रम करते हैं, पापी हैं। शरीर-यात्रा का अर्थ है शरीर धारण करना, जन्म लेना। आप विचार करें कि कौन-सा कर्म करने से अगला जन्म नहीं लेना पड़ेगा?

(४) वह नियत कर्म है कौन-सा? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है- **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** *(गीता, ३/९)* अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके अतिरिक्त हम-आप कुछ भी करें, इसी लोक का बन्धन है न कि कर्म। बहुत से व्याख्याकार यज्ञ के नाम पर **'यज्ञो वै विष्णुः'**- विष्णु के निमित्त किये जानेवाला सम्पूर्ण कर्म यज्ञ है, तो कई **'यज्ञो वै ब्रह्म'**- ब्रह्म ही यज्ञ है, कई **'आत्मा वै यज्ञः'**- आत्मा

ही यज्ञ है तो कई **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**- श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है- ऐसा अर्थ करते हैं; किन्तु अपने मन से क्रियाएँ गढ़ने लगते हैं, जबकि यज्ञ के नाम पर भी कहीं भागने की कोई गुंजाइश नहीं है, क्योंकि अध्याय ४ में श्रीकृष्ण ने एक ही यज्ञ के तेरह-चौदह सोपानों का वर्णन किया, जो प्राण-अपान (श्वास-प्रश्वास) के द्वारा, ध्यान के द्वारा, चिन्तन और इन्द्रिय संयम द्वारा होते हैं। इन यज्ञों में बाहर का कोई सामान नहीं लगता। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कर दिया है कि भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ भी हैं; किन्तु उनका फल अत्यल्प है, चाहे आप करोड़ों का ही यज्ञ क्यों न करें।

(५) कर्म के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ श्रीकृष्ण के समय में भी थीं। गीता के अध्याय ४/१६ में वे कहते हैं कि कर्म क्या है? अकर्म क्या है?- इस विषय में विद्वानों में भी भ्रम है, इसलिए मैं तुझे कर्म को विशेषरूप से बताऊँगा, जिसे जानकर तू अशुभ संसार-बन्धन से छूट जायेगा। यहाँ कर्म की विशेषता बताते हैं कि उसे करने से संसार का बन्धन छूट जाता है। अभी बता चुके हैं कि यज्ञ के अतिरिक्त कुछ भी करें, बन्धन तैयार होगा। लेकिन कर्म वही है जो संसार-बन्धन से छुड़ा दे। आप स्वयं निर्णय लें कि कौन-सा कर्म करने से भव-बन्धन कटेगा? निष्काम भाव से नौकरी करने से? पूज्यश्री ने 'नहले पर दहला' के पृष्ठ २ पर लिखा है कि ''रात में दो-दो बजे तक जागना, उठते ही चाय-बिस्कुट खाना, अखबार पढ़ना, स्वरूप को भूला रहना यह सब मृत्यु है। इस मृत्यु से बचने के लिए वैदिक कर्म करें।'' उनका आशय है कि समय से सोयें, नहा-धोकर मन्त्र पढ़कर खायें- किन्तु बिस्कुट खाने न खाने से गीता के कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। मन्त्र पढ़कर नहाना गीता का कर्म नहीं है। विचार करें कि गीता किसे कर्म कहती है?

(६) **'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।'** *(३/९)* नियतकर्म को ही तदर्थ कर्म या यज्ञार्थ कर्म कहा गया है। इसी को 'कार्यम् कर्म', 'पुण्य कर्म' और 'शास्त्र-विधानोक्त कर्म' भी कहा गया है। अलग से कोई पुण्य कर्म गीता में नहीं है। पुण्य के नाम पर संसार में जितने भी कार्य किये जाते हैं, सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। गीता में पुण्यकर्म एक ही है- आराधना!

इस तदर्थ कर्म को संगदोष से अलग रहकर करना होता है। भर्तृहरि का अनुभव है- **'दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गत'**- यही मानस में भी है- **'संग तें जती कुमंत्र ते राजा।'** *(मानस, ३/२०/१०)* ऋग्वेद में है- **'उपह्वरे गिरीर्णा सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।'** *(८/६/२८)*- पहाड़ की कन्दराओं तथा नदियों के संगम में ध्यानादि से विप्रत्व का जन्म होता है। गीता में स्थान-स्थान पर एकान्त-सेवन पर बल दिया गया है। एकान्त में कौन-सा कर्म करेंगे ?

(७) **यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।**
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(गीता, ४/१९)*

जिस भी व्यक्ति का सम्पूर्णता के साथ किया गया कर्म इतना सूक्ष्म हो गया कि वह कामना और संकल्प से शून्य हो गया, उस समय ज्ञानाग्नि में कर्म सदा के लिये जल जाते हैं। आगे कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। स्पष्ट है कि गीता का नियत कर्म व्यक्ति के संकल्पों का निरोध कर देता है। सांसारिक किसी भी कर्म से, किसी भी विधि-निषेध से, किसी भी आचार-संहिता से किं बहुना किसी भी कर्मकाण्ड से संकल्पशून्यता आती हो तो कीजिए।

बुझै कि काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते। *(विनय०, १९८)*

(८) आठवें अध्याय के आरम्भ में ही अर्जुन का प्रश्न था कि भगवन्! कर्म की पूर्णता कब है? भगवान ने बताया- **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।'** *(८/३)*- प्राणियों के वे भाव, जिनसे कुछ न कुछ रचना होती है, उन पर विसर्ग लग जाना, उनका रुक जाना कर्म की पूर्णता है। संकल्पों का रुक जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है।

(९) गीता १६/२२ में कहते हैं- काम, क्रोध, लोभ नरक के तीन द्वार हैं। इन्हें त्याग देने पर ही वह कर्म आरम्भ होता है, जिससे परमगति की प्राप्ति होती है। आचार्यश्री विचार करें कि किस कर्म से परमगति प्राप्त होती है और किस कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है? गीता किसे कर्म कहती है?

(१०) गीता १७/२७ में है- **'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।'** उस परमात्मा के लिये नियत किया हुआ कर्म ही सत्य है। मानस में भी यही है- **'सत हरिभजनु जगत सब सपना।'** *(मानस, ३/३८/५)*

योगेश्वर श्रीकृष्ण के इतना बल देने पर भी आचार्यश्री उस नियत कर्म को न मानकर उलटी-सीधी कल्पना करते हैं कि जो कुछ भी संसार में किया जाता है, कर्म है। कुछ भी त्यागने की जरूरत नहीं है, केवल फल की कामना न करो, हो गया निष्काम कर्मयोग! कितनी भ्रान्त धारणाएँ हैं? कहते हैं- कुछ भी करो नारायण को अर्पण कर दो- हो गया समर्पण योग; किन्तु यह समर्पण नहीं है। योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि कहते हैं कि **'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'** *(२/४५)*- ईश्वर को समर्पण करने से समाधि सिद्ध होती है। समर्पण का परिणाम है समाधि। समर्पण से संकल्पशून्यता आती है। मन ही तो कामना करता है। उसी मन का समर्पण कर दिया, तो कौन करेगा कामना? मन में सतत् प्रभु का चिन्तन करने से निष्कामता स्वतः हो जाती है। कामनाओं को रोकने से या केवल कह देने से कि नारायण को अर्पण किया- कामना कभी नहीं रुकेगी। वह जब भी रुकेगी इष्ट के चिन्तन से ही रुकेगी। नौकरीवाले कहते हैं कि हम तो कर्त्तव्य समझकर साहब के आदेश का पालन करते हैं, हमारी अपनी कोई कामना

नहीं। निष्काम कर्मयोग तो हमने अपने जीवन में ढाल लिया है- कर्म जानते ही नहीं तो निष्काम कर्मयोग कैसा? यदि श्रीकृष्ण ने स्पष्ट न कहा हो तो आप कुछ भी करें। यदि बताया है तो जितना कहा है उतना ही मान लें। किन्तु व्यक्ति मान नहीं पाता। विरासत में अनेक रीति-रिवाज, पूजा-पद्धतियाँ मस्तिष्क को जकड़े हुए हैं। बाह्य वस्तुओं को बेचकर कदाचित् हम-आप भाग भी सकते हैं; किन्तु पूर्वाग्रहग्रस्त विचार, कुसंस्कार मस्तिष्क में साथ-साथ चलते हैं। सिर काटकर कोई अलग तो रख नहीं सकता। यही विवशता आचार्यश्री के साथ भी है। नियत कर्म को छोड़कर उन्होंने इतनी क्रियाओं को गिना दिया है कि गीतोक्त कर्म पहचान ही खो बैठा।

* मान्यवर ने लिखा है कि 'धर्म' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है- एक निवृत्तिपरक और दूसरा प्रवृत्तिपरक। विधिपरक पुण्य को, व्रत को, दान को, सामाजिक अभ्युन्नति हेतु हम धारण करें। (पृष्ठ २०) विधि-निषेधात्मक धर्म जीवन को नियन्त्रित एवं व्यवस्थित करता है, अनगढ़ क्रिया-कलाप का शोधन करता है। (पृष्ठ १८)

जब धर्म ही दो प्रकार का हो गया, तो अधर्म किसे कहेंगे? अधर्म कितने प्रकार का होगा? बीसवें पृष्ठ पर मस्तराम लिखते हैं कि जो गलती करने से रोके, उसका नाम धर्म है। सरकार के सभी कानून गलती करने से रोकते हैं, तो क्या वे धर्म हो गये? धर्म विधि-निषेधात्मक नहीं बल्कि कर्म विधि-निषेधात्मक कहा गया है- **'विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदिनि बरनी।।'** *(मानस, १/१/६)* विधि-निषेध तो सड़क के नियमों में भी है कि बायें से चलो, दाहिने मत चलो- तो क्या यह धर्म हो गया? अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी यह विधि-निषेध न तो धर्म है न गीता का नियत कर्म। प्राचीन ग्रन्थों में शौच, दन्तधावन, स्नान, भोजन, निद्रा, जागरण, विवाह, नियोग इत्यादि के विधि-निषेधों की लम्बी चर्चाएँ हैं। ये उस समय के राष्ट्रीय कानून हैं, जीवन को नियन्त्रित-व्यवस्थित करते हैं, अनगढ़ क्रिया-कलापों का शोधन भी करते हैं फिर भी ये नियम धर्म नहीं हैं। ये केवल स्वास्थ्य, स्वच्छता, अधिकार तथा सदाचार के नियम हैं। इनमें भी अधिकांश के लिये उन्नत आविष्कार जन-जीवन में प्रचलित हैं। साबुन-तेल छोड़कर आज कितने लोग स्नानहेतु मिट्टी या अंगराग लगाने के लिए तैयार हैं? उपयोगी-अनुपयोगी प्राचीन सभी नियमों को अकारण धर्म कहकर मनवाने का आज के शिक्षित समाज में कोई औचित्य नहीं रह गया है।

धर्म का प्रयोजन बताते हुए मस्तराम ने श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित श्लोक का उद्धरण दिया है-

धर्मस्यह्यपवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थापकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृति।। *(१/२/६)*

आर्चायजी ने इसका अर्थ लिखा है- 'कहीं अनुचित धन में हम फँस न जायँ, यदि फँस गये तो छुड़ानेवाला धर्म है' (पृष्ठ १६)। आश्चर्य है कि ऐसा अर्थ एक वेदान्ताचार्य ने किया है। आजकल अनुचित धन में फँस जाने पर छुड़ाने का काम इनकम टैक्स के वकील करते हैं, राजनेता करते हैं, तब तो आज के धर्म भी वही सब हैं।

इन श्लोकों का सही अर्थ इस प्रकार होगा- 'धर्म का फल है मोक्ष। उसकी सार्थकता अर्थप्राप्ति में नहीं है। अर्थ केवल धर्म के लिए है। भोग-विलास धन की सार्थकता नहीं है।' अपना निष्कर्ष निकालते समय मस्तराम ने भागवत के कई प्रसंगों को अनदेखा कर दिया है। दूसरे स्कन्ध के दूसरे अध्याय के दूसरे श्लोक में है- 'वेदों की वर्णन-शैली ही इस प्रकार की है कि लोगों की बुद्धि स्वर्ग आदि निरर्थक नामों के फेर में फँस जाती है। जीव सुख की वासना से स्वप्न-सा देखता हुआ भटकने लगता है; किन्तु उन मायालोकों में कहीं भी उसे सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती।' आश्चर्य है! मस्तराम को यह श्लोक नहीं दिखाई पड़ा?

धर्म का विशुद्ध स्वरूप गीता में द्रष्टव्य है। अध्याय २/१६-२६ में भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं है। परमात्मा ही सत् है। किन्तु वह अचिन्त्य भी है। जब तक चित्त और चित्त की तरंग है तब तक उसे देखा नहीं जा सकता। चित्त का निरोध करके उस परमात्मा को पाने की विधि का नाम कर्म है। इस कर्म को कार्यरूप देना धर्म है अर्थात् प्रभु से मिलन करा देनेवाली क्रिया पर चलना धर्म है।

गीता, २/४० में है कि इस कर्मरूपी धर्म का रंचमात्र साधन भी जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार करानेवाला होता है अर्थात् इस कर्म को करना ही धर्म है। इस नियत कर्म (साधन-पथ) को साधक के स्वभाव में उपलब्ध क्षमता के अनुसार चार भागों में बाँटा गया है। कर्म को समझकर मनुष्य जब से आरम्भ करता है, उस आरम्भिक अवस्था में वह शूद्र है, क्रमशः विधि पकड़ में आयी तो वही वैश्य है। प्रकृति के संघर्ष को झेलने की क्षमता और शौर्य आने पर वही व्यक्ति क्षत्रिय और ब्रह्म के तद्रूप होने की योग्यताओं (ज्ञान-विज्ञानादि) के आने पर वही ब्राह्मण है।

गीता १८/४६-४७ में कहते हैं कि स्वभाव में पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार कर्म में लगना स्वधर्म है। हल्का होने पर भी स्वभाव से उपलब्ध स्वधर्म श्रेयस्कर है; किन्तु क्षमता अर्जित किये बिना दूसरों के उन्नत धर्म की नकल हानिकारक है। स्वधर्म में मृत्यु कल्याणकारी है। जहाँ से साधन छूटा था वहीं से पुनः आरम्भ हो जायेगा। सोपानशः चलकर वह परमसिद्धि, अविनाशी पद प्राप्त कर लेगा।

जिस परमात्मा से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, जो सर्वत्र व्याप्त है, स्वभाव

से उत्पन्न क्षमता के अनुसार उसे भली-भाँति पूजकर मानव परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है- अर्थात् निश्चित विधि से एक परमात्मा का चिन्तन ही धर्म है।

धर्म करने का अधिकार किसे है? योगेश्वर ने बताया कि अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से अर्थात् अन्य किसी को न भजकर केवल मुझे भजता है, तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, उसकी आत्मा धर्म से संयुक्त हो जाती है। अतः श्रीकृष्ण के अनुसार- धर्मात्मा वह है जो एक परमात्मा में अनन्य निष्ठा से लग गया है। धर्मात्मा वह है जो एक परमात्मा की प्राप्ति के लिये नियत कर्म का आचरण करता है। धर्मात्मा वह है जो स्वभाव में नियत क्षमता के अनुसार परमात्मा की शोध में संलग्न है।

अन्त में कहते हैं- अर्जुन! सारे धर्मों की चिन्ता छोड़कर एक मेरी शरण में हो जा। अतः एक परमात्मा के प्रति समर्पित व्यक्ति ही धार्मिक है। एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करना ही धर्म है। उस एक परमात्मा की प्राप्ति की निश्चित क्रिया को करना ही धर्म है। इस स्थिति को प्राप्त महापुरुष, आत्मतृप्त महापुरुषों का सिद्धान्त ही सृष्टि में एकमात्र धर्म है। उनकी शरण में जाना चाहिए कि उन महापुरुषों ने कैसे परमात्मा को पाया? किस मार्ग से चले? उन सबका मार्ग सदा ही एक है। उस मार्ग से चलना धर्म है।

धर्म मनुष्य के आचरण की वस्तु है और वह आचरण निर्धारित है, नियत है। उसके अतिरिक्त मनमाना कुछ भी करना धर्म नहीं है, चाहे वह धर्म के नाम पर ही क्यों न किया जाय? इसमें निश्चयात्मक क्रिया एक है। इन्द्रियाँ जो विषयों की ओर दौड़ती थीं, उन्हें संयत कर इष्ट की ओर मोड़ना है। इन्द्रियों की चेष्टा और मन के व्यापार को संयमित कर आत्मा की ओर प्रवाहित करना है (४/२७)। इस संयम के लिये गीता में स्थान-स्थान पर उपाय बताये गये हैं- एकान्त-सेवन, स्वल्पाहार, ब्रह्मचर्य, ॐ का जप, सद्गुरु का ध्यान। इन्हें करना धर्म है और गीता में प्राप्त निर्विवाद सरल क्रमबद्ध एवं पूर्ण साधन को छोड़कर ग्रन्थों के नाम पर इधर-उधर भागना धर्म नहीं है।

कहीं लिखा होने से ही किसी बात को आँख मूँदकर मान लेना विवेकसम्मत नहीं है। अतः वेद के नाम पर दसियों ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, सैकड़ों उपनिषद्, वेदान्त या अन्य शास्त्रों तथा सैकड़ों स्मृतियों को अपौरुषेय या ईश्वरप्रणीत कहकर मनवाना श्रद्धा का दुरुपयोग है। लोगों ने देखा कि अपौरुषेय कहने से ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ जाता है, तो प्रत्येक साहित्य को अपौरुषेय कहने लगे। बृहदारण्यक उपनिषद् (२/४/१०) में है कि ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, अनुव्याख्यान इत्यादि सब-के-सब ईश्वर के निःश्वास हैं, अपौरुषेय हैं। इस तरह मत्स्यपुराण में भगवान मत्स्य कहते हैं-

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदाश्च विनिर्गतः।। *(५३/३)*

अर्थात् सबसे पहले ब्रह्मा ने पुराण बनाया और इसके बाद वेद की रचना की। पुराण में लिखा होने से क्या मान लिया जाय? पाँचवें-छठें श्लोक में मत्स्य भगवान कहते हैं कि सभी लोगों के नष्ट हो जाने पर मैंने ही अश्वरूप से व्याकरणादि छहों अंगोंसहित चार वेद, पुराण, न्यायशास्त्र, मीमांसा और धर्मशास्त्र का संकलन किया था। बृहदारण्यक (६/२/१३) तथा छान्दोग्य (५/८/१-२) उपनिषदों में यज्ञ के लिये दी गयी अश्लील उपमा को अपौरुषेय कहने का क्या औचित्य है? सामवेद गायन की उपमा छान्दोग्य उपनिषद् में देखें-

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रतिस्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्।

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति, मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्। *(२/१३/१-२)*

अर्थात् स्त्री-पुरुष का परस्पर संकेत हिंकार है, सहमति प्रस्ताव है, एक पलंग पर साथ-साथ होना उद्गीथ है..... इत्यादि। यहाँ सामवेद गायन की तुलना मैथुन से की गई है। **'न कांचन परिहरेत् तत् व्रतम्'** अर्थात् किसी भी स्त्री को छोड़ना नहीं चाहिए- यही व्रत है। शांकर भाष्यकार ने इसका अर्थ किया है- **'न कांचन कांचदपि स्त्रियं स्वात्मतल्प प्राप्तां न परिहरेत् समागमार्थानाम्'** अर्थात् समागम चाहनेवाली जो अपनी शय्या पर आये ऐसी किसी भी स्त्री को न छोड़ें। क्या यह भगवती श्रुति है?

छान्दोग्य उपनिषद् में है, **'चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य'** *(८/१३/१)*- जैसे चन्द्रमा राहु के मुख से छूट जाता है। चन्द्रमा को राहु खा जाता है और फिर उगल देता है। क्या सृष्टिकर्त्ता को अपनी सृष्टि का ही पता नहीं है कि ग्रहण कैसे लगता है?

बृहदारण्यक उपनिषद् में है- **'कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति'** *(३/६/१)* गार्गी ने पूछा था कि सूर्यलोक किसमें स्थित है? याज्ञवल्क्य ने बताया- चन्द्रलोक में! यहाँ चन्द्रलोक को सूर्य से बड़ा अर्थात् सूर्य को चन्द्र से निकला हुआ बताया गया। ऋषियों के इस वाद-विवाद को भगवान की वाणी कहना जरूरी है क्या?

आदरणीय मस्तराम का हठ वहाँ भी देखने लायक है जहाँ वे अब भी कहते हैं कि बादल यज्ञ के धुएँ से बनता है। अपना पक्ष सबल बनाने के लिये वे महाकवि कालिदास तथा पूज्य उड़िया बाबा की दुहाई भी देते हैं। बादल तो जैसे बनते हैं वैसे ही बनते रहेंगे, इन महानुभावों का नाम लेने से उनकी निर्माण-क्रिया में परिवर्तन हो जायेगा क्या?

बादल बनाने के लिये आचार्यश्री वेद, उपनिषद्, पुराण और स्मृति से उतरकर कालिदासजी तक पहुँच गये। थोड़ा और आगे बढ़े होते तो उन्हें श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के चैतन्य चरितावली प्रथम खण्ड, अनेक ग्रन्थों तथा वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोश में स्मृति धर्मशास्त्र में रूप में उद्धृत **'जन्मना जायते शूद्रः....'**वाला श्लोक भी मिल गया होता।

कालिदासजी का एक अन्य वर्णन लें। लोकालोक नामक एक पर्वत है जो पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए है। पृथ्वी के सात द्वीप हैं। सातवें द्वीप के भी बाहर एक पर्वत है। इसके उस पार अन्धकार ही अन्धकार रहता है और इसी पार तक सूर्य का प्रकाश पहुँच पाता है। अतः यह पर्वत अन्धकार और प्रकाश को पृथक् करता है। कालिदासजी ने इस पर्वत के विषय में कहा है-**'प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः।'*(रघुवंश०, १-६८)*** महाकवि के पास कविसत्य भी होता है। चकोर अंगार खाता है- यह कविसत्य है। हंस मानसरोवर के मोती चुगता है- यह भी कविसत्य है। कवि के पास उक्ति वैचित्र्य है, वाग् विदग्धता है, काव्य है। उससे रसानुभूति ही अपेक्षित है, न कि वैज्ञानिक परीक्षण।

इसी प्रकार सन्त के पास ऋषिसत्य होता है, योगपरक शब्द होते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंसजी ने बताया कि 'गीता गीता' दो-चार बार दुहराने से 'तागी तागी' अर्थात् त्यागी बन जाता है। अतः गीता का सार त्याग है। अब आप पूछेंगे कि यह कौन-सी विधि है? जबकि उन्होंने गीता का सही आशय बताया।

सन्त कथन के भाव पर जाते हैं। सन्त के पास आप व्याकरण, छन्द या निरुक्त सीखने नहीं जाते। अतः किसी शब्द में कहाँ उपसर्ग, कहाँ प्रत्यय, कहाँ कृत और कहाँ तद्धित है- इसका समाधान शिक्षाविद् के क्षेत्र की वस्तु है, धर्म उसका रणांगन कदापि नहीं है।

सन्त इनसाइक्लोपीडिया भी नहीं है। किसी ग्रन्थ को रटना भगवत्पथ में अनिवार्य भी नहीं है। कितनी पुस्तकें लिख गईं और कितनी अब भी मौखिक, हस्तलिखित प्राप्य या अप्राप्य हैं। लगनशील साधक के लिये इस प्रश्न का भी कोई उपयोग नहीं है। साथ ही इस प्रश्न को दुबारा पूछकर हम पूज्यश्री को संकोच में नहीं डालेंगे कि 'नास्तिकों...'वाली पुस्तिका में गोस्वामी तुलसीदासजी के नाम पर यह दोहा उन्होंने कब गढ़ा कि- **'ब्रह्मज्ञान जाना नहीं, कर्म दिया छटकाय। सो नर पाँवर मूढ़ है पुनि पुनि नरकहि जाय।।'**

छान्दोग्य उपनिषद् में है कि- हे सोम्य! राजकर्मचारी पुरुष को हाथ बाँधकर लाते हैं और कहते हैं कि इसने चोरी की है। राजा लोहे का परशु तपाकर उसके हाथ में रखवाता है। यदि वह सचमुच चोर है तो जल जाता है (८/१३/१)। आचार्यश्री स्वयं निर्णय करें कि अज्ञान पर आधारित इस प्रथा को अपौरुषेय कहकर कितने लोगों से

इसका पालन करा पायेंगे? निर्दोष होते हुए भी क्या वह स्वयं ऐसे परीक्षणों के लिए प्रस्तुत हैं? क्या ये वाणियाँ अपौरुषेय हैं?

जिस प्रकार इन आर्षग्रन्थों में प्रक्षिप्त अंश है, उसी प्रकार इनके भाष्य में भी प्रदूषण स्पष्ट है। उदाहरण के लिये चौदहवीं शताब्दी में विजय नगर के राजा बुक्क के दीवान सायणाचार्य ने पण्डितों की सहायता से वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों का भाष्य किया। उनके पश्चात् उबट और उबट के पश्चात् महीधर हुए, जिन्होंने सायण और उबट को आधार मानकर वेदों का भाष्य किया। यहाँ प्रस्तुत है यजुर्वेद के तेइसवें अध्याय की उन्नीसवीं कण्डिका-

गणानां त्वा गणपति ँहवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपति ँहवामहे निधीनां त्वा निधिपति ँहवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्।।

इसका भाष्य करते हुए महीधर लिखते हैं- **'अस्मिन् मंत्रे गणपति शब्दादश्वो बाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी, यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते शयानां सत्याह, हे अश्व! गर्भधं गर्भं दधाति, गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहं आ अजानि आकृष्य क्षिपामि त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि।'** आशय यह है कि यजमान की पत्नी यज्ञ करानेवाले पण्डितों के सामने घोड़े के पास सोवे और उससे गर्भ धारण कराने के लिए कहे।

सायणाचार्यजी ऋग्वेद प्रथम मण्डल के सूक्त चौबीस से तीस तक के भाष्य में शुनःशेप की कथा लिखकर वेदों में नरबलि का भयंकर उदाहरण दिखलाया है और शुनःशेप का अर्थ 'शुन इव शेपः यस्य' अर्थात् कुत्ते का.... किया है।

उन्हीं की शैली में आचार्यप्रवर ने अपनी पुस्तिका के पृष्ठ बारह पर वेदों में जाति दिखलाने के लिए आपस्तम्ब धर्मसूत्र, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, पातंजल योगदर्शन, तैत्तिरीय आरण्यक तथा निरुक्त का उद्धरण दिया है; किन्तु चार वेदों के अतिरिक्त ये ग्रन्थ भी वेद हैं क्या? इन उद्धरणों का जातिपरक अर्थ लगाकर श्रीमन् ने विद्वता का दुरुपयोग ही किया है। उदाहरण के लिये पातंजल योगदर्शन से आप द्वारा दिये गये उद्धरण **'सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** नामक सूत्र में जाति शब्द का अर्थ भारत में प्रचलित जाति-व्यवस्था नहीं है। साधनपाद के इस तेरहवें सूत्र के पहले बारहवें सूत्र में है कि वासनाओं का फल वर्तमान तथा आनेवाले जन्मों में भोगा जाता है। तेरहवें सूत्र में यही फल जाति, आयु और भोग बताया गया है। जाति का अर्थ यहाँ जन्म है। मनुष्य, पशु, कीट-पतंगादि योनियों में जन्म जाति है। बहुत काल तक जीव का एक शरीर के साथ सम्बन्ध आयु है। इन्द्रियों के रूप-रसादिक विषय भोग हैं। इसी योगशास्त्र के कैवल्यपाद का दूसरा सूत्र है- **'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।'** अर्थात् प्रकृति के पूर्ण

होने से एक जाति दूसरी जाति में बदल जाती है। भारत की जाति-व्यवस्था में यह लक्षण कहाँ पाया जाता है?

ठीक यही भागवत के नवम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय के श्लोकों में है कि मनुपुत्र धृष्ट से धार्ष्टय नामक क्षत्रिय हुए, जो अन्त में इस शरीर से ही ब्राह्मण बन गये। मनुपुत्र नरिष्यत से चित्रसेन, उनसे ऋक्ष, ऋक्ष से मीटवान, उनसे कूर्च, उनसे इन्द्रसेन, उनसे वीहिहोत्र, उनसे सत्यश्रवा, उनसे उरुश्रवा, उनसे देवदत्त, उनसे अग्निवेश नामक पुत्र हुआ, जिनसे ब्राह्मणों का अग्निवेश्यायन गोत्र चला। चतुर्थ स्कन्ध के चौदहवें-पन्द्रहवें अध्याय में ब्राह्मणों द्वारा पुत्रहीन राजा वेन की जंघा से निषाद तथा भुजाओं से पृथु और अर्चि की उत्पत्ति का वर्णन है, जिन्होंने आपस में विवाह कर लिया। कहाँ रह गया कि ब्राह्मण विराट् के मुख से ही पैदा हुए? स्कन्ध तीन के बारहवें अध्याय में ब्रह्मा के पुत्र मरीची आदि ऋषियों ने सरस्वती-सम्बन्धी आसक्ति के लिये उन्हें फटकारा कि आपसे पूर्ववर्ती किसी भी ब्रह्मा ने ऐसा संकल्प नहीं किया। स्पष्ट है कि ब्रह्मा भी व्यवस्थाकार मात्र हैं, उनसे पहले भी सृष्टि थी।

आश्रम की पुस्तिका में है कि झल्ल-मल्ल-लिच्छिवि जातियाँ, जिनका वर्णन मनुस्मृति में है, महाभारतकाल के बाद ही हैं; तो सुहृदवर आचार्यजी ने यजुर्वेद के कुछ शब्दों का साम्य जातियों में बैठाकर जाति-प्रथा रेखांकित करने का अनावश्यक श्रम किया है। इन शब्दों को जातिसूचक माननेवाले कई भाष्यकार शुक्ल यजुर्वेद के तीसवें अध्याय को विभिन्न जाति के व्यक्तियों को बलि चढ़ानेवाले नरमेध यज्ञ का वर्णन मानते हैं। अतः सम्पूर्ण तीसवें अध्याय पर विचार करना होगा, जिसमें कुल २२ मन्त्र हैं। पहले मन्त्र में ईश्वर से सत्कर्म की प्रेरणा के लिये प्रार्थना की गई है। दूसरा प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र है, जिसमें सर्वत्र व्याप्त एक परमात्मा के प्रति समर्पण है। तीसरे मन्त्र में बुराइयों से दूर रहने तथा सत्पथ पर चलाने की प्रार्थना है तथा चौथे से बाइसवें मन्त्र में शिक्षा दी गई है कि उत्तम रहन-सहन एवं कल्याण के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिए।

यजुर्वेद मे उपर्युक्त मन्त्रों में एक सौ चौरासी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का वर्णन है। यदि मस्तरामजी के अनुसार इनमें छत्तीस शब्द जातिवाचक हैं, तो शेष एक सौ अड़तालीस शब्दों का क्या होगा? इन्हीं मन्त्रों में है, **'योगाय योक्तारम्'**- योग के लिए योगी को, **'प्रियाय प्रियवादिनम्'**- प्रेमहेतु प्रिय वक्ता को, **'सन्धये जारम्'**- सुलहहेतु वृद्ध व्यक्ति को, **'क्षेमाय विमोक्तारम्'**- कल्याणहेतु मुक्तिदाता को, **'भूत्यै जागरणम्'**- उन्नति के लिये जागरण को, **'वृद्धयै अपगल्भम्'**- अभ्युदय-हेतु गर्वहीनता को वरण करना चाहिये। इन मन्त्रों में प्रयुक्त मुक्तिदाता या योगी कोई जाति नहीं है। वृद्ध कोई जाति नहीं है। जागरण, गर्वहीनता इत्यादि भी कोई जाति नहीं हैं।

इन मन्त्रों में नरमेध देखनेवाले लोग 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभते' का अर्थ लगाते हैं कि ज्ञान के लिये ब्राह्मण की बलि चढ़ाना चाहिये। यहाँ 'आलभ्' का अर्थ हनन करना उचित नहीं है बल्कि आशय है कि ज्ञान के लिये ज्ञानी के पास जाना चाहिए, उसका आश्रय लेना चाहिये, उसके प्रति समर्पित होना चाहिये। यह तो वर्णन-शैली का चमत्कार है कि जो ब्राह्मण की विद्या लेना चाहता है वह अपना मस्तक काटकर ब्राह्मण का मस्तिष्क ले ले, अपने मस्तिष्क की रूढ़ियों का त्याग करके विचारों को अपने में ढाल ले। यही सन्त कबीर कहते हैं- **'यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं। सीस काटि चरननि धरै, तब पैठे घर माहिं।।'** विद्वतजनों से अनुरोध है कि इन मन्त्रों पर और अधिक विचार करें तथा इनका जातिवाचक तथा नरमेधवाचक सन्दर्भ न गढ़ें।

ऐसे ही असंगत अर्थ गीता के **'धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** *(७/११)* का भी देखने को मिलता है कि धर्मानुकूल काम अर्थात् ऋतुकाल में अपनी पत्नी से पुत्र की उत्पत्तिहेतु मैथुन करना धर्म है- **'ऋतौ च मैथुनं धर्म्यं पुत्रोत्पत्ति निमित्ततः।'** वे कहते हैं कि ऐसी आज्ञा तैत्तिरीय उपनिषद् की शीक्षावल्ली के नवम तथा एकादश अनुवाक् में है। इसलिये ऐसा न करने से पाप पड़ता है। शांकर भाष्यकार के अनुसार प्राणियों की जो कामना शास्त्र के अविरुद्ध है, जैसे- देह धारण मात्र के लिये आवश्यक खाना-पीना, विषय-भोग करना इतना भगवान की आज्ञा है। गीता में है धर्म-अविरुद्ध तो इन्होंने कर दिया शास्त्र-अविरुद्ध। देह धारण भर के लिए खाना-पीना, विषय-भोग अपने मन से जोड़ दिया। तब तो सभी दरिद्र जो येन केन प्रकारेण देह धारण भर के लिये भोजन-वस्त्र भी जुटा नहीं पाते हैं- भगवान की विभूति हैं? कदाचित् इसीलिए भगवान को दीनबन्धु या दरिद्र नारायण कहा जाता हो।

यदि गीता का यही अर्थ है, तो इससे बड़ा अनर्थ क्या होगा? इसका तो सीधा-सा अर्थ है कि परम धर्म है परमात्मा। उसके अविरुद्ध अर्थात् अनुकूल कामना अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति की कामना भी भगवान की देन है। कामनाएँ सभी बुरी हैं, केवल एक को छोड़कर और वह है एक परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा! भगवान गीता में कहते हैं- **'मां इच्छाप्तुं धनंजय!'**- मेरी प्राप्ति की इच्छा कर।

इसी प्रकार कर्म की मनोरंजक व्याख्या गीता के तथाकथित शांकरभाष्य में देखें। अध्याय ३/१४ में लिखते हैं-**'ऋत्विग्यजमानयोः च व्यापारः कर्म'**- ऋत्विक और यजमान के व्यापार का नाम कर्म है, इस कर्म से यज्ञ की उत्पत्ति होती है। अध्याय ४/१२ में लिखते हैं कि वर्ण और आश्रम कर्म हैं- **'मानुषे लोके वर्णाश्रमादि कर्माधिकारं'** जबकि गीता में आश्रम-व्यवस्था जैसा कोई शब्द आया ही नहीं है। अध्याय ८/३ में भाष्यकार महोदय लिखते हैं- **'देवतोद्देशेन चरु पुरोडशादिः द्रव्यस्य परित्यागः स एष**

विसर्ग लक्षणो यज्ञः कर्मसंज्ञित एतस्माद् हि बीजभूताय वृष्ट्यादि क्रमेण स्थावरं जंगमानि भूतानि उद्भवन्ति।' अर्थात् देवता के उद्देश्य से चरु पुरोडश आदि हवन करने योग्य वस्तुओं का त्यागरूपी यज्ञ कर्म नाम से कहा जाता है, जिससे वृष्टि आदि के क्रम से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। स्पष्ट है कि इन भाष्यकार महोदय ने जिसे कर्म और यज्ञ बताया, गीता में वह है ही नहीं।

भाष्यकार के मनोगत भाव तैत्तिरीय उपनिषद् के शीक्षावल्ली के ग्यारहवें अनुवाक् में उभरकर सामने आ गये हैं। वहाँ है- **'ये केचास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयाऽऽसने न प्रश्वसितव्यम्।'** अर्थात् हममें जो श्रेयमार्गी ब्राह्मण हों उन सबका तुझे आसनादि से सत्कार करना चाहिए। इनका शांकरभाष्य देखें- 'ये के च विशेषिता आचार्यत्वादि धर्मेरस्मदस्मतः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा, न क्षत्रियादयः तेषामासनेनासन दानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम्' कि आचार्य इत्यादि धर्मों के कारण जो कोई हमसे श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मण भी हैं- क्षत्रिय आदि नहीं हैं, उन्हीं का आसनादि द्वारा सत्कार करना चाहिए।

पूज्य आदि शंकराचार्यजी के नाम से प्रचलित इन भाष्यों को देखकर ही स्वामी विवेकानन्दजी ने उनके प्रति कहा- ''शंकर की बुद्धि क्षुरधार के समान तीव्र थी। वे विचारक थे और पण्डित भी; परन्तु उनमें गहरी उदारता न थी और ऐसा अनुमान होता है कि उनका हृदय भी उसी प्रकार था। इसके अतिरिक्त उनमें ब्राह्मणत्व का अभिमान बहुत था। एक दक्षिणी पुरोहित-जैसे ब्राह्मण थे और क्या! अपने वेदान्त भाष्य में कैसी बहादुरी से समर्थन किया है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जातियों को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। उनके विचार की क्या प्रशंसा करूँ? विदुर का उल्लेख कर उन्होंने कहा कि पूर्वजन्म में ब्राह्मण-शरीर होने के कारण वह (विदुर) ब्रह्मज्ञ हुए। अच्छा, यदि आजकल किसी शूद्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो, तो क्या शंकर के मतानुसार कहना होगा कि पूर्वजन्मों में वह ब्राह्मण था? ब्राह्मणत्व को लेकर ऐसी खींचातानी करने का क्या प्रयोजन?....फिर उनका हृदय देखो, शास्त्रार्थ में पराजित कर कितने बौद्ध-श्रमणों को आग में झोंककर मार डाला। शंकराचार्य के ये कार्य संकीर्ण दीवानेपन से निकले हुए पागलपन के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं?....'' *(विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृष्ठ ८१-८२)*

वस्तुतः वेद तथा महापुरुषों के नाम से प्रचारित भाष्यों में अनेक प्रक्षिप्त अंश हैं, अतः उन आदरणीय पूर्वजों का नाम उछालने के स्थान पर उनसे सार उपदेश लेकर अपनी और समाज की उन्नति करते हुए आगे बढ़ने का प्रयास ही श्रेयतर है। जो जाति आत्म-चिन्तन छोड़ ग्रन्थों से चिपक बैठ जाती है, उस पर मुर्दे शासन करते हैं। वह जीवन्त नहीं रह सकती। सुविज्ञजनों से विनम्र निवेदन है कि वेद के नाम पर आतंक फैलाकर घृणित स्वार्थ-साधन बन्द करें।

पहले सनातन के नाम पर छुआछूत धर्म था। किसी को छूने से, पानी पीने से, उसके हाथ का एक ग्रास चावल खाने से धर्म नष्ट हुआ मान लिया जाता था। कभी देववाणी संस्कृत को छोड़कर ग्रामीण भाषा में शास्त्र-रचना अधर्म था। कभी समुद्र पार की यात्रा करना अधर्म था। इसके लिए कितनों को धर्म से बहिष्कृत कर दिया गया। आज तो बड़े-बड़े धर्माचार्य तक बीमार होने पर दूसरे का रक्त चढ़वा लेते हैं। सबने सबको छू लिया, सबके साथ खा लिया। कोई धर्म-बहिष्कृत नहीं होता।

ले-देकर धर्म के नाम पर बची है गाय! उसकी धार्मिकता प्रमाणित न कर पाने पर मस्तराम ने दुहाई दी है स्वामी दयानन्दजी की और हवाला दिया है कि १८५७ ई. की क्रान्ति गाय की चर्बी के कारण हो गई थी तथा सिखों का 'कूका आन्दोलन' गाय की सुरक्षा के लिए था। सन् सत्तावन के स्वतन्त्रता संग्राम में प्रयोग तो सुअर की चर्बी का भी हुआ था, तो क्या सुअर धर्म हो गया? कितनी भ्रान्ति है कि हिन्दुओं के लिए शूकरावतार भगवान हैं; किन्तु मुसलमानों के लिए हराम! धर्म का राजनैतिक उपयोग करने पर ऐसा ही होता है। कभी रोटी के लिए क्रान्ति हुई है तो कभी टैक्स न देने के प्रश्न पर। इससे धर्म का क्या लेना-देना? गाय को धर्म बताने के लिए मस्तराम सिखों को प्रमाण मानते हैं; किन्तु जिन आदर्शों पर सिखधर्म टिका है, जैसे- एक ईश्वर की भावना, मूर्तिपूजा की निःसारता, वर्ण-व्यवस्था की व्यर्थता- इन सबकी ओर से मस्तराम ने आँख मूँद लिया है। गुरु नानक का प्रधान शिष्य मरदाना मुसलमान था; किन्तु मस्तराम इन आदर्श का अनुकरण नहीं कर सकते।

कूका आन्दोलन के नेता भाई रामसिंह का जन्म सन् १८२४ में भैणी नगर जिला लुधियाना में हुआ था। युवावस्था में यह महाराज रणजीत सिंह की सेना में रह चुके थे। इनके अनुयायी नामधारी या कूका कहे जाते हैं। कूका का अर्थ है कूक करनेवाला। इस पन्थवाले आराधना के समय सिर हिलाया और चिल्लाया करते हैं, अन्त में 'सत् श्री अकाल' कहकर भावावेश में भी आ जाते हैं। आरम्भ में यह पन्थ पुरोहितों के कर्मकाण्ड और सामाजिक बुराइयों के विरोध में बना, किन्तु बाद में यह अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्राप्ति का आन्दोलन बन गया। रामसिंहजी ने पंजाब प्रान्त को २२ जिलों में बाँटकर अपनी ओर से अध्यक्ष बनाये तथा अंग्रेजी स्कूल, रेल, तार, डाक और अदालतों का बहिष्कार कराकर अपना निजि प्रबन्ध कराया। इनके अनुयायी खादी पहनते थे। ये गो-वध के विरुद्ध थे। इनके अनुयायियों द्वारा कसाइयों की हत्या किये जाने पर गुरु रामदासजी को रंगून (काला पानी) भेज दिया गया, जहाँ १८८५ ई. में उनका देहान्त हो गया। इस सम्पूर्ण प्रकरण से यह निष्कर्ष निकालना कहाँ तक उचित है कि गाय सनातन-धर्म है?

इसी प्रकार स्वामी दयानन्दजी के स्मरण के लिये मस्तरामजी साधुवाद के पात्र हैं, किन्तु दयानन्दजी ने भी 'गो करुणानिधि' नामक पुस्तिका गो-हत्या के विरुद्ध ही लिखा है। गाय की धार्मिकता या पूँछ पकड़ाकर वैतरणी पार कराने के ढोंग का समर्थन दयानन्दजी की किसी भी पुस्तक-पुस्तिका में नहीं है। आश्रम की पुस्तिकाओं में भी गाय की उपयोगिता तथा गोवंश के संवर्धन पर भरपूर बल दिया गया है। अतः अकारण यह दुष्प्रचार क्यों कि हम गाय-विरोधी हैं?

गायधर्म ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बाबाजी दयानन्दजी की 'गो करुणानिधि' तक गये किन्तु आश्चर्य है कि 'शंकराचार्यजी की हत्या कर दी गई थी'- यह प्रकरण स्वामी दयानन्दजी के विख्यात ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्हें दिखायी क्यों नहीं पड़ा? बाबाजी की शब्दावली देखें- ''शंकराचार्य की हत्या कर दी गई। यह बात केवल अड़गड़ानन्दजी ही जानते हैं, दूसरा कोई नहीं? जाने क्यों न! ईश्वर ने ट्रंकाल द्वारा उन्हें ही सूचित किया था, तो भला दूसरा कौन जान सकता है? कोई अर्द्ध-विक्षिप्त व्यक्ति ही ऐसा लिखेगा।''

अब प्रस्तुत है 'सत्यार्थ प्रकाश' के एकादश समुल्लास के शंकराचार्यजी की हत्या के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्दजी के विचार- ''जैनियों की जितनी टूटी मूर्तियाँ निकली हैं वे शंकराचार्य के समय में टूटी थीं। जैनियों के मन्दिर शंकराचार्य और सुधन्वा राजा ने नहीं तुड़वाये; क्योंकि उनमें पाठशाला करने की इच्छा थी। इतने में दो जैन, ऊपर से कथन मात्र वेदमत और भीतर से कट्टर जैन अर्थात् कपटमुनि थे; शंकराचार्यजी उनपर अतिप्रसन्न थे। उन दोनों ने अवसर पाकर शंकराचार्यजी को ऐसी वस्तु खिलायी कि उनकी क्षुधा मन्द हो गयी, शरीर में फोड़ा-फुन्सी होकर छः महीने के भीतर शरीर छूट गया।'' जहर देकर मारने को हत्या नहीं, तो क्या सद्गति कहेंगे? सद्गति दिलाने के प्रयास में आजकल ब्रह्मरन्ध्र को हथौड़ी मारकर फोड़ने की प्रथा भी निकली है- यह किस शास्त्र में लिखा है? ऊसर मरन विदेश ताहू पर कुछ और.....। कभी काशी में आरे से चीरना मुक्तिदायक माना जाता रहा, तो कभी प्रयाग में वट-वृक्ष से कूदकर प्राण देना मोक्षदायक माना जाता रहा, जिसे अंग्रेजों ने काट दिया तो धर्म के नाम पर क्रान्ति हो गयी। तुलना करें उन महान् सन्त से जिसने फटकार दिया इन आडम्बरों को- **'जो कासी तन तजै कबीरा रामहिं कौन निहोरा।'** आदि शंकराचार्यजी का भी ऐसा ही एक श्लोक मिलता है-

सम्पूर्ण जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा
गांगंवारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृत संस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परब्रह्मणि।

भाव यह है कि जिसने उस परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है उसके लिये सम्पूर्ण जगत् ही नन्दनवन है, समस्त वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, उसकी वाणी प्राकृत हो अथवा संस्कृत- वेद की सारभूत है, उसके लिये समस्त भूमण्डल काशीक्षेत्र है, सम्पूर्ण जल गंगाजल है; और भी उसकी जो-जो चेष्टायें हैं सब परमार्थमयी ही हैं।

* आश्रम की पुस्तिका में है कि परमात्मा एक है अतः पंचदेवोपासना गीताशास्त्र सम्मत नहीं है, तो आचार्यश्री ने उत्तर दिया कि शंकराचार्यजी ने पंचदेव स्तोत्र बनाया था जो बहुत ही प्रसिद्ध है। क्यों? शंकराचार्यजी दस देवस्तोत्र बनाते तो क्या दस देवता हो जाते? 'बाबावाक्य प्रमाणम्' कहकर कितने लोगों से मनवायेंगे? बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय, नवम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य और शकल्य का संवाद ही देवताओं की गणना को लेकर है, जिसमें एक देवता, डेढ़ देवता, दो देवता, तीन देवता, छः देवता, तैंतीस देवता और तीन हजार छः सौ देवताओं की गणना है, सब-के-सब देवता मन के भीतर बताये गये हैं; किन्तु पंचदेवों का वर्णन वहाँ भी नहीं है। पंचदेवोपासना अतीत में धर्म के नाम पर बिखरे लोगों को संगठित करने का, एक करने का एक सत्प्रयास मात्र था।

* बाबा मस्तराम ने लिखा है, 'सनातन धर्म स्वाभाविक है एवं अन्य मतों में फँसना विकार है'- इसके स्थान पर उन्हें लिखना चाहिए था कि धर्म स्वाभाविक है और मानव मात्र के लिए एक है। कैसा हमारा? कैसा आपका? कैसा अन्य का? धर्म के साथ सनातन शब्द लगाकर उसे सम्प्रदाय बना देना भी शंकराचार्यों की देन है।

पुनः उन्होंने लिखा है- 'अनार्यजुष्ट, अमर्यादित, अशास्त्रीय, वर्णाश्रम-विरोधी आचार-विचार होने से गड़बड़ सम्प्रदाय भी विकार है।' सुधीजन समझ गये होंगे कि बाबा मस्तराम ने गीता से यह विशेषण तो लिया किन्तु उचित प्रयोग नहीं कर पाये। गीता में है कि अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था। उसने तर्क दिया था कि ऐसे युद्ध से कुलक्षय होगा, कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी, वर्णसंकर उत्पन्न होगा, पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जायेगी। यह प्रश्न अकेले अर्जुन का नहीं पूरे समाज का है। अधिकांश लोगों की तरह अर्जुन भी धर्म के नाम पर कुछ न कुछ मानता और करता था तथा उनकी रक्षा के लिये प्राण तक देने को तत्पर था; किन्तु भगवान ने अर्जुन के उन विचारों को कश्मल अर्थात् गन्दा, पापपूर्ण, 'अज्ञान' ठहराया-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। *(गीता, २/२)*

अर्जुन ने कहा था- 'सनातन जातिधर्म', 'सनातन कुलधर्म', 'पिण्डा-पानी धर्म', तो भगवान ने इन सबको कहा- **'अनार्यजुष्टम्'**। आश्रम-धर्म गीता में कहीं है ही नहीं,

जातिधर्म हो गया अनार्यजुष्टम् फिर आप जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत, मन्दिर-मस्जिद, उसमें घुसना न घुसना किस गीता से सिद्ध कर रहे हैं? गीता-जैसे उदार ग्रन्थ में इन संकीर्णताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। गीता में अर्जुन का एकमात्र लक्ष्य है श्रेय की प्राप्ति।

* आश्रम की पुस्तिकाओं से अधूरा या तोड़-मरोड़कर उद्धरण देकर पूज्यश्री ने यह कहने का अवसर दे दिया कि उनका हृदय-पक्ष भी हम सबके साथ नहीं है। आश्रम की पुस्तिका में है कि केवल पोथी प्रमाण नहीं है, तो बाबाजी ने केवल शब्द छोड़कर घोषित कर दिया कि हम पोथी-प्रमाण नहीं मानते। गायवाली पुस्तिका में है कि मानस में गाय या उसका पर्याय कितनी बार उदाहरण के रूप में है, कितनी बार दान इत्यादि की वस्तु के रूप में है और कितनी बार यह इन्द्रियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; किन्तु नास्तिकतावाली पुस्तिका में धर्मात्माजी ने लिख दिया कि गाय शब्द का अर्थ हम इन्द्रिय ही करते हैं।

इसी प्रकार वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के प्रति कई आचार्यों के दृष्टिकोणों की चर्चा आश्रम की पुस्तिका में है; किन्तु महात्माजी ने उन मतों को भ्रमवश आश्रम का मान लिया और कई पृष्ठ तक उसका खण्डन करते चले गये। नास्तिकतावाली पुस्तिका में महात्माजी ने 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' वाले श्लोक के प्रति दूसरे के विचारों को भी हमारा मान लिया और आस्तिकतावाली पुस्तिका में यद्यपि महात्माजी को इस भूल के लिये याद दिलाया गया फिर भी 'नहला-दहला' में वे उसे हमारा मत मानने से विरत नहीं हुए।

महात्माजी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, समर्थ हैं इसलिये अपनी लिखी हुई बात से मुकर जाते हैं। कहते हैं कि उन्होंने व्याकरण-ज्ञान पर कहीं बल नहीं दिया है, वेद के लिये लिखा है। यद्यपि उनके इस कथन में भी विरोधाभास है; क्योंकि बिना व्याकरण-ज्ञान के अध्ययन कैसे होगा? फिर भी उन्हें नास्तिकतावाली अपनी पुस्तिका का पृष्ठ ट, पृष्ठ ४ इत्यादि का पुनरावलोकन कर लेना चाहिए जहाँ उन्होंने व्याकरण, ज्योतिष इत्यादि षडंगसहित वेद पढ़ने को कहा है। ऐसा भी उन्होंने वैदिक यज्ञों के लिये भी कहा है कि वे जरूरी नहीं हैं। पृष्ठ १२-१३ पर उन्होंने लिखा है कि ज्योतिष्टोम वाजपेय राजसूय इस समय नहीं हो पा रहा है, हो भी नहीं सकता और अनिवार्य भी नहीं है।

कहीं-कहीं इन महात्मन् ने सुधारने के लिये कुछ बताना चाहा; किन्तु जब बताया तो आश्रमीय विचारों का ही अनुवाद कर दिया। उदाहरण के लिये पूज्यश्री को खेद था कि भगवान ने महाराजजी को श्रौत और स्मार्त का अन्तर क्यों नहीं बताया? करुणा से द्रवित होकर महात्माजी ने अन्तर बताया, स्वतः और परतः प्रमाण था। किन्तु

आस्तिकतावाली पुस्तिका के पृष्ठ १६ पर यह पहले ही लिखा जा चुका है- **'प्रत्यक्ष वेदमूलो दर्शपौर्णमासादि श्रौतः। अनुमित शाखामूलः शौचमाचनादि स्मार्तः।'** महात्माजी ने इसके अतिरिक्त बताया है क्या? हमने संस्कृत का उद्धरण दिया और आपने उसी का हिन्दी अनुवाद कर दिया। यह तो भाषा-शैलीगत भेद हैं, भावगत नहीं। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में इसी को दूसरे शब्दों में कहा गया है कि वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में बतायी हुई पूजा श्रौत कही जाती है, वाशिष्ठ-पद्धति के अनुसार की जानेवाली पूजा को स्मार्त कहते हैं तथा पांचरात्र में बताया गया विधान आगम कहलाता है। अब इसे क्या कहेंगे? जब लिखित तथ्यों में आप इतनी धाँधली कर सकते हैं, निराधार आरोप मढ़ सकते हैं फिर मौखिक का तो भगवान ही मालिक है।

अन्त में यज्ञ-सम्बन्धी प्रकरण पर विचार अपेक्षित है। 'नहला-दहला' पुस्तिका में आचार्यप्रवर ने लिखा है कि वैदिक यज्ञ इस समय नहीं हो रहे हैं, हो भी नहीं सकते। लाखों की दक्षिणावाले ये यज्ञ भारत-जैसे दरिद्र देश के लिये हैं भी नहीं, जहाँ का सोना विदेश चला जा रहा है। इनकी अनिवार्यता कहीं भी शास्त्रों में नहीं दी गई है। अनिवार्य तो पंचयज्ञ हैं, जिन पर कोई आक्षेप नहीं कर सकता। इत्यादि..... (पृष्ठ १२-१३)

इन वाक्यों की समीक्षा के पूर्व मस्तराम बाबाजी की नास्तिकतावाली पुस्तिका का अवलोकन आवश्यक है, जिसमें पृष्ठ १४ पर वह स्वयं श्रौतयज्ञ, स्मार्तयज्ञ, गीता के चौदह प्रकार के यज्ञ, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास तथा लक्षाहुत यज्ञों को करना धर्म बता चुके हैं। आश्रम की पुस्तिकाओं में वैदिक यज्ञों का जटिल विधि-विधान बताया गया, तो उन्होंने लिख दिया कि वैदिक यज्ञ जरूरी नहीं हैं। एक ओर कहते हैं वेद जानना जरूरी है, यहाँ कहते हैं कि यज्ञवाला भाग जरूरी नहीं है। लाखों की दक्षिणा के बिना वैदिक यज्ञ नहीं हो सकता! कैसी भ्रान्ति है? विचारणीय है कि क्या अब यज्ञ करना जरूरी नहीं है? वैदिक यज्ञ किसी सतयुग के लिये ही थे?

यदि आचार्यश्री का यह कथन मान लिया जाय, तो उन अनेक मन्त्रों का क्या होगा जिनमें यज्ञ करना जरूरी बताया गया है। वेद यज्ञ करने की आज्ञा देता है। **यावज्जीवं अग्निहोत्र यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्याम् यजेत्।** वशिष्ठ धर्मसूत्र उपनिषद् में है कि तीन वैदिक अग्नियाँ (आवहनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि) प्रज्ज्वलित करना और उनमें दर्श, पौर्णमास, अग्रयण इष्टि, चातुर्मास्य, पशु एवं सोमयज्ञ करना अनिवार्य है। इन तीन अग्नियों को त्रेता भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त भोजन बनानेवाली अग्नि को लौकिक अग्नि तथा सभ्य लोगों के घर शीत हटानेवाली अग्नि को साभ्य अग्नि कहते हैं। जिनके घर में यह पंचाग्नि रहती है उसे पंक्तिपावन ब्राह्मण कहा जाता है- कितनी भ्रान्ति है!

इन कर्मकाण्डों से भिन्न यज्ञ का विशुद्ध स्वरूप वेद तथा तदनुसार गीता में है। यह भी है कि जो यज्ञ नहीं करता उसके लिये मनुष्य-शरीर, लोक-परलोक कुछ भी नहीं है और मस्तराम बाबाजी लिखते हैं कि अनिवार्य नहीं है। जबकि गीता में है कि यज्ञ, दान और तप किसी भी अवस्था में त्यागने योग्य नहीं हैं। यह अवश्य है कि गीता का यज्ञ स्वाहा बोलनेवाला यज्ञ नहीं है बल्कि मन और इन्द्रियों से होनेवाला है, एकान्त स्थान में शान्तिपूर्वक बैठकर अकेले-अकेले किया जानेवाला है। बाहर की वस्तुएँ उसमें नहीं लगतीं। अमीर-गरीब का उसमें प्रश्न नहीं है। हिन्दू-मुसलमान-ईसाई-पारसी-यहूदी कोई भी हो, गीतोक्त यज्ञ में प्राणिमात्र का अधिकार एक समान है।

मस्तरामजी के शब्दों में वैदिक यज्ञ अनिवार्य नहीं रह गया, अनिवार्य हो गया पंच महायज्ञ। वैदिक यज्ञ तो बेचारे यज्ञ ही रह गये, ये बन गये हैं महायज्ञ, तो इस पर भी विचार कर लेते हैं। पहली बात यही है कि पंचयज्ञ शब्द वेद में नहीं है, उत्तरकालीन व्यवस्थाकारों की व्यवस्था है। कहते हैं कि पंचयज्ञों को नित्य करने की आज्ञा है; किन्तु नित्य तो बहुत से कर्म किये जाते हैं, जैसे- मैत्र कर्म (मल-मूत्र त्याग), दन्तधावन, स्नान इत्यादि, तो क्या ये धर्म हो गये? ये सब स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के नियम हैं, इन्हें धर्म कहने के लोभ का अब तो संवरण कीजिये।

जिन पाँच को महायज्ञ कहते हैं, उनके बारे में स्मृतिग्रन्थों में है कि वेद का अध्ययन और अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है। देवता का नाम लेकर 'स्वाहा' शब्द बोलते हुए अग्नि में हवि डालना देवयज्ञ है। आजकल होम इत्यादि का कार्य केमिकल अगरबत्तियों से भी चल जाता है। तर्पण पितृयज्ञ है। पके भोजन का एक अंश निकालना भूतयज्ञ या बलि वैश्वदेव है तथा अतिथि-पूजन नृयज्ञ है।

सूत्र एवं स्मृतिग्रन्थों में इन पाँच यज्ञों की अनिवार्यता का कारण बताया गया है कि प्रत्येक गृहस्थ १. चूल्हा, २. चक्की, ३. झाड़ू, ४. ऊखल, मूसल, सूप और ५. जल के लिये घड़ा रखने के लिए स्थल का प्रयोग करता है। इन पाँचों स्थानों में हिंसा होती है जिससे बचने के लिये इन पाँच महायज्ञों को करना चाहिये। हारीति धर्मसूत्र को श्रद्धापूर्वक सुनने का प्रयास करें, जिसके कुछ अंशों का अनुवाद इस प्रकार है-

'अब हम सूनाओं की व्याख्या करेंगे। ये सूना इसलिये कही जाती हैं कि चल-अचल प्राणियों की हत्या करती हैं। पहली सूना वह है जो अचानक जल में प्रवेश करने, जल में डुबकी लेने से, जल में थपेड़े देने से, वस्त्र से बिना छाने पानी पीने से, गाड़ियों को चलाने से होती है। दूसरी वह है जो अन्धकार में इधर-उधर चलने से, जाने-अनजाने कीड़े-मकोड़े पर चढ़ जाने से होती है।'..... इत्यादि।

कहना न होगा की यह व्यवस्था जीवन की प्रत्येक क्रिया को हत्या घोषित कर, भोलीभाली जनता को आतंकित कर दान लेने के क्षेत्र को विस्तृत बनाने की योजना मात्र है। इसका तो यह भी अर्थ निकलता है कि जो लोग इन पाँच हत्यास्थलों से काम नहीं लेते, उनके लिये पंचयज्ञ बेकार है। जल निगम के नलों के समक्ष जलघटों का प्रयोग शिथिल पड़ता जा रहा है। नदियों-तालाबों में स्नान, थपेड़े देना कम हो चला है। ऊखल, मूसल, चक्की कितने घरों में हैं? पंचयज्ञों के पीछे यही कारण थे तो इन कारणों को समाप्त ही समझिये।

वास्तविकता तो यह है कि ये पंचयज्ञ सरल वैदिक यज्ञ के नाम पर कर्मकाण्डों के घुस जाने की प्रतिक्रिया में बनाये गये हैं। जटिल क्रियाओं को न कर पाने पर भी यज्ञ करने का सन्तोष हर मानव को दिलाना इसके व्यवस्थापकों का उद्देश्य था। इन पाँचों कर्त्तव्यों में व्यावसायिक पुरोहित और पुष्कल दक्षिणा का प्रश्न नहीं है, वेदमन्त्र पढ़ने न पढ़ने के अधिकार का प्रश्न नहीं है, ब्राह्मण और शूद्र का प्रश्न नहीं है। वैदिक यज्ञों की प्रेरणा है- स्वर्ग, सम्पत्ति, पुत्र आदि की कामना जबकि पंचयज्ञ द्वारा प्रयास है कि सम्पूर्ण विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन! अग्नि में एक समिधा देकर भी हम-आप परमात्मा के प्रति श्रद्धा-निवेदन कर सकते हैं, वायुमण्डल शुद्ध कर सकते हैं, दो-एक श्लोक मात्र पढ़कर प्राचीन ऋषि साहित्य एवं संस्कृति के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर सकते हैं, एक अंजलि जल से पूर्वज की प्रिय स्मृति को जीवित रख सकते हैं, भोजन के एक ग्रास से अशक्त मनुष्यों, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ों तक के प्रति मानव के गुरुतर दायित्व का बोध कर सकते हैं। इसलिये कहा था ऋषियों ने कि जो अकेले खाता है, पाप खाता है। उस युग-जमाने में यातायात के साधन विकसित नहीं थे। प्रचुर मात्रा में भोजन-वस्त्र लेकर पैदल यात्रा करना पूरे समाज की एक समस्या थी। इस असुविधा को दूर करने के लिये तथा विचरणशील महात्माओं की व्यवस्था के लिये मनीषियों ने अतिथि-सत्कार को भी किसी कर्मकाण्ड से कम नहीं माना।

पंचयज्ञ नाम से प्रचलित इन व्यवस्थाओं में इतिहास है, कृतज्ञता ज्ञापन है, सम्मान है, प्रिय स्मृति है, सहिष्णुता एवं उदारता भी है; किन्तु इसे रूढ़ि या ढोंग बना लेना धर्म कदापि नहीं है। सुविज्ञजनों से अनुरोध है कि 'धर्म' शब्द को उस मूल रूप में ही रहने दें जो विश्वभर के मानवमात्र के लिए एक है, जिसकी निर्धारित क्रिया का वर्णन भगवान श्रीकृष्ण की गीता में है।

संसार भर के मनुष्य (चाहे वे जिस मज़हब के हों) विचार करें तो पायेंगे कि उनके विभिन्न महापुरुषों ने सत्य की जिन रश्मियों से उनका परिचय कराया है वे सब

की सब अकेले गीता में पहले से ही देदीप्यमान हैं। यह देखकर गीता के प्रति उनका आदर तथा विश्वास और भी बढ़ जाना चाहिए कि जो कुछ उनके महापुरुषों को कहने का अवसर नहीं मिला वह सब भी गीता में अविकल रूप से संकलित तथा सुरक्षित है। गीता उनके अधूरे अन्वेषण-क्रम को पूर्णता की ओर ले जानेवाली अमूल्य निधि है। काल-भेद से इन सभी धर्मों तथा उनकी व्याख्याओं में विकृतियाँ भी आ गई हैं और उन सबका समाधान है- 'यथार्थ गीता'।

विश्व में अन्य कोई भी धर्मशास्त्र नहीं है जिसमें परमात्मा की शोध में तत्पर व्यक्ति के लिये उपयोगी साधनों का, सावधानियों का एक ही स्थान पर इतना क्रमबद्ध वर्णन हो, जैसा गीता में है। विश्व में जितने भी धर्मग्रन्थ हैं, सब मिलकर भी गीता द्वारा निरूपित सत्य की दूरस्थ प्रतिध्वनि मात्र हैं। सत्य को सही-सही देखना है, नजदीक से देखना है, ठीक-ठीक जानना है तो गीता के आलोक में देखें।

गीता आपकी है, आपके लिये है। इसकी अवहेलना आपकी अपनी ही अपूरणीय क्षति है। यह धर्म की परिमार्जित पुस्तक है, प्राचीन किताब है। बाद में वही ईश्वर मूसा में बोला, ईसा में बोला, महावीर-बुद्ध-मुहम्मद-नानक और कबीर में बोला; किन्तु गीता तो परमात्मा की पहली आवाज है। इसका आदर करके आप खुदा की पहली आवाज का आदर कर रहे हैं।

गीता का सन्देश केवल ईमानवालों के लिये नहीं है, दुराचारियों के लिये भी है। केवल इजरायलियों के लिये ही नहीं अपितु विश्वभर के लोगों के लिये है। संसार के अनेक धर्मग्रन्थों में भविष्यवाणियाँ हैं, जादू-टोने हैं, सामाजिक व्यवस्थायें हैं, ईश्वर द्वारा किये गये उपकारों का विवरण है, चमत्कारों की चकाचौंध हैं, जिन पर आधुनिक विज्ञान प्रश्नचिन्ह लगाता जा रहा है; किन्तु गीता के सिद्धान्त नितान्त आध्यात्मिक हैं, निर्विवाद हैं। किसी धर्मग्रन्थ में ईश्वर बात-बात में हजारों स्वर्ग और नरक की चेतावनी देता दिखाई देता है तो किसी में अच्छी फसल-भोगों का प्रलोभन; किन्तु गीता में परमात्मा आपसे अन्तरंग मित्र की तरह मिलता है, परामर्श देता है, आपके समीप आ जाता है और अन्ततः अपने जैसा बना लेता है। अतः धर्म के क्षेत्र में इस महान् ग्रन्थ से प्रेरणा लें और परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करने की दिशा में अग्रसर हों।

गीता को लेकर पूज्य श्री मस्तराम को स्वयं भी कोई सन्देह नहीं हैं; किन्तु इन प्रश्नों को उन्होंने जगत्-हित में उठाया और आप सबने धैर्यपूर्वक यह सब पढ़ा-सुना, एतदर्थ हम विनयानत हैं।

।। बोलिये श्री गुरुदेव भगवान की जय।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।

अभ्यास करते-करते बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में, प्राप्तिवाले जन्म में साक्षात्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी 'सब कुछ वासुदेव ही हैं- इस प्रकार मेरे को भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है। वह किसी वासुदेव की प्रतिमा नहीं गढ़वाता बल्कि अपने भीतर ही उस परमदेव का वास पाता है। उस ज्ञानी महात्मा को श्रीकृष्ण तत्त्वदर्शी भी कहते हैं। इन्हीं महापुरुषों से बाहर समाज में कल्याण सम्भव है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष तत्त्वदर्शी महापुरुष श्रीकृष्ण के शब्दों में अति दुर्लभ हैं।

- यथार्थ गीता : श्रीमद्भगवद्गीता
(अध्याय ७, श्लोक १९)

दान

दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः।
(ऋग्वेद, १/१२५/६)
दानी अमृत प्राप्त करता है। दानी दीर्घायु होता है।

प्रगट चारि पद धर्म के, कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें, दान करइ कल्यान।।

यद्यपि सत्य, तप, दया और दान धर्म के चार चरण हैं किन्तु साधना की प्रवेशिका में दान ही श्रेयतर है। दान परमात्मा की ओर है। दान संसार को छोड़ना सिखाता है। जिस दिन से आप छोटा-सा भी दान करते हैं उस दिन संसार को किसी न किसी मात्रा में त्यागते हैं। सज्जन अथवा महात्मा लोग शनैः-शनैः सब कुछ त्याग देते हैं। दान में अमीर-गरीब का प्रश्न नहीं होता। समय-समय पर अनेक राजा-महाराजाओं ने भी अपने वैभव का त्याग किया, शान्ति नहीं मिली तो इन्द्रिय-संयम किया, इनके भोगों का त्याग किया, मन को संयत किया। जिस क्षण मन भली प्रकार समर्पित हुआ, अचल स्थिर ठहरा और मिटा, तत्क्षण ईश्वर का ईश्वरत्व पा गये। दान आवागमन से मुक्ति की ओर पहला कदम है। इसलिए दान प्रत्येक दशा में कल्याणकारी है- **'जेन केन बिधि दीन्हें, दान करइ कल्यान।'**- ***(रामचरितमानस, ७/१०३ ख)*** जिस किसी प्रकार से दान किया जाय वह कल्याण ही करता है।

दूसरों की भलाई में जो दिया जाता है, दान है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि उसका पड़ोसी भूखा न सोने पाये। इतिहास में ऐसे कथानक प्रचुरता से उपलब्ध हैं- जब प्राकृतिक प्रकोपों- अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प इत्यादि की त्रासदी पर सम्पन्न व्यक्तियों ने अपना सर्वस्व देकर प्राणियों की रक्षा की। इस सन्दर्भ में राजा रन्तिदेव का कीर्तिमान आज भी प्रासंगिक है- जिन्होंने अवर्षण के समय अन्न भण्डार, राजकीय भण्डार प्रजाजनों को समर्पित करने के पश्चात् स्वयं चालीस दिनों तक अन्न नहीं ग्रहण किया। उनकी मान्यता थी कि प्रजा पुत्रतुल्य होती है, प्राण के समान होती है। यदि प्रजा भूखों मर रही है तो मैं कैसे अन्न ग्रहण करूँ? दानी दूसरे के प्राणों को अपने जैसा समझता है, रंचमात्र भी अपने से विलग नहीं देखता। वस्तुतः वही सच्चा दानी है, वही दान कर पाता है, सब नहीं।

दान में दिखावा नहीं होना चाहिए, अन्यथा वह अपना फल यहीं पा गया। ऐसे दान से उसने तो समाज में प्रतिष्ठा चाही थी, मिल गई। दान गोपनीय क्रिया है। श्रीकृष्ण

और सुदामा की कथा कुछ ऐसा ही आदर्श सँजाये हुए है। बालसखा सुदामा श्रीकृष्ण के हिस्से का थोड़ा-सा चना चुराकर खा गये। दुष्परिणाम यह निकला कि उन्हें वृद्धावस्था तक दरिद्रता का जीवन बिताना पड़ा। सुदामा भक्त थे, तपस्वी थे। भिक्षान्न से जीवनयापन करते थे किन्तु स्वाभिमानी थे। एक दिन उनकी पत्नी ने किसी प्रकार अनुनय-विनय कर उन्हें श्रीकृष्ण के पास सहायतार्थ भेज ही दिया। दीन-हीन दशा में सुदामा द्वारिका पहुँचे। द्वारपाल ने सुदामा का परिचय दिया-

शीश पगा न झगा तन पै प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाय उपानह की नहिं सामा।।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीन दयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा।।

– *नरोत्तमदास*

सुदामा का नाम सुनते ही श्रीकृष्ण उठकर खड़े हो गये, राजकीय कार्य रुक गया। गिरते-पड़ते-दौड़ते सुदामा के पास पहुँचे, उन्हें छाती से लगा लिया। सुदामा की दशा देख विलखने लगे। उन्हें उठाकर अपने सिंहासन पर ला बिठाया। आँसुओं से उनके चरण धोये। अपने महल में रखा। स्वागत-सत्कार किया और वह दिन भी आया जब श्रीकृष्ण ने उन्हें भावभीनी विदाई दी, दूर तक पहुँचाया, गले मिलकर प्रेम से विदा किया।

सुदामा ने देखा कि न तो उनका झगा बदला, न लकुटी बदली। दुपट्टी जो जीर्ण-शीर्ण होते-होते थोड़ी-सी बच रही थी, वह भी ज्यों-की-त्यों रह गई। मन में पश्चाताप करने लगे कि अकारण ही चले आये। विचारों में खोये सुदामा अपने गाँव आ गये। उनकी झोपड़ी वहाँ न थी। वहाँ कोई महल जगमगा रहा था। सुदामा की पत्नी दास-दासियों से घिरी महल से निकली और बतायी कि अब यह सब आपका है। झोपड़ी के स्थान पर सुदामापुरी ही बस गई थी। इधर द्वारिकापुरी और उधर इतना कुछ दे दिया कि सुदामापुरी बस गई। श्रीकृष्ण ने सुदामा को अपने समानान्तर स्थिति प्रदान की। वहाँ के लोग भी उसी वैभव से जीवनयापन करने लगे, जैसे द्वारिका के नागरिक सुविधा-सम्पन्न थे। श्रीकृष्ण का अपना धाम तो समुद्र में डूब भी गया किन्तु सुदामापुरी बची रही। उन्होंने सुदामा से कहा भी नहीं कि हम तुम्हें कुछ दे रहे हैं किन्तु सर्वस्व दे डाला। दान गोपनीय ही फलीभूत होता है।

भाग्यवान् याचकों की श्रेणी में महाराज मनु का भी नाम आता है। वह चक्रवर्ती नरेश थे, विश्व के स्रष्टा थे किन्तु उन्हें भी महान् दुःख था। एक कमी खटकती थी कि जीवन भजन के बिना ही बीत जाना चाहता है। घर से निकल पड़े, नैमिषारण्य गये, ऋषियों से मिले, साधन-क्रम समझा और भजन में लग गये। उनकी मान्यता थी कि ब्रह्मा-विष्णु-महेश जिसके अंश से उत्पन्न होते हैं- ऐसे प्रभु भी सेवक के वश में होते हैं

तो हमारी अभिलाषा अवश्य पूरी करेंगे। मनु सर्वस्व देकर प्रभु की प्रभुता चाहते थे, उनका दर्शन चाहते थे। मन से प्रभु में समर्पण किया, चित्त का निरोध होने लगा। भगवान ने सुनवायी की, आकाशवाणी हुई कि मुझे महादानी समझकर निःसंकोच वर माँगो। मनु ने निवेदन किया तो केवल प्रभु को ही माँगा। अस्तु यदि माँगना ही है तो भगवान से माँगो। वे महादानी हैं। भगवान को ही माँग लो। भगवान आयेंगे तो उनकी भगवत्ता, उनकी विभूति, आलोक, ऐश्वर्य सब कुछ आपके आसपास रहेगा। इसलिए प्रभु-दर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई भी क्षुद्र कामना नहीं करनी चाहिए।

सृष्टि में दान दो प्रकार का है- आध्यात्मिक और भौतिक। भौतिक दान के भी तीन-चार अंग हैं, जैसे विद्या-दान या भिक्षा-दान, स्वास्थ्य-दान, अन्न-दान- जिसमें वस्त्र तथा आवासादि सभी आ जाते हैं। चौथा श्रमदान या सेवा है। भौतिक दानों में सर्वोपरि दान विद्या का है- **'अन्नेन क्षणिका तृप्तिः विद्या यावज्जीवनम्।'**- अन्न क्षणिक तृप्ति देता है किन्तु शिक्षा जीवनपर्यन्त का सम्बल है। सन्त-महात्माओं, धनी व्यक्तियों तथा सरकार द्वारा विद्यालयों की स्थापना की जाती है। यदि किसी को शिक्षा दी गई तो उसी के माध्यम से वह सद्बुद्धि, सम्मान, अन्न, वस्त्र सब कुछ पा गया। जीवनहेतु आवश्यक समस्त स्रोत उसके लिए खुल जाते हैं। विद्याहीन देश आदिवासी कहलाता है, जैसे अफ्रीका। विद्वानों के मध्य अशिक्षितों की वही स्थिति होती है जैसे हंसों के मध्य कौए की होती है। कौआ न केवल स्वयं गन्दा खाता है अपितु अपने बच्चों को भी वही खिलाता है, वही सिखाता है। इसलिए श्रेष्ठ सामाजिक संरचना-हेतु विद्या-दान सर्वोपरि है।

स्वास्थ्य-दान - उत्तम स्वास्थ्य लौकिक तथा पारलौकिक उपलब्धियों की आधारशिला है। दुःख से छटपटाते व्यक्ति की पहली आवश्यकता उसे नीरोग करना है। पीड़ा दूर करना बहुत बड़ा दान है। इसीलिए अनेक समाजसेवियों ने मानव-सेवा को ईश्वर-सेवा के समकक्ष घोषित कर मानवता के त्राण-हेतु औषधालयों की स्थापना की। स्वामी विवेकानन्दजी ने ऐसा एक मिशन ही बना दिया। मानव में ईश्वर तक के शोध की सम्भावना निहित देख अनेक मनीषियों ने आजीवन स्वास्थ्य दान देने का व्रत ही ले लिया। राकफेलर फाउण्डेशन जैसी धर्मार्थ संस्थाएँ दानदाताओं के सौजन्य से विश्वभर में कार्यरत हैं, कुछ रोग निरोधक टीके इसी सन्दर्भ में लगाये जा रहे हैं; किन्तु कितनी भी पीड़ा दूर की जाय इस शरीर को एक दिन तो जाना ही है। मरण, दुःख का निवारण इस स्वास्थ्य दान से या किसी भी भौतिक दान से सम्भव नहीं है। इसलिए अन्य भौतिक दानों की तरह स्वास्थ्यदान भी एक सीमा तक ही उपादेय है।

अन्न-दान- 'अन्न दान अरु रस पीयूषा।' *(मानस, ६/२५/६)* रामचरितमानसकार ने अन्न-दान की महिमा में कहा है कि अन्न सामान्य दान नहीं अपितु जीवन है। भूख

से तड़पती हुई आत्मा को यह तत्काल जीवन प्रदान करता है, उसे मौत के मुख से निकाल लेता है। अन्न शरीर का ईंधन है। इसके बिना शरीर नहीं चलता। इसलिए इससे श्रेष्ठ दान कुछ भी नहीं है; किन्तु यह अन्न सदा-सदा के लिए किसी के प्राणों की रक्षा तो नहीं कर सकता। आयु पूरी होने पर अन्न रहते हुए भी लोग मर जाते हैं। अन्त में विद्या भी काम नहीं आती। ऐसी परिस्थिति में इससे भी श्रेष्ठ दान अभयदान है। **'दानं परं किं त्वभयं सदैव'** ***(शंकराचार्य)***। भय प्रकृति में है परमात्मा में नहीं, परमात्मा ही अभय है। शरणागत की रक्षा करना सर्वोपरि दान है; किन्तु प्रकृति के द्वन्द्व से निकालकर मात्र परमात्मा में प्रवेश दिला देना यह योगियों का दान है; जहाँ पूर्णतया मनुष्य अभय होता है।

आध्यात्मिक दान योगी के क्षेत्र की वस्तु है। दूसरा कोई यह दान नहीं दे सकता। प्रकृति के आधिपत्य में सब जीव छटपटा रहे हैं, उसकी अधिकृत भूमि में हैं। उसके नियन्त्रण से निकालकर आत्मा का आधिपत्य दिला देना अध्यात्म कहलाता है। जिस पुरुष के लिए आत्मा विदित है, जो आत्मा से ओतप्रोत और उसी में स्थित है वह महापुरुष योगी है और वही यह आध्यात्मिक दान दे सकता है। भगवान बुद्ध, महर्षि नारद इत्यादि इसी स्तर के दाता थे। झोपड़ी से लेकर बहुत से चक्रवर्ती राजकुमारों को नारदजी ने ब्रह्म तत्त्व तक पहुँचाया। प्रचेता के दस हजार राजकुमार, दक्ष प्रजापति के लड़के, भक्त प्रह्लाद, भक्त ध्रुव, पार्वती और सीता सबके गुरु नारद थे। कुंभकर्ण जैसे राक्षस को भी उपदेश देने का समय उन्होंने निकाल ही लिया और परमात्मा की ओर बढ़ा दिया (रावण से उसने बताया- **'नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरबहा।।'** ***(मानस, ६/६२/६)*** प्रत्येक महापुरुष की यही भूमिका हुआ करती है।

सती अनुसुइया आश्रम के पूज्य श्री परमहंसजी महाराज इसी स्तर के महापुरुष थे। बहुत से साधक उनकी शरण में पहुँचे। महाराज ने उनके लिए जीवनोपयोगी व्यवस्था दी तथा उन्हें अनन्त जीवन की ओर बढ़ा दिया। स्वामी सच्चिदानन्दजी महाराज धारकुण्डी को इंगित कर एक बार उन्होंने कहा था कि जिसे तुम लोग बड़ा समझते हो, यह जब मेरे पास आया था तो भगवान ने बताया कि इसकी आयु छः महीना ही शेष है। इसे जीवन मैंने दिया है। स्थिति मैंने दी है। यह जो कुछ भी है, मैंने बनाया है।

गुरु महाराजजी मेरी ओर भी मुड़े। कहने लगे, जीवन तो तुम्हारा भी बहुत थोड़ा-सा है, आयु है ही नहीं। जबकि हमारा शरीर उस समय पहलवानों-जैसा था इसलिए महाराज की अटपटी वाणी हमारी समझ में नहीं आयी।

महाराजजी की शरण में आने के ढाई वर्ष पश्चात् हम बीमार पड़े। शरीर कंकाल मात्र रह गया। अनुभव में एक दृश्य दिखाई पड़ा। चार-छः परिचित लोग मुझसे प्रेम से

मिले और घोर जंगल में ले गये। वहाँ एक विशाल शस्त्रागार दिखाई पड़ा जिसका द्वार लगभग १५-२० फीट चौड़ा था। हम सबके पहुँचते ही द्वार स्वतः खुल गया। भीतर शस्त्रों की चकाचौंध से कक्ष जगमगा रहा था। सबके प्रवेश करते ही द्वार बन्द हो गया। साथवालों ने एक-एक शस्त्र उठा लिया। उन लोगों ने आपस में कहा, ''अब क्या देखते हो? तुरन्त इसे मार दो।'' उनके शस्त्र हमारे समीप होते जा रहे थे। हम सोच रहे थे कि यदि इस बार बच जाते तो इतना भजन करते कि इनकी पकड़ में न आते। उन लोगों से अनुनय-विनय करने लगे कि केवल एक अवसर दो, केवल एक बार छोड़ दो; किन्तु हमारे निवेदन का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। वे बढ़ते ही आ रहे थे। जब समीप आ गये तब अचानक ही वे पीछे हटने लगे। फाटक अलग होने लगा, जाकर दूर गिरा। हमने उनसे कहा कि मैं अकारण तुम लोगों से विनय कर रहा था, डर रहा था। अभी कल ही तो महाराजजी की छड़ी मुझे लगी थी। अब तुम लोग मुझे नहीं मार सकते। प्रातः महाराज जी से बताया तो बोले- बेटा! होनी टल गई। तुम्हारे पास तो आयु ही नहीं थी। अब तुम निरन्तर भजन करो, अब मत चूकना। **'मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के।।'** *(मानस, १/३१/६)* अपने भजन के प्रभाव से भाग्य के असाध्य कुअंक भी मिट जाते हैं, महापुरुष अपनी इच्छा से मिटा देते हैं। हमारी श्रद्धा ही उधर से कृपा बनकर लौटती है और फलदायिनी होती है।

पूज्य महाराजजी कहा करते थे- ''हो, संसार में सब दानी ही तो बने हैं लेकिन असली दानी मैं हूँ। मैं मोक्ष देता हूँ। सत्पुरुषों के समान संसार में कोई दानी नहीं है।'' महाराजजी ने बहुतों को जीवन दिया, साधना दी और अनन्त जीवन, शाश्वत स्वरूप की ओर बढ़ा दिया, जो आज भी महाराजजी की कीर्ति के प्रामाणिक हस्ताक्षर हैं।

योगीप्रदत्त इस सर्वोत्कृष्ट दान को पाने के लिये साधक को एक दान करना पड़ता है। वह है मन का दान, विचारों का दान, मन-क्रम-वचन से समर्पण! यदि गुरु कहता है कि यह आम का वृक्ष है, भले वह बबूल का हो, फिर भी कहें कि आम है। आम का ही फल मिलेगा। आप आज देख रहे हैं, वह महापुरुष आगे क्या होनेवाला है इसे देख रहे हैं। वे भविष्य की संरचना देख रहे हैं। इसलिए गुरु के वचनों में कभी गुंजाइश, कोई तोड़-मरोड़ या घट-बढ़ नहीं करनी चाहिए। ऐसा समर्पित साधक शीघ्र पा जाता है।

इस सम्बन्ध में राजर्षि जनक का कथानक अनुश्रुतियों में है। महाराज जनक पूर्वजन्म में क्रियाशील योगी थे। योग के संस्कार उनमें प्रबल थे इसलिए राजकीय वैभव उन्हें सुखद प्रतीत नहीं होता था। उन्होंने एक स्वप्न देखा, जिससे उन्हें घबराहट हुई। विद्वानों को बुलाकर उन्होंने प्रश्न किया कि मैंने जो स्वप्न में देखा वह सत्य है या जिसे देख रहा हूँ वह सत्य है? सबने अपने-अपने तरीके से उत्तर तो दिया; किन्तु उससे समाधान न

होते देख राजा ने उन सबको जेल में बन्द करा दिया। वर्षों तक ऐसा चला। राजा की व्याकुलता बढ़ती गई। विद्वान् बनकर दरबार में जाने को कोई तैयार ही न होता था।

अन्ततोगत्वा जनक के दरबार में अष्टावक्रजी पधारें। उन्हें देखकर जनक की पूरी सभा हँसने लगी। जब सबकी हँसी समाप्त हुई तो अष्टावक्र भी हँसने लगे। हँसते ही रह गये। जनक को लगा, यह पागल तो नहीं है! पूछने लगे, ''ऋषिवर! आप हँसे क्यों?'' अष्टावक्र ने कहा- ''पहले तो आप लोग ही हँसे थे। अतः पहले आप ही बताएँ?'' दरबारियों ने बताया कि एक से बढ़कर एक विद्वान् रूपवान् जिस प्रश्न को न सुलझा सके उस प्रश्न को सुलझाने आपको आया देख सबको हँसी आ गई। आपके दाँत पीछे को जा रहे हैं, आँखें उलटी हुई हैं, हाथ-पाँव टेढ़े हैं। आपकी आकृति देख सभी हँस पड़े।'' ऋषि ने कहा- ''राजन्! मुझे भी इसलिए हँसी आ गई कि यह विद्वानों की नहीं बल्कि चमारों की सभा है। ऊपरी चमड़े के पारखी ही यहाँ हैं। क्या आत्मा के दाँत ऊपर को हैं? आँखें निकली और पाँव पीछे को हैं? शरीर तो रहने का एक घर है। इसका आश्रय लेकर हमें आत्मा की शोध करनी है।'' दरबार में सन्नाटा छा गया।

राजा ने अपना प्रश्न रखा। अष्टावक्र बोले, ''राजन्, कुछ दान दें।'' राजा ने कहा- ''आप एक हजार गायें ले लें।'' ऋषि ने पूछा, ''बस, इतना ही!'' राजा ने दस हजार स्वर्ण से मढ़ी सींगवाली गायों को देने का प्रस्ताव किया। ऋषि ने आग्रह किया, इससे भी बड़ी कोई अपनी वस्तु दें। राजा ने आधा राज्य भी देने का प्रस्ताव किया। अष्टावक्र झुँझलाये- ''कभी गाय दान तो कभी राज्य दान! क्या यह राज्य तुम्हारा है? तुमसे पहले यहाँ का राजा कौन था? तुम्हारे पश्चात् यह दूसरे का होगा तो यह तुम्हारा कैसे? कोई अपनी वस्तु दें।'' जनक की समझ में नहीं आया तो बोले, ''भगवन्! कुछ याद दिलायें।'' ऋषि ने कहा- ''अपने मन को दान कर दें।''

जनक ने तुरन्त मन का संकल्प कर दिया। वे महापुरुष एक ओर बैठ गये, ध्यान में लग गये। जनक खड़े ही रहे। सोचने लगे- इन्हें मुँहमाँगा दान दिया; किन्तु इन्होंने हमें बैठने के लिए भी नहीं कहा और न हमारे प्रश्न का ही उत्तर दिया। जनक बौखलाये; किन्तु तब तक ध्यान आया कि हमने मन का ही तो दान किया था, फिर यह क्रोध कौन कर रहा है? लगता है मन अभी हमारे पास है। जिसे दिया है इन्हीं महात्मन् का मनन इसे करना चाहिए। जनक बैठ गये, मुनि का ध्यान करने लगे। शाम होते-होते जनक की समाधि लग गई। उस दशा में उन महापुरुष ने जनक के हृदय में बताया कि स्वप्न में तुम्हारा भिखारी बने घूमना या जागने पर सिंहासन पर बैठना इनमें से कोई भी सच नहीं है। सत्य है परमात्मा। प्रयत्न करो और पा जाओ। इस प्रकार सद्गुरु के प्रति अन्तःकरण का समर्पण ही साधक का सच्चा दान है।

दानवीरों की सूची में महर्षि दधीचि का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने देवताओं की रक्षा के लिए अपनी हड्डियों तक का दान कर दिया था। महर्षि की समूची कहानी आध्यात्मिक रूपक है। वह ऐसे महापुरुष थे जिनकी वृत्तियाँ ध्यान में अचल स्थिर ठहर गई थीं। **'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।'** *(मानस, १/१४४/४)* ऐसी अवस्था में ही आसुरी सम्पद् का पूर्ण विनाश तथा दैवी सम्पद् की सुरक्षा हो पाती है। हड्डी का यह दान किसी विरले अधिकारी साधक से ही पार लगता है। वैसे इसकी व्यवस्था सबके अन्दर है। इसके लिए साधक को लगनशील, दृढ़ टेकवाला होना होता है। ऐसा ही कथानक राजा हरिश्चन्द का भी है। इन समस्त आध्यात्मिक कथानकों का एक ही आशय है कि-

रेग ज़ारो में बगूलों के सिवा कुछ भी नहीं।
साया ये अब्रे गुरेजाँ से हमें लेना भी क्या?

घोर रेगिस्तान में तप्त रेत के उड़ते हुए चक्रवातों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। चारों ओर से झुलसा रही उस भीषण गर्मी में वात्याचक्रों के साथ यहाँ-वहाँ उड़ते बादलों की जानलेवा छाया क्या वस्तुतः शीतलता प्रदान कर पायेगी? वस्तुतः सारा संसार ही एक जलता हुआ मरुस्थल है। इसमें पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र तथा सम्बन्धियों की छाया, विद्या-स्वास्थ्य-अन्नादि के बृहद् भण्डार, विपुल कोश, सुख देने के सारे साधन रेतीली आँधियों के बीच भागती छोटी-मोटी बदलियों द्वारा प्रदत्त शीतलता से अधिक नहीं हैं। छाया पाने की आशावाला रेत के टीलों में दबकर रह जाता है। **'कल जो बैठा मंच पर आज मसाने दीख।'** संसार इतना नश्वर है, फिर भी मोह का इतना गहरा खिंचाव है कि लोग एक भी पल इससे विरत नहीं हो पाते। इसकी नश्वरता दिखाते हुए सहज स्वरूप की ओर बढ़ा देना उस सच्चे दानी की देन है जिसे उस भगवत्ता का बोध है। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड (१२६/१-२) में है-

सोई सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मण्डित पण्डित दाता।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता।।

वह धर्मज्ञ है, धर्म का विशेषज्ञ है, वही गुणी है, ज्ञाता है- सब कुछ जानता है, पृथ्वी में वही सम्मानित है, वही पण्डित और दाता है- उसी के पास देने योग्य कुछ है। जिसके पास है वही दे भी सकता है। कौन? **'राम चरन जा कर मन राता।'** परमात्मा के चरण कमलों में जिसका मन अनुरक्त है, ऐसे योगी सन्त ही वास्तविक दान दाता हैं। एक ओर परमात्मा महादानी, दूसरी ओर ये सन्त दानी। ऐसे सन्त सत्पुरुषों का सान्निध्य-लाभ करें; किन्तु जो एक ईश्वर को छोड़कर अनेक स्थलों पर श्रद्धा का विकेन्द्रीकरण करने में लगे हैं, वह तो ईश्वर-पथ में आई हुई एक भँवर मात्र है।

दान सद्गृहस्थ आश्रम की शोभा है। अतिथि-सत्कार भी दान के अन्तर्गत आता है। एक बार जोधपुर के महाराजा का एक प्रबल शत्रु उनके राज्य की सीमा से गुजरा। राजा को सूचना मिली तो उन्होंने पीछा किया। रेत के टीलों से भागते, प्यास से तड़पते वह एक घर में पहुँचा, बोला- मुझे भयंकर प्यास लगी है, पानी पिलाकर मेरे प्राण की रक्षा करो। संयोग से वह मकान महाराजा के विश्वस्त सरदार का था। सरदार ने पहचाना भी किन्तु पानी पिलाया, दूध पिलाया, स्वागत किया और रास्ता बताते हुए तुरन्त विदा भी कर दिया। कुछ ही देर में शत्रु को खोजते-खोजते महाराज भी वहाँ पहुँचे। सरदार से उस शत्रु के बारे में पूछा, किन्तु सरदार को मौन देखकर बोले- ''अतिथि समझकर तुमने उसे जाने दिया किन्तु मैं खोज लूँगा।'' राजा चलने लगे तो सरदार ने भी तलवार उठायी और ऊँट पर सवार होकर राजा की सहायता के लिए चल पड़ा क्योंकि शत्रु प्रबल था। इस प्रकार दरवाजे पर आये शत्रु को भी अवध्य मानना, शरणागत को जीवन-दान देना, आतिथ्य सत्कार करना भी दान का एक प्रमुख अंग है।

महाराज हर्ष के समय में चीन का यात्री ह्वेनसांग बौद्धधर्म का अनुशीलन करने भारत आया। पर्यटन के क्रम में उसने लोगों से पूछा कि यहाँ भोजन की व्यवस्था क्या है और कहाँ पर मिलेगा? जिससे पूछा गया था उसी ने कहा, ''भद्रे! आपका स्वागत है।'' सम्मानसहित अपने घर ले गया, भोजन कराया और विदा कर दिया। ऐसी ही निःशुल्क व्यवस्था उसे प्रत्येक स्थान पर मिलती गई। भोजन और जल उसे सर्वत्र मिला, आदर के साथ मिला, मीठे वचन मिले- यह भी एक दान है। अन्ततोगत्वा ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में लिखा कि भारत के लोग अतिथि-सत्कार में एक दूसरे से होड़ करते हैं। इनकी वाणी बहुत मधुर है। वस्तुतः भारत देवभूमि है। यहाँ मनुष्य नहीं, देवता रहते हैं। सद्गृहस्थों को सदैव इसका विचार रखना चाहिए और किसी भिक्षु या जरूरतमन्द को खिलाकर ही स्वयं भोजन करने में प्रसन्नता की अनुभूति करनी चाहिए।

सद्गृहस्थ दानवीरों में कर्ण का नाम आता है। उसके दान के तीन कथानक प्रसिद्ध हैं। एक बार उसने अपने महल के सारे दरवाजे तोड़कर दान दे डाला, दूसरा कवच-कुण्डल देना और तीसरा मरणासन्न अवस्था में दाँत का स्वर्ण निकालकर दान करना। सबसे पहले देखें काष्ठोपकरण तोड़ने की घटना- श्रीकृष्ण कर्ण की दानवीरता की चर्चा अर्जुन के समक्ष करते ही रहते कि कर्ण तुम धन्य हो। तुम्हारा दान धन्य है। सुनते-सुनते अर्जुन के कान पक गये। एक दिन जब बहुत असहनीय हो गया तो उसने कहा- 'भगवन्! आप सदैव कर्ण की प्रशंसा करते हैं। क्या आप कृपया बतायेंगे कि भ्राता युधिष्ठिर किस दृष्टि में उनसे कम हैं? कर्ण तो धूर्तों का साथ देता है, उनके इशारों पर चलता है जबकि युधिष्ठिर में ऐसा कोई दोष भी नहीं है। महाराज युधिष्ठिर अपना सम्पूर्ण

राज्य दान में दे सकते हैं। कोई माँगे तो प्राण भी दे सकते हैं। वह धर्मात्मा हैं। श्रीकृष्ण ने कहा कि इस प्रश्न का उत्तर वे कभी अवसर मिलने पर देंगे। उन्होंने अब ऐसी चर्चा ही बन्द कर दी।

कुछ समय पश्चात् जब श्रीकृष्ण ने देख लिया कि अर्जुन इस प्रकरण को भूल चुका है तो उन्होंने चुपके से एक योजना बनायी। वर्षा के दिन थे। लगातार पानी बरस रहा था। श्रीकृष्ण ने नगर के समस्त व्यापारियों को गोपनीय सूचना प्रेषित कर एक व्यवस्था दे दी। सभी व्यापारियों का चन्दन बाहर पानी में रखवा दिया। महलों के चन्दन की भी व्यवस्था कर दी। तब उन्होंने अर्जुन से वेश बदलकर मन बहलाव की इच्छा व्यक्त की, जिसे अर्जुन ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनों ने साधु का वेश बनाया और भिक्षाटन पर निकल पड़े।

सर्वप्रथम वे दोनों महाराज युधिष्ठिर के महल में पहुँचे। 'नारायण हरि!' बोलने लगे। युधिष्ठिर ने उन्हें सन्त समझ पूछा, ''भगवन्! क्या आदेश है?'' विप्र देवता बोले, ''भिक्षा!'' युधिष्ठिर ने कहा, ''प्रभु, सब तैयार है, आसन ग्रहण करें।'' विप्र बोले- ''राजन्! हम स्वयंपाकी हैं। अपने ही हाथ से बनाकर पाते हैं। उस पर भी हमलोगों का व्रत है कि वर्षाकाल में चन्दन की सूखी लकड़ी से ही भोजन बनायेंगे।'' युधिष्ठिर ने कहा- ''चन्दन की अभी व्यवस्था हो जाती है, आप विराजें।'' दोनों बैठ गये। युधिष्ठिर ने चन्दन की लकड़ी खोजवाई तो महल में नहीं मिली। पूरे नगर में नौकरों को दौड़ाया। रथों से दूर-दूर तक खोज की गई। सूखा चन्दन कहीं नहीं मिला। युधिष्ठिर उदास और खिन्न होकर आनेवाले नौकरों को देख रहे थे। कुछ कहते भी न बनता था। इतने में श्रीकृष्ण ने कहा, ''कोई बात नहीं राजन्! हम अन्यत्र भिक्षा कर लेंगे।'' उठे और चल दिये। युधिष्ठिर देखते ही रह गये।

वहाँ से निकलकर भगवान कर्ण के महल में पहुँचे। कर्ण खड़ा हो गया, साष्टांग दण्डवत् किया, भोजन के लिये निवेदन किया। श्रीकृष्ण ने वही शर्त यहाँ भी दुहरा दी। यहाँ भी सारे रथ नगर की परिक्रमा कर लौट आये, बोले- चन्दन की लकड़ी तो क्या उसका एक छिलका भी सूखा नहीं है। कर्ण ने तुरन्त उठाया धनुष, बाण चलाया। चौखट गिर पड़ा। बड़ा-सा पलंग उसमें मारा, फिर खिड़की-दरवाजे सब तोड़ डाले। चन्दन की सूखी लकड़ियों का ढेर लगा दिया और कहा- ''भगवन्! आप जीवन भर मुझे सेवा का अवसर दें और सूखी लकड़ी से ही भोजन बनायें।'' उन विप्रों को बहुत कुछ क्या खाना-पीना था, दो-एक टिक्कड़ बनाये और खा-पीकर निकल गये।

सायंकाल अर्जुन और श्रीकृष्ण स्वाभाविक वेश में युधिष्ठिर के यहाँ पहुँचे तो युधिष्ठिर तकिये पर औंधे मुख सिसक रहे थे। वैद्य, मन्त्री, परिवार के सभी सदस्य खड़े

थे; किन्तु वे किसी से कुछ कह नहीं पा रहे थे। कण्ठ भर आता था, आँसू बन्द ही न होते थे। श्रीकृष्ण ने पूछा कि इतना कौन-सा कष्ट आ गया? युधिष्ठिर ने कहा, ''श्रीकृष्ण! केवल एक बात बताओ, मुझे याद क्यों नहीं आया? इन महलों में आग क्यों नहीं लग जाती? कर्ण से सैकड़ों गुना अधिक चन्दन के काष्ठोपकरण मेरे पास हैं। मुझे याद क्यों नहीं आया? कर्ण ने उन भिक्षुओं को भिक्षा करा दिया और मैं अभागा नहीं करा पाया? बताओ श्रीकृष्ण! मुझे याद क्यों नहीं आया?'' श्रीकृष्ण ने बताया कि जो हृदय में होता है वही समय पर याद आता है। जो यह सोचकर दान या कोई कर्म करता है कि शास्त्र में लिखा है, नीति कहती है, करना चाहिए- ऐसा सोचकर जो करता है उसे समय पर याद नहीं आता; किन्तु दान तो कर्ण के हृदय में बसता है। इसलिये उसे समय पर याद हो आया।

सूर्य ने बार-बार कर्ण को सावधान किया था कि कवच और कुण्डल देने से प्राण संकट में आ जायेंगे; किन्तु कर्ण ने प्राणों का मोह छोड़कर अपना शरीर छीलकर उनका भी दान कर दिया और दानवीर कहलाया। युद्धभूमि में आहत कर्ण जब अन्तिम साँस गिन रहा था, श्रीकृष्ण वेष बदलकर उसके दानवीरता की परीक्षा लेने वहाँ भी पहुँचे। उस समय भी कर्ण ने अपना वह दाँत तोड़कर दे दिया जिसमें सोना लगा था। कहाँ देने लायक क्या है? कर्ण को सदैव स्मरण रहता था। श्रीकृष्ण ने कहा- यह सुवर्ण तो जूठा है। कर्ण ने बाण मारकर जलस्रोत पृथ्वी से पैदा किया। दाँत धोकर श्रीकृष्ण को अर्पित किया। प्रसन्न होकर भगवान ने उसे अपना धाम प्रदान किया। अतः हर परिस्थिति में हृदय से हुआ दान कल्याण करता है।

दान के सम्बन्ध में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में भरपूर प्रकाश डाला है। भगवान का निर्देश है कि यज्ञ, दान और तपरूप क्रियायें त्यागने योग्य नहीं हैं। ये मनीषियों को भी पवित्र करनेवाले हैं। अतः दान किसी भी परिस्थिति में त्यागने योग्य नहीं है।

गीता के सत्रहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि दान तीन प्रकार का होता है- सात्त्विक, राजस और तामस। **'दातव्यमिति यद्दानं'-** 'दान देना ही कर्त्तव्य है' इस भाव से जो दान देश, काल और सत्पात्र के प्राप्त होने पर बदले में उपकार की भावना से रहित होकर दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है (१७/२०)। जो दान क्लेशपूर्वक अर्थात् देते नहीं बनता लेकिन देना ही पड़ रहा है तथा प्रत्युपकार की भावना से कि यह करूँगा तो यह मिलेगा अथवा पहले फल को उद्देश्य बनाकर, फिर दिया जाता है वह दान राजस कहा गया है (१७/२१)। जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक झिड़ककर अयोग्य देश-काल में अनधिकारियों को दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है, लेकिन है यह भी एक दान; किन्तु जो देह-गेह इत्यादि सबके ममत्व

को छोड़कर एकमात्र इष्ट पर ही निर्भर है, उसके लिए दान का विधान और भी उन्नत है। वह है सर्वस्व का समर्पण, सम्पूर्ण भावनाओं से हटकर मन का समर्पण; जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है, **'मय्येव मन आधत्स्व'** *(१२/८)*। मेरे में मन को लगाओ। अतः दान नितान्त आवश्यक है।

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।
धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी।। *(मानस, ७/१२६/७)*

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि वह धन धन्य है जो सत्कर्म में काम आता है। भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देने में तो कभी चूकना नहीं चाहिए। सद्गृहस्थ आश्रम का यह दायित्व है कि द्वार से कोई भूखा न जाए। दूसरे को खिलाकर ही खाना चाहिए। जिस दिन कोई अतिथि अभ्यागत नहीं आते थे, पूर्वजों को खिन्नता होती थी। किसी सुपात्र भिक्षु को खिलाकर ही खाना उनकी संस्कृति थी।

'दानं परं किं सुपात्र दत्तम्'- दान वही श्रेष्ठ है जो सुपात्र को दिया जाता है। कुपात्र को दान देने से दाता भी नष्ट हो जाता है। दान की महिमा देख बहुत से कबीले भी दान लेनेवाले बन गये। कुछ कबीलों ने तो दान को ही जीविका का साधन बना लिया। कहीं देवता दिखाकर, कहीं चमत्कारों का प्रदर्शन कर, कहीं स्वर्ग का प्रलोभन देकर, कहीं प्रायश्चित का भय दिखाकर दान का क्षेत्र बढ़ाना और उसे प्राप्त करना उनका उद्योग बन गया। महापात्रों के घर में बहू आती है, यदि उस वर्ष उसके यजमानों में कोई नहीं मरा तो कहते हैं कि बहू दरिद्र नारायण है। कदाचित् दस-बारह लोग यजमानी में दिवंगत हो गये, दस-बारह गद्दा-तकिया-चारपायी मिली तो कहते हैं कि बहू क्या है, साक्षात् लक्ष्मी आ गई। यह दान का दुरुपयोग है। शहरों में बच्चों का अपहरण कर उनके हाथ-पैर की शल्यक्रिया कर उन्हें विकलांग बना देते हैं, भीख माँगने योग्य आकृति दे देते हैं। उन्हें ट्रक में भरकर ले जाते हैं, चौराहे-चौराहे बैठा देते हैं। ऐसे बालक दिन भर 'बाबूजी-बाबूजी' कहकर माँगते ही रहते हैं। शाम को ट्रक आता है उन्हें भर कर ले जाता है। धन्धा चलानेवाले उस पैसे से क्लब अटेण्ड करते देखे जाते हैं। बम्बई-जैसे महानगरों में भिक्षा माँगने की जगह के लिए पगड़ी देनी होती है। आपस में पगड़ी का देन-लेन कर लेते हैं। भीख माँगनेवालों को दान देना अकर्मण्यता को बढ़ावा देना है और किसी भी विकासोन्मुख राष्ट्र के लिये अभिशाप हो सकता है।

अतः दान जरूरतमन्द को ही देना चाहिए जो सचमुच भूखा है। ईश्वर-चिन्तन में रत संन्यासी दान का सर्वोत्कृष्ट पात्र है। अच्छा-खासा परिवार छोड़कर जो भगवान के लिए समर्पित हो गया वह दान का प्रथम अधिकारी है; क्योंकि आठ घण्टे बैठकर वह भोजनदाता के लिए भजन करता है। यदि वह इससे अधिक भजन करता है तो वही

उसका अपना होता है। ऐसे भिक्षुओं को भोजन कराना जो भजन में ही तल्लीन रहते हैं, सर्वोपरि दान है। बहुत से भिक्षुओं के इस सम्बन्ध में कठोर व्रत भी होते हैं कि अयाचित कोई खिला देगा तभी खायेंगे। हमारे गुरुदेव भगवान ने भी पेट के लिये कभी भिक्षा नहीं की। उनका विश्वास था कि साधु बनने की उन्होंने कभी कल्पना तक न की थी। घर-परिवार से बड़ा लगाव था; किन्तु आकाशवाणियों के माध्यम से जब उन्हें भगवान ने साधु बना दिया तो भोजन की व्यवस्था भी भगवान ही करेंगे। भगवान वैसा करते भी थे। निराधार विचरण के क्रम में किसी को स्वप्न दिखाई दे कि इन महात्मा को भोजन कराओ, कभी किसी को आकाशवाणी हो अथवा अनायास प्रेरणा हो और वह भोजन लेकर हाजिर हो जाता था। फिर भी दो-चार उपवास तो आये दिन की घटना थी; किन्तु तीसरे दिन तो कोई न कोई भोजन करा ही देता था। सच्चे सन्त भगवान के अन्तरंग होते हैं। भगवान के इशारे के बिना वे एक कदम भी नहीं रख सकते। साधु-सेवा के व्रती पुरुषों को ऐसे सन्तों को खिलाने-पिलाने का सौभाग्य अनायास ही मिल जाता है। निर्मल सन्त मनुष्यमात्र में अपनी ही आत्मा का संचार देखते हैं। वे विश्वात्मा होते हैं। उनको खिलाना विश्व को भोजन कराना हो जाता है। संसार तो लम्बा-चौड़ा है; किन्तु भगवान उसी से दान भी दिलवाते हैं जिसका कल्याण होना होता है। इसलिए सत्पुरुषों की सेवा में कभी चूकना नहीं चाहिए।

दान की महिमा वैदिककाल से लेकर अब तक अक्षुण्ण है। तत्पश्चात् इस धरा धाम में जहाँ भी धर्म का अंकुर फूटा, दान को सर्वोपरि स्थान मिला। भारतीय आर्य-संस्कृति के सभी संगठन सनातन, बौद्ध, जैन, सिख इत्यादि तथा पारसी, ताओ, ईसाई, मुसलमान और विश्व के सभी छोटे-बड़े धार्मिक संगठनों के सूत्रधर दान में विश्वास करते हैं। सभी अपनी आय का एक निश्चित अंश मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च इत्यादि समस्त देवस्थानों, पूजा-प्रार्थना-स्थलों तथा लोककल्याण केन्द्रों में दान करते हैं, जिसका सदुपयोग ईश-भजन या मानव-सेवा में होता है।

दान सार्वभौम है और प्रत्येक महापुरुष ने इसे हृदय की आँख से देखा है। दान से ही मोक्षमार्ग निकलता है। इसलिए प्रत्येक महापुरुष ने दान पर व्यवस्था दी। बुद्ध ने कहा- जो भिक्षुओं को दान करता है, वह मुझे खिलाता है। भगवान ने कहा- जो भक्तों को खिलाता है, मुझे खिलाता है। ईसा ने कहा कि जो भिक्षुओं को अन्न-वस्त्र देगा वह मुझे देगा। इन सभी महापुरुषों के उपदेशों में सन्तों के प्रति किये गये दान का बड़ा महत्व है-

जा दिन सन्त पाहुने आवत।
तीरथ कोटि स्नान किये फल तैसेइ दरसन पावत।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

पूज्य श्री स्वामीजी द्वारा विरचित
ज्ञान–गंगा
(साधनापरक दोहे)

मत्स्यपालिका सूद्र तन, छाया छुए न कोय।
काम शत्रु की मार से, पारासर रह रोय।।१।।

भावार्थ- इस दोहे में महापुरुष ने संकेत किया है कि मत्स्यपालिका अर्थात् मछली का पोषण करनेवाली मछोदरी उस जाति की थी जिसकी छाया भी छूने का निषेध था। 'मानस' से मिलान करें- **'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।'** *(२/१६३/३)*- केवट-प्रकरण में आता है कि जिसकी छाया भी छू जाने पर स्नान करना पड़ता है। मछोदरी भी इसी अस्पृश्य जाति की थी; किन्तु कामरूपी दुर्जय शत्रु की मार से महर्षि पराशर भी परावर्त हो गये और अपनी तपस्या खो बैठे। परिणाम नीचे दोहे में देखें-

पाणिग्रहण की सुधि नहीं, प्रगटा बालक एक।
मत्स्यपालिका सुअन का, ब्रह्म प्रकास अनेक।।२।।

भावार्थ- वैदिक अथवा लौकिक किसी भी विधान से महर्षि पराशर एवं मछोदरी का विवाह नहीं हुआ था; किन्तु मत्स्यपालिका उस बाला ने एक बालक व्यास को जन्म दिया, जिनके अनेकानेक ब्रह्म-प्रकाशन हैं, जैसे- चार वेद, छः शास्त्र, अठारह पुराण, महाभारत इत्यादि। वही व्यास ब्रह्मर्षि कहलाये।

उरवशी उर में बसी, बरबस जीवन जोग।
गुर वशिष्ठ विद् ब्रह्म की, जननि शुभाशुभ भोग।।३।।

भावार्थ- इस दोहे में महापुरुष उर्वशी के कथानक की ओर इंगित करते हैं। उर्वशी, रम्भा, मेनका इत्यादि वेश्याओं की विभिन्न श्रेणियाँ हैं। उदाहरणार्थ, जो दृष्टि पड़ते ही हृदय में स्थान बना ले, वह 'उर्वशी' है। दृष्टि पड़ते ही जो काम-वासना का संचार करा दे, वह 'मेनका' है। जिसका मन चट्टान की तरह स्थिर है- ऐसे स्थिर चित्तवालों को भी पलट देनेवाली 'रम्भा' है (बड़ी-बड़ी चट्टानों को लोहे की जिस छड़ से उलटते हैं, उसे रम्भा कहते हैं)। इसी प्रकार उर्वशी भी उनकी एक श्रेणी-विशेष थी जो 'बरबस जीवन जोग' अर्थात् बलात् भोले-भाले लोगों का संयोग प्राप्त कर लेती थी, वही गुरु वशिष्ठ की जननी हुई, जिससे शुभ या अशुभ कोई भी वासना नहीं बची थी। फिर भी महर्षि वशिष्ठ की विप्र-स्थिति में किसी को कोई सन्देह नहीं था।

गाधि सुअन तप कारने, पहुँचे अवध सुधाम।
सम राजा कुल क्षात्र तनु, पावा द्विज का ठाम।।४।।

भावार्थ- इस चौथे दोहे में महापुरुष का संकेत है कि 'गाधि सुवन' अर्थात् महाराज गाधि के तपस्वी पुत्र विश्वामित्र तप की सुरक्षा के लिए एक बार अवध पहुँच गये। वे राजा दशरथ के समानान्तरीय नरेश थे और कुल में भी समान क्षत्रिय थे किन्तु **'पावा द्विज का ठाम'-** जब विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण की माँग की तो महाराज दशरथ ने शोक करते हुए कहा-

चौथेपन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी।।

(मानस, १/२०७/२)

चक्रवर्ती दशरथजी भलीभाँति जानते थे कि विश्वामित्र क्षत्रिय हैं, फिर भी उन्हें विप्र कहकर सम्बोधित किया। अतः उनके विप्रत्व में भी कोई दरार न थी। अगले दोहे में विप्रत्व का माध्यम देखें-

क्षत्रि जाति अभिमान युत, गणनायक भूपाल।
योग निष्ठ रत कर्म कृत, मानस विप्र मराल।।५।।

भावार्थ- 'क्षत्रि जाति अभिमान युत'- वे विश्वामित्र जाति से क्षत्रिय एवं स्वाभिमानी थे, वे गणतन्त्र के नायक भूपाल थे; किन्तु अनुरागपूरित हृदय से योगाचरण करने के फलस्वरूप वे मनःस्थिति से **'विप्र मराल'** अर्थात् विप्रश्रेष्ठ हो गये।

भील जाति करनी कुटिल, धर्म सुना नहिं कान।
सद्गुरु के कारन मिला, विप्र रूप सनमान।।६।।

भावार्थ- महर्षि वाल्मीकि जाति से भील और करनी से चाण्डाल थे, जिन्होंने धर्म को कान से भी सुना नहीं था किन्तु वे भी सद्गुरु की विशिष्ट कृपा से सम्मानित हुए।

भगवान श्रीराम वनवास के समय विचरण करते हुए जब वाल्मीकि-आश्रम पहुँचे तो उन महर्षि के चरणों में मस्तक झुकाकर सादर प्रणाम किया। तब **'आसिरबादु बिप्रवर दीन्हा।'** *(मानस, २/१२४/१)*- उन विप्रश्रेष्ठ ने आशीर्वाद दिया। अतः वाल्मीकि की विप्रवरेण्यता में कोई सन्देह नहीं था- **'बालमीकि भये ब्रह्म समाना।'** *(मानस, २/१९३/८)*

राजसूय यज्ञ कारने, पहुँचे विप्र अनेक।
स्वपच रूप में विप्र एक, राजत विमल विवेक।।७।।

भावार्थ- धर्मराज युधिष्ठिर ने एक समय राजसूय यज्ञ की दीक्षा ली। बड़े धूमधाम से उसकी व्यवस्था होने लगी। तब महारानी द्रौपदी ने भगवान श्रीकृष्ण से यज्ञ-साफल्य की पहचान के बारे में प्रश्न किया। श्रीकृष्ण ने कहा कि सर्वोपरि ब्रह्मर्षि

जिस समय तुम्हारे आँगन में भोजन करेंगे, उसी समय आकाश में घण्टे की ध्वनि होगी, वही यज्ञ की सफलता का प्रमाण होगा। व्यास इत्यादि अनेक महर्षियों ने प्रसाद पाया परन्तु घण्टे की ध्वनि नहीं हुई। तब महाभागा कृष्णा ने श्रीकृष्ण से इसका कारण पूछा। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ध्यान से देखकर कहा कि एक महर्षि जो अमुक स्थान पर रहते हैं, अभी नहीं पधारे हैं। भीम उन्हें लाने में असफल रहे। फिर भगवान के प्रिय भक्त एवं सखा अर्जुन उन्हें किसी तरह से लाये। प्रसाद पाते समय उन महात्मा ने द्रौपदी द्वारा विशेष श्रम से बनाये गये छप्पन प्रकार के व्यंजनों को एक में मिला दिया, जिससे द्रौपदी के मन में थोड़ी अश्रद्धा हुई कि हमारे इतने परिश्रम को अब ये महात्मा कैसे जान पायेंगे?

घण्टे की ध्वनि तब भी न हुई तो द्रौपदी ने श्रीकृष्ण से पुनः निवेदन किया कि भगवन्! अब घण्टा क्यों नहीं बजा? भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि किसी के मन में अश्रद्धा आ गयी होगी। द्रौपदी के मन से अश्रद्धा निकलते ही आकाश में घण्टा बज उठा। प्रस्तुत दोहे में इसी प्रसंग की ओर संकेत किया गया है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अनेक महर्षियों ने भोजन किया परन्तु घण्टा नहीं बजा। तब श्वपच सूपा भगत के रूप में एक विप्र आ विराजे, जिनके दर्शन एवं सेवा के साथ ही सफलता मिल गई।

अब भीलों के घर में पैदा होनेवाले ब्रह्मर्षि, डुमार के शरीरवाला भी ब्रह्मर्षि, क्षत्रिय भी ब्रह्मर्षि एवं वशिष्ठ जो जन्मना कुलीन प्रतीत नहीं होते वे भी ब्रह्मर्षि, मछोदरी के पुत्र भी विप्र-श्रेष्ठ, तो वस्तुतः विप्र का स्वरूप है क्या? इस विप्रत्व की उपलब्धि का मूल माध्यम क्या है? क्या यह जन्मना प्राप्त होनेवाली उपाधि है अथवा किसी यौगिक क्रिया का परिणाम? इस पर अन्तिम निर्णय महापुरुष आठवें दोहे में देते हैं-

चार वरण चित दे चले, चेतन पथ निष्काम।
प्रथम चरण में सूद्र है, विद्वत् उर परिणाम।।८।।

भावार्थ- 'चार वरण चित दे चले'- यदि आपको चारों वर्णों की योग्यता प्राप्त करनी है तो उस परम चेतन परमात्मा का पथ- जो निष्काम कर्मयोग है, उस पर चित्त लगाकर चलें। उस योग के प्रथम चरण में अर्थात् साधना के प्रवेशकाल में पुरुष शूद्र श्रेणी प्राप्त करता है और **'विद्वत् उर परिणाम'** अर्थात् जब उर में वह परिणाम घोषित हो जाता है तब वह विद् (ज्ञाता) है, वत् (जैसा) हो जाता है। वैश्य का उल्लेख अग्र दोहे में देखें-

आतम धन निज सम्पति, मायिक चित जंजार।
मति संयम रति राम में, वैश्य विधी का सार।।९।।

भावार्थ- आत्मिक धन ही स्थिर सम्पत्ति है। एक बार वह जितने पैमाने पर मिलता है वह कभी नष्ट नहीं होता। वह निश्चय ही कल्याण करता है इसलिए वह निज धन है। मायिक धन तो चित्त का जंजाल है। माया की महानतम् उपलब्धियाँ भी चित्त के लिए बन्धन एवं जाल हैं। **'मति संयम रति राम में'** अर्थात् संयमित बुद्धि रखते हुए श्रीराम के चरणों में अनुराग तथा प्रयत्न रहे, यही वैश्य के विशेष लक्षण हैं। इसी पर अगला दोहा द्रष्टव्य है-

राजस गुण वश विपुल में, स्वल्प सत्व तम धार।
गो संयम रत आत्मा, समन वैश्य व्यवहार।।१०।।

भावार्थ- राजसी गुण विशेष हो, कुछ तामसी तथा कुछ सात्त्विक गुण भी कार्यरत हों, **'गो संयम'** अर्थात् इन्द्रियों का संयम तथा आत्म-चिन्तन में अनुरक्ति हो, मन का शमन- यह वैश्य स्तर की विधि-विशेष है।

बुध करणी सो होत है, वरण व्यवस्था जोग।
पुण्य पुंज सतसंगति, राम कर्म संयोग।।११।।

भावार्थ- विवेकी पुरुष अहर्निश कर्त्तव्य करके वर्ण-व्यवस्था के योग्य हो जाते हैं। पूर्वजन्म के पुण्यपुंज और सत्संग के प्रभाव से उस राम में प्रवेश दिलानेवाले कर्म (विशेष आराधना) अर्थात् उस यौगिक क्रिया का संयोग होता है, जिससे राम मिलते हैं।

क्षात्र

सत्व विपुल कछु राजसी, ईस करम मन लीन।
मति संघर्षन शान्त में, क्षात्रवन्त मन कीन।।१२।।

भावार्थ- सत्त्व गुण विशेष मात्रा में हो और राजसी गुण का कुछ पुट बना रहे **'ईस करम मन लीन'** अर्थात् ईश्वर चिन्तन में मन तल्लीन रहे, ईश्वर की उपलब्धि करानेवाले यौगिक कर्म में मन लगा रहे, शान्त ब्रह्म के लिए बुद्धि में संघर्ष बना रहे- यही वास्तविक युद्ध है और यही क्षत्रित्व का लक्षण है।

कर्म से काटे काल को, कर्म से सूद्र प्रवीन।
कर्म से क्षत्री विप्र है, विप्र ब्रह्म में लीन।।१३।।

भावार्थ- 'कर्म से काटे काल को'- कर्म से काल को काटा जा सकता है, काल की फाँसी कट जाती है। कर्म से शूद्र भी वैश्य की स्थिति में प्रवीण हो सकता है। कर्म से क्षत्रिय विप्र हो जाता है और विप्र उस परात्पर ब्रह्म में विलय प्राप्त करता है जहाँ पर **'न ब्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रश्चिदानन्द रूपो शिवो केवलोऽहं'** रह जाता है। प्रश्न उठता है कि उस कर्म का स्वरूप क्या है?

कर्म क्या है?

मन काया करनी करै, हरि माया टकसार।
आतम अनुभव सोध में, प्रगट करम का सार।।१४।।

भावार्थ- मन-कर्म-वचन से करनी करें। **'हरि माया टकसार'-** भगवान की माया योगमाया, आत्ममाया एक दूसरे के पर्याय हैं। यह भगवान की माया ही कर्म करने का क्षेत्र है। माया में ही कर्म किया जा सकता है अन्यत्र नहीं। आत्मा का अनुभव दिलानेवाले के संरक्षण में ही कर्म का वास्तविक रूप प्रकट होता है। इसी का पूरक अग्र दोहा है-

काय वचन मन लग रहे, आतम पथ व्यापार।
कोटि विघ्न ते ना फिरे, मनवां शुभ संचार।।१५।।

भावार्थ- मन-कर्म-वचन से आत्मिक व्यापार में तल्लीन रहें। करोड़ों विघ्न उपस्थित होने पर भी मन शुभ संकल्पों से चलायमान न हो।

काय वचन मन लग रहे, आतम पथ व्यापार।
सो कर्ता विद् कर्म से, सो गुरु गीता सार।।१६।।

भावार्थ- मन, कर्म और वचन से जो आत्मदर्शन के व्यापार में संलग्न हो जाता है वही कर्मों का कर्त्ता है, वही कर्म का सही ज्ञाता है। यही सद्गुरु एवं गीता इत्यादि शास्त्रों का सार है। श्रीकृष्ण जिस कर्म पर बार-बार जोर देते हैं यह वही कर्म है- आराधना।

'आत्मा की अनुभूति करानेवाला कर्म ही वास्तविक कर्म है'- इतना भी मान लेने मात्र से काम नहीं चलता। उसे कार्यरूप देने के लिए भाव और प्रेम मूल माध्यम हैं। इसी पर अगला दोहा देखें-

ज्ञान कर्म में ना मिले, अनुपम उर स्वर रूप।
प्रियतम की सुधि तब मिले, प्रेम भाव अनुरूप।।१७।।

भावार्थ- केवल ज्ञान और कर्म के द्वारा, उपमारहित, स्वर-रूप में वह प्रभु नहीं मिलते। उन प्रियतम की सुधि तभी सम्भव है, जब **'प्रेम भाव अनुरूप'-** प्रेम और भाव उन इष्ट के तद्रूप ही प्रवाहित हों। इस कर्म पर महापुरुष की दृष्टि में अन्तिम निर्णय देखिये।

हरि पथ पावन कर्म है, करै जे पावन अंग।
तेहि बिनु करनी कहत जे, भव बंधन का रंग।।१८।।

भावार्थ- भगवान का पथ ही पावन कर्म है। जो कर ले जाते हैं उनके (स्थूल, सूक्ष्म और कारण- तीनों) शरीरों में पवित्र सत्ता का संचार हो जाता है। जो उस क्रिया

से अनभिज्ञ होते हुए भी कहता है, 'मैं कर्म करता हूँ', उसका मस्तिष्क भव-बन्धन के रंग में अनुरंजित जानिये।

शिक्षा

मानव तन का फल महा, प्रभु गुरु दर्शन सीख।
बिनु दरसन के मानवा, जुग जुग मांगे भीख।।१६।।

भावार्थ- प्रभु और सद्गुरु का दर्शन, उनकी शिक्षाओं का आचरण ही मानव-तन का महानतम् फल है। जिसे उस दर्शन एवं प्रशिक्षण की उपलब्धि नहीं हुई तो जन्म-जन्मान्तरों तक वह भिक्षु ही है और पशु-पक्षी योनियों में भी वह इन्द्रिय-तृप्ति की ही अतृप्त याचना लिये भटकता रहता है। इसीलिए अग्रलिखित दोहों की चेतावनी पर ध्यान दें-

धन सम्पति सुत संग में, नित नव उमगत बोध।
जिगर रोग कुसमय पड़े, सच्ची सीख विरोध।।२०।।

भावार्थ- पर्याप्त धन है, सम्पत्तियों का अम्बार है, पुत्र-पौत्र भी हैं, जिनके माध्यम से नित्य नवीन बोध उमड़ता रहता है; परन्तु जिगर रोग अथवा असाध्य बीमारियों तथा कुसमय के आने पर **'सच्ची सीख विरोध'-** वास्तविक शिक्षा मिलती है कि सभी विरोधी हैं, अपना कोई नहीं। जो पलकें बिछाये रहते थे, उनके भी मुख से अपशब्द ही निकलते हैं।

मन पंछी फन्दे पड़ा, निकलत हरि की डोर।
सद्गुरु सेवन डोर है, परसि तमिस्रा भोर।।२१।।

भावार्थ- मनरूपी पक्षी तृष्णा की भयंकर फंदे में पड़ा है। भगवान से डोरी लग जाय तो पार हो जाय। किन्तु वे तो दिखाई नहीं देते, उनसे डोर लगे भी तो कैसे? तो कहते हैं, **'सद्गुरु सेवन डोर'-** सद्गुरु की सेवा से ही उनसे डोरी लगना सम्भव है। यौगिक क्रिया का सेवन मन से लग जाने पर तमिस्रा माया का प्रपंच ईश्वरीय भोर में परिवर्तित हो जाता है। परम चेतन स्वयंप्रकाशरूप है। माया तो नश्वर अंधकार का प्रतीक है।

नर कहँ माया नारि है, नारी कहँ नर होत।
संग दोष बिलगावते, जो चाहो निज जोत।।२२।।

भावार्थ- नर के लिए नारी माया है, नारी के लिये नर माया है। अतः यदि आत्मानुभूति, आत्मदर्शन की चाह है तो संगदोष का विलगाव कर लो।

भगवत् पथ की रोक है, काम परस्पर भोग।
मन क्रम तृस्ना के तजे, जन पावे सहयोग।।२३।।

भावार्थ– भगवत्पथ की विशेष रुकावट हैं काम एवं इन्द्रियों की पारस्परिक भोग-वासनाएँ। मन, कर्म, वचन से जो तृष्णा का त्याग कर देता है, वही जन ईश्वर का पूर्ण सहयोग पाता है। इस तृष्णा एवं आशा का पार कोई विरला ही अभ्यास से पाता है।

दीख सबल मुख झुर्रियाँ, दीख नयन द्युति हीन।
कंचन वपु विलसन भई, देखी आस नवीन।।२४।।

भावार्थ– सारी सम्पन्नता व सुखप्राप्त व्यक्ति के मुख पर भी झुर्रियाँ देखी गईं, नेत्र ज्योतिहीन हो गये, कंचन काया का विनाश हुआ; तब भी **'देखी आस नवीन'**– आशा में और नवीनता ही बनी रही। यह वस्तु संयोग से नष्ट नहीं होती, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसके विनाश का एकमात्र उपाय चिन्तन है।

भजन करन में भय लगे, सत् त्यागे सुख होय।
करम कामना से करै, काल धरोहर सोय।।२५।।

भावार्थ– भजन करने में भय लगता है और सत्य को त्यागकर असत् में प्रवृत्त होने में यह मन परम सुख मानता है। कुछ कर्म (आराधना) करता भी है तो भयंकर कामना के साथ करता है कि हे भगवन्! अमुक कार्य की ही पूर्ति हो। ऐसा पुरुष **'काल धरोहर सोय'**– काल की धरोहर अर्थात् 'फिक्सड डिपाजिट' है। अतः कामनाओं का सर्वथा त्याग करके ईश्वर-चिन्तन करना चाहिए। यदि भजन प्रारम्भ कर दिया है तो कल्याण निश्चित होगा। फिर कामना कैसी?

पल पल शिक्षा देत है, मन मन्दिर इक तार।
भक्तन के सिर भार जो, नाथ लगावे पार।।२६।।

भावार्थ – योग-स्थिति प्राप्त करने की मूल कुंजी है कि भगवान सुनें और धीरज बँधायें। इसी पर महापुरुष कहते हैं कि **'पल पल शिक्षा देत है मन मन्दिर इक तार'**– मन के अन्तराल में इष्ट प्रतिपल शिक्षा देते रहते हैं। इतना ही नहीं बल्कि भक्त के सिर पर जो भार है वह नाथ स्वयं ही पार लगाने लगते हैं। अतः भक्तिभाव का आश्रय लें।

बाहर झगड़े होत हैं, जीत न देखी कोय।
अन्तर जग की आत्मा, माया के सँग रोय।।२७।।

भावार्थ– दुनिया में झगड़े होते रहते हैं किन्तु जीत किसी की नहीं होती। जो उसमें जीता हुआ माना जाता है वास्तविक विजय उसकी भी नहीं होती। इस संघर्ष में अन्तर्देश स्थित आत्मा मायिक द्वन्द्व में ही प्रवेश पाती है। जो जिसे जितना दबाता है, परिणामतः उसे उतना ही दबना पड़ता है। अतः मायिक संघर्ष जन्म-जन्मान्तर तक चुकाये जानेवाले बदले हैं जिनमें कल्याण सम्भव नहीं है।

आतम तृप्ति एक में, बिना गुरु ना सीख।
छत्रपति के पद लहे, तबहूँ दुखिया दीख।।२८।।

भावार्थ- आत्मा की शाश्वत, संशयरहित तृप्ति सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा में ही है। बिना सद्गुरु के परम प्रभु को सम्भव बनानेवाली शिक्षा असम्भव है। आत्मोपलब्धिविहीन छत्रपति पदधारियों को भी दुःख से दग्ध, आहें भरते देखा गया।

आशा तृष्णा पूर्ति महँ, चिन्ता चंगुल सीख।
जिनकी तूती जगत् में, अन्त कड़ाही दीख।।२९।।

भावार्थ- एक आशा की पूर्ति अनन्त शाखाओं को जन्म देती है- **'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'** *(मानस, ६/१०१/१)* आशा और तृष्णा से ही मानव चिन्ता के चंगुल में जकड़ता जाता है। विश्वविख्यात लोग, जिनका डंका समग्र सृष्टि में बजता था, वे भी इन्हीं कामनाओं के कारण अन्ततोगत्वा काल की कड़ाही में देखे गये।

सत् त्रेता कलि द्वैत युग, माया गुण कृति धार।
साधन रत मन से कटें, लघु बड़ गुण व्यापार।।३०।।

भावार्थ - इस दोहे में महापुरुष युगधर्म पर विचार करते हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग सभी माया के ही द्वारा नियन्त्रित तीनों गुणों के विशेष प्रसार हैं। साधना में अनुरक्त मन से इन छोटे-बड़े गुणों का कार्य शनैः-शनैः टलता एवं कटता जाता है।

ज्यों सुरत गुरु संग से, चढ़े शून्य की सोध।
त्यों तस युग बदले लखे, तीन त्याग सत् बोध।।३१।।

भावार्थ- जैसे-जैसे सुरति सद्गुरु की संगति से शून्य की शोध में चढ़ती जाती है (शून्य की शोध संकल्प-विकल्प से रहित मन की रहनी अर्थात् एक स्थिति विशेष है जिसमें विशिष्ट अवकाश है, जिसे चिदाकाश कहते हैं) त्यों-त्यों क्रमशः युगधर्म बदलते जाते हैं। कलि, द्वापर, त्रेता का शनैः-शनैः त्याग एवं सत्य का बोध होता जाता है।

सदा रहत युग लोक में, दैवी सम्पति योग।
साधन सों कलुषित कटे, क्षण-क्षण सत् संयोग।।३२।।

भावार्थ- सभी युग सदैव इसी लोक में रहते हैं। दैवी सम्पद् के संयोग से साधना, आराधना, चिन्तन-क्रिया की प्रवृत्ति से पाप परायण युगों का प्रभाव टलता जाता है और उसी अनुपात में सत्य का संयोग प्राप्त होता जाता है।

सन्त-दृष्टि में नारी

संतन के चित पैठ के, लखा दीख सब मात।
की भगिनी समदर्स है, की पुत्री सम गात।।३३।।

भावार्थ– सन्तों के चित्त में पैठकर देखा गया कि नारी के प्रति उनकी जब भी दृष्टि पड़ी, उनमें माता के दर्शन हुए अथवा बहन या पुत्री के समान उनके अंग प्रतीत हुए। साधन में अनुरक्त व्यक्ति उन्हें इसी दृष्टि से देखता है।

पूरे सतपुरुषन लखा, जहँ तहँ प्रभु का रूप।
आँखि लबालब परम है, कहाँ समावे कूप।।३४।।

भावार्थ– परन्तु पूर्ण महापुरुष तो **'जहँ तहँ प्रभु का रूप'** अर्थात् जहाँ भी दृष्टि पड़ी, प्रभु को ही देखा। जिस परम में स्थित हैं, उसी परमाराध्य को ही सर्वत्र देखा। **'आँखि लबालब परम है'–** उनकी दृष्टि में तो वह परम प्रभु ही लबालब परिपूर्ण है, अन्य दृष्टि ही नहीं है तो जगत् के कुत्सित विचारों का प्रश्न ही नहीं उठता।

दरसत परसत ही थका, माया बल मन मौन।
तत्क्षण अन्तर में मिला, 'अड़गड़' अवधू तौन।।३५।।

भावार्थ– जिनसे आँख लबालब भरी है, उन आराध्य के दर्शन का फल बताते हुए प्रस्तुत दोहे में कहते हैं कि **'दरसत परसत ही थका'–** उन परमतत्त्व का दर्शन, स्पर्श पाते ही माया का बल थककर शान्त हो जाता है और मन उसी स्वरूप में तन्मय हो जाता है। मन के सर्वथा निरोध की अवस्था में साधक अन्तर्देश में स्थित परमात्मस्वरूप में मिल जाता है। यही अवधूत का वास्तविक एवं शाश्वत स्वरूप है, जिसका आरम्भ नाम और रूप से ही है।

येन केन विधि अन्त में, संकलप हरि के होय।
भजन भाव पावन करे, मनुज रहे सुख सोय।।३६।।

भावार्थ– प्रयत्न यही रहे कि जिस किसी प्रकार से अन्तिम क्षण में मन भगवान के रूप में स्थित हो जाय। **'भजन भाव पावन करे'–** वस्तुतः भजन भाव ही पूर्ण पवित्रता प्रदान करनेवाला है, जिस पवित्रता में मनुष्य ईश्वर के स्वरूप में शयन करता है।

भगवत्पथ के पथिकों में प्रायः निन्दा से व्यग्रता आ जाया करती है। इससे बचने तथा निन्दक से भी साधनात्मक सहयोग प्राप्त करने का निर्देश महापुरुष अग्रलिखित दोहों में करते हैं।

निन्दक से मित्र व्यवहार

बिन वेतन ड्यूटी करै, सच्ची आठो याम।
हरि कृपा निन्दक मिला, भूल बतावै थाम।।३७।।

भावार्थ– निन्दक बिना वेतन के ही आठों पहर सच्ची ड्यूटी देनेवाला हितैषी है। हरिकृपा से ही वह निन्दक मिलता है जो रास्ता रोक-रोककर भूलों से अवगत कराता

चलता है। यदि वह आपसे प्रत्यक्ष कहने में सक्षम नहीं होता तो लोगों में ही उसका प्रचार करता रहता है कि इनमें यह दोष है। बस दोषों का निदान करते जाइये।

ऐसे अनुपम नाथ हैं, निन्दक के तन पैठ।
गुण संग्रहि अवगुण कथै, भजन भरोसे बैठ।।३८।।

भावार्थ- भगवान इतने अनुपम हैं कि निन्दक के तन में प्रवेश कर गुणों का तो संग्रह कर लेते हैं और अवगुणों को बतलाते रहते हैं, जिसका उद्देश्य है कि त्रुटियों को समझो और भजन का भरोसा लेकर उनके निवारण में संलग्न रहो।

हरि दया कर हित करैं, निन्दक प्रगटे पास।
जो तव त्रुटि ना मिलै, निन्दक करै प्रकास।।३९।।

भावार्थ- भगवान जब असीम दया से द्रवित हो जाते हैं और हृदय से हित चाहते हैं तो किसी निन्दक को पास ही प्रकट कर देते हैं। **'जा तव त्रुटि ना मिले'-** पथिक अपनी निज भूलों को नहीं देख पा रहा है, निन्दक उसे भी प्रकाश में ला देता है। उसे समझो और निराकरण करते हुए क्रिया में संलग्न रहो।

जनमो जग के शिखर पर, या पृथ्वी तल माहि।
हरि सुमिरे सुख शान्ति है, अनल अन्त मरि जाहि।।४०।।

भावार्थ- चाहे जगत् के शीर्षस्थ स्थान पर महाराजाधिराज के रूप में जन्म हुआ हो अथवा **'पृथ्वी तल माहि'-** किंवा बहुत निम्न कोटि में, जो हरि का स्मरण करता है उसी के लिए शान्ति और शाश्वत सुख का विधान है। अन्यथा वह त्रय तापों, विषयानल का पतंगा मात्र शेष बचता है।

मन करणी लौं जगत है, जनमत रहै अनेक।
चक्षु मिले गुरु गोद में, जहँ देखा तहँ एक।।४१।।

भावार्थ- मन की जहाँ तक दौड़ है वहीं तक जगत् है। इसी परिधि में अनेकानेक जन्म होते रहते हैं; किन्तु जब हृदय में उस ईश्वर की दृष्टि का संचार हो जाता है तहाँ **'गुरु गोद में'-** सद्गुरु के परिवेश में उनकी रहनी पा जाता है। उस रूप में जहाँ भी दृष्टि पड़ी सब एक ही स्वरूप में दिखाई पड़ा।

सतपुरुषों की सोध में, माया बची न राम।
मन की मनसा के मिटे, सहज न व्यापै काम।।४२।।

भावार्थ- सत्पुरुषों एवं अनन्य भक्तों के शोध में माया न तो माया के रूप में बचती है और न राम ही भिन्न रह जाते हैं। उस सहज स्वरूप में कामनाओं का प्रसार कभी सम्भव नहीं है।

सबसे न्यारा रहत है, कबहुँ न छाँड़ै साथ।
प्रभा प्रसारण हौं मिला, तो कत व्यापै रात।।४३।।

भावार्थ- ऐसा पुरुष सबसे निर्लेप एवं न्यारा रहता है। जब वह चराचर के प्रकाशक 'प्रभा प्रसारण' से ही जा मिला, **'तो कत व्यापै रात'** फिर जगत्रूपी रात्रि उसे आवृत्त नहीं कर पाती।

अभिनय कारण ही लखै, माया मौलिक जीव।
आयु दिन में चेतिये, जन प्रतिपालै पीव।।४४।।

भावार्थ - यह दुस्तर माया ईश्वर के मौलिक अंश जीवात्मा को अपने अभिनय के लिए फाँसती रहती है। जो मानव अपनी आयु के दिन रहते-रहते चेत जाता है, ऐसे भाविक भक्त का प्रतिपालन प्रभु अवश्य करते हैं, जिसका परिणाम परमकल्याण है।

माया अभिनय कारने, कटक संभारे धाय।
काम क्रोध अँधियार भट, मोह धरातल जाय।।४५।।

भावार्थ- अपने स्वभावगत अभिनय के लिये पथिकों के व्यवधान के रूप में माया अपने कटक का संचार करती है। काम, क्रोध, लोभ इत्यादि सुभटों के साथ मोह का संचार कर समग्र अन्तःकरण को आच्छादित करके यह नारकीय परिणामों का सृजन करती है।

वीर विजेता बावला, सब जग त्यागी राग।
विकल विरह अनुभव निरत, ताहि सलोने भाग।।४६।।

भावार्थ- जो पुरुष वीर, विजयाशी, अनुराग निरत एवं विरही हैं, कामनाओं का त्याग करके अनुभव में अनुरक्त हैं, उनके लिए माया कल्याणकारिणी बन जाती है। ऐसे ही पुरुषों का भाग्य सराहनीय है।

वीर विजेता मानवा, जब जग त्यागी राग।
रे मन तन जर्जर भया, चोंच सँवारे काग।।४७।।

भावार्थ- वही वीर, विजेता मानव है जिससे समस्त जगत् की आसक्ति का त्याग करते बना; किन्तु भक्त तो अभी अपने को कोसता है कि रे मन! **'तन जर्जर भया'** अर्थात् यह तन जराजीर्ण हो चला है जिसके लिए श्मशान के कौए चोंच सँभालने लगे हैं, फिर भी तूँ चेत नहीं रहा है।

भाव का महत्त्व

भाव हरि के पद सुने, भावे प्रीतम पाय।
'अड़गड़' मन भावी मिटै, जो मन भाव समाय।।४८।।

भावार्थ- भाव ही हरि-पदों का श्रवण कराता है। भाव से ही उस परम प्रियतम की उपलब्धि सम्भव होती है। **'भावे विद्यते देवः'-** भाव में तो वह क्षमता है कि अदृश्य परमात्मा को भी प्रकट कर लेता है। मूर्धन्य महापुरुष कहते हैं कि मन यदि भाव में स्थित हो जाय तो उसके अन्तराल की भावी भी मिट जाती है।

सद्गुरु–महिमा

सद्गुरु प्रेरित में फले, पत राखे करतार।
'अड़गड़' मनसा गरब है, क्यों कर उतारे भार।।४९।।

भावार्थ- वस्तुतः चिन्तन-पथ का साफल्य सद्गुरु की अन्तस्प्रेरणा से ही सम्भव है। इस प्रेरणा के बल पर प्रभु भाविक की पत रख लेते हैं। हाँ, यदि मन में गर्व है तो संसृति का भार कैसे उतरेगा?

स्वर्ण सुमेर केहि काम के, जहँ के तहँ अनमोल।
मलय प्रशंसत हौं फिरौं, बासत ढाक ककोल।।५०।।

शब्दार्थ- *ककोल = करील।*

भावार्थ- स्वर्ण के सुमेरु पर्वत किस काम के? जहाँ होंगे वहीं तक के लिये अनमोल हो सकते हैं। मैं तो उस मलयागिरि की प्रशंसा करता हूँ जो ढाक और करील को भी सुगन्धित कर देते हैं। वस्तुतः सन्त इतने उपकारी होते ही हैं।

माया–दल

बिना इष्ट जीते नहीं, नख सिख इन्द्री भूत।
किये कल्पना कब लहे, बाँझ सलोना पूत।।५१।।

भावार्थ- बिना इष्ट की कृपा के, केवल ब्रह्मज्ञान कथन मात्र से, नख से शिखापर्यन्त भौतिक संस्कारों पर आधिपत्य नहीं होता। भला केवल कल्पना द्वारा बाँझ ने कब सलोना पुत्र प्राप्त किया? अतः साधना एवं उसकी पूर्ति करानेवाले सद्गुरु दोनों ही आवश्यक हैं।

आसिस अन्तर में सदा, दात दीन्हि मुनिराई।
'अड़गड़' अन्तर ना फले, कैसे छूटे काई।।५२।।

भावार्थ- एक साधक की दशा पर महापुरुष इंगित करते हैं कि **'दात दीन्हि मुनिराई'** अर्थात् गुरुदेव अन्तर्देश से आशीर्वाद के रूप में विशिष्ट वस्तु देते रहते हैं; किन्तु यदि मन में लगन के साथ पकड़ न हो, आदेशों का पालन न हो तो भला संचित कर्म की वह काई कैसे छूटे?

माया बिल्ली सब कहे, हरि दिल्ली का ताज।
दिल दिल्ली अब सून है, 'अड़गड़' बिल्ली राज।।५३।।

भावार्थ- 'माया बिल्ली सब कहे'- सन्तों ने माया को प्रायः बिल्ली की उपमा दी है। लोकोक्ति भी है- **'बहुतै बचायो बिलारि चहै झपटी।'** इसी तरह हरि को भी दिलरूपी दिल्ली का सिरताज कहा जाता है। किन्तु यदि दिल की दिल्ली में माया को सिंहासनासीन करा लोगे तो भगवान को कहाँ बिठाओगे?

ढूँढ़त आनन खोल के, इन्द्री दस जहँ भोग।
तहँ तहँ मोह विशेष में, 'अड़गड़' मानस रोग।।५४।।

भावार्थ- जहाँ भी इन्द्रियों के भोग हैं, दसों इन्द्रियाँ अपने मुँह खोलकर वहाँ-वहाँ दौड़ पड़ती हैं और उसका उपभोग करने का प्रयत्न करती हैं। इन्द्रियाँ जहाँ-जहाँ भोग करती हैं, **'तहँ तहँ मोह विशेष'-** वहीं-वहीं विशेष लगाव हो जाता है। महापुरुष बताते हैं कि यही मानस का भयंकर रोग है। वस्तुतः भोग और उनसे इन्द्रियों का लगाव ही मोह का मूल कारण है।

लोभ न देखे मात को, तात न जानन जोग।
सुहृद नीति वह ना लखे, 'अड़गड़' लोलुप भोग।।५५।।

भावार्थ- जब मस्तिष्क लोभाक्रान्त हो जाता है, तब माता-पिता का सम्बन्ध भूल जाता है। मित्रता एवं नीति को भी वह पुरुष त्याग देता है।

मदमाता मनवां फिरे, लखे न आखिर अन्त।
अहंकार बल अन्त में, माया रोके संत।।५६।।

भावार्थ- मद में मतवाला होकर यह मन इतस्ततः भटकता ही रहता है और इस भटकने का परिणाम सर्वनाश की ओर देखने भी नहीं देता। वस्तुतः अहंकार ही ऐसा शत्रु है जिसके माध्यम से माया सन्तों को रोका करती है और उन्हें च्युत भी करा देती है।

घर त्यागे बन-बन फिरे, मदन समाया बान।
टूट समाधि फूट चित, अनल कीट सम जान।।५७।।

भावार्थ- घर-द्वार छोड़नेवाले, वन-वन ईश्वर-चिन्तन में सतत प्रयत्नशील साधकों में भी जब **'मदन समाया बान'-** काम का कुत्सित संचार हो जाता है तो चित्त का विकेन्द्रीकरण समाप्त हो जाता है, समाधि भंग हो जाती है, यह मन दीपक के कीट-पतंगों की तरह तुच्छ हो जाता है। फिर वह भजन नहीं कर पाता।

सूर हते संकट करे, माया तोषत धीर।
सुख समृद्धि की वासना, वेधि जीव इक तीर।।५८।।

भावार्थ- कोई शूरवीर यदि आक्रमण करता है तो पहले सचेत करता है, संकट का आभास पहले से ही होने लगता है; किन्तु जब माया प्रहार करती है तो धैर्य बँधाती है। सुख-समृद्धि की वासनारूपी एक ही तीर से अमर सत्ता की ओर उन्मुख जीव को बेधकर गिरा देती है। गोस्वामीजी भी यही कहते हैं-

ग्यानी तापस सूर कबि, कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडम्बना, कीन्हि न एहिं संसार।। *(मानस, ७/७० क)*

गृह–परिवार

'अड़गड़' भय लज्जा करी, आज वो कायर दीख।
काम कुसुम की मार से, लगे न साँची सीख।।५९।।

भावार्थ- देखा जाता है कि कोई सुशिक्षित बालक बड़ों से भय एवं कुत्सित विचारों से लज्जा करता है; किन्तु कभी वही घोर कायर और लक्षणों से हीन दिखाई देता है। इसका कारण है कि **'काम कुसुम की मार से, लगे न साँची सीख।'** अर्थात् काम का प्रहार ही ऐसा है कि सच्ची सीख लागू ही नहीं होती। अतः बच्चों के लिए सत्पुरुषों का सत्संग अतीव महत्त्वपूर्ण है।

काम करावे सो करे, रोक भगत की सीख।
त्रयतापों की ज्वाल में, मन पतंग की भीख।।६०।।

भावार्थ- काम एक ऐसा नशा है कि पुरुष वही करता है जो काम कराता है। उसके चंगुल में फँस जाने पर वह भक्ति पर रोक लगा देता है। **'त्रय तापों की ज्वाल में, मन पतंग की भीख।'** का तात्पर्य है कि मन त्रय तापों में झुलसता हुआ भी पतंगे के समान विषयरूपी ज्वाला की ही कामना करने लगता है।

अमित बार आतम हता, चारों जुग में धाक।
कुम्भकरन 'अड़गड़' मिला, सत योजन की नाक।।६१।।

भावार्थ- अनन्त बार जिसने आत्मा की हत्यायें की हैं, चारों युग में जिसकी धाक रही है, महापुरुष कहते हैं कि वह क्रोधरूपी दुर्जेय कुम्भकर्ण भी आ मिला, जो **'सत योजन की नाक'-** युगों से अर्जित अपनी मर्यादा को मिटाने में संलग्न रहा है। नाक मर्यादा का प्रतीक है।

आतम हन करतूत का, क्रोध पसारा तार।
सोवत में सहसा जगे, सद्गुरु पथ सो पार।।६२।।

भावार्थ- क्रोध की महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए महापुरुष इंगित करते हैं कि आत्महत्या की करतूतों में क्रोध ने ही अपना ताना-बाना पसारा है। यह सदैव नहीं रहता

अपितु मन के अन्तराल में सोया रहता है। प्रतिकूल स्वभाव प्राप्त होते ही यह जागृत होनेवाला है। जो पुरुष सद्गुरुओं के पथ का पथिक है वही उसका निदान पाते हैं, अन्य नहीं।

भजन भाव संगत करी, दुर्बल लखा न कोइ।
अगम पूर्तिकाल में, सबल संत मति होइ।।६३।।

भावार्थ- भजन और भाव की संगति करके कोई भी पुरुष दुर्बल नहीं रह जाता। शबरी अपने को अत्यन्त दुर्बल, अधमाधम समझती रही किन्तु एक समय आया कि भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने उसे दर्शन दिया और वह सर्वतोभावेन सबल हो गई। उस अगम्य तत्त्व की पूर्तिकाल में पुरुष सबल एवं सन्तमत हो जाता है।

क्रोधहिं तन कम्पन लगे, क्रोध मिलावे छार।
आतमहन बहु काण्ड में, देखा क्रोध अपार।।६४।।

भावार्थ- क्रोध से तन में कम्पन जागृत होता है और क्रोध ही इसे मिट्टी में मिला देता है। आत्महनन के विस्तृत काण्डों में **'देखा क्रोध अपार'**- क्रोध का ही अपार प्रभाव दृष्टिगत होता है।

मत्सर तृष्णा तोय में, विकसित व्यथा अनन्त।
ईर्षा अन्तर जीव में, अहर्निशि माया तन्त।।६५।।

भावार्थ- 'मत्सर तृष्णा तोय में'- तृष्णारूपी वारि में मत्सर की सदैव स्थिति रहती है जो अनन्त भोगों को विकसित करती रहती है। यदि जीव के अन्तर्मन में ईर्ष्या है तो अहर्निश माया का ही सूत्रपात करती है।

मत्सर तृस्ना तोय में, विकसित विपुल विलास।
जब लगि व्यापी जीव में, तब लगि रुके न स्वांस।।६६।।

भावार्थ- तृष्णा-तोय में मत्सर का संचार है जो विभिन्न भोग-विलासों का विकास करनेवाली है। जब तक वह जीवों में व्याप्त है तब तक श्वास की गति नहीं रुकती।

बिना संकलप सून्य है, स्वाँस चरै ना माय।
सर्वरूप सुधि आतमा, अन्दर प्रगटे काय।।६७।।

भावार्थ- संकल्प और विकल्प से रहित मन की अवस्था ही शून्य कहलाती है। उस समय यह श्वास माया का चिन्तन नहीं करती, उस समय सर्वत्र व्याप्त आत्मा का संचार इसी काया में परिलक्षित हो जाता है। साधनकाल के दुःख पर महापुरुष प्रकाश डालते हुए अग्रलिखित दोहे में आश्वासन देते हैं।

जग अँधियारी एक थी, हरि अँधियारी ठाट।
चक्षु चौपट बाँध के, कौश कहे चल बाट।।६८।।

शब्दार्थ– *कौश = कोसना, किसी गलती पर बार-बार डाटना।*

भावार्थ– इस पथ में आनेवाली एक विशिष्ट उलझन इस प्रकार है- **'जग अँधियारी एक थी, हरि अँधियारी ठाट।'** जगत् का द्वन्द्व तो पहले से था ही, हरि से मिलनेवाले प्रारम्भिक निर्देश भी धुँधले रहते हैं। धुँधलापन का ही आवरण इस पथ पर भी बना है। आँखों पर तो चार परत बाँध दी है और अब कोस-कोस कर कहते हैं कि रास्ता चलो! बेचारा कैसे चले? ऐसा व्यवधान दीखने पर भी स्रष्टा, आराध्य साथ ही रहते हैं। अतः आश्वस्त रहना चाहिए।

नीति–संग्रह

बाँझहि व्यापित चपल मति, कुष्टी कुपित अधीर।
निर्वन्सी 'अड़गड़' लखा, व्याकुल गृह की पीर।।६९।।

भावार्थ– बाँझ में वासनात्मक चपलता अधिक होती है। कुष्ट रोगी को क्रोध अधिक होता है। इसी तरह निर्वंशी लोग गृहस्थी का प्रबन्ध करने में विशेष व्याकुल देखे जाते हैं।

परम आतमा दरस की, एक अनूठी रीत।
पथिकन में जेहिं हरि गहे, तिन्हे मिले अलिखीत।।७०।।

भावार्थ– परमात्मा के दर्शन की एक विलक्षण रीति है कि सहस्रों पथिकों में से जिस पथिक को वे प्रभु स्वयं स्वीकार कर लें, **'तिन्हे मिले अलिखीत'–** केवल उन्हीं को वह तत्त्व प्राप्त होता है जो लिखने में नहीं आता।

बहुश्रुत वाणी ना मिले, गहनि मिले भगवान।
विपुल बुद्धि सों ना मिले, मिले वो जतन करान।।७१।।

भावार्थ– बहुत सुनने, बोलने, प्रवचन करने से वह प्रभु नहीं मिलता। उस पथ के ग्रहण तत्त्व की जानकारी क्रिया की पकड़ से ही मिलती है। विस्तृत बुद्धि से भी वह पकड़ में नहीं आता। वह केवल उन्हीं को मिलता है जो प्रयत्नशील हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण भी तो यही कहते हैं कि अर्जुन! यत्न करके ही योगीजन उसे प्राप्त करते हैं।

आतुर कोटिन संत में, जिन्ह कहँ पकड़ा राम।
करणी सफल बखानिये, बिनु स्रम पावहिं धाम।।७२।।

भावार्थ– करोड़ों पथिकों में से जिसका हाथ पकड़कर भगवान स्वयं चलाने लगें, उसी की **'करनी सफल बखानिये'–** तभी चिन्तन की पूर्ण सफलता सम्भव है। ऐसे संरक्षक द्वारा संचालित साधक अन्य किसी श्रम के बिना ही परमधाम की उपलब्धि कर लेता है।

शत्रु

कुटिल कर्म ही शत्रु है, आतम हने दुकाम।
महामित्र इक राम हैं, 'अड़गड़' करनी थाम।।७३।।

भावार्थ– कुटिल कर्म ही शत्रु है। दूषित कुकृत्य ही आत्मा की हत्या है। महानतम सहायक एकमात्र राम हैं। यदि उस राम की आवश्यकता है तो करनी को मन के अन्तराल में रोकने का प्रयत्न करो।

महाशत्रु ग्रह धाम है, महामित्र सम राम।
'अड़गड़' काया के रहे, सद्गुरु के पद थाम।।७४।।

भावार्थ– महान् शत्रु गृह और धाम हैं क्योंकि गृह-प्रपंचों को ही मन ग्रहण करता है। परम हितैषी एकमात्र राम हैं। अतः महापुरुष की सलाह है कि काया के रहते सद्गुरु के चरणों को मन में स्थान दो।

सुख सों उपजत राग है, दुख से उपजे द्वेष।
'अड़गड़' यहि संसार के, सुख दुख हैं परदेस।।७५।।

भावार्थ– अनुकूल पदार्थों से सुख की प्रतीति होती है, उनसे राग उत्पन्न होता है। इसके विपरीत प्रतिकूल पदार्थों में दुःख की अनुभूति होती है, जिससे द्वेष पैदा होता है। राग-द्वेष का उद्गम होने के कारण सुख-दुःख परदेश हैं, हमारे धाम नहीं हो सकते।

सुरत डोर की संग में, गगन महल में जीव।
'अड़गड़' का घर अन्त में, जहँ जन जीव न पीव।।७६।।

भावार्थ– इष्ट के चरणों में जब श्वास-प्रश्वास की डोरी लग जाती है तो **'सुरत डोर के संग में गगन महल में जीव।'**– यह जीवात्मा आकाशवत् हो जाती है। वहीं महापुरुष का घर उसी अनन्त में है जहाँ जन, भक्त और पीव की संज्ञा विलीन हो जाती है।

मन ज्योति अधिकार है, मन माया बिसरात।
'अड़गड़' तिन्ह को पार है, जहँ मन दीन्हा साथ।।७७।।

भावार्थ– मन ज्योति का अधिकारी है। माया के फँसाव में यह मन सत्पथ को भूल जाता है। उन्हीं पुरुषों का लक्ष्य पूर्णतः पार हो जाता है जिनका मन चिन्तन-पथ में साथ देता है। अतः मन को रास्ते पर लगावें।

।। ॐ।।

दोहा–संग्रह

अड़गड़ करनी करि गये, सब जग ऊसर रूप।
जे 'अड़गड़' अवधूत हैं, सारे जग का भूप।।

'अड़गड़' करनी करि गये, जग भया ऊसर एक।
स्वयं शरीरा जल गया, बचा न एक अनेक।।

बिना इष्ट जीते नहीं, नख सिख इन्द्री जाल।
भूतऽरु भविता में स्रवे, मनवाँ विष बौछाल।।

सूरत सों गुरु मूरती, स्वाँसा मा सत् नाम।
उर अंदर देखत रहे, अनुभव सारे काम।।

जेहि घट सद्गुरु पूर हैं, सो सब साँचा जान।
ज्यों ज्यों ध्यावे रूप को, त्यों हरि काटे काम।।

पुण्य पुरातन साथ दे, पुरुष चले गुरु ग्राम।
जग की दुविधा मेट के, पहुँचे हरि के धाम।।

योग अगिनि की परत में, छिपा अमिट भगवान।
'अड़गड़' सद्गुरु सेव बिनु, योग तरंगित तान।।

भावार्थ- वह अपरिवर्तनशील अलख भगवान योगानल की सूक्ष्म लहरी में छिपा हुआ है जो सद्गुरु की सेवा से ही प्रत्यक्ष हो सकता है। यदि उपयुक्त योग्यता नहीं है तो योग जादूगरों का तमाशा मात्र है।

युग विधि आगी जगत में, तारन मारन भेद।
'अड़गड़' करनी एक में, एक बढ़ावे खेद।।

भावार्थ- अग्नि दो प्रकार की है- एक तो तारनेवाला योगानल, दूसरा मारने वाला विषयानल। योगाग्नि परमात्मा का दिग्दर्शन कराती हुई पूर्ण निवृत्ति प्रदान करने वाली है, जिसमें वह 'अड़गड़' करनी (अवधूत करनी) है। विषयाग्नि परिणाम में खेदवर्द्धक है।

योग अगिनि सद्गुरु कृपा, जागत मन के बीच।
'अड़गड़' सद्गुरु ना मिला, भजन जल्पना कीच।।

भावार्थ- सद्गुरु के कृपा-प्रसाद से ही मानव मन के अन्तराल में योगाग्नि जागृत हुआ करती है। यदि सद्गुरु नहीं मिले तो भजन तो होगा; किन्तु जल्पना-कल्पना बनी रहेगी, इससे निवृत्ति असम्भव है। हाँ, योग में प्रवेश पाने में यह सहायक अवश्य है।

त्रय तापों की ज्वाल से, जलते सकल जहान।
'अड़गड़' वे भी ना बचे, जिन्हें अनूपम भान।।

भावार्थ- दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों की ज्वाला में सभी लोग समान रूप से दग्ध हो रहे हैं, किसी की भी निवृत्ति नहीं है। अवधूत की स्थितिवाले सन्त कहते हैं कि जो लोग निरूपम बौद्धिक स्तर की उपलब्धि कर लेते हैं वे भी इस ज्वाला से बच नहीं सके।

मन बुद्धि गति भान तक, परम रूप अनजान।
'अड़गड़' मन तद्रूप जे, पावा पूर समान।।

भावार्थ- मन और बुद्धि की गति से केवल लौकिक विषयों का आभास मिलता है; किन्तु वह परमतत्त्व तो मन-बुद्धि की कल्पना से सर्वथा परे है। अतः मन और बुद्धि उससे सर्वथा अनजान रहते हैं। अवधूत-स्थितिप्राप्त सन्त कहते हैं कि जो मन, मानसिक प्रवृत्तियों को समेटकर इष्ट के तद्रूप हैं, परम के स्वरूप में जिनकी सुरति लगी है, इस अवस्थावाले भाविक ही पूर्ण में समाहित होकर इष्ट के समानान्तर स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं।

मन युक्ती सों ही रुके, माला टालो लाख।
सद्गुरु प्रेरक आत्मा, मानव का बल खाख।।

भावार्थ- मन का निरोध इस योग-युक्ति के जागृत होने से ही सम्भव है। चित्तवृत्ति-निरोध के अन्यान्य उपाय तो योग-प्रवेशिका में सहायक मात्र हैं। उनसे मन का नितान्त निरोध असम्भव है। जब सद्गुरु साधक की आत्मा से अभिन्न होकर प्रेरक का कार्य करने लगते हैं तभी उस योग-युक्ति में पूर्णता सम्भव है। इस प्रक्रिया में इष्टप्रेरित साधक का अहं विनष्ट हो जाता है।

अन्दर का आदेश धर, चलता साधक शूर।
बिन सद्गुरु 'अड़गड़' नहीं, निशिदिन प्रेरक नूर।।

भावार्थ- अन्तर्जगत् का आदेश पकड़कर साहसी साधक पावन-पथ पर चलता है; किन्तु अहर्निश प्रेरिका वह आभा बिना सद्गुरु के असम्भव है - ऐसा अवधूत की स्थितिप्राप्त महापुरुष का कथन है।

भजन करत हैं हरि स्वयं, 'अड़गड़' का है साथ।
चलता बँध कर डोर में, डोर हरी के हाथ।।

भावार्थ- वस्तुतः भजन स्वयं हरि ही कराया करते हैं। अवधूत कहते हैं कि वह प्रभु साथ रहते हैं। वह पथिक उन्हीं की डोर में बँधकर यन्त्र बनकर चलता है। जीवन की बागडोर इष्ट के हाथों में सौंपकर वह निश्चिन्त हो जाता है।

अब प्रति बन्धन हू कटा, आज्ञा पालन केर।
'अड़गड़' वे रूठत नहीं, अन्त दरश में देर।।

भावार्थ- इस चिन्तन-पथ में एक ऐसा भी समय आता है जहाँ आज्ञापालन का प्रतिबन्ध भी मिट जाता है। साधना की इस अवस्था-विशेष में वात्सल्यातिरेक में इष्ट आज्ञा-पालन न करने पर भी रूठते नहीं, यद्यपि अभी तक उनका दर्शन नहीं हुआ रहता; किन्तु इस अवस्था में प्रभु अब मिले, तब मिले- ऐसा आभास मिलने लगता है। यह स्तर साधक और स्वामी के बीच अनुकूलता तथा वात्सल्य का है।

जवन लोक में जन खड़ा, 'अड़गड़' मिलना आश।
उर अन्दर संचार ना, कटे न माया पाश।।

भावार्थ- प्रकृति के जिस स्तर पर साधक मिलन की आश लिए खड़ा है, उसी स्तर पर उतरकर इष्ट स्वयं हृदय-देश में समाहित होकर जब तक अनुभव का संचार नहीं करते तब तक प्रकृतिजन्य फाँसी का उच्छेद सम्भव नहीं। अर्थात् उस क्रिया का प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष प्रेरणा से है जो दर्शन की प्रारम्भिक परिधि है।

अलख निरंजन ना लखे, जन के आरत भाव।
उर अन्दर संचार ना, 'अड़गड़' डूबी नाव।।

भावार्थ- भवार्णव के उत्ताल तरंगों के घात-प्रतिघात से त्रस्त कायारूपी नाव में बैठा जो जीव डूबने के भय से आर्त होकर रक्षा के लिए प्रभु से प्रार्थना नहीं करता, और उसके आर्तनाद से द्रवित होकर जब तक उस पथिक के हृदय में कर्णधार बनकर अवतरित नहीं हो जाते, तब तक जीवन नैया को डूबी हुई समझो अर्थात् नाव में नाविक ने स्थान ग्रहण नहीं किया।

गरभवास की राह में, खड़ा अकेला जीव।
समरथ सारण न मिला, तो नहिं पावे पीव।।

संकेत- प्रकृति क्षेत्र में स्थित जीव भी गर्भवास की शृंखला में बद्ध ही है।

जेहि दलदल में हो खड़ा, तहाँ न उतरे राम।
परमधाम हरि छाँड़िके, जन नहिं लेते नाम।।

तब लगि साधक शूल है, एक सहारा नाम।
चक्षु रोपित साधना, डगर भुलाना धाम।।

संकेत- मानस-चक्षु में जब तक वे आरोपित नहीं हो जाते तब तक साधक परम का डगर विस्मृत कर चुका है, ऐसा समझना चाहिए।

भजन करो रति राम में, ध्यान धरो निरबाध।
जेहि दिन हरि आदर करें, तेहि दिन पूरी साध।।

ध्यान धरे सेवा करे, वन्दन आठो याम।
सद्गुण हरि आदर बिना, कबहुँ न आवे काम।।

प्रेरक दोहे

उर प्रेरक नित संग में, छन संशय छन जान।
जब लगि हरि सुमिरे नहीं, अनुभव में अज्ञान।।

भावार्थ- अनुरागी साधक के जागृति स्तर से जब उर-प्रेरक प्रभु नित्य संग हो जाते हैं, तत्क्षण संशय होने पर ज्ञान के आलोक में साधक का समाधान होता चलता है। उर-प्रेरक प्रभु संकल्पों एवं संशयों के उदय से पहले साधक में विद्यमान रहते हैं और साधक की शंकाओं का समाधान, कुतर्कों का निवारण होता चलता है। हाँ, यदि साधक इन जानकारियों के अनुरूप अपनी साधना अथवा चिन्तन में प्रवृत्त नहीं होता तो उसके अनुभव में अज्ञान का प्रवेश होने लगता है।

आपदा काटन उतरे, बीच न राखे कोय।
अनत कहीं अवतार ना, परम आतमा सोय।।

भावार्थ- पथिक की आपदा- जीवात्म भाव की संकीर्णता का उच्छेद करने के लिए ही इष्ट उसके हृदय-देश में अवतरित होते हैं तथा साधक से लेशमात्र भी दुराव, छिपाव नहीं रखते। जिस आत्मा में वे विदित होते हैं वही परमात्मा है, अन्यत्र कहीं अवतार का प्रादुर्भाव नहीं होता।

प्रेरक बन रस्ता चले, जो कोइ सेवक होय।
स्वयं सीस चरनन धरे, दास कहावे सोय।।

भावार्थ- यदि कोई सेवक है तो स्वयं वे प्रभु ही प्रेरक बनकर भक्त का रास्ता तय कराते हैं। हाँ, उस प्रेरणा को पाने के लिए सर्वतोभावेन पूर्ण समर्पण का विधान है।

चेतो अपने आप में, छोड़ो मन की माख।
मन मतिया अभिमान है, भजन मिलानी खाख।।

देवता

सभी जगत के देवता, जोर लगावे जाय।
जब लगि सतगुरु सीख ना, मूरख गोता खाय।।

प्रथम सीढ़ी के देवता, अवसि लगावे पार।
आगे सीढ़ी अनत की, गुरु महिमा आधार।।

देवन पूजा एक तक, अरथ पाय बस बोल।
मन चाहो परतत्व को, सतगुरु संगत डोल।।

भावार्थ – देवी-देवताओं की पूजा साधना का प्रारम्भिक स्तर है। यह पूजा सिद्धि और सम्पत्ति दिलाकर बस बोल देती है। अर्थात् उससे परे परमतत्त्व का दिग्दर्शन उसकी

क्षमता से बाहर है। अतः यदि अन्तर्मन से परमतत्त्व को चाहते हो तो सद्गुरु के संग में चलो। उनके निर्देशनों पर, संकेतों पर डोलो, उसका पालन करो।

देवी देवता सत्य हैं, आधी दूरी अन्त।
आगे सतगुरु एक हैं, काटत बाधा जन्त।।

शब्दार्थ- *जन्त = क्षुद्र मायिक जीवन की बाधा।*

भजन भरोसे एक लगि, अब हरि साधा मौन।
जन वन्दन गति ना मिले, बन्धन काटे कौन।।

करता धरता आप हैं, संत कहत कर जोर।
जहँ गुरु प्रेरक ना मिला, अन्ध मचावे शोर।।

प्रभुवर पूरा करत हैं, उज्ज्वल पूरा खेत।
जग अँधियारी तब मिटे, मन उजियारी लेत।।

चेतावनी

विष विषया के गर्त में, विष ही विष चिल्लाय।
मन संतुलन मिट गया, सीख कहाँ ठहराय।।

मदमाते ऐंठे फिरैं, विजय आस दिन जात।
अन्त समय पछतावना, रहा न संग कोउ साथ।।

विषयानल में है पड़ा, जलता आठो याम।
क्षण भंगुर सुख कारने, टूटा हरि का धाम।।

आशा ऐसा जाल है, फँसे सयाने आय।
शृंगी की परतीति ना, गुरु रहे विलमाय।।

शब्दार्थ : *विलमाय = पछताते हुए सहन एवं सन्तोष करके।*

जब लगि हरि नहि आदरे, करम कटे न कोट।
हरि अनुशासन ना मिली, भजन भाव में खोट।।

भोले बालक भक्त हैं, आज्ञा सहें न भार।
माता सम पालन करें, हरि सँभालें सार।।

संकेत- जन की साज-सँभार, उसका योगक्षेम स्वयं भगवान ही वहन करते हैं। भक्त में निहित सार-तत्त्व की सुरक्षा, उन्हें यत्न से रखने का कार्य स्वयं भगवान ही करते हैं।

अष्ट अंग के मूल में, शम दम संयम नींव।
सुरत जो साधा मूल में, 'अड़गड़' पावे पीव।।

साधना का आरम्भ

जेहिं क्षण हरि लीला करैं, कारण करैं जन हेत।
सब जन ज्वाला पलक में, कटै लगे हरि हेत।।

भावार्थ- साधन-जीवन में जिस क्षण हरि लीला करना चाहते हैं तत्क्षण जनहित में वैसे ही कारण की संरचना कर देते हैं, जैसे- गोस्वामी तुलसीदास एवं राजा भर्तृहरि के लिए स्त्री, गौतम बुद्ध के लिए जरा, शव, रोग इत्यादि तथा परमहंसजी महाराज एवं कतिपय अन्य महापुरुषों के लिए आकाशवाणी तथा अनेकानेकों को स्वप्न-संदेश इत्यादि। लीलाधर की लीला-विस्तार के अनन्त कारणों में यही तीन कारण मुख्य हैं-

(अ) किसी से प्रताड़ित होने पर अथवा मान-मर्यादा की समाप्ति पर,

(ब) किसी भयावह दृश्य की उपस्थिति से तथा

(स) ईश्वर के मूल आदेश- आकाशवाणी, स्वप्न इत्यादि द्वारा।

प्रभु के कृपा-प्रसार में जन के पीछे लगी ज्वालाएँ पल भर में कट जाती हैं और वह हरि के लिए लग जाता है।

पल छिन करुना करत ही, रुचे न जग की रीत।
सगे संबन्धी अस लगें, मरण काल की चीत।।

भावार्थ- पल मात्र के लिए भी जिस किसी को प्रभु-करुणा की उपलब्धि हुई उसे जगत् के रस्म-रिवाज, लौकिक व्यवहार नहीं रुचते। सगे-सम्बन्धी तो ऐसे लगते हैं जैसे मृत्यु।

जो अनुरागा अंग में, नख सिख व्यापी मूर।
राति दिवस ना लखि पड़े, हरि हित लड़े जरूर।।

भावार्थ- साधक के तन में अनुराग आ जाय, नख से शिख तक वह मूरि आ जाय तो वह अनुरागी अहर्निश की परवाह किये बिना परम हितैषी हरि को पाने के लिए अवश्य ही सतत संघर्षरत हो जाता है। मनसहित इन्द्रियों के विषय-प्रवाह का निरोध करने के लिए और उनका इष्ट में विलय करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है।

जे अनुरागा अंग चढ़े, रुचे न सुख की रीत।
पागलपन मन प्रीति में, अजब अनोखी रीत।।

भावार्थ- यदि कदाचित् अनुराग अंग में सर्वत्र छा जाय तो सांसारिक सुख-सुविधाओं और रीति-रिवाजों में रुचि नहीं रह जाती। ऐसा अनुरागी पथिक विचित्र, विलक्षण रीति पा लेता है जिससे उसके तन में पागलपन और मन में प्रीति समाहित हो जाती है।

जो अनुरागा अंग चढ़े, सुने न काहू बात।
शीत वात आतप सहे, संग रहे दीन जात।।

भावार्थ- यदि कदाचित् अनुराग-धारा तन में प्रवाहित हो जाय तो भाविक अन्य किसी की बात नहीं सुनता। वह शीत-वात-आतप सब कुछ सहन करते हुए अहर्निश प्रभु-संग ही रहता है।

जो अनुरागा अंग चढ़े, भागे रुदन कराय।
हरि के सुमिरन सुख मिले, जग के देखि डराय।।

अनुरागी के उर बसे, देखनहारा साथ।
सदा सँभाले बाल ज्यों, करैं करावैं नाथ।।

अनुरागी के उर बसे, तुष्ट रुष्ट दरसात।
हरि परतीती जिन तजा, काहू न पूछी बात।।

भय तथा अभय

डर करनी डर परम पद, डर बिनु नरकहि जाय।
सहज प्रीति के कारने, हरि संग डरि डरि जाय।।

भावार्थ- भय की जागृति से ही वास्तविक सत्क्रिया पार लगती है नहीं तो लोग वासना की एक-एक बूँद में डूबे रहते हैं। भय से ही परमपद की टोह मिलती है, इसी से परमपद की दूरी तय होती है तथा उसी स्वरूप में अवस्थान होता है। डर के बिना नर अधोगति की ओर उन्मुख होता है, अतः हरि से सतत डरते रहना चाहिए। ऐसा भय ही पूर्ण अभय 'अकुतोभय' की स्थिति दिलानेवाला होता है।

केवल जन हरि सों डरे, तन मन साधत सार।
जा दिन हरि सों ना डरे, गर्भवास का भार।।

भावार्थ- सार-तत्त्व की साधना में तन-मन से रत जन ही भगवान से डरता है। जिस दिन इन्द्रिय और विषयों के प्रवाह में उसके मन से हरि का डर बह जाता है, तत्काल वह साधन-विमुख होकर गर्भवास के भार से दब जाता है। अर्थात् पतनोन्मुख होकर प्रकृति-क्षेत्र में जन्म-मरण प्रधान जीव बन जाता है।

जा दिन सद्गुरु डर गया, मिटा गर्व में ज्ञान।
दर दर भटका गर्भ में, कउआ हरि जन जान।।

भावार्थ- जिस दिन सद्गुरु का भय समाप्त हो जाता है उसी समय बौद्धिक उपलब्धियों के गर्व प्रभाव में कल्याणकर ज्ञान तिरोहित हो जाता है। इसीलिए भगवान के भक्त काकभुशुण्डिजी को भी दर-दर गर्भवास में भटकना पड़ा।

सब कोई डरता काल सों, मंझ महल लेइ जाय।
एकरस जो हरि सों डरे, एकरस रूप कहाय।।

चेतावनी

जान माल रक्षा करन, सकल सलोने संग।
बिन गुरु के ज्ञान रंग, सकल सहारा भंग।।

भावार्थ- जान-माल की रक्षा करनेवाले सभी माध्यम एवं प्रिय परिवार साथ हैं; किन्तु यदि गुरु के अन्तर् का रंग नहीं चढ़ता तो इन क्षणभंगुर आश्रयों से कल्याण होनेवाला नहीं, इनसे पूर्णता की उपलब्धि असम्भव है।

ईश्वर माया संग नहीं, जो जन पावा नन्द।
निरभय निशि दिन अछत तन, कटा मलिन मन फंद।।

भय भीतर में मर गया, जब गति अगिनी जोग।
सद्गुरु शरणागत नहीं, क्यों काटे भव रोग।।

भावार्थ- जब उस अलख, अवाङ्मनसगोचर पुरुष से गति सम्बन्ध एवं संयोग हो जाता है तो अन्तर्मन का भय सदा-सदा के लिए मिट जाता है। यदि पूर्ण अनुभवी सद्गुरु की शरणागति उपलब्ध न हुई तो भवरोग का अन्त कहाँ? अर्थात् पूर्ण सद्गुरु के अभाव में भवरोग से निवृत्ति का विधान नहीं है।

मुक्ति निरभयानन्द में, भुक्ति भय में भोग।
सूक्ति सनेहा खपत है, हरि गुरु संगति जोग।।

शब्दार्थ- *मुक्ति = भव बन्धन से छुटकारा। भुक्ति = भोग पदार्थ। सूक्ति = वेदों की सूक्तियाँ।*

करम एवं करनी क्या है?

सद्गुरु की मुक्ति महा, करम से पावे जीव।
काम क्रोध त्यागे बिना, करम अरम्भ न सीव।।

भावार्थ- सद्गुरु-कृपा से सुलभ महान् मुक्ति को जीवात्मा आराधना से ही प्राप्त करता है। काम, क्रोध, मोहादि के परित्याग के बिना इस कर्म का आरम्भ नहीं होता और न उस कैवल्यधाम शिव में प्रवेश ही मिलता है। प्रश्न उठता है कि कर्म क्या है?

करम एक आराधना, पल पल रीझत राम।
करम एक संशय नहीं, स्वांस सुमिरिनो नाम।।

भावार्थ- कर्म क्या है? उस सत्य की आराधना! वास्तविक कर्म आराधना ही है जैसा कि गीता में भी कहा गया है। जो क्षण-क्षण राम को प्रसन्न करे। वस्तुतः

संशय-शमन कर्म एक ही है- यदि किसी महापुरुष की कृपा से प्राप्त हो जाय। वह कर्म है- स्वाँस सुमिरनी।

ब्रह्मचर्य 'मन-जय से'

ब्रह्मचर्य विधि दोय में, तन संयम मन लीन।
एक में बस इन्द्रिय करै, दो में ब्रह्म चलीन।।

भावार्थ- ब्रह्मचर्य-पालन में दो विधानों का विशेष महत्त्व है- तन का संयम तथा मन का ब्रह्म में लीन होते रहना। कर्ण-कुहरों से विषयवर्द्धक रागिनी में रस लेना, हाथ से कोमल कामोत्तेजक स्पर्श करना तथा दूसरी ओर जननेन्द्रिय नियन्त्रण की बात सोचना परस्पर विरोधी, असंगत तथा सर्वथा असम्भव है। यह तो जमे घृत को अग्नि-संसर्ग में रखने तुल्य है। अतः सर्वप्रथम समस्त प्रमत्त इन्द्रियों को विषय-वासनाओं से समेटकर केन्द्रित करना चाहिए। तत्पश्चात् पूर्ण हृदय से ब्रह्म के आचरण में मन को प्रवृत्त कर देने का विधान है। शनैः-शनैः साधक में जब ब्रह्म का कृपा-प्रसाद आलोकित हो जायेगा तो कामादि का प्रभाव स्वतः हट जायेगा। पूज्यश्री गुरुदेव भगवान इस विषय में कहा करें कि तीन-चार साल के बालक और स्वरूपस्थ महापुरुष समान मनःस्थितिवाले होते हैं- "हो, शरीरिया भर बड़ी है किन्तु मानसिक स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे अबोध बालक की होती है।" जिस प्रकार उस अबोध शिशु में हम काम की कल्पना नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार स्वरूपस्थ महापुरुष भी विकाररहित होते हैं। इसी भाव का विस्तार अग्रलिखित दोहों में है।

प्रमथ प्रबल इन्द्रिय महा, ममता मेटो धाय।
सब इन्द्रिय संयम करै, तौ ब्रह्मचर्य कहाय।।

सब इन्द्रिय विषया चरै, खान पान रस भोग।
जननेन्द्रिय रोका चहै, मूरख मलीन कुजोग।।

मन से इन्द्रिय वश करै, मन से जनन निरोध।
मन से शुभ सरिता चढ़ै, मन संग मिटे विरोध।।

शब्दार्थ : *जनन = जननेन्द्रिय। विरोध = मायिक विरोध।*

भजन पूर्ति काल में, हरि प्रगटे मन लीन।
सतम अंश मनवा चले, तो पुनि साधक कीन।।

साधन श्रम करते बना, पता न पाया धाम।
था हताश हर फंद में, पत राखी घनश्याम।।

भावार्थ- साधन साधक को ही करना पड़ता है; किन्तु इष्ट के सन्निकट का कुछ स्तर ऐसा भी है जहाँ साधना की गति नहीं है, क्योंकि भगवान मन-बुद्धि से परे हैं। मन-बुद्धि के निरोध तक तो साधक चलता है; किन्तु आगे कुछ ऐसा पथ है कि इष्टदेव ही घुमा-फिराकर अपने स्वरूप का बोध करा देते हैं। यही तथ्य प्रस्तुत दोहा उद्घाटित करता है कि साधन का श्रम तो करते बन गया किन्तु धाम का पता नहीं लग पाया। जब चिन्तन के प्रत्येक प्रयास से साधक हताश हो गया तो भगवान ही उसके साधन की लाज रख लेते हैं और उसे पूर्णता प्रदान कर स्वरूप-बोध करा देते हैं।

स्वयं हरी ने बन्द किया, साध्य समेटी चित्त।
अब हम रूखे रेड़ ज्यों, विकल रहो भयभीत।।

भावार्थ- साधन में एक स्तर ऐसा भी आता है जब हरि साधन बन्द करा देते हैं और स्वयं दिखलाई भी नहीं पड़ते। उस समय साधक की दशा रूखे रेड़ की तरह हो जाती है। प्रभु की अनुपस्थिति में वह विकल हो जाता है।

।। ॐ।।

अनुभव की अनन्त शाखाएँ हैं जिनमें चार मुख्य हैं

अनुभव अवतारी कहे, जन हित हो अवतार।
हरि जन अन्दर बोलते, समझे सुरत सँभार।।

अनुभव सों संगति करै, अनुभव से जप जोग।
जो अनुभव अरजी सुने, अवसि मिटे भव रोग।।

भावार्थ- भक्त के परम कल्याण की कामना से भगवान ही आत्मा से अभिन्न होकर, आत्मप्रसारित होकर अनुभवों का सूत्रपात करते हैं। वे हरि स्वयं जन के हृदय से बोलते हैं, सुरत-सँभाल करते रहते हैं।

अनुभव गुरु की बात है, हृदय बसे दिन रात।
पलक पलक अरु स्वांस में, विपुल भेद दरसात।।

अनुभव वाणी राम की, बिना ज्ञान का ज्ञान।
ताते गुरुवर कह गये, अनुभव है विज्ञान।।

भावार्थ- अनुभव उन सर्वत्र रमण करनेवाले परात्पर ब्रह्म की रश्मि है, उन प्रभु की वाणी है। यह बिना ज्ञान का ज्ञान तथा विज्ञान है। यह विषय-वस्तुओं के संयोग से विशद् बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता, इसीलिए तत्त्वदर्शी सद्गुरु महर्षियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा ने इन्हीं अनुभवों को विज्ञान की विशिष्ट पदावली से विभूषित किया है।

भव माने भव धार है, अनु माने कर अन्त।
ताते अनुभव नाम धर, सन्त सँभारे कन्त।।

भावार्थ- अनुभव शब्द दो शब्दों के संयोग से निर्मित है- अनु तथा भव। 'भव' का तात्पर्य संसृति का विकृत धारा-प्रवाह तथा 'अनु' का आशय उनका अन्त करने से है। इस प्रकार आवागमन का अन्त संचार से अनुप्राणित होकर साधक उस कन्त को प्राप्त करता है।

केवल कन्त हरि रूप हैं, सबका मूल एकन्त।
मन गोचर गति ना मिले, अनुभव साधे सन्त।।

अनुभव सों हरि देखिये, अनुभव संगति कन्त।
अनुभव सो इन्द्रिय तके, सुख दुख में भरमन्त।।

अनुभव केवल पथ चले, जेहि विधि प्रकटै सोय।
कहु संसारी बूझ में, फँसे विकल केहि रोय।।

अनुभव धार अनन्त की, साधन की गति चार।
जाहिं न गुरु सो लखि पड़े, क्यों कर बेड़ा पार।।

साधन के सुख मूल में, निराकरण कर भूति।
अंग न अनुभूति चढ़ी, साधन रंग न दूति।।

शब्दार्थ- *दूति = द्वैत।*

स्वप्नसुरा सम्बन्धित अनुभव

प्रथम अनुभव स्वपन में, बोले शुभ परतीति।
प्रकट सराहै रूप को, प्रकटे माया जीति।।

शुभाशुभम् नित लखि पड़े, भावी प्रकटे सोय।
सपना सम सपना नहीं, जहाँ जगत रह रोय।।

अंग–स्पन्दन

स्वप्न से ही लगा-लिपटा अंग-स्फुरण दूसरे प्रकार का अनुभव है जिसे स्थूल सुरा-सम्बन्धी अनुभव भी कहते हैं। अंग फड़कन सद्गुरु के आदेश की शृंखला ही है। इससे भी साधक को व्यवस्थित सहयोग मिलता है। हाँ, साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि अंग-स्पन्दन से इन्द्रिय तथा उनके विषयों की कामना न करें। उन अनुभवों का उपयोग इष्ट-निर्दिष्ट प्रशस्त पथ में करें।

स्थूलसुरा–सम्बन्धी अनुभव

लगी लपेटी अनुभवी, अंग फड़कनी रीत।
पल पल में परतीति दे, सब तन फड़की भीत।।

सब अंग सिहरत हरि चले, चलते बात बतात।
फड़कत है फल देत है, निष्फल किरिया जात।।

दैवी आसुरी सम्पती, युद्ध चला अरराय।
फड़कन में सब लखि पड़े, दास रहे सुख पाय।।

पूरा सद्गुरु सेव कर, निरदेशन चलि जाय।
ये दोनों प्रकटे प्रथम, आगे राह निकाय।।

सुषुप्तिसुरा–सम्बन्धी अनुभव

स्थूल और स्वप्नसुरा से सम्बन्धित अनुभव सद्गुरु की सेवा, उनके निर्देशानुसार कुछ ही साधन करने से आरम्भ हो जाता है; किन्तु सुषुप्तिसुरा-सम्बन्धी अनुभव दीर्घकाल

के अभ्यासस्वरूप जब मन की डोरी इष्ट से लगने लगती है तब आरम्भ होता है। अर्थात् यह क्रियात्मक अनुभव है। समसुरा-सम्बन्धी अनुभव इष्ट के निकटवर्ती क्षेत्र में होता है।

सुषुप्ति अवस्था

शुभ में सोये सन्त जन, भजे तैल की धार।
सुषुप्तावस्था प्रकट तन, जागत सुरत अधार।।
गहरी निद्रा सोवते, स्वप्न न आया कोय।
भ्रमवश सुषुप्ति कहत हैं, अन्त चले सब रोय।।

भावार्थ- सांसारिक लोग गहरी निद्रा में ऐसे अचेत सोते हैं जहाँ लेशमात्र स्वप्न का आभास भी नहीं होता। भ्रमवश लोग इसे ही सुषुप्ति मान बैठते हैं; किन्तु अन्ततः सब कुछ खोकर प्रस्थान कर जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था किसी साधनरत योगी को निरन्तर अभ्यास के अनन्तर उपलब्ध होती है। यदि केवल प्रगाढ़ निद्रा को ही सुषुप्ति कहते तो घोर स्थूल बुद्धि से कार्यरत कृषक एवं श्रमिकों को यह सहज ही प्राप्त मानी जाती; किन्तु वास्तविकता यह नहीं है।

कृषक परिश्रम करत है, स्वप्न न दरसे कोय।
योग युक्ति काहू मिले, गाढ़ नींद ना होय।।

भावार्थ- शारीरिक श्रम के आधिक्य से कृषकों को इतनी प्रगाढ़ निद्रा आती है कि उन्हें स्वप्न दिखाई ही नहीं पड़ता। सोते ही एक नींद में उन्हें सवेरा हो जाता है, बीच में कोई होश नहीं रहता; किन्तु वास्तविक सुषुप्ति योग-युक्ति के माध्यम से किसी प्रयासशील विरले साधक को ही मिलती है। सामान्य कृषकों की प्रगाढ़ निद्रा को सुषुप्ति मानना अविहित है।

सुषुप्तिसुरा–सम्बन्धी अनुभव

भजन करत बहु काल तक, सुरति डोर लगि जाय।
तब प्रकटे सुषुप्ति में, अनुभव नित्य तराय।।

भावार्थ- भजन-चिन्तन के दीर्घकालीन अभ्यास के परिणामस्वरूप सुरत-डोर इष्ट से लग जाती है तब सुषुप्ति अवस्था प्रत्यक्ष होती है। इस अवस्था के अनुभव सदा सत्य तथा पार करनेवाले होते हैं। यह निद्रा की अवस्था कदापि नहीं है।

जग से सुरत खींच के, प्रभु में सुरत प्रवीन।
ता छन अनुभव सुप्ति की, प्रगटे देख नवीन।।
देह भान मिट जाय तो, मन सोवै तन देख।
अनुभव ऐसे में मिले, सुषुप्त सुरा की लेख।।

भावार्थ- सतत अभ्यासरत पथिकों में भजन करते-करते जब देह का अध्यास मिटकर मन इष्ट-स्वरूप में विलीन हो जाय और तन से निद्रा भी न हो, अर्थात् तन जागृत रहे ऐसी अवस्था से मिलनेवाला अनुभव सुषुप्ति-सुरा कहलाता है।

तन की निद्रा जग लखे, मन की निद्रा सन्त।
मन सोवत में लखि पड़े, सुप्ति सुरा का तन्त।।

शब्दार्थ : *तन्त = निचोड़।*

सुप्त सुरा में जो मिले, सृजन विसृजन सार।
कबहुँ न झूठा होते है, संत चले निरधार।।

सम सुरतकाल के अनुभव

सम सुरत सम ब्रह्म बिनु, उपजे ना परतीति।
जो कछु ब्रह्म लखि पड़े, सरबस मिटे अनीति।।

सब बोले सब सुनत हैं, समदरसी जन एक।
ऐसी वाणी अन्त की, हरि जन विमल विवेक।।

बैठे लेटे चालते, करत सकल व्यवहार।
सत् सों डोरी यों लगे, कबहूँ न टूटे तार।।

भावार्थ- वस्तुतः योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। उनके द्वारा सम्पादित होनेवाले कर्मों का न शुभ परिणाम होता है और न उनसे अशुभ संस्कार ही पड़ता है। वे ब्रह्म के समकक्ष ही होते हैं। इसी स्थिति का दिग्दर्शन इस दोहे में है कि बैठते, लेटते, चलते तथा समस्त व्यवहार करते हुए भी सत्य से सुरत की डोरी इस प्रकार लग जाय कि कभी न टूटे।

ऐसी करनी जब मिले, जन मन पूरा सार।
सब जन में देखत रहे, सम सुरा उस पार।।

भावार्थ- जब शुभाशुभ से निर्लेप क्रिया एवं इस प्रकार की निर्लेप करनी प्राप्त हो जाती है तब भक्त के मन में वह सारतत्त्व पूर्णरूपेण प्रसारित होता है। ऐसा पुरुष चराचर जगत् का द्रष्टामात्र है। वह सर्वत्र सम है अर्थात् सम सुरा प्रकृति से उस पार एवं परमात्मा के सामञ्जस्य का परिचायक है।

सम सुरा तबही मिले, तन मन पूरा लीन।
अनुभव सद्गुरु रूप है, शरण गये परवीन।।

हरि उर अन्तर उतरे, बिसरे ना बल जोर।
जहँ माया मृत वाहिनी, तहँ हरि व्यापा मोर।।

भावना

भली सुहासिन भावना, भरण करे जन हेत।
आठ पहर आहें ढुरे, भली बुरी कहि देत।।

धीर बधावें भावना, आफत में सन्तोष।
जो हरि कबहुँक रूठते, लपकि चलावे पोष।।

हरि तोषन जन औषधी, घट घट में परसार।
भजन भावना मिट गई, चौरासी की धार।।

करुणामय हरि देत हैं, अविरल भाव अलेख।
एक चरण तजि आस ना, तूँ क्यों सारत भेष।।

हरि तोषन जन औषधी, हर उर में परसार।
भावहीन सब बह गये, भव सरिता की धार।।

भाव सकल बाधा हरे, जो मन चित से होय।
भाव ही कृपा करत है, लौटत में हरि होय।।

भावार्थ- 'भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।' ***(मानस, ७/९२ ख)*** हृदय का सबल भाव सम्पूर्ण बाधाओं का हरण कर लेता है। सच्चे मन का भाव ही कृपा का कारण है, कर्त्ता है। वही भाव हरिपद का स्पर्श कर लौटते ही साधक को हरि की स्थिति से अलंकृत करता है।

भाव भरत बाधा कटे, पलट कृपा को रूप।
भाव हीन मृत लोक में, नीच पड़े भव कूप।।

भावार्थ- हृदय पूर्णतः भावपूरित होते ही समस्त बाधाओं का अन्त होने लगता है। हमारा ही भाव इष्ट की कृपा के रूप में लौटता है। भावहीन व्यक्ति इस मृत्युलोक में भवकूप का पथिक है।

जन के बस में भाव है, भाव वस्य भगवान।
भाव ही मुक्ति देत है, भाव संभारे ज्ञान।।

भावार्थ- वाग्विलासी, बहुश्रुत एवं उपदेशक जैसे बौद्धिक ज्ञानी भी परम की उपलब्धि सरिता में गोता खा जाते हैं। यदि सद्गुरु की विशिष्ट क्रिया हृदय बेधकर साधक में प्रवाहित नहीं हो गई तो ज्ञान में भी अज्ञान विद्यमान है- ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञान

ज्ञानी गोता खात है, ध्यानी धूसर ध्यान।
जो सद्गुरु बेधे नहीं, ज्ञानहूँ में अज्ञान।।

हरि दर्शन पर ज्ञान है, जो कहुँ परगट होय।
प्रत्यक्ष दर्शन ना मिला, तो सब अंधक होय।।

भावार्थ- इष्ट के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम ज्ञान है। हाँ, यदि ऐसा विदित हो जाय तो परम सौभाग्य है। यदि उस परमतत्त्व की प्रत्यक्षानुभूति नहीं हुई तो सब के सब अन्धकार के राही हैं।

दरसन पूरा ज्ञान है, बुद्धिमता अज्ञान।
साधन का श्रम चलत है, केहि पर करै गुमान।।

संकेत- साधन-काल में कोई ज्ञानी नहीं, केवल ज्ञान के लिए प्रयास मात्र है।

सब कुछ श्रोता सुन गया, बाकी पूरी राह।
'अड़गड़' हरि पथ पूर ना, कथा सुनावे काह।।

साध मिटी साधन मिटा, जब देखा निज रूप।
अब कहुँ भिन्न कि एक में, कहाँ पड़े भव कूप।।

अजामिल एवं गणिका

गुरु सन ए अनुभव सुनी, रूपक कथा अनेक।
नाम अजामिल जीव संग, नचनी इन्द्रि अनेक।।

ज्ञानवन्त गणिका बिना, पूर न पाया कोय।
जेहिं घट गणिका अज तरे, संत मता है सोय।।

शब्दार्थ : *अज = अजामिल।*

घट अन्दर गज गणिका, अजामिल एक ओर।
जब नारायण लखि पड़े, गणिक करै बर जोर।।

भावार्थ- घट के अन्दर ही गज है, गणिका है। एक ओर अजामिल भी है। जब नारायण एवं इष्टोन्मुखी वृत्ति होने लगती है तब ये इन्द्रियाँ बलात् विषयों की ओर मन को आकर्षित करने लगती हैं।

शब्दार्थ : *गणिका = गो, इन्द्रिय।*

गणिका गो रस हो लखे, हरि रस लखे तो रोय।
अब गो गमनी कवन विधि, रोके नारायण कोय।।

अजर अमर जो आत्मा, विधि गणिका गो बीच।
नारायण की लगन ना, कौन छुड़ावे कीच।।

संकेत– अजर–अमर आत्मा ही नारायण का प्रतीक है।

अजर अमर जो आत्मा, अजामिल की रेख।
फँसा गणिक भव जाल में, फंद छोड़ जो देख।।

भावार्थ– अजर–अमर आत्मा ही अजामिल का विचार प्रवाह है। वह गणिका अर्थात् मनसमेत इन्द्रियों के भव–जाल में बलात् हठात फँसा हुआ है। इस फन्दे से वही छूट पाता है जो उस सत्य का दिग्दर्शन कर चुका है।

नारायण लौ लगत ही, प्रगटे पावन ज्ञान।
यम फंदा भव भागि गा, सत प्रगटत परवान।।

संकेत– भगवान के प्रति लगन का आविर्भाव ही लड़के का जन्म है। भगवान में हार्दिक लगन लगने से भव–बाधा का अन्त तथा सर्वरूप की प्राप्ति है।

'अड़गड़' उल्टे नाम की, महिमा है सब कोय।
जप गति अजपा में ढले, उलटा जाने सोय।।

नाम रूप दोउ संग हैं, हरि दर्शन का पोत।
तेहिं चिन्ते बहु भेद में, प्रकटे लीला स्रोत।।

नाम रूप उर जागते, उपजत लीला श्याम।
लीलाधर परसत मिले, जन को जीवन धाम।।

नाम जपे से नीचहू, परम धाम सिरमौर।
'अड़गड़' ते नर धन्य हैं, जिन्ह कहँ नाम सरोर।।

।। ॐ।।

शास्त्र-सार

● सम्पूर्ण सृष्टि में धर्म एक ही है-अमृत तत्व की प्राप्ति, सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति, अनन्त सुख और उसका आरम्भ है परमात्मा में श्रद्धा।

● सत्य एकमात्र परमात्मा है। जो इस सत्य को नहीं दृढ़ाता, वह धर्म नहीं है। यदि धर्म में यह सच्चाई नहीं है-तो जीवन भी निरर्थक चला जाता है।

● जो भी व्यक्ति एक परमात्मा में अटूट श्रद्धा और ॐ अथवा राम या जो उस परमात्मा का परिचायक है, ऐसे किसी एक नाम का स्मरण करता है; वह धर्म को न जानते हुए भी शुद्ध धार्मिक है।

● जो शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, सनातन है; वह धर्म है और जो आज है किन्तु कल नहीं रह जायेगा, नश्वर है, वह अधर्म है।

● विश्व में धर्म एक ही है। शाश्वत एकमात्र परमात्मा को पाने का यत्न ही धर्म है। परमात्मा भी यदि दो है तो उसके लिये दूसरी सृष्टि चाहिए-उसके व्याप्त होने, रहने के लिये!

ॐ

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

फोन - (022) 28255300 • ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com • वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com